आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर आचार्य जयसेन द्वारा प्रणीत वृत्ति ग्रन्थों का समीक्षात्मक अध्ययन

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
(मान्यताप्राप्त विश्वविद्यालय)
की
"विद्यावारिधि" नामक उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ. वीर सागर जैन
जैन दर्शन विभाग अध्यक्ष

शोध प्रबन्ध प्रस्तुतकर्त्री
कु. सुजाता रोटे
जैन दर्शन आचार्या

सन् २००४

हिंदी अनुवाद प्रेरणास्रोत :
प.पू. आचार्य १०८ श्री सुयशसागरजी महाराज

प्रथम आवृत्ति :
मार्गशीर्ष शु. १०, वी.नि.सं. २५५०, विक्रम संवत् २०८०
शुक्रवार, २२ दिसंबर, २०२३

प्रतियाँ : १०००

प्रकाशक :
श्री अनेकान्त शोधपीठ, श्री बाहुबली विद्यापीठ, बाहुबली

प्राप्तिस्थान :
१. श्री भरतेश ग्रन्थ भांडार,
बाहुबली (कुंभोज), ता. हातकणंगले, जि. कोल्हापूर, पिन - ४१६११०
फोन नं. (०२३०) २५८४४२२, मोबा. ९०४९४७३४३४
२. जीवराज जैन ग्रंथमाला
जीवराज भवन, टीपी-४, प्लॉट नं. ५६/१०,
बुधवार पेठ, जुना पुणे नाका, सोलापुर – २.
फोन – ०२१७-२३२१००८, मोबा. ९४२१०४००२२

मुद्रक :
विनंद ऑफसेट प्रिंटर्स, १०८, शुक्रवार पेठ, सोलापुर
मो.नं. ९८९०२७७७१२

लागत मूल्य : रू. ३००/-

पुण्यार्जक

१. **श्रीमद् राजचंद्र स्वाध्याय मंडल, घाटकोपर, मुंबई द्वारा - १,१०,०००/-**

अ) कुमार भाई भिमानी

ब) राजेश भाई भिमानी

क) अंजना निलेश सालिया

ड) प्रियंका ऋषिकेश झाटकीया

इ) शीतल जाल्पा व कवन

ई) अमिता एस. मेहता

फ) दमयन्ती बेन शांतिलाल गाठानी

ग) प्रीती विरल शाह

ह) अल्पा मयंक शाह

ज) बिंदु अतुल बाविशी

२. सौ. समीरा सुयोग दोशी, जेऊर - ५१,०००/-

३. गुप्तदान - ५०,०००/-

४. गुप्तदान - ३३,०००/-

५. गुप्तदान - २१,०००/-

६. श्री. पुनीत राजेंद्र भंडारी, पुणे - २१,०००/-

७. सौ. निधी अभिषेक जोशी, मुम्बई - २१,०००/-

८. श्री. सुरचंद गुलाबचंद गांधी, नातेपुते - २१,०००/-

९. श्री. अनुप जैन, १४६, आनन्दपुरी, कानपुर - ११,०००/-

१०. सौ. मनिषा राजेंद्र गांधी, नातेपुते - ११,०००/-

११. सौ. नम्रता इंद्रजित गांधी, नातेपुते - ११,०००/-

१२. सौ. सोनल विराग गांधी, नातेपुते - ११,०००/-

१३. सौ. प्रतिभा रविन्द्र दोशी, पंढरपूर - ५,०००/-

१४. श्रीमती चारूशिला मेघचन्द्र दोशी, नातेपुते - ३,१००/-

१५. गुप्तदान - १,०००/-

मार्ग निर्देशक का प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि कु. सुजाता रोटे, शोधकर्त्री ने "आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर जयसेन प्रणीत वृत्ति ग्रन्थों का समीक्षात्मक अध्ययन" इस शोध विषयक शीर्षक को लेकर श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली की "विद्यावारिधि" (Ph.D.) उपाधि के लिए प्रस्तुत अनुसंधान कार्य मेरे मार्ग निर्देशन में पूर्ण किया है। यह इनका मौलिक कार्य है।

इस शोध प्रबन्ध के विषय विवेचन आदि को देखकर मैं प्रमाणित करता हूँ कि यह प्रस्तुत शोध प्रबन्ध "विद्यावारिधि" (Ph.D.) उपाधि के लिए समुपयुक्त एवं समीचीन है।

मार्ग निर्देशक
डॉ. वीर सागर जैन
जैन दर्शन विभाग
अध्यक्ष

प्राक्कथन

बाल्यकाल से लेकर जिस अध्यात्म परिसर में मुझे विद्यार्जन का शुभ अवसर उपलब्ध हुआ, उसने मेरे अन्तरंग को अध्यात्म की ओर सहज ही आकर्षित कर लिया। इतना ही नहीं, बल्कि संस्कृत, प्राकृत, मराठी, और हिन्दी भाषाओं में लिपिबद्ध साहित्य, व्याकरण, न्याय और अध्यात्म आदि विषयों के अध्ययन से अन्तरंग में अध्यात्म के दृढ संस्कार पल्लवित हुए। अतः आचार्य परीक्षा को उत्तीर्ण करके अनुसन्धान करने की प्रबल भावना जागृत हुई। यदि परमात्मा एक है, उसका स्वरूप एक है, वह सभी में व्यापक है, भारतीय संस्कृति का धर्म एक है, तो फिर धर्म के नाम पर इतने मतभेद किस कारण से हैं ? ये प्रश्न जिज्ञासा रूप से मेरे हृदय में पुन: पुन: उठते थे। इस ही जिज्ञासा के समाधान के लिए मेरी रुचि के अनुसार मैने यह विषय चयनित किया है।

भारतीय संस्कृति के मूल भूत तत्त्व क्या हैं ? इस विषय में मतभेद हो सकते हैं, परन्तु भारतीय संस्कृति की मूल धारा आध्यात्मिक है, इस विषय में किसी को भी विसंवाद नहीं है। तप, त्याग के आदर्श रूप से तपोवन में पुष्पित और फलित हुई श्रमण परम्परा आश्रम के विधान स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप इन तीन को भाष्य रूप से बताती है।

जैन साहित्य में तीर्थंकर महावीर के द्वारा बताई गई श्रुत परम्परा को आगम रूप से प्रवाहित करने वाले गणधरों के पश्चात् श्रुतकेवली भद्रबाहु, आचार्य गुणधर, आचार्य धरसेन, आचार्य पुष्पदंत, आचार्य भूतबली, आचार्य कुन्दकुन्द इत्यादि आचार्यों की सुदीर्घ परम्परा उपलब्ध होती है। जिन शासन का मर्म उद्घाटित करने के लिए और वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए बहुत महान आचार्यों ने महत् रचना कार्य किया है। पुरातन काल में लेखन साहित्य का अभाव होने से आचार्यों ने ताड़पत्र अर्थात् ताड वृक्ष के पत्रों के ऊपर कीले के द्वारा अक्षरों को उत्कीर्ण करके महा कष्ट से साहित्य का प्रणयन किया। इसवी सन् पूर्व प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारत को अलंकृत करते हुए द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना करनेवाले आचार्य कुन्दकुन्द प्रस्थापक आचार्य रूप से प्रख्यात हुए। इनकी अधिक रचनायें गाथा सूत्रों में निबद्ध दिखाई देती है। उनमें भाव गांभीर्य होने से दशम शताब्दी में उत्पन्न हुए अमृतचन्द्र सूरिने प्रौढ़ संस्कृत भाषा में उनके ऊपर टीकाऐं लिखी। उनकी टीकाओं में समाहित स्वसंवेदन गम्य निष्यन्द सार शुद्ध अध्यात्म परक है। उन्हीं की विचार प्रणाली का अनुसरण करके जयसेन

आचार्य ने बारहवीं शताब्दी के मध्य में चार अनुयोगों को आधार करके अतीव सरल और सरस संस्कृत भाषा में तात्पर्य वृत्तियाँ रची। उनके द्वारा रचित वृत्तियां सुस्पष्ट एवं सहज बोधगम्य हैं। उनके अध्ययन से परम आचार्य कुंदकुंद का भाव मन में शीघ्र अवतरित होता है।

वस्तुतः वे आचार्य प्रवर कुंदकुंद प्रणीत ग्रन्थों के मर्मज्ञ व्याख्याता और अध्यात्म रसिक थे। उनके द्वारा पूर्ववर्ती समस्त आचार्य प्रणीत साहित्य का मंथन करके आगम और अध्यात्म का रहस्य आत्मसात् करके अपनी रचित वृत्तियों के द्वारा पश्चात् वर्ती परम्परा को आलोकित और अनुप्राणित किया। उनके द्वारा आगम और अध्यात्म अपेक्षा से विवरण करके अपनी अपनी वृत्तियों में सामञ्जस्य का साम्राज्य स्थापित किया। आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा जिस अध्यात्म वृक्ष का बीज रोपा गया, उसे अमृतमय वचन रूपी जल के द्वारा सिंचन करके श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने पल्लवित, पुष्पित और फलित किया। उसी विकसित वृक्ष के ऊपर एकान्त रूपी रोग जन्तुओं का फैलाव न हो, इसलिए जयसेन आचार्य के द्वारा आगम और अध्यात्म में सुमेल रूपी अनेकान्त औषधि से सिंचन करके उसे निर्जन्तुक किया। यह उनका अनेकान्तात्मक दिगम्बर परम्परा को जीवित रखने के लिए अवदान है। खंडान्वय पद्धति प्राकृतभाषागत पदों का शब्दश: संस्कृत अनुवाद, पंचार्थ प्रतिपादन शैली इत्यादि नूतन प्रयोगों के द्वारा वे साहित्य जगत में सफल और सरल वृत्तिकार रूप से प्रकाशित हुए। इसीलिए मेरे द्वारा कुंदकुंद आचार्य प्रणीत ग्रन्थों का रहस्य जानने के लिए यह अल्प प्रयास किया गया है।

यह शोध निबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। उसमें प्रथम अध्याय में अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह - इस 'अकार'त्रयी के द्वारा जैन दर्शन का वैशिष्ट्य दिखाया है। जैन दर्शन की प्राचीनता, जैन आचार्य परम्परा में कुंदकुंद आचार्य का महत्त्वपूर्ण योगदान उद्घाटित किया है। जयसेन नामक अनेक आचार्यों में वृत्तिकार जयसेन आचार्य का स्थान निर्धारित किया है।

दूसरे अध्याय में जयसेन आचार्य का जीवनवृत्त, व्यक्तित्व और प्रभाव प्रकाशित किया है। उसके अन्तर्गत उनका काल निर्धार, लौकिक और पारलौकिक परिचय दिया है। उनका व्यक्तित्व सुकुशल व्याख्याकार, प्रकाण्ड तार्किक, सिद्धान्तज्ञ, अध्यात्म रसिक, व्याकरण नैपुण्य इत्यादि रूप से उजागर किया है। परवर्ती आचार्य विद्वत वर्गों में उसका प्रभाव भी सप्रमाण स्पष्ट किया है।

तीसरे अध्याय में वृत्ति ग्रन्थों की परम्परा बताकर उनके द्वारा रचित कृतियों का परिचय दिया है। उनके द्वारा प्रणीत कृतियां तीन हैं -

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्य वृत्ति

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति

3. समयसार तात्पर्य वृत्ति

चौथे अध्याय में जयसेन आचार्य प्रणीत वृत्ति ग्रन्थों की तीन दृष्टियों से समीक्षा की है। १) दार्शनिक दृष्टि से, 2) सैद्धान्तिक दृष्टि से, ३) आध्यात्मिक दृष्टि से | द्रव्य, गुण, पर्याय, सप्ततत्त्व, नौ पदार्थ, निमित्त उपादान, नयभेद, अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी इत्यादि विषयों से दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया है । केवली के कवलाहार का निराकरण, स्त्री मुक्ति निराकरण, कर्मसिद्धान्त, इन विषयों से सैद्धान्तिक समीक्षण किया है। आत्मा का क्या स्वरूप है ? उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है? ध्यान का क्या स्वरूप है, सम्यक्त्व की सरागता है या वीतरागता, परसमय के स्थूल व सूक्ष्म भेदों का स्पष्टीकरण इत्यादि बिन्दुओं से आध्यात्मिक दृष्टि का विश्लेषण किया है ।

पाँचवें अध्याय में उनके वृत्ति ग्रन्थों की व्याख्यान पद्धति का विवरण विविध शैलियों से व्यक्त किया है । उसमें उनकी पंचार्थ प्रतिपादन शैली, आगम अध्यात्म सुमेल शैली, दृष्टान्त शैली और प्रश्नोत्तर शैली, इनको विशेष रूप से प्रकाशित किया है ।

छट्ठे अध्याय में जयसेन आचार्य कृत कृतियों का, अन्य आचार्यों प्रणीत कृतियों से तुलनात्मक अध्ययन किया है । उनमें अमृतचन्द्र, प्रभाचन्द्र, बालचन्द्र, ब्रह्मदेव प्रणीत कृतियों का समावेश है ।

सातवें अध्याय में प्रबन्ध का उपसंहार है। इसमें जयसेन आचार्य प्रणीत मौलिक उद्भावनाएं, उनके आध्यात्मिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान का मूल्यांकन किया है ।

अन्तिम परिशिष्ट में मूल ग्रन्थ, सन्दर्भ ग्रन्थ, सहायक ग्रन्थों की सूची संलग्न है ।

इस शोध कार्य में आदरणीय डॉ. वीरसागर जैन महोदय का बहुमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त हुआ । उनके योग्य मार्गदर्शन से ही यह कार्य पूरा हुआ । इसके लिए मैं उनसे अनुग्रहीत हूँ । यदि धर्मबन्धु पं. राकेश कुमार जी इस कार्य के लिए मुझे प्रेरित नहीं करते तो मैं इस कार्य में प्रवेश भी नहीं कर पाती । अत: वे ही इस कार्य के मूल प्रेरणा स्रोत हैं। मैं उनके उपकारों को नहीं भूल सकती हूँ। स्वस्ति श्री भट्टारक पट्टाचार्य श्री चारुकीर्ति महास्वामी जी श्रवणबेलगोला ने मुझे अमूल्य परामर्श दिए । इस प्रबन्ध की त्रुटियों को उन्होंने दिखाया । इसलिए मैं उनकी कृतज्ञ और उपकृता हूँ । सम्माननीय वयोवृद्ध विद्वत्वर्य देवेन्द्र कुमार पण्डितजी का सुयोग्य

मार्गदर्शन और सक्रिय सहयोग प्राप्त नहीं होता तो कार्य अत्यन्त क्लिष्ट होता। मैं उनके प्रति विनयावनत एवं कृतज्ञ हूँ।

धर्ममाता गजाबेन महोदया की मेरे ऊपर महती कृपा है। मैं उनकी विशेष स्नेहभाजन हूँ। उनके वात्सल्य एवं सत्प्रेरणा से मेरे द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। इस भव में उनके ऋण से मैं मुक्त नहीं हो सकती। इसलिए उनके ऋण में रहने में ही मुझे सन्तोष है। स्वर्गवासी पितृतुल्य भिसीकर गुरुजी का समय समय पर संबल और प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होता तो यह कृति अपूर्ण ही रहती। अत: इसके पूर्णत्व को देखने के लिए और आशीर्वचन देने के लिए वे नहीं रहे, यह मेरे हृदय में खेद है। धर्मवत्सल जीवेन्द्र जडे गुरुजी ने प्रस्तुत प्रबन्ध का सूक्ष्म निरीक्षण करके संशोधन सूचित किये। इसलिए मैं उनकी अनुग्रहीत हूँ।

इस शोध कार्य में अनेक ग्रन्थालयों की सहायता प्राप्त हुई।

१. कुन्दकुन्द भारती शोध संस्थान, दिल्ली
२. अनेकान्त शोध संस्थान, बाहुबली
३. लक्ष्मीसेन मठ, करवीरनगर
४. दिगम्बर जैन सेनगण चैत्यालय, कारंजा
५. बालात्कार दिगम्बर जैन चैत्यालय, कारंजा
६. प्राकृत विद्या शोध संस्थान, श्रवणबेलगोल धवलतीर्थ
७. भाण्डारकर प्राच्य विद्या शोध संस्थान, पुणे

इत्यादि संस्थाओं में विद्यमान ग्रन्थालयों का अवलोकन करने के लिए वहाँ के अधिकारी गणों ने मुझे सहायता प्रदान की। उसी प्रकार उज्जयिनी नगरी में स्थित मान्यवर विमलचंद जी झाँझरी महोदय ने प्रभाचन्द्र आचार्य कृत प्रवचनसार वृत्ति की हस्तलिखित प्रति को प्रेषित करके उपकृत किया। सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर से जयसेन आचार्य कृत समयसार तात्पर्यवृत्ति और प्रभाचन्द्र कृत समयसार तात्पर्यवृत्ति की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई। अतः मै उन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

- बा.ब्र.डॉ. सुजाता रोटे

हिंदी अनुवाद के विषय में मनोगत

मोक्षमार्ग की ओर दिशा परिवर्तित होने पर वैराग्य का इतना जोर था कि किसी के प्रेरित करने पर भी लौकिक परीक्षा आदि देने की मेरी भावना ही नहीं थी। परीक्षा देकर मुझे क्या करना है, ऐसा ही विचार आता था। किन्तु भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है, यह किसी को मालूम नहीं होता। कुछ समय पश्चात् समय का सदुपयोग, अशुभोपयोग से निवृत्ति, विशेष ज्ञान की वृद्धि इत्यादि कुछ कारणों से परीक्षा देने के भाव जागृत हुए और जयपुर विश्वविद्यालय से उपाध्याय, शास्त्री और जैन दर्शन आचार्य की परीक्षाऐं उत्तीर्ण की।

आत्मोन्मुखी वृत्ति के कारण उसके पश्चात् कुछ परीक्षाऐं देने की इच्छा नहीं थी, लेकिन पं. राकेश भाई साहब का गजाबेन को पत्र आया कि दिल्ली लालबहादुरशास्त्री शोध संस्थान एवं विश्वविद्यालय में पी.एच.डी. परीक्षा की पूर्व परीक्षा हैं और आप सुजाता ताई को इस परीक्षा के लिए भेज दीजिए तथा शोध कार्य करने की प्रेरणा भी की। भून ने तुरन्त इस बात को ऊपर उठाया और शोधकार्य करने के लिए उत्साहित किया। ७ जुलाई, २००० में यह पूर्व परीक्षा सम्पन्न हुई। परीक्षा में १८० विद्यार्थियों ने भाग लिया परन्तु उनमें से हम नौ विद्यार्थी ही उत्तीर्ण हुए।

डॉ. वीरसागर जी के मार्ग निर्देशन में यह कार्य करने का निश्चय हुआ। सबसे पहला प्रश्न था कि किस विषय पर शोधकार्य करें ? सद्भाग्य से स्वस्ति श्री चारूकीर्ति भट्टारक स्वामी जी, सांगली में ही विराजमान थे। हम उनके पास गये। उन्होंने शोध कार्य करने के लिए बहुत प्रेरणा दी और विषय भी बताया "जयसेनाचार्य के वृत्ति ग्रन्थों पर समीक्षात्मक अध्ययन"। अन्य तीन चार विद्वानों से चर्चा हुई, उनके मुख से भी यही विषय आया। अतः मैंने इसी विषय का निर्णय किया और विषयानुक्रमिका बनाकर यूनिवर्सिटी में प्रस्तुत की।

इस विषय की यूनिवर्सिटी से स्वीकृति प्राप्त हो गई। शोध निबन्ध का कार्य प्रारम्भ हुआ। बाहुबलि (कुंभोज), महाराष्ट्र से दिल्ली बहुत दूर होने से, बार बार जाना संभव नहीं था। वर्ष में एक बार जाना होता था। उसी दौरान पं. देवेन्द्रकुमार जी बाहुबलि में रहने के लिए आये थे। उनका मौलिक मार्गदर्शन मिला, जिस कारण से शोध कार्य कुछ आगे बढ़ा। स्वस्ति श्री चारूकीर्ति स्वामीजी ने भी मार्गदर्शन और कुछ सुझाव दिये थे। वर्ष २००४ में शोध निबन्ध

का कार्य पूरा हुआ और यह शोध निबन्ध यूनिवर्सिटी में जमा किया। एक वर्ष तक इसकी जाँच होकर वर्ष २००५, नवम्बर में मुझे "विद्यावारिधि" की उपाधि से अलंकृत कर दिया गया।

शोध कार्य करने के काल में बहुत अनुभव आये। शास्त्र का अध्ययन आद्योपान्त किस प्रकार करना चाहिए। जयसेनाचार्य के विषय में महिमा उत्पन्न हुई। उनकी वृत्तियों का संशोधन करने के पहले ये वृत्तियाँ बहुत सामान्य लगती थीं। अमृतचन्द्र आचार्य की टीकाएँ भारदस्त और अध्यात्मरस से ओतप्रोत हैं, उनके रसास्वादन से तृप्त होने के कारण जयसेन आचार्य की सरल वृत्तियों को हर बार पढते भी नहीं थे। लेकिन जैसे जैसे संशोधन करते गये, जयसेनाचार्य की एक-एक विशेषता हृदय पटल पर अंकित होती गयी। कितने सारे तथ्यों से ये भरी हुई हैं; विवादास्पद कितने विषयों का स्पष्ट निरूपण इनमें है ; आगम और अध्यात्म का कैसा सुमेल किया है ; जहाँ तहाँ नय विवक्षा प्रकट करके अनेकान्त वस्तु व्यवस्था का स्याद्वादशैली में विवेचन किया है, इन सबका गहरा प्रभाव मुझ पर हुआ और ऐसा लगने लगा कि प्रत्येक ग्रन्थ का अध्ययन इसी पद्धति से करेंगे तो कितने रहस्य हस्तगत होंगे।

सम्पूर्ण शोध ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही लिखा था, क्योंकि उपाध्याय, शास्त्री, आचार्य सभी परीक्षाएँ संस्कृत भाषा में ही होती हैं, अतः विद्यार्थी को शोध निबन्ध भी संस्कृत भाषा में ही प्रस्तुत करना पडता है। शोध निबन्ध को प्रकाशित करने की भी चर्चा हुई, लेकिन वर्तमान में संस्कृत भाषा को जानने वाले कितने लोग हैं ? इसको कौन पढ़ेगा ? पुराने आचार्यों के मूल ग्रन्थ भी वस्तुतः नहीं पढ़े जाते हैं क्योंकि उनका अनुवाद पढ़नेवाले ही अधिकतर लोग हैं। इस विचार से इस ग्रन्थ को प्रकाशित नहीं किया था। इसकी झेरॉक्स कॉपी कराकर कुछ शोधपीठों में प्रेषित कर दी गई थीं। पं. अभयकुमारजी आदि कुछ विद्वानों ने इसे हिंदी मे अनुवादित करने की प्रेरणा की, किंतु षट्खंडागमादि ग्रन्थों के पठन पाठन की व्यस्तता में इस कार्य को गौण किया गया।

२८ जुलाई, २०२१ में परमपूज्य वात्सल्य सिंधु आचार्य सुयशसागरजी महाराज जी के पावन कर कमलों से मेरी जैनेश्वरी दीक्षा सम्पन्न हुई और आर्यिका पद पर स्थापित किया। दीक्षा के उपरान्त भी प्रमेय कमल मार्तण्ड, प्रवचनसार, जयधवला, तिलोयपण्णत्ति इत्यादि ग्रन्थों के अध्ययन में व्यस्त रहे।

एक बार चर्चा में मैंने आचार्यश्री से सहजता से कहा कि मैंने शोध निबन्ध संस्कृत भाषा में लिखा है, उसका हिन्दी अनुवाद करने का कार्य मुझ से नहीं होता। आचार्यश्री ने पूछा, क्यों नहीं होता ? हो जायेगा। आज से ही यह कार्य हम प्रारम्भ करते हैं और उन्होंने दो ही दिन में

२-३ पृष्ठों का हिन्दी अनुवाद भी किया। लेकिन उन्होंने कहा कि "प्रतिदिन आप मुझे १-२ घंटा दो, आप बोलते जाना, मैं लिखता जाऊँगा, जिससे यह कार्य शीघ्र सम्पन्न होगा तथा त्रुटियाँ भी नहीं के बराबर होंगी अतः आपका जाँचने का परिश्रम भी बच जायेगा।"

८ मई, २०२३ को पंढरपुर से नातेपुते की ओर विहार प्रारम्भ हुआ। उसी दिन इस कार्य का भी शुभारम्भ हुआ। विहार में दोपहर में १-२ घंटे का समय मिलता था। २३ मई को नातेपुते पहुँच गये। वहां पर भी प्रतिदिन १-२ घंटे निकालकर यह कार्य जारी रहा। तीन माह के भीतर यह कार्य पूर्ण हुआ।

आचार्यश्री दुगुणी मेहनत करते थे। जो आशुगति से कच्चे रूप से लिखा हुआ था, पुनः रात्रि में उसे व्यवस्थित लिखकर स्वच्छ करते थे। साथ साथ इस लेख को टाइप करने का कार्य श्री अमित व्होराजी को दिया गया। उन्होंने भी कठिन परिश्रम के साथ टाइप करने का कार्य पूर्ण किया। आचार्यश्री का हर कार्य सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित होता है। इतने समय में इस कार्य को पूर्ण करना है, यह लक्ष्य बनाकर ही कार्य प्रारम्भ करते हैं।

आचार्य श्री की सद्भावना, कार्य करने का उत्साह, कठोर परिश्रम, कार्य कुशलता, कार्य करने की आशुवृत्ति, सर्वस्व समर्पण के कारण ही यह कार्य शीघ्र सम्पन्न हो पाया। उनके शब्दकोश में 'अशक्य' यह शब्द नहीं है। नहीं तो और कितने वर्ष यह कार्य राह की कोटि में रह जाता, पता नहीं। आचार्यश्री की असीम कृपा मुझपर है कि मेरी हर इच्छा सफल होती है। मानो मैं कल्पवृक्ष की छाँव में ही बैठी हूँ ऐसा महसूस होता है। इस वृद्धावस्था में आचार्य श्री इतनी मेहनत कर सकते हैं, तो युवावस्था में इनका परिश्रम कितना होगा। मैं उनकी अत्यन्त ऋणी हूँ।

हमारे परम सौभाग्य से अतिशय क्षेत्र दहिगाँव प्रवास में प.पू. मुनि १०८ श्री शुभम् कीर्ति जी महाराज का सान्निध्य प्राप्त हुआ। उन्होंने भी दो रात्रि में पूरे शोध निबन्ध के अन्तिम प्रूफ की जाँच करके सहायता प्रदान की। उनके चरणों में शत-शत नमोस्तु।

इस चातुर्मास (नातेपुते, महाराष्ट्र) में सोने में सुहागा के समान प.पू. आर्यिका अनुप्रेक्षामति और प.पू. आर्यिका अनुश्रुतमति माताजी का सत्सानिध्य प्राप्त हुआ। जिसके कारण स्वाध्याय में अलग ही रंगत आयी थी। माताजी की भी अनुकम्पा मेरे ऊपर विशेष रही। उन्होंने भी इस शोध निबन्ध का प्रूफ जाँचने में बहुत सहायता प्रदान की। उनकी अन्तर्मुखीवृत्ति का मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव हुआ। धर्मप्रेमी श्रेष्ठी श्री इन्द्रजीत गांधी ने भी इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक साधन जुटाकर बहुत सहयोग किया, वे धन्यवाद

एवं साधुवाद के पात्र हैं। पं. सम्मेद दोशी शास्त्री जी एवं पं. धवल गांधी शास्त्री जी ने अपना अमूल्य समय निकालकर इस शोध निबन्ध के प्रूफ जाँचने में सहयोग किया। उन्हें बहुत आशीर्वाद !

आप सभी के पुण्योदय से यह कृति आपके हाथ में आयी है। इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। अनेक बार प्रूफ जाँचने पर भी त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है। उसके लिए देव, शास्त्र, गुरू के चरणों में क्षमा याचना करते हैं और पाठकों से भी क्षमाभाव !

- आर्यिका शुद्धोहंश्री

विषय अनुक्रमणिका

अ.नं.			पृष्ठ संख्या
		प्रथम अध्याय	
		प्रास्ताविक	**१-२७**
अ)		भारतीय दर्शन में जैन दर्शन का वैलक्षण्य	१
ब)		अकारत्रयी	३
	१)	अहिंसा	३
	२)	अनेकान्त	५
	३)	अपरिग्रह	६
क)		जैन दर्शन की आरातीय परम्परा	७
ड)		जैन आचार्य परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का अवदान	१४
ई)		जयसेन नामक आचार्य	२०
फ)		वृत्तिकार जयसेन आचार्य	२६
		द्वितीय अध्याय	
		आचार्य जयसेन का जीवनवृत्त, व्यक्तित्व और प्रभाव	**२८-८४**
अ)		जीवनवृत्त	२८
	१)	रचना काल	२८
	२)	अलौकिक जीवन परिचय	३८
	३)	लौकिक जीवन परिचय	४२
		अ) परिवार	४३
		ब) जन्म स्थान	४४
		क) दीक्षा और शिक्षा गुरु	४७
ब)		व्यक्तित्व	४८
	१)	वृत्ति रचना का उद्देश्य	५०
	२)	उत्थानिका शैली	५१
	३)	व्युत्पत्ति अर्थ शैली	५१
	४)	पंचविध अर्थ प्रतिपादन शैली	५२
	५)	नय शैली	५३

अ.नं.			पृष्ठ संख्या
	६)	प्रश्नोत्तर शैली	५३
	७)	उद्धरण शैली	५५
	८)	दृष्टान्त दार्ष्टान्त शैली	५५
	९)	सुगम व्याख्या शैली	५६
	१०)	प्रकाण्ड तार्किक	५८
	११)	महान सिद्धान्तज्ञ	६२
	१२)	अध्यात्म रसिक	६४
	१३)	निपुण व्याकरणज्ञ	७०
क)		प्रभाव	७४
	१)	ब्रह्मदेव के ऊपर प्रभाव	७४
	२)	आध्यात्मिक बालचन्द्र के ऊपर प्रभाव	७६
	३)	आरातीय मुनि और विद्वत् वर्गों पर प्रभाव	७८
		अ) ज्ञानसागर महाराज के ऊपर प्रभाव	७८
		ब) वीरसागर महाराज के ऊपर प्रभाव	७९
		क) पं. हीरानन्द महोदय के ऊपर प्रभाव	७९
		ड) ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद के ऊपर प्रभाव	८०
		इ) क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी महोदय के ऊपर प्रभाव	८१
		ई) कानजीस्वामी महोदय के ऊपर प्रभाव	८२
		तृतीय अध्याय	
		आचार्य जयसेन के वृत्ति ग्रन्थों का सामान्य परिचय	**८५-१९८**
अ)		सूत्र वृत्ति ग्रन्थों की परम्परा	८५
	१)	सूत्र शब्द का अर्थ	८६
	२)	सूत्र का लक्षण	८६
	३)	वृत्ति सूत्र का लक्षण	८७
	४)	वृत्ति का स्वरूप	८७
ब)		वृत्ति, टीका, पद्धति, पञ्जिका आदि में परस्पर अन्तर	८८
		१) वृत्ति २) टीका ३) पञ्जिका ४) पद्धति	८९-९०

अ.नं.			पृष्ठ संख्या
क)		वृत्ति रचना परम्परा	९०
ड)		वृत्ति ग्रन्थों का रचना काल	९१
इ)		काल क्रम अनुसार वृत्ति सूची	९५
	१)	दिगम्बरीय वृत्ति ग्रन्थों की कालक्रम अनुसार वृत्ति सूची	९५
	२)	श्वेताम्बरीय वृत्ति ग्रन्थों की कालक्रम अनुसार वृत्ति सूची	९८
ई)		पञ्चास्तिकायसंग्रह की तात्पर्यवृत्ति का परिचय	१०५
	१)	आधार ग्रन्थ	१०५
	२)	नामकरण	१०६
	३)	ग्रन्थ रचना का निमित्त	१०७
	४)	ग्रन्थ रचना काल	१०८
	५)	ग्रन्थ परिमाण	१०९
	६)	विषय वस्तु	११०
		अ) प्रथम अधिकार, ब) द्वितीय अधिकार, क) तृतीय अधिकार	११०-१२३
	७)	जयसेन की वृत्ति में अतिरिक्त गाथा	१२४
	८)	तात्पर्यवृत्ति का कौशल	१२५
फ)		प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति	१३०
	१)	मूल ग्रन्थ का वैशिष्ट्य	१३०
	२)	ग्रन्थ रचना का निमित्त	१३२
	३)	ग्रन्थ रचना काल	१३३
	४)	ग्रन्थ परिमाण	१३५
	५)	प्रतिपाद्य विषय	१३६
		अ) सम्यग्ज्ञान अधिकार, ब) सम्यग्दर्शन अधिकार, क) सम्यक्चारित्र अधिकार	१३६-१५०
	६)	जयसेन आचार्य की वृत्ति में उपलब्ध अधिक गाथाएँ	१५५
	७)	तात्पर्यवृत्तिगत विवेचन	१५७
ग)		समयसार तात्पर्यवृत्ति	१६३

अ.नं.			पृष्ठ संख्या
	१)	समयसार का मौलिक सौन्दर्य	१६३
	२)	नामकरण	१६६
	३)	ग्रन्थ परिमाण	१६७
	४)	प्रतिपाद्य विषय	१७१
		i) जीव अधिकार	१७३
		ii) अजीव अधिकार	१७४
		iii) कर्तृ कर्म अधिकार	१७६
		iv) पुण्य पाप अधिकार	१७९
		v) आस्रव अधिकार	१८०
		vi) संवर अधिकार	१८१
		vii) निर्जरा अधिकार	१८२
		viii) बन्ध अधिकार	१८४
		ix) मोक्ष अधिकार	१८५
		x) सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार – स्याद्वाद अधिकार	१८६-१९०
	५)	तात्पर्यवृत्तिगत अतिरिक्त गाथाएँ	१९१
	६)	तात्पर्यवृत्ति का नवनीत	१९३
		चतुर्थ अध्याय	
		जयसेन आचार्य की वृत्ति ग्रन्थों का विविध प्रतिपाद्य की दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन	**१९९-३४६**
अ)		दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन	१९९
	अ)	द्रव्य गुण पर्याय का विवेचन	२००
		१. द्रव्य गुण पर्याय के परिज्ञान की आवश्यकता	२००
		२. द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति	२०१
		३. द्रव्य का लक्षण और स्वरूप	२०१
		४. द्रव्य का विवेचन	२०२
		५. गुण की व्युत्पत्ति	२०३
		६. गुण का लक्षण और स्वरूप	२०३

अ.नं.			पृष्ठ संख्या
		७. गुण के भेद	२०४
		८. पर्याय की व्युत्पत्ति	२०४
		९. पर्याय का लक्षण और स्वरूप	२०५
		१०. पर्याय के भेद	२०५
		११. द्रव्य गुण पर्यायों का विवेचन	२०८
		१२. जीव द्रव्य का स्वरूप	२१०
		१३. पुद्गल द्रव्य का स्वरूप	२१३
		१४. धर्म द्रव्य का स्वरूप	२१५
		१५. अधर्म द्रव्य का स्वरूप	२१७
		१६. आकाश द्रव्य का स्वरूप	२१८
		१७. काल द्रव्य का स्वरूप	२१९
	ब)	तत्त्व पदार्थ प्ररूपणा	२२२
		१. तत्त्व परिज्ञान की आवश्यकता	२२२
		२. तत्त्वार्थ शब्द का अर्थ	२२४
		३. तत्त्व और पदार्थ का संख्या निर्देश	२२४
		४. सप्त तत्त्व और नौ पदार्थों का प्रयोजन	२२५
		५. सप्त तत्त्व और नौ पदार्थों का क्रम निर्देश	२२६
		६. जीव तत्त्व का स्वरूप	२२७
		७. अजीव तत्त्व का स्वरूप	२२९
		८. आस्रव तत्त्व का स्वरूप	२३०
		९. पुण्य पाप का स्वरूप	२३१
		१०. संवर तत्त्व का स्वरूप	२३४
		११. निर्जरा तत्त्व का स्वरूप	२३५
		१२. बंध तत्त्व का स्वरूप	२३७
		अ) बंध के कारणों का विवेचन	२३९
		१३. मोक्ष तत्त्व का स्वरूप	२४०
		अ) मोक्ष कारण विचार	२४०

अ.नं.			पृष्ठ संख्या
	क)	निमित्त उपादान मीमांसा	२४१
		१. कारण का स्वरूप	२४२
		२. निमित्त कारण के भेद	२४२
		अ) निमित्त कारण कार्य का अकर्ता	२४३
		३. उपादान कारण के भेद	२४७
	ड)	नय निरूपण	२५१
		१. नय ज्ञान की आवश्यकता	२५१
		२. नय का सामान्य स्वरूप	२५२
		३. द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का विवेचन	२५४
		४. निश्चय व्यवहार का स्वरूप और भेद प्रभेद	२५५
		५. निश्चय नय के भेद प्रभेद अ) परमशुद्ध निश्चय, ब) साक्षात शुद्ध निश्चय, क) एकदेश शुद्ध निश्चय, ड) अशुद्ध निश्चय	२५९-२६२
		६. व्यवहार नय के भेद प्रभेद	२६३
		अ) अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय	२६५
		ब) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय	२६६
		क) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय	२६६
		ड) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय	२६८
	इ)	अनेकान्त और स्याद्वाद का विश्लेषण	२६८
	ई)	सप्तभंगी निरूपण	२७४
ब)		सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्ययन	२८०
	१)	केवली कवलाहार निषेध	२८०
	२)	स्त्री मुक्ति का निराकरण	२८६
	३)	कर्म सिद्धान्त	२९०
		अ) कर्म के अस्तित्व की सिद्धि	२९०
		ब) जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध	२९२
क)		आध्यात्मिक दृष्टि से अध्ययन	२९७

अ.नं.			पृष्ठ संख्या
	१)	शुद्धात्मा का स्वरूप	२९७
	२)	अवस्था की अपेक्षा से आत्मा के भेद	३०७
		अ) बहिरात्म अवस्था	३०९
		ब) अन्तरात्म अवस्था	३०९
		क) परमात्म अवस्था	३१२
	३)	आत्मानुभूति का साधन	३१३
	४)	ध्यान का विवेचन	३१८
		अ) ध्यान की उपयोगिता	३१८
		ब) ध्यान का लक्षण	३२०
		क) ध्यान के भेद	३२२
		ड) ध्यान की सामग्री (ध्यान का स्वरूप)	३२३
		इ) ध्येय का स्वरूप	३२६
	५)	सराग और वीतराग सम्यक्त्व का विश्लेषण	३३१
	६)	स्वसमय परसमय का विवेचन	३४०
		पंचम अध्याय	
		जयसेन आचार्य विरचित वृत्ति ग्रन्थों की व्याख्यान पद्धति	**३४७-४०४**
अ)		प्रत्येक व्याख्या	३४८
ब)		उत्थानिका शैली	३४९
क)		पंचार्थ निरूपण शैली	३५३
	१)	शब्दार्थ	३५४
	२)	नयार्थ	३५५
	३)	मतार्थ	३५५
	४)	आगमार्थ	३५७
	५)	भावार्थ	३५८
ड)		पर्यायवाची शब्दों की प्रयोग शैली	३६०
इ)		दीर्घ समास युक्त पद एवं दीर्घ वाक्यों की प्रयोग शैली	३६०

अ.नं.			पृष्ठ संख्या
ई)		अस्ति नास्ति रूप कथन शैली	३६१
प)		आगम और अध्यात्म में सुमेल शैली	३६३
	१)	पाँच भाव सम्बन्धी निरूपण	३६८
	२)	सम्यग्दर्शन सम्बन्धी निरूपण	३६८
	३)	ध्यान सम्बन्धी निरूपण	३७२
	४)	चारित्र की अपेक्षा निरूपण	३७३
	५)	लब्धि सम्बन्धी निरूपण	३७४
फ)		दृष्टान्त शैली	३७६
	१)	वस्तु के गुणधर्म मूलक दृष्टान्त	३७७
	२)	नैसर्गिक दृष्टान्त	३७७
	३)	मानव स्वभाव वृत्ति परक दृष्टान्त	३७८
	४)	लोक प्रचलित दृष्टान्त	३७९
	५)	लौकिक जीवों के अनुभव मूलक दृष्टान्त	३७९
	६)	अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्त	३८१
	७)	संगति प्रभाव दर्शक दृष्टान्त	३८२
	८)	महापुरूषों के दृष्टान्त	३८३
	९)	अमूर्त से मूर्त पदार्थ के दृष्टान्त	३८३
	१०)	अत्यन्त तुच्छ वस्तु प्राप्ति के लिए अमूल्य वस्तु समर्पण मूलक दृष्टान्त	३८४
	११)	एक सिद्धान्त विवरण के लिए अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग	३८५
	१२)	रूपक दृष्टान्त	३८६
	१३)	न्याय मूलक दृष्टान्त	३८७
ग)		प्रश्नोत्तर शैली	३८८
	१)	गाथा अर्थ सरलीकरण के लिए	३८९
	२)	प्रश्नोत्तरों का युक्तिपूर्वक प्रस्तुतिकरण	३९०
	३)	एक प्रश्न के समाधान के लिए अनेक हेतुओं का प्रयोग	३९१
	४)	एक प्रश्न के समाधान के लिए अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग	३९२

अ.नं.			पृष्ठ संख्या
	५)	परमतों के निराकरण के लिए प्रश्नोत्तर	३९२
	६)	पूर्वापर विरोध दूर करने के लिए प्रश्नोत्तर	३९३
	७)	विवक्षा स्पष्टीकरण के लिए प्रश्नोत्तर	३९३
	८)	तर्क वितर्क समाधान के लिए प्रश्नोत्तर	३९४
	९)	जिज्ञासा शमनार्थ प्रश्नोत्तर	३९५
	१०)	क्रमशः अनेक प्रश्नोत्तरों का प्रयोग	३९६
	११)	पुनरुक्त दोष परिहार के लिए प्रश्नोत्तर	३९७
	१२)	प्रश्नोत्तरों में व्यंग	३९८
घ)		तर्क प्रधान न्याय शैली	३९९
		षष्ठम अध्याय	
		जयसेन आचार्य विरचित ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन	**४०५-४४०**
अ)		अमृतचन्द्र आचार्य विरचित टीकाओं से तौलनिक अध्ययन	४०५
	१)	आचार्य द्वय की टीकाओं में सादृश्य	४०५
	२)	आचार्य द्वय की टीकाओं में वैसादृश्य	४०७
ब)		प्रभाचन्द्र आचार्य विरचित वृत्तियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन	४२३
क)		बालचन्द्र विरचित वृत्तियों से तुलना	४२९
ड)		ब्रह्मदेव जयसेन विरचित वृत्तियों का तौलनिक व्याख्यान	४३१
	१)	ब्रह्मदेव कृत वृत्ति का जयसेन कृत वृत्तियों के साथ सादृश्य	४३२
	२)	जयसेन आचार्य और ब्रह्मदेव कृत वृत्तियों में वैसादृश्य	४३७
		सप्तम अध्याय	
		उपसंहार	**४४१-४४८**
क)		वृत्ति रचनाओं के कारण	४४२
ड)		मौलिक उद्भावना	४४३

अ.नं.			पृष्ठ संख्या
इ)		आध्यात्मिक क्षेत्र में जयसेन आचार्य का महत्त्वपूर्ण योगदान	४४५
		परिशिष्ट	४४९
		मूलग्रन्थ सूची	४४९
		पाण्डुलिपि ग्रन्थ सूची	४५०
		सहायक ग्रन्थ सूची	४५१
		पत्रिका सूची	४६४
		सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	४६५

प्रथम अध्याय

प्रास्ताविक

भारतीय दर्शन में जैन दर्शन का वैलक्षण्य :-

समस्त भूमंडल के विद्यमान देशों में मूर्धन्य यह भारत देश, भारतवासियों के चरित्र सुगन्ध से जन मानस को आनन्दित करता हुआ विराजमान है। भारतवर्ष की महिमा केवल कपोल कल्पित नहीं है, अपितु संस्कृति की दृष्टि से ही उसका महत्त्व है। सब संस्कृतियों में प्राचीन, श्रेष्ठ और ज्येष्ठ भारतीय संस्कृति है। यह निर्विवाद तथ्य है। यह पुरातनी संस्कृति है, इतने मात्र से इसकी गरिमा नहीं है, परन्तु गुण समूह से भी इसकी महिमा है। विचार स्वातन्त्र्य, धर्म प्राधान्य, आत्मज्ञान, सदाचार, समन्वय इत्यादि दुर्लभ विविधगुण यहाँ एकीभूत हुए दिखाई देते हैं। प्राचीन काल में यह संस्कृति सम्पूर्ण जगत में अपने प्रभाव को दिखाती है। धर्म, सदाचार, संस्कृति, साहित्य आदि से हमारा भारतवर्ष सबसे आगे है। बहुत ऋषि, मुनि, यति महात्माओं के चरणतल स्पर्श से यह भारत वसुन्धरा पावन है। यह देश धर्म निरपेक्ष है। इसलिए यहाँ विविध दर्शन, अपने भिन्न-भिन्न अस्तित्व को धारण करते हैं। यद्यपि आहार, निद्रा, भय, मैथुन से पशुओं के साथ मनुष्य का समानत्व है, तथापि मानव, बुद्धि चातुर्य होने के कारण विचारशील है। वह बुद्धि की सहायता से युक्ति पूर्वक ज्ञान प्राप्त करता है।

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए युक्तिपूर्वक प्रयत्न ही दर्शन है, ऐसा कहा जाता है।[१]

"दृश्यते अनेन इति दर्शनम्"।

प्रश्न :- "क्या दिखाई देता है ?

उत्तर :- वस्तु का यथार्थ स्वरूप !

मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? इस दृश्यमान विश्व का क्या स्वरूप है ? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई ? इस सृष्टि का क्या कारण है ? यह चेतन है अथवा अचेतन है ? इस संसार में हमारा क्या कर्तव्य है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान ही दर्शन का मुख्य प्रयोजन है। भारतीय दर्शन के अनुसार हम तत्त्व का साक्षात्कार कर सकते हैं। तत्त्व का साक्षात्कार ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर कर्म, मनुष्य को नहीं बाँधता। जिसकी यह सम्यग्दृष्टि नहीं उत्पन्न होती, वह संसार को प्राप्त होता है।[२]

---

१. सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय : भारतीय दर्शन - हिन्दी रूपान्तर - हरिमोहन झा पृ.सं.१ प्रथम संस्करण

२. सम्यग्दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ - मनुस्मृतिः, अ.६ श्लो.सं.७४

इस भारतवर्ष में दर्शन और धर्म, भारतीय जीवन और तत्त्वज्ञान इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई देता है। तीन प्रकार के ताप से संतप्त लोगों को शान्ति के लिए और क्लेशमय संसार से आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति के लिए भारत देश में दर्शन शास्त्र का आविर्भाव हुआ।[१]

प्राचीन अर्वाचीन हिन्दु और अहिन्दु, आस्तिक और नास्तिक जितने भारतीय हैं, उन सभी का दार्शनिक विचार भारतीय दर्शन में अन्तर्भूत है।[२] भारतीय दर्शन उदात्त और व्यापक है। यद्यपि भारतीय दर्शन की अनेक शाखाएं हैं उनमें मत भिन्नता भी है, तथापि वे विविध दर्शन परस्पर में तिरस्कार नहीं करते, अपितु परस्पर के विचारों को जानने के लिए प्रयत्न करते हैं और विविध विचारों की युक्ति पूर्वक समीक्षा करते हैं। इन विविध दर्शनों में जैन दर्शन अपने वैशिष्ट्य से भिन्न ही पहचान दिखाता है।

सृष्टि के विषय में जैनियों का दृष्टिकोण पूर्णतः सुनिश्चित है। ब्रह्मवादियों के मत में इस सृष्टि का मूल तत्त्व सत् है, और वह सत् ब्रह्म ही है। ब्रह्मा ही सृष्टि का सर्जक, पालक और संहारक है।[३]

जैन दर्शन भी सत् वादी है। परन्तु उनके मत में सत् पुराण के समान भिन्न तत्त्व अथवा द्रव्य नहीं है। अपितु सत् द्रव्य का लक्षण ही है। सत् लक्षण युक्त द्रव्य से निरन्तर पर्यायों की उत्पत्ति और नाश होता है। तथापि द्रव्य ध्रुव रूप से अव्यय रहता है। उसके मत में यह लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन छह द्रव्यों के समूहात्मक है। आकाशद्रव्य अनन्तानन्त विस्तृत है। वह गति से रहित अवगाहन हेतुत्व लक्षणयुक्त अचेतन द्रव्य है। उस विस्तृत आकाश द्रव्य के बहुमध्य भाग में जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों से भरा हुआ लोक है।[४]

गति हेतुत्व लक्षणवाला लोक प्रमाण धर्म द्रव्य एक है। स्थिति हेतुत्व लक्षणवाला एक अधर्म लोक में विस्तृत है। एक प्रदेशी काल नामक द्रव्य उसके एक एक प्रदेश पर स्थित है। अनंतानंत जीव और पुद्गल द्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। ये छह द्रव्य कभी भी किसी से

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ.सं. ९, तृतीय संस्करण, सन् १९८४

२. सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय : भारतीय दर्शन - हिन्दी रूपान्तर, पृ.सं. १, प्रथम संस्करण

३. डॉ. प्रकाश : भारतीय सृष्टिविद्या, पृ.सं. ६, प्रथम संस्करण, सन् १९७४

४. सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झ संठिओ लोओ।
सो केण वि णेव कओ ण य धरियो हरिहरादीहिं॥
* स्वामि कुमार कार्तिकेयः कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक ११५, तृतीय संस्करण,
आगास जीवाजीवेहि फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो। - लोक तत्त्व निर्णय :। ३। ३४-३६

उत्पन्न नहीं होते और कभी भी नष्ट नहीं होते। अनादि अनन्त द्रव्यों से निर्मित यह लोक भी आदि अन्त से रहित, किसी के द्वारा निर्मित नहीं है, न धारण किया हुआ है, और न ही नाश किया गया है। इसलिए इसका स्रष्टा, पालक और संहारक कोई नहीं है। यह लोक अनादिनिधन, अकृत्रिम, स्वभाव से निर्वृत, स्वयं संचालित और शाश्वत है।[१]

वैदिक मतानुयायी जैन दर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन कहते हैं। वह सत्य नहीं है। जैन ईश्वर ही नहीं मानते, ऐसा नहीं कहना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार मुक्त आत्मा ही ईश्वर है।[२]

प्रत्येक जीव अपने पौरुष बल से ईश्वर (मुक्त) हो सकता है। कोई एक सर्व व्यापक, जगत्कर्ता ईश्वर नहीं है, ऐसा उनका मत है।

अकार त्रयी- अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह

१. अहिंसा:-

जैन दर्शन में अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह ऐसी सबका कल्याण करनेवाली सारभूत अकारत्रयी शोभायमान है। विविध धर्मों में और विविध सम्प्रदायों में अहिंसा की मान्यता और उसकी श्रेष्ठता स्वत: ही अहिंसा का गौरव गाती है। ऐसा कोई धर्म प्रवर्तक और धर्म प्रचारक नहीं है जो अहिंसा की आवश्यकता को सर्वथा स्वीकार नहीं करता। अहिंसा सर्वथा, सर्वदा सब प्राणियों को द्रोह रहित है। ऐसी परिभाषा व्यास भाष्य में भी दिखाई देती है।[३] वास्तव में सभी यम और नियमों की मूलभूत अहिंसा ही है। "अहिंसा परमो धर्मः" "अहिंसा प्रतिष्ठायाँ तत्सन्निधौ वैरत्यागः" इत्यादि सूक्तियाँ अहिंसा का महत्त्व बताती हैं। जैन दर्शन में बताई गई अहिंसा सभी में गरिष्ठ, श्रेष्ठ और विलक्षण है। भगवान बुद्ध ने भी अहिंसा का प्रचार किया। स्वयं किसी भी प्राणी को पीडा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार बुद्ध ने बताई हुई अहिंसा सीमित है, किन्तु जैन सम्मत अहिंसा निस्सीम है। मन से, वचन से और काय से स्वयं हिंसा नहीं करनी चाहिए, न अन्य के द्वारा हिंसा करानी चाहिए और न हिंसा करने वाले अन्य की अनुमोदना करनी चाहिए। इस प्रकार जैन धर्म में सभी हिंसा का निषेध किया है।[४] जिस प्रकार

---

१. लोको ह्यकृत्रिमो ज्ञेयो जीवाद्यर्थावगाहकः।
नित्यः स्वभाव निर्वृतः सोऽनन्ताकाशमध्यगः / महापुराण, सर्ग: ४, श्लोक १५
लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो / त्रिलोकसार : गा. ४

२. डॉ. रामजी उपाध्याय, भारतस्य सांस्कृतिक निधिः, पृ.सं. ८२, तृतीय संस्करण, १९९०

३. डॉ. पारसनाथ द्विवेदी : संस्कृत-निबन्ध-नवनीतम्, पृ.सं. ४७, षष्ठ संस्करण

४. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ.सं. १३५, तृतीय संस्करण, १९६२

हमारे स्वप्राण प्रिय हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने अपने प्राण प्रिय हैं। इसलिए साधु पुरुष सर्व प्राणियों को अपने समान मानकर उनकी दया करते हैं।[१]

अहिंसा ही सर्व प्राणियों की हितकारणि प्रिय सखी है। अहिंसा ही स्वास्थ की मूल कुंजी है। ऐसा सदैव स्मरण करना चाहिए।[२]

दूसरे के प्राणों का हरण, दूसरे के प्राणों को पीडा देना, दोनों भी हिंसा कही जाती हैं। परन्तु जैन धर्म के अनुसार केवल प्राण घात में हिंसा नहीं होती, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व में सर्वत्र सूक्ष्म जीव पाये जाते हैं, वे हमारे निमित्त से मरते भी हैं, तथापि जैन धर्म इस प्रकार के जीव घात को हिंसा नहीं मानता। उसके मत में हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है।[३] अतः तत्त्वार्थ सूत्र में हिंसा की परिभाषा "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" ऐसी की है।[४] प्रमत्तयोग का सद्भाव होने पर प्राणों का घात नहीं होने पर भी हिंसा है और प्रमत्त योग के अभाव में कदाचित् प्राण घात होने पर भी हिंसा नहीं है। जहाँ पर क्रोधादि विकारों का अभाव है, वहाँ पर प्रमत्तयोग नहीं है, वहाँ हिंसा भी नहीं है।

रागादिकों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है। रागादिकों की उत्पत्ति ही हिंसा है। ऐसी हिंसा और अहिंसा की सारभूत परिभाषा जैन दर्शन में कहीं है।[५]

अहिंसा निज आत्मा का धर्म अथवा स्वभाव है। हिंसा, पुनः आत्मा का विभाव, दोष, मल और विकार है।[६]

जैन दर्शन में केवल शारीरिक अहिंसा ही नहीं बतायी है, वहाँ बौद्धिक अहिंसा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैन दर्शन का अनेकान्त सिद्धान्त है। जन सामान्य को हिंसा से निवृति के लिए जैन दर्शन में अहिंसा का उपदेश दिया है। परन्तु चिन्तकों और विचारकों को हिंसा कर्म से निवृति के लिए अनेकान्त सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।[७]

---

१. प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मवत् सर्व भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥ महाभारत पर्व १३, श्लोक सं. ११६

२. कामता प्रसाद जैन : मानव जीवन में अहिंसा का महत्त्व, पृ.सं. ३२, प्रथम संस्करण, १९५४

३. पं. कैलाशचन्द्र जैन : भारतीय धर्म एवं अहिंसा, पृ.सं.८४-८५, १९८३

४. आचार्यगृद्धपिच्छ (उमास्वामी) : तत्त्वार्थ सूत्र : अ ५, सूत्र १३

५. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥ आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक सं.४४

६. ब्र. श्री सीतल प्रसाद जी : जैन धर्म में अहिंसा, पृ.सं. २, प्रथम संस्करण, १९३९

७. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ.सं. १३६-१३७, तृतीय संस्करण, १९६२

२. अनेकान्त :-

अनेकान्त जैन दर्शन का जीवन है । अनेकान्त के बिना जैन धर्म नहीं है । वस्तु अनेकान्तात्मक है । प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं । जिस दृष्टि से वस्तु देखी जाती है, उस समय उतनी ही वस्तु नहीं हैं किन्तु वहाँ अन्य धर्म भी रहते हैं । अनेकान्त उनका निराकरण नहीं करता । अनेकान्त वस्तु का स्वरूप है । उस अनेकान्त के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं । जो तत् है, वही अतत् है; जो एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है; इस प्रकार एक वस्तुमें वस्तुत्व को बताने वाले परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशन ही अनेकान्त है ।[१] प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्म युगल प्रतीति में आते हैं । अतः वस्तु केवल अनन्त धर्मों का पिण्ड नहीं है, अपितु परस्पर विरोधी धर्म युगलों का भी पिंड है । स्याद्वाद उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों का, सापेक्ष कथन शैली से प्रतिपादन करता है । उन सभी धर्मों का कथन एक साथ नहीं हो सकता है । क्योंकि, शब्दों में वैसी सामर्थ्य नहीं है । शब्द एक समय में एक धर्म का ही कथन कर सकता है । वक्ता जब जिस धर्म की विवक्षा से प्रतिपादन करता है, तब वह धर्म मुख्य होता है, इतर धर्म अविवक्षित गौण होते हैं । स्यात् शब्दका “कथंचित् अपेक्षा से" अर्थ होता है ।

स्यात् शब्द का हिन्दी भाषा में "शायद" ऐसा अर्थ होता है । जिससे ऐसा प्रतिभासित होता है कि स्याद्वाद निश्चित ज्ञान का साधन नहीं है । किन्तु संशय का स्थान है । इसी से शंकराचार्य, शांतरक्षित, रामानुज, राधाकृष्णन, राहुल, सांस्कृत्यायन के सदृश विद्वानों ने भी स्याद्वाद को न जानकर उसकी आलोचना की । किन्तु महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने जैन दर्शन नामक ग्रन्थ में स्याद्वाद की आलोचनाओं का समाधान किया है । स्यात् शब्द केवल संशयजनक नहीं है, अपितु सुनिश्चित दृष्टिकोण का वाचक है । शब्द वस्तु के समग्र स्वरूप को बताने के लिए असमर्थ है । अत: एक समय में एक ही दृष्टि से वस्तु का प्रतिपादन करना शक्य है । यह प्रतिपादन शैली ही "स्याद्वाद" कही जाती है ।

---

१. आचार्यामृतचन्द्र : समयसार- आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट, पृ.सं.६४८

अनेकान्त चिंतन की अहिंसामयी प्रक्रिया है और स्याद्वाद उसी चिंतन की अभिव्यक्ति की शैली है। जैन धर्म में विचार में अनेकान्त का, उच्चारण में स्याद्वाद का, आचार में अहिंसा का महत्त्व पूर्ण स्थान बताया है।[१]

अनेकांत का अनुसन्धान, अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है। सम्पूर्ण संसार जैसे ही इस सिद्धान्त को आत्मसात् करेगा, वैसे शीघ्र ही विश्वशांति होगी।[२] विश्वशांति का अमोघ उपाय "अनेकान्त" है।

३. अपरिग्रह :-

जैन दर्शन का अपरिग्रह सिद्धान्त जानने के लिए गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। परिग्रह दो प्रकार का कहा गया है। १) अभ्यंतर परिग्रह २) बाह्य परिग्रह | उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकार अभ्यंतर परिग्रह हैं। क्षेत्र, वास्तु, चांदी, सोना, धन, धान्य आदि बाह्य परिग्रह हैं। केवल बाह्य परिग्रह के त्याग से कोई भी अपरिग्रही नहीं होता। अपरिग्रह के आचरण में बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह का त्याग अनिवार्य है।[३]

वस्तुतः बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं है। उसके प्रति मन में जो आसक्ति और ममत्व परिणाम है, वही परिग्रह है। इसलिए "मूर्च्छा परिग्रहः" इस प्रकार परिग्रह की परिभाषा तत्त्वार्थ सूत्र में कही है।[४]

निज शुद्धात्मा को छोड़कर परमाणु मात्र भी पर द्रव्य मेरा नहीं है। निर्ममत्व भाव ही अपरिग्रह है। भाव विशुद्धि के लिए बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है, परन्तु अभ्यन्तर परिग्रह से युक्त के बाह्य त्याग निष्फल है।[५]

इस प्रकार जैन दर्शन में व्याख्यात अकारत्रयी लोक संताप को दूर करती हुई, शान्ति सुधा की वर्षा करती हुई, अपनी श्रेष्ठता के सौरभ को फैलाती हुई विराजमान है। सम्पूर्ण विश्व में निराकुल शान्ति की स्थापना के लिए उपर्युक्त अकारत्रयी परम कल्याणकारी तथा इहलोक और परलोक के हित की इच्छा करने वालों के द्वारा सर्वथा आश्रय करने योग्य है।

---

१. डॉ. हुकुमचन्द भारिल्लः तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ, पृ.सं.१७५, अष्टम संस्करण, १९९९

२. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ.सं. १३७

३. अब्भंतरबाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि। - आ. शिवार्यकृत भगवती आराधना, श्लोक १११७

४. तत्त्वार्थ सूत्र, अ.७, सू. १७

५. भाव विसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बहिरचाओ विहल्लो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥ आ- कुन्दकुन्दकृत भाव पाहुड, गाथा ३

जैन दर्शन की आरातीय परम्परा

जैन धर्म, इतिहासातीत परम्परा और जीवित दर्शन है। इस विषय में जैन आगमों में, पुराण में, इतिहास में, पुरातत्त्व विषयक सामग्रियों में बहुत प्रमाण उपलब्ध होते हैं।[१] जैन धर्म सम्मत तीर्थंकरों का अस्तित्व प्राक् वैदिक काल से था। यह भी प्रमाण सिद्ध है।

तीर्थंकर वस्तुतः किसी नये सम्प्रदाय अथवा धर्म की स्थापना नहीं करते। वे अनादि निधन, आत्म तत्त्व का स्वयं साक्षात्कार करके, वीतराग भाव से उसकी व्याख्या अथवा प्रवचन करते हैं। पापादिकों को जिससे तिरता है, वह तीर्थ है, ऐसा तीर्थ शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है।[२] इस प्रकार के तीर्थ को जो कर्ता है, वह तीर्थंकर है। (तीर्थ = धर्मोपदेश) | अतीत काल में चौबीस तीर्थंकर हुए। वर्तमान काल में ऋषभ से लेकर महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकर हुए। भविष्य काल में चौबीस तीर्थंकर होंगे, ऐसा आगम में कहा है। वस्तुतः इस प्रकार की तीर्थंकर परम्परा अनादिकालीन है, ऐसा जैन दर्शन का मत है। धर्म के मूल स्तम्भ स्वरूप, ये सभी भूत, वर्तमान, भावी तीर्थंकर शाश्वत सत्यों का समान रूप से प्ररूपण करते हैं। तीर्थंकर, वे विशिष्ट वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी पुरुष हैं, जो संसार सागर से पार उतारने का मार्ग दिखाते हैं, इसलिए वे मोक्षमार्ग के प्रवर्तक युगपुरुष हैं।[३]

वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों में से ऋषभदेव और नमि, नेमि, पार्श्व, महावीर तीर्थंकरों का निर्देश अन्य साहित्य में और पुरातत्त्व आदिक में प्राप्त होता है। विश्व के प्राचीन साहित्य में ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी एक ऋचा में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख दिखाई देता है।[४]

---

१. द मॉडर्न रिव्यू, जून १९२९, पृ.सं. ७२३ तथा अगस्त १९३२, पृ.सं. १५१-१६०

२. तीर्यते ऽनेनेति तीर्थम्। द्रव्यतो नद्यादीनां समोऽनपायश्च भूभागो, भौतादि प्रवचनं वा भावतीर्थ तु सङ्घः। - अभिधान राजेन्द्र कोष, चतुर्थ भाग पृ. २२४२, प्रथम संस्करण, १९१३.

३. डॉ. नेमिचंद्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भा२ पृ. ५-६, सन् १९७४

४. ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हंतारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥ ऋग्वेद संहिता मण्डल १० सू. १६६।१

यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी ऋषभदेव का उल्लेख प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवद् में विष्णु के चौबीस अवतारों में से आठवें अवतार के रूप में ऋषभ अवतार स्वीकार किया है, जिससे आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की ऐतिहासिकता और प्रसिद्धि सिद्ध होती है।[१] भागवद् में ऋषभदेव के जीवन वृत्त को भी वर्णित किया है।

ऋषभदेव, नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र थे। ऋषभदेव के सौ पुत्रों में भरत नाम का ज्येष्ठ पुत्र था, ऐसा कूर्म पुराण में बताया है।[२] ऋषभ देव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम से ही यह देश भारतवर्ष के नाम से प्रचलित हुआ है।[३] इस कथन की पुष्टि केवल जैन पुराणों से ही नहीं, अपितु विष्णु, मार्कण्डेय, अग्नि, वायु पुराणों से भी यही निश्चित होता है।

भागवत् और विष्णु पुराण में प्राप्त हुई जैन तीर्थंकर ऋषभ देव की कथा जैन धर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती है।[४] मोहनजोदारो उत्खनन में एक मुद्रिका उपलब्ध होती है। उसके ऊपर भगवान ऋषभदेव की प्रतिकृति खड्गासन् मुद्रा में चित्रित है। ये प्रतिकृतियां पाँच हजार वर्षों से प्राक् कालीन हैं , ऐसा अनुभव किया जाता है। इसी से ऐसा सिद्ध होता है कि सिन्धुघाटी के निवासी ऋषभदेव की पूजा करते हैं। उस काल में जैन धर्म भी प्रसिद्ध था।[५]

FGH मुद्रिका संख्या के द्वितीय फलक में अंकित देव प्रतिमा है। एक ऋषभ (बैल) चित्रित है। यह ऋषभदेव का ही चिह्न है। अत: शैव धर्म के समान जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगी सिन्धु सभ्यता पर्यंत जाता है।[६] डॉ. एन एन वसु महोदय के मत में लेखन कला का प्रथम

---

१. श्रीमद्भागवत, वोल्यूम् २,भा. ३ स्कन्ध ५, अ.४, सू. ८ पृ.सं. १७५१

२. हिमाह्वयं तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत् पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः॥
ऋषभाद्भारतो जज्ञे वीर: पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः॥ कूर्म पुराणम्, अ.४१, श्लो. ३७-३८, पृ.सं.६१

३. नाभे: पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्। तस्य नाम्नात्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते॥ स्कंद पुराण, कौमार खण्ड तथा शिव पुराण ३७/५७

४. डॉ. विशुद्धानन्द पाठक व डॉ. जयशंकर मिश्र, भारतीय इतिहास और संस्कृति, पृ. १९९-२००

५. डॉ. एम. एल. शर्मा, भारत में संस्कृति एवं धर्म-पृ.सं. १९ प्रथम संस्करण, १९६९

६. डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी, हिन्दु सभ्यता, पृ.सं. ३९, तृतीय संस्करण, १९५८ हिन्दी रूपान्तर

आविष्कार ऋषभ देव ने किया। ब्रह्म विद्या के प्रचारार्थ उन्होंने ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया, ऐसा प्रतीत होता है। इसी से वे अष्टम अवतार रूप से प्रसिद्ध हुए।[1] जिनसेन आचार्यकृत आदि पुराण के अनुसार, ऋषभदेवने ब्राह्मी नाम की अपनी कन्या को शिक्षित करने के लिए जिस लिपि का आविष्कार किया, वह उसी कन्या के नाम से, ब्राह्मी लिपि नाम से विख्यात हुई।

ऋषभ देव के पश्चात् इक्कीसवें नमिनाथ तीर्थंकर का जीवनवृत्त जैनेतर साहित्य में प्राप्त होता है। नमि मिथिला के राजा थे और जनक राजा के पूर्वज थे, ऐसा हिन्दू पुराणों में कहा है। नमिराजा की अनासक्त प्रवृत्ति अतीव प्रसिद्ध थी। इससे उनका वंश ही विदेह नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्याय में नमि प्रव्रज्या का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है।[2]

भागवद् और विष्णु पुराण में प्राप्त हुई, जैन तीर्थकर ऋषभदेव की कथा, जैन धर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती हैं।

बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का वर्णन, जैन ग्रन्थ के समान ऋग्वेद, महाभारत आदि ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। अरिष्टनेमि (नेमि कुमार) का जन्म महाभारत काल में, श्रीकृष्ण के समय, यादव वंश में हुआ। वे श्रीकृष्ण के बडे चाचा के पुत्र थे। "रेवताद्रौ जिनो नेमिः" इस प्रकार प्रभास पुराण में नेमिनाथ तीर्थंकर का वर्णन मिलता है। स्कंद पुराण में नेमिनाथ को एक शिव कहा है।[3]

पार्श्वनाथ का जन्म ईसवी सन् पूर्व ८७७ में हुआ। काशी नरेश महाराजा अश्वसेन उनके पिता थे। उस काल में, भारत देश के सब राज्यों में, काशी प्रमुख राज्य था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, उस कालीन राजा वैदिक धर्म और यज्ञ के विरोधी थे।[4]

---

१. हिन्दी विश्वकोष - जिल्द १, पृ.सं. ६४ तथा जिल्द ३, पृ.सं. ४४४

२. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग १, पृ.सं.१५

३. भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम्।
तेनैव तपसा कृष्टः शिव: प्रत्यक्षतां गतः॥
पद्मासनासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवेत्येवं नाम चक्रेस्य वामनः॥
रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥
आचार्य कल्प पं. टोडरमल, मोक्ष मार्ग प्रकाशक, पृ.सं. १४१, चतुर्थ संस्करण, सन् १९७८

४. डा. ज्योति प्रसाद जैन; भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृ.सं.४५, तृतीय संस्करण, सन् १९९९

भगवान पार्श्वनाथ आयु के सौवें वर्ष में निर्वाण को प्राप्त हुए। वह उपनिषद रचना का समवर्ती काल था। उपनिषदों का रचना काल ईसवी सन् पूर्व नौवीं शताब्दी से छठी शताब्दी पर्यन्त माना जाता है।" आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए। आत्मा के दर्शन से, श्रवण से और ध्यान से सब कुछ जाना जाता है।"[१]

ब्रह्म ही आत्मा सच्चिदानंद है, ऐसा उपनिषदोंका सार है। वस्तुतः आत्मा शारीरिक दशाओं से और मानसिक संकल्प विकल्पों से भिन्न शुद्ध है।[२]

"यह सर्वसम्मत है जो उपनिषदों के दृष्टा ऋषि आत्म विज्ञान के, और अध्यात्म के जिन संदेशों को कहते हैं, वे वेदों में प्राप्त नहीं होते। वैदिक युग के ऋषियों का ध्यान प्रायः बाह्य प्रकृति की ओर सम्मुख था। उपनिषदों का आत्मवादी स्वर, भगवान पार्श्वनाथ के जीवन दर्शन से प्रभावित था, ऐसा प्रतीत होता है।[३]

न केवल जैन साहित्य, बौध साहित्य भी तीर्थकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करता है। अङ्गुत्तर निकाय और चतुक्क निपात, इन बौद्ध ग्रन्थों में और उनकी अट्ठकथा में गौतम बुद्ध के चाचा बप्प- शाक्य नाम के निर्ग्रन्थ श्रावक थे" ऐसा उल्लेख है। त्रिपिटकों में भी निर्ग्रंथों के बहुलता से उल्लेख दिखाई देते हैं।[४]

बौध धर्म में "उपोसथ", "वर्षावास" इत्यादि विधान निग्रन्थों से स्वीकृत हैं। उसका सम्बन्ध पार्श्वनाथ की परम्परा से था। बुद्ध, जिनश्रमण साधुओं के समकालीन थे, ऐसा पाली ग्रन्थों में कहा है। वे श्रमण भी पार्श्वनाथ तीर्थंकर की परम्परा के ही माने जा सकते हैं।[५]

---

१. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।
आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति॥
ईषाद्युपनिषत्सु बृहदारण्यकोपनिषद्, अ २/४/८

२. डॉ. राधाकृष्णन् : प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ.सं. १३९, सन् १९६७

३, डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री: तीर्थंकर महावीर, पृ.सं. २४,प्रथम संस्करण,सन् १९७५

४. डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ.सं. २१, प्रथम संस्करण १९६२

५. वहींपर, पृ.सं.२२

भगवान पार्श्वनाथ तीर्थंकर के निर्वाण को प्राप्त होने के दो सौ साठ वर्ष के पश्चात् कलिंग देश में उदयगिरि पर्वत की हस्ति गुंफा नामक गुहा में पार्श्वनाथ के चरित्र के ऊपर एक उत्कीर्ण शिलालेख आज भी वहाँ विद्यमान है। इस शिलालेख का आश्रय करके स्पष्ट बता सकते हैं कि गौतम बुद्ध से दो सौ वर्ष पूर्व भगवान पार्श्वनाथ कोई एक ऐतिहासिक विभूति थे। अतः जैन धर्म, बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है, यह भी स्पष्ट होता है। [१]

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के दो सौ पचास वर्ष बाद, चौबीसवें महावीर तीर्थंकर हुए। ईसवी सन् पूर्व आठवीं शताब्दी से द्वितीय शताब्दी पर्यंत का काल इतिहास की धुरा माना जाता है। दूसरे शब्दों में, विश्व चिंतन की धुरी, प्रकृति के अध्ययन से निवृत्त होकर, मनुष्य जीवन के अध्ययन में संलग्न हुई।[२]

ईसवीं सन् पूर्व ५९९ वर्ष में चैत्र मास की शुक्ल पक्ष में त्रयोदशी तिथि में भगवान महावीर (बालक वर्द्धमान) का जन्म हुआ। उनका, क्षत्रिय कुन्डपुर नामक जन्म स्थान, उस समय विदेह प्रदेश की राजधानी वैशाली नगरी का एक उपनगर था।[३] अतः वे “वैशालीय" ऐसा कहे जाते हैं। उनका कुल, प्राकृत भाषा में "णाय" और पाली भाषामें "नाट” था। उसकारण से, ज्ञातृ पुत्र (“णाय पुत्र", "'नाट पुत्तो वा") इस नाम से बुलाये जाते थे। [४]

उन्होंने यौवन अवस्था में ही विवाह का आशय छोड़कर ब्रह्मचर्य पालन का दृढ संकल्प किया। उनके हृदय में वैराग्य का अंकुर अंकुरित हुआ | आयुष्क के तीसवें वर्ष में, उन्होंने जैनेश्वरी निर्ग्रन्थ दीक्षा अंगीकार की। बारह वर्ष कठोर तपश्चरण करके, वैशाख शुक्ल दशमी के सायंकाल में राजगृह नगर के समीप विपुलाचल पर उन्होंने घाति कर्म का नाश करके अनन्त चतुष्टय प्राप्त किया। उसके बाद तीस वर्ष पर्यंत सम्पूर्ण भारत वर्ष में समवशरण सहित विहार करके, उन्होंने सम्पूर्ण भव्य जीवों को अपनी दिव्य ध्वनि से ज्ञानामृत का पान कराया। न केवल भारत में, अपितु उनके अहिंसा का सन्देश ईरान देश के आगे फिलिस्तीन, मिश्र, यूनान इत्यादि पर देशों में भी प्राप्त हुआ।[५] उनके विहार के बाहुल्य से, भारत का एक बड़ा भू-भाग "बिहार" नाम से विख्यात है।

---

१. बा. भु. पाटील : दक्षिणभारत जैन व जैन धर्म यांचा संक्षिप्त इतिहास, पृ.सं.५, प्रथम संस्करण, १९३८

२. डॉ. राधाकृष्णन्: हमारी संस्कृति, पृ.सं.८६, प्रथम संस्करण, १९७२

३. अपनी यात्रा के विवरणों में चीनवासीय ह्यून्साँग महोदय ने वैशाली को कितनी ही योजनाओं में प्रसृत अत्यंत सुंदर नगरी स्वीकार की है। देखिये - ह्यून्साँग का भारत भ्रमण, पृ.सं. ६६२-६६५

४. डॉ. विद्याधर जोहरापूरकर, भगवान् महावीर उपदेश व परंपरा, पृ.सं.५, प्रथम संस्करण, १९७५.

५. डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, तीर्थंकर महावीर, पृ.सं. १३०

इतिहास के सम्पूर्ण ग्रन्थोंमें भगवान महावीर ऐतिहासिक महापुरूष के रूप से स्वीकृत हैं। गौतम बुद्ध के समकालीन अनेक अरुढिवादी धर्म उपदेशकों में एक वर्द्धमान थे | जो अपने अनुयायियों में "महावीर" नाम से विख्यात हुए।[1]

जैन परम्परा के अनुसार ईसवी सन् पूर्व ५२७ वर्ष में कार्तिक कृष्ण अमावस्या को पावापुरी में वे निर्वाण को प्राप्त हुए। आचार्य जिनसेन रचित हरिवंश पुराण में वर्णित है कि महावीर प्रभुको निर्वाण प्राप्त होने पर उनकी निर्वाण भूमि पावानगरी में सुर, असुर और श्रेणिक आदि राजाओं ने दीपों की पंक्ति से पूजा महोत्सव सम्पन्न किया। उनके द्वारा प्रदीप्त दीपक पंक्तियों से सम्पूर्ण पावानगरी प्रकाशित हुई | उस समय से भारत में उक्त निर्वाण तिथिमें प्रतिवर्ष दीपावली महोत्सव विख्यात हुआ।[2]

तीर्थंकरों की परम्परा से यह निश्चित होता है कि सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे। क्षत्रिय, जिस प्रकार तलवार के संचालन में कुशल थे, उसी प्रकार अध्यात्म विद्या में भी कुशल थे। इतिहास की साक्षी में यह कह सकते हैं कि महान क्षत्रिय राजा भी जैन धर्म ही मानते थे।

विदेह देश के राजा जनक, काशी नरेश अजातशत्रु, सम्राट बिंबसार श्रेणिक, सम्प्रति, सातवाहन नरेश अमोघवर्ष, मौर्य कुल उत्पन्न राजा चन्द्रगुप्त इत्यादि बहुत से राजा जैन धर्म के उपासक थे।

यह भी प्रमाण मिलता है कि नन्द राजा भी जैनधर्म अनुयायी था। प्राय: ईसवी सन् पूर्व १५० वे खारवेल नन्द के शिलालेख में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि नन्द राजा के द्वारा कलिंग से अपहरण करके मगध में ले गई जैन प्रतिमा, खारवेल के राजा ने पुनः स्वदेश कलिंग में लायी।[3]

---

१. ए. एल. वाशम : द वन्डर दैट वाज इन्डिया, हिन्दी अनुवाद; अद्भुत भारत, पृ. सं. २६४, सन् १९६७

२. स पञ्च कल्याणक महा महेश्वर : प्रसिद्ध निर्वाणमहे चतुर्विधैः।
शरीर पूजा विधिना विधानतः सुरैः समभ्यर्च्यत सिद्ध शासन: ॥१८॥
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्ध या सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥१९॥
ततस्तु लोक: प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्र निर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ॥ २१॥
आचार्य जिनसेन, हरिवंश पुराण, सर्ग६६, श्लोक १८,१९,२१, पंचम संस्करण, सन् १९९९

३. नन्दराजनीतं च कलिंग जिनं संनिवेसं गह रतनान पडिहारेहि अंगमागध वसुं च नेयाति खारवेल शिलालेख पंक्ति सं. १२

खारवेल का शिलालेख अर्हन्त और सिद्धों को नमस्कार करके प्रारम्भ हुआ। अत: इससे कलिंग नरेश खारवेल भी जैन धर्मी था, यह सिद्ध होता है।[1]

जिस दिन भगवान महावीर तीर्थंकर ने मुक्ति पद प्राप्त किया, उसी दिन गौतम गणधर देव को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। वे जब सिद्धि को प्राप्त हुए, तब सुधर्मस्वामी केवली हुए, उनके निर्वाण जाने पर जम्बूस्वामी केवल ज्ञान को प्राप्त हुए। उनके पश्चात् कोई भी अनुबद्ध केवली नहीं हुआ। इन तीनों का धर्म प्रवर्तन काल ६२ वर्ष है। उसके पश्चात् नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली द्वादश अंग के धारी हुए। इन सबका काल एक सौ वर्ष है। उनके बाद इस पंचम काल में कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ। जब अन्तिम श्रुत केवलि भद्रबाहु को बारह वर्षीय भीषण दुर्भिक्ष का संकेत प्राप्त हुआ, तब संघसहित उन्होंने दक्षिण देश की ओर विहार किया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी भद्रबाहु स्वामी से जिनदीक्षा ग्रहण करके, उन्हीं के साथ, दक्षिण देश को विहार किया। संघ सहित दक्षिण देश में विचरण करते हुए भद्रबाहु स्वामी जब 'कलवप्पु' या 'कटवप्रगिरी' को प्राप्त हुए, तब उनको आयु के अन्त समय का संकेत मिला। अतः उन्होंने सम्पूर्ण संघको विशाखाचार्य के नेतृत्व में आगे गमन करने का निर्देश करके, स्वयं चन्द्रगुप्त मुनि के साथ वहीं पर रूके। उन्होंने वहीं समाधि ग्रहण की और उसी पर्वत की गुफा में समता भाव से निर्विकल्प समाधि से दिवंगत हुए।[2] अभी भी वह गुफा भद्रबाहु गुफा के नाम से विख्यात है। चंद्रगुप्त मुनि ने भी भद्रबाहु की वैय्यावृत्ति करके स्वयं समाधि धारण की। कालान्तर में उन्हीं के निमित्त से ही वह कटवप्रगिरि, चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

अन्तिम श्रुत केवली के पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिलिंग, देव, धर्मसेन- ये ग्यारह आचार्य ग्यारह अंग और दस पूर्व के धारी थे। इन सबका सम्मिलित काल १८१ वर्ष (अथवा १८३ वर्ष है)। उसके बाद नक्षत्र, जयपाल, पांडव, ध्रुवसेन, कंस - ये पांच आचार्य ग्यारह अंग के धारी हुए। उनका काल १२३ वर्ष है। उसके पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य - ये चार आचार्य दश, नव और आठ अंग के धारी हुए। उनका सम्मिलित काल ९९ वर्ष (अथवा ९७ वर्ष) है। इस प्रकार

---

१. णमो अरिहंताणं णमो सव सिधाणं ..... खारवेल शिखालेख, प्रथम पंक्ति, सदानन्द अग्रवाल, श्रीनिवास उदगाताः खारवेल, पृ.सं. ५३ तथा बा.भु पाटील : दक्षिण भारत, जैन व जैन धर्म, पृ.सं. ९-११

२. परमानन्द शास्त्री, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, द्वि.भा.पृ.सं. ५०-५२, प्रथम संस्करण, १९७४

तीर्थंकर महावीर के अनन्तर ५६५ वर्षों में क्रमश: धारणा शक्ति का ऱ्हास हुआ। उसके बाद तो केवल एक अंग के धारी ही शेष रहे। अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पंदत और भूतबली- ये पाँच आचार्य एक अंग के धारक हुए। उनका सर्वत्र समय ११८ वर्ष माना है। इस प्रकार महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष पर्यन्त आचार्य परम्परा, नन्दी परम्परा की पट्टावलि के अनुसार कहा है।[1] इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, धवला, हरिवंश पुराण आदि में प्ररूपित आचार्य परम्परा का काल कुछ भिन्न है। वहाँ पर लोहाचार्य पर्यंत आचार्य परम्परा का समय ६८३ वर्ष कहा है। नन्दि आम्नाय की पट्टावलि में तो भूतबलि पर्यन्त आचार्य परम्परा का काल ६८३ वर्ष कहा है।

धवला के अनुसार सभी अंग और पूर्वों का एक देश आचार्य परम्परा से आया हुआ धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ। नन्दि आम्नाय की पट्टावलि के अनुसार धरसेन आचार्य, आचारांग के पूर्ण ज्ञाता थे। कुछ भी हो, यह सत्य है कि वे महाविद्वान और श्रुतवत्सल थे। भविष्य काल में श्रुत का लोप होगा, इस भय से उन्होंने महिमानगरी में स्थित मुनि सम्मेलन से शास्त्र के अर्थ को ग्रहण एवं धारण करने में समर्थ, ऐसे दो मुनियों को बुलाया। पुष्पदंत और भूतबलि नाम के दो मुनि वहाँ अध्ययन अर्थ पहुँच गये। धरसेन आचार्य ने उन दोनों को अपना ज्ञान समर्पित किया। गुरु के द्वारा प्रदत्त ज्ञान का प्रचार और संरक्षण करने के लिए पुष्पदंत आचार्य ने जीवस्थान की सत् प्ररूपणा की रचना की। शेष जीवस्थान, खुद्दाबंध, बंधस्वामित्व-विचय, वेदना, वर्गणा, महाबन्ध नामक षट्खंडागम की रचना, आचार्य भूतबलि ने लिपिबद्ध की। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध की उत्पत्ति हुई।

जैन आचार्य परम्परा में आचार्य कुंदकुंद का अवदान :-

भारतीय जैन श्रमण परम्परा में "श्रमण कुल कमल दिवाकर" अर्थात् श्रमण कुल रूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य, आचार्य कुन्दकुन्द देव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रुतधर आचार्यों में कुन्दकुन्द आचार्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। जो केवली और श्रुत केवली की परम्परा को प्राप्त करके अंग और पूर्वों के एक देश ज्ञाता हुए, उन्हें श्रुतधर आचार्य, ऐसा कहते हैं।[2]

---

१. षट्खण्डागम, भा. १, पु.१, प्रस्तावना, पृ.सं. २२-२३ तथा नन्दि आम्नाय की पट्टावलि, द्वितीय संस्करण, सन् १९८५, सोलापुर

२. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भा-२, पृ. सं. २५, प्रथम संस्करण सन् १९७४

श्रुतधर आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य गुणधर का नाम लिया जाता है। सरस्वती गच्छ की प्रकाशित प्राकृत पट्टावली के अनुसार आचार्य भद्रबाहु के प्रथम शिष्य गुप्तिगुप्त है। उनके तीन नाम उपलब्ध होते हैं। १) गुप्तिगुप्त २) अर्हद्बली ३) विशाखाचार्य। गुणधर आचार्य, अर्हदबली के पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि अर्हदबली के द्वारा स्थापित संघों में गुणधर नामक एक संघ है। गुणधर आचार्य के निमित्त से ही गुणधर संघ स्थापित हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।

आचार्य गुणधर पंचम ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवीं वस्तु के तीसरे "पेज्ज दोस पाहुड" (कषाय पाहुड) के पारगामी विद्वान थे। इतना ही नहीं, उन्होंने महा कर्मप्रकृति प्राभृत का भी ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने श्रुत विच्छेद के भय से, प्राप्त आगम ज्ञान से अति संक्षेप रूप से २३३ प्रमाण गाथाओं में कषाय पाहुड की रचना की। इसीलिए उनका नाम प्रथम सूत्रकार रूप से सदैव स्मरणीय रहेगा। अतः उनसे द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति हुई।

यह परम्परा आचार्य गुणधर से आचार्य जिनचन्द्र को, और उसके अनन्तर आचार्य जिनचन्द्र से आचार्य कुन्दकुन्द को प्राप्त हुई।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ज्ञान प्रवाद पूर्व के दसवें वस्तुगत समय प्राभृत के ज्ञानी थे। अत: उनका नाम भी श्रुतधर आचार्य परम्परा में आदर से लिया जाता है। उन्होंने आध्यात्मिक योगशक्ति को विकसित करके अध्यात्म विद्या की वह अविच्छिन्न धारा प्रसारित की, जिससे भारतीय श्रमण परम्परा का धवल यश लोक में सर्वत्र फैल गया।

ये युग संस्थापक आचार्य हैं। उनके नाम से उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द आम्नाय के नाम से प्रख्यात हुई। दो हजार वर्षों से आज तक दिगम्बर मुनि अपने को कुन्दकुन्द आचार्य की परम्परा का स्वीकार करने में गौरव का अनुभव करते हैं। किसी भी कार्य के प्रारम्भ में मंगल रूप से, उनका स्तवन किया जाता है। मंगल स्तवन का प्रसिद्ध पद्य निम्न प्रकार से है:

मंगलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोस्तु मङ्गलम्॥

जिस प्रकार भगवान महावीर, गौतम गणधर और जैन धर्म मंगल रूप हैं, वैसे ही कुन्दकुन्द आचार्य भी मंगल रूप हैं। विगत दो सहस्राब्दियों में ऐसा प्रतिभा सम्पन्न आचार्य अध्यात्म जगत में और द्रव्यानुयोग के विषय में दूसरा दिखाई नहीं देता। इसी से भगवान महावीरस्वामी और गौतम गणधर के पश्चात् भगवान कुन्दकुन्द आचार्य का स्मरण किया है। भगवान कुन्दकुन्द आचार्य देव से विरचित शास्त्र साक्षात् गणधर देवों के वचन के समान प्रमाण माने जाते हैं। उनकी रचना से उनके जीवनवृत्त के विषय में कुछ भी नहीं जाना जाता है।

उन्होंने "वारसाणुवेक्खा" नामक ग्रन्थ में केवल अपने नाम का निर्देश किया है। वहाँ लिखा है कि “कुन्दकुन्द मुनिनाथने जिस निश्चय व्यवहार का प्रतिपादन किया, उसके अर्थ की जो शुद्ध मन से भावना करता है, वह परम निर्वाण को प्राप्त होता है।” [१]

अमृतचन्द्र आचार्य और जयसेन आचार्य, कुन्दकुन्द आचार्य रचित परमागम के प्रमुख टीकाकार हैं। अमृतचन्द्र आचार्य ने अपने मूल ग्रन्थकर्त्ता के विषय में कुछ भी निर्देश नहीं किया, परन्तु जयसेन आचार्य ने बहुत बार ग्रन्थ कर्ता के नाम का उल्लेख किया है। समयसार की समाप्ति में उन्होंने लिखा है कि जिसने अपनी बुद्धि रूपी मस्तक से महातत्त्व रूपी पाहुड शैल को उठाकर भव्य जीवों के लिए समर्पित किया, वे पद्मनन्दि महर्षि जयवन्त हो। [२]

श्रवणबेलगोला स्थित चन्द्रगिरि पर्वत के ऊपर पार्श्वनाथ जिनालय के नवरंग में उत्कीर्ण प्रशस्ति में और शिलालेखों में "कोन्डकुन्द" ऐसे नाम का उल्लेख प्राप्त होता है। दक्षिण भारत में, वे “कोन्डकुन्ड" इस नाम से, और उत्तर भारत में "कुन्दकुन्द” इस नाम से विख्यात हैं। आन्ध्र प्रदेश में अनन्तपुर मंडल के गुटी तालुका में कोन्डकुन्डल नामक स्थान है। वह कुन्दकुन्द आचार्य का जन्म स्थान माना जाता है। यहाँ के निवासी आज भी उस स्थान को “कोन्डकुन्दी" ऐसा कहते हैं। तमिलनाडु के आकोड मण्डल के पोन्नूर नामक ग्राम में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने बहुत तपश्चरण किया। अभी भी पोन्नूरमलै पर्वत पर आचार्य कुन्दकुन्द की चरण पादुका विराजमान हैं। यह पर्वत दो हजार वर्षों से अधिक प्राचीन है। आचार्य कुन्दकुन्द देव की तपोभूमि के साथ-साथ यह उनकी रचना स्थली भी है। श्रवणबेलगोला स्थित शिलालेख से और श्रुतावतार से यह सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द आचार्य का वास्तविक नाम पद्मनन्दी था, किन्तु वे जन्म स्थान से कुन्दकुन्द नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। नन्दि संघ की पट्टावलि के अनुसार कुन्दकुन्द आचार्य के गुरु जिनचंद्र आचार्य और दादा गुरू माघनन्दी आचार्य थे। [३]

---

१. इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुन्दकुन्द मुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं॥
डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री (सं.) आ. कुन्दकुन्दाचार्य कृता वारसाणुवेक्खा गा. ९१, प्रथम संस्करण, १९९१

२. जयउ रिसिपउमणंदी जेण महातच्च पाहुड सेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स॥
समयसार-तात्पर्यवृत्ति परिशिष्ट, पृ.सं.४०८

३. जैन सिद्धान्त भास्कर, भा. १, किरण ४, पृ. सं. ७८

जयसेन आचार्य ने उन्हें कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव का शिष्य कहा है। बोधपाहुड में कुन्दकुन्द आचार्य ने स्वयं अपने गुरु का नाम भद्रबाहु कहा है। वह इस प्रकार है:- जो जिनेन्द्र देव ने कहा है, वहीं साक्षात् सूत्रों में शब्द विकार रूप से परिणत है। उसे भद्रबाहु शिष्य ने (कुंद कुंद आचार्य) वैसे ही जाना और वैसा ही कहा भी है। द्वादश अंग चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार श्रुतज्ञानी भगवान गमक गुरु भद्रबाहु जयवन्त हों। [१]

प्रथम गाथा में बोधपाहुड के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द, भद्रबाहु के शिष्य हैं, यह स्पष्ट जाना जाता है। तथापि द्वितीय गाथा से यह सिद्ध होता है कि ये भद्रबाहु पंचम श्रुतकेवली हैं, वे कुन्दकुन्द आचार्य के गमक गुरू (परम्परा गुरु) हैं, साक्षात् गुरु नहीं हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय निर्णय के विषय में अनेक विद्वानों और संशोधको ने परामर्श किया है। उनमें प्रो. ए. चक्रवर्ती महोदय ने आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म समय ईसवी सन् पूर्व ५२ वें वर्ष में स्वीकार किया है।[२] डॉ. राजबली पाण्डेय ने विभिन्न शिलालेख और अभिलेखों की पट्टावलियों का अध्ययन करके कुन्दकुन्द आचार्य का जन्मकाल १०८ ईसवी सन् पूर्व, मुनि दीक्षा काल ईसवी सन् ९७ से ६४ तथा आचार्य काल ईसवीं सन् पूर्व ६४ वर्ष से १२ वर्ष पर्यन्त माना गया है।[३]

पं. नाथूराम प्रेमी के मतानुसार इंद्रनन्दि श्रुतावतार के आधार से कुन्दकुन्द आचार्य का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी का अंतिम समय है।[४]

डॉ.आ.ने. उपाध्ये ने प्रवचनसार की विद्वत्ता पूर्ण प्रस्तावना में पूर्व प्रचलित सब मतों का अध्ययन करके, कुन्दकुन्द आचार्य का समय अनेक प्रमाणों से ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी निश्चित किया है।[५] डॉ. बी. एस. एल. हनुमन्त राव ने भी आचार्य कुन्दकुन्द का स्थिति काल ईसवी सन् प्रथम शताब्दी माना है।[६]

---

१. सद्दवियारो भूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ॥
सोतह कहियं णाय सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारस अंग वियाणं चउदस पुव्वंगविउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥
आचार्य कुन्दकुन्द, बोधपाहुड, गा. ६१,६२, भाषा वचनिकाकार - पं. जयचन्द छाबडा

२. ए. चक्रवर्ती, पञ्चास्तिकायसार की अंग्रेजी भाषा में प्रस्तावना, पृ.सं. ५

३. डॉ. राजबली पाण्डेय, विक्रमादित्य, पृ.सं. १६१

४. जैन हितैषी, भा. १०, पृ.सं. ३७८

५. डॉ. आ.ने.उपाध्ये, प्रवचनसार - प्रस्तावना, पृ.सं. २१-२३

६. पी.बी. देसाई, जैनिज्म इन साउथ इन्डिया, पृ.सं. १५३

नंदि संघ की पट्टावलि के अनुसार विक्रम संवत् उन्चासवें वर्ष में मुनि कुन्दकुन्द, आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। इसी से अनुमान किया जाता है कि ये उस काल से पूर्व में उत्पन्न हुए | अतः कुंदकुंद का समय ईसवी सन् प्रथम शताब्दी मानना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द, धरसेन आचार्य के पूर्ववर्ती थे, यह विविध प्रमाणों से और तर्कों से पं. देवेन्द्र कुमार जी ने सिद्ध किया है।[1] श्रवणबेलगोला के १०५ वें शिलालेख के अनुसार, कुन्दकुन्द आचार्य, अर्हद् बली के पूर्ववर्ती थे, परन्तु धरसेन आचार्य बाद में हुए ऐसा उल्लेखनीय है।

दिगम्बर जैन साहित्य प्रणेताओं में कुंद्कुंददेव का स्थान सर्वोपरि है। इनकी सर्व रचनाऐं शौरसैनी प्राकृत भाषा में निबद्ध है। आचार्य गुणधर के समान आचार्य कुन्दकुन्द ने पाहुड ग्रन्थों की रचना की। इन्द्रभूति गौतम गणधर देव ने पूर्वगत वस्तुओं की रचना प्राभृतों में गूँथी हैं। वही परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द पर्यंत अविछिन्न धारा प्रवाह से प्रवाहित हुई। अत: उसी में क्रम से उन्होंने ८४ पाहुड ग्रन्थों की रचना की।

"प्रकृष्टेन तीर्थंकरेण भृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्।"

" प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्तवद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्।"[2]

" पदै: स्फुटं तत् पाहुडम्।"[3]

प्रकृष्ट रूप से तीर्थंकरों के द्वारा जो प्रस्थापित है, वह प्राभृत है।

विद्या ही जिनका धन है, ऐसे प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा धारण किया हुआ, व्याख्यान किया हुआ, लाया हुआ, वह प्राभृत है।

पदों से जो स्पष्ट है, वह पाहुड है।

इस प्रकार पाहुड शब्द का निरुक्ति अर्थ है। अत: कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा रचित रचनाऐं पाहुड नाम से जानी जाती हैं।

यद्यपि अभी सब पाहुड ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, तथापि उनमें से तेरह पाहुड आज उपलब्ध हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं :-

---

१. डॉ. देवेन्द्रकुमार, वारसाणुवेक्खा - प्रस्तावना पृ.सं. ११-१३

२. जयधवला, भा. १, पृ.सं. २९७, गा. १३-१४ टीका, द्वितीय संस्करण, १९७४, मथुरा

३. तथा "जम्हा पदेहि फुडं तम्हा पाहुडं" वहीं पर, पृ.सं. २९७

१. पंचत्थिकाय पाहुड	२. समय पाहुड	३. पवयण पाहुड
४. णियम पाहुड	५. रयण पाहुड	६. दंसण पाहुड
७. सुत्त पाहुड	८. चारित्र पाहुड	९. बोध पाहुड
१०. भाव पाहुड	११. मोक्खपाहुड	१२. लिंग पाहुड
१३. सील पाहुड		

इनसे अतिरिक्त " वारसाणुवेक्खा" और "दशभक्ति" ये दो रचनाऐं कुंदकुंद आचार्य के द्वारा रची गई हैं, ऐसा कहा जाता है। प्रभाचन्द्र आचार्य ने सिद्धभक्ति की संस्कृत टीका में लिखा है कि संस्कृत सभी भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामी कृत हैं। परन्तु प्राकृत भक्तियां कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा की गई हैं। [१]

उपर्युक्त ग्रन्थों में आज जिस स्वरूप में “रयण सार” उपलब्ध होता है, वह भाषा, विषय आदि की दृष्टि से मौलिक रचना नहीं मानी जाती है। उनमें अधिकतर प्रक्षिप्त भाग दिखाई देता है । डॉ. आ.ने. उपाध्ये इत्यादिक विद्वान उसे कुंदकुंद आचार्य की रचना स्वीकार नहीं करते। “थिरुक्कुरल्ल” भी कुन्दकुन्द आचार्य की रचना है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने वास्तव में स्वरचित परमागमों में तीर्थंकर जिनेन्द्र देवों द्वारा प्ररूपित उत्तम उत्तम सिद्धान्त निधि को सुरक्षित किया और मोक्षमार्ग को स्थिर किया।

उनके द्वारा विरचित समयसार, पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार ये तीन ग्रन्थ "नाटकत्रय" "प्राभृतत्रय" इस नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीन परमागमों में हजारों शास्त्रों का सार भरा हुआ है। इन तीन परमागमों का परिचय इसी शोध प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में विस्तृत रूप से प्ररूपण करेंगें, वहाँ से जान लेना।

वास्तव में आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द जिन शासन के शिरोमणि महामेरू स्थान में विराजमान हैं। उन्होंने जिस अनेकान्त नींव के ऊपर जैन दर्शन का प्रासाद निर्माण किया, वह प्रासाद इतना सुदृढ है कि विभिन्न विपक्षों की स्फोटक सामग्रियों से भी छिन्न-भिन्न करना तो दूर, उसको थोडा भी हिला नहीं सकते।[२]

आध्यात्मिक शान्ति और सामाजिक क्रान्ति का जैसा अद्भुत संगम इस अपराजेय व्यक्तित्व में दिखाई देता है, वैसा अन्यत्र, यद्यपि असंभव नहीं तथापि दुर्लभ है। [३]

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द, दशभक्ति, टीकाकार - आचार्य प्रभाचन्द्र, पृ.सं. ६

२. सं. डॉ. देवेन्द्र कुमार : वारसाणुवेक्खा - प्रस्तावना, पृ.सं. १, प्रथम संस्करण, १९९१

३. डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल : आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम, पृ.सं. ११७

आत्म साधना और लोक कल्याण का समुचित समन्वय स्थापित करके सुविचारित सन्मार्ग में स्वयं चलते हुए और दूसरों को चलाने वाले समर्थ पुरुष विरले ही हैं। कुन्दकुन्द आचार्य इस प्रकार के ही समर्थ आचार्य हुए, जो स्वयं तो सन्मार्ग से गये ही, और अन्य भव्य जीवों को भी मंगलमय मार्ग से जाने के लिए प्रेरित किया। उनके द्वारा प्रदर्शित आध्यात्मिक सन्मार्ग, आज भी अध्यात्म प्रेमियों के लिए दीपस्तम्भ के समान प्रकाशित है। उनके द्वारा समर्पित, जैन साहित्य निधि, साहित्य गगन में सूर्य के समान आज भी सन्मार्ग को प्रकाशित करते हुए विराजमान है। इस कलिकाल में उन्होंने अलौकिक, अपूर्व सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके भव्य जीवों का उपकार किया है।

जयसेन नामक आचार्य

विविध ग्रन्थों की प्रशस्ति, पट्टावलि और शिलालेखों में बहुत से जयसेन नामक व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है। उनमें यहाँ दस जयसेन आचार्यों का परिचय उद्धृत है। भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण से आजतक की आचार्य परम्परा में जयसेन नामधारी बहुत आचार्य मुनिवर हो गये।

१. प्रथम जयसेन :- उनमें प्रथम, अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् ग्यारह अंग और दस पूर्व के धारी, ग्यारह आचार्यों में चौथे जयसेन नामक आचार्य हुए। उनका दूसरा नाम केवल "जय" ऐसा प्राप्त होता है। उनका समय वीर निर्वाण सम्वत् २०८ से २२९(ईसवीं सन् पूर्व ३१९ से २९८) पर्यन्त - २१वर्ष। [१]

२. दूसरे जयसेन :- ये धर्मघोष के गुरु थे। प्रथम शताब्दी के मथुरा शिलालेख में इनका उल्लेख प्राप्त होता है।[२]

---

१. जिनेन्द्रवर्णी : जैन सिद्धान्त कोष, भाग २, पृ.सं. ३२४

२. जैन शिलालेख संग्रह : भा. २, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पृ.सं. १६, शिलालेख सं. १२, प्रथम संस्करण, १९५२

३. तीसरे जयसेन :- पुण्णाट संघ की गुर्वावलि के अनुसार शान्तिसेन के शिष्य और अमितसेन के गुरु थे | हरिवंश पुराण के कर्ता पुण्णाट संघ स्थित जिनसेन आचार्य के द्वारा जयसेन आचार्य का उल्लेख किया गया है। उन्होंने उनके विषय में लिखा है कि "जो परिपूर्ण षट्खंड युक्त समस्त सिद्धान्त का ज्ञाता, कर्म प्रकृतिरूप श्रुत का धारक, इन्द्रिय प्रकृतियों के विजेता थे, वे जयसेन नामक सद्गुरू हुये | उनके शिष्य शतजीवी अमितसेन सद्गुरु हुए, जो प्रसिद्ध वैय्याकरण, प्रभावशाली और समस्त सिद्धान्त में पारंगत थे।[१]

इनके उल्लेख से, ये जयसेन महायोगी, तपस्वी, प्रभावशाली आचार्य प्रतिभासित होते हैं। कर्म प्रकृति रूप आगम के धारक होने से यदि किसी कर्म ग्रन्थ के प्रणेता हों तो उसमें आश्चर्य नहीं | परतु उनके द्वारा रचित ग्रन्थ का उल्लेख दिखाई नहीं देता।[२]

जिनसेन आचार्य ने हरिवंश पुराण के अन्तिम सर्ग के ५२ वे श्लोक में हरिवंश पुराण का रचना काल शक संवत् ७०५ लिखा है। यह काल वि.सं.८४० है। जिनसेन आचार्य के गुरु अमितसेन आचार्य के अग्रज कीर्तिसेन नाम के आचार्य हुए। अमितसेन के गुरु जयसेन आचार्य हैं। इसलिए यदि हरिवंश पुराण के रचना काल से अमितसेन और कीर्तिसेन का मिला करके सम्मिलित काल ५०वर्ष कम किया जाता है तो शक सं. ६५५ (वि.सं. ७९०) जयसेन का समय हो सकता है। अर्थात् तृतीय जयसेन आचार्य विक्रम की आठवीं शताब्दी में विद्वान आचार्य हुए, ऐसा जाना जाता है। [३]

---

१. अखण्ड षट्खण्डमखण्डित स्थिति : समस्त सिद्धान्तमधत्त योऽर्थतः ॥२९॥
दधारकर्मप्रकृतिं 'श्रुतिं' च यो जिताक्षवृत्तिर्जयसेनसद्गुरुः ॥
प्रसिद्धवैय्याकरणप्रभाववानशेषराद्धान्तसमुद्रपारगः ॥ ३०॥
तदीयशिष्योऽमितसेनसद्गुरुः पवित्रपुन्नाटगणाग्रणीगणी।
जिनेन्द्र सच्छासन्वत्सलात्मना तपोभृता वर्षशताधिजीविना ॥ ३१॥
आचार्य जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, सर्ग६६, श्लोक नं. २९-३१

२. पं. परमानन्द शास्त्री : जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भा. २, पृ.सं. १७३, प्रथम संस्करण, सन् १९७४

३. वहींपर, भा. २, पृ.सं. १७३

४. चौथे जयसेन :- ये पंच स्तूप संघ की गुर्वावलि के अनुसार, आर्यनन्दि के शिष्य, धवलाकार वीरसेन आचार्य के साधर्मी थे। आदिपुराण की पीठिका में, जिनसेन आचार्य ने, वीरसेन स्वामी के अनन्तर जयसेन स्वामी की स्तुति की है। वह इस प्रकार है: " जो तपलक्ष्मी की जन्मभूमि, श्रुत और प्रशम की निधि, विद्वज्जनों में अग्रेसर वे जयसेन गुरू हमारी रक्षा करें।"[१]

इससे यह सिद्ध होता है कि जयसेन, वीरसेन स्वामी के गुरुबन्धु थे। इसी से जिनसेन आचार्य ने गुरु रूप से उनका स्मरण किया है।

वीरसेन आचार्य का समय विक्रम की नौवीं शताब्दी का माना जाता है। उनके समकालवर्ती होने से, इन जयसेन का काल भी नौवीं शताब्दी होना चाहिए। इसी कारण से जैन सिद्धान्त कोष में इनका समय ई.सन् ७९२ से ८२३ माना गया है।

५. पाँचवे जयसेन :- पाँचवें जयसेन वे हैं, जिनका स्मरण प्रद्युम्न चारित्र ग्रन्थ में महासेन आचार्य ने किया है। महासेन आचार्य, जयसेन आचार्य के प्रशिष्य और गुणाकर सेन आचार्य के शिष्य थे। उन्हीं ने जयसेन के विषय में लिखा है कि "जो लाडबागड संघ के पूर्ण चन्द्र, शास्त्र समुद्र पारगामी, तपस्वी, स्त्री कला के बाणों से विचलित नहीं हुए अर्थात् पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ थे" वे जयसेन नामक मुनि हुए। [२]

महासेन सूरि का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का मध्य भाग माना है, क्योंकि वे मुंज राजा द्वारा पूजित थे। मुंज राजा के वि.सं. १०३१ से १०३६ वें वर्ष के दो दानपत्र उपलब्ध होते हैं। वि.सं. १०५० - १०५४ वर्षों के मध्य में किसी समय तैल देव के द्वारा मुंजराजा का

---

१. जन्मभूमिस्तपोलक्ष्म्याः श्रुतप्रशमयोर्निधिः।
जयसेनगुरूः पातु बुधवृन्दाग्रणी स नः॥
आदिपुराण, प्रथम पर्व, श्लोक सं. ५९, प्रथम संस्करण, सन् १९५१

२. श्रीलाटवर्गनभस्तलपूर्णचन्द्रः शास्त्रार्णवान्तगसुधीस्तपसां निवासः।
कान्ताकलावपि न यस्य शरैर्विभिन्नं स्वान्तं बभूव समुनिर्जयसेन नामा।
महासेन कृत: प्रद्युम्नचरित्र, अन्त्य प्रशस्ति,
पं. जुगल किशोर मुख्तार, पं. परमानन्द जैन : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह,
प्रथम संस्करण, सन् १९५४, पृ.सं. ८५, प्रशस्ति सं. ६१

वध किया गया। अतः महासेन के भी समवर्ती होने से इनका काल ११वीं शताब्दी का मध्य भाग मानना चाहिए। महासेन के पूर्ववर्ती गुणाकरसेन और गुणाकरसेन के पूर्ववर्ती जयसेन थे। अतः महासेन के समय से यदि ५०वर्ष कम किये जाते हैं तो जयसेन का समय १०वीं शताब्दी होनी चाहिए।[१]

६. छठे जयसेन :- छठे जयसेन आचार्य धर्मरत्नाकर ग्रन्थ के रचयिता हैं। उन्होंने स्वयं धर्मरत्नाकर के अन्तिम भाग में अपनी गुरु परम्परा का निर्देश किया है।

वे अपनी परम्परा मेदार्य (मेतार्य) के साथ जोड़ते हैं, जो भगवान महावीर के गणधर थे। उनसे लाडबागड संघ उत्पन्न हुआ। इसी संघ में धर्मसेन हुए। उनके पश्चात् शान्तिसेन, उसके बाद गोपसेन, उसके अनन्तर भावसेन हुए। भावसेन के शिष्य जयसेन हुए। इस प्रकार प्रकृत जयसेन, भावसेन के शिष्य और ब्रह्मसेन के गुरु थे। उन्होंने अपने विषय में स्वयं लिखा है कि भावसेन के पश्चात् उनके शिष्य समस्त जन समुदाय को आनन्द देने वाले सर्व साधुओं में प्रसिद्ध जयसेन नामक गुरु हुए। जिन्होंने प्राणियों के हित के लिए अपने बुद्धि वैभव से गर्वरहित होकर, जिनमत का सारभूत अर्थ से व्याप्त शास्त्र की रचना की। [२]

इसी लाडबागड संघ के विद्वान नरेन्द्रसेन आचार्य ने सिद्धान्तसार की प्रशस्ति में कहा है कि "भावसेन के शिष्य जयसेन, तपलक्ष्मी से समस्त पाप का क्षालन करने वाले, सुतर्क विद्यारूपी समुद्र के पारदर्शी, करुणास्पदों के विश्वसनीय प्रसिद्ध हुए।"[३]

धर्मरत्नाकर और सिद्धान्तसार की प्रशस्ति में समान आचार्य परम्परा उपलब्ध होती है। इसलिए दोनों के भी उल्लिखित जयसेन आचार्य एक ही हैं, ऐसा निश्चित होता है।

---

१. पं. परमानन्द शास्त्री : जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, पृ.सं. ३११, प्रथम संस्करण, सन् १९७४

२. ततो जातः शिष्य: सकल जनतानन्द जननः।
प्रसिद्धः साधूनां जगति जयसेनाख्य इह सः।
इदं चक्रे शास्त्रं जिन समयसारार्थ निचितं,
हितार्थं जन्तूनां स्वमतिविभवाद् गर्वविकलः॥
आचार्य जयसेन कृत धर्मरत्नाकर, अन्त्य प्रशस्ति, श्लोक सं. ७

३. ख्यातस्ततः श्रीजयसेननामा जातस्तपः श्रीक्षतदुःकृतौधः।
सत्तर्क विद्यार्णवपारदृष्वा विश्वासगेहं करुणास्पदानाम्॥
आचार्य नरेन्द्रसेन कृत सिद्धान्तसार प्रशस्ति, श्लोक सं. ९०

धर्मरत्नाकर एक संग्रह ग्रन्थ है। इसका प्रतिपाद्य विषय गृहस्थ धर्म है। ग्रन्थकार ने स्वपर ग्रन्थों के पद्य गम्य रूप पुष्पों का संग्रह करके यह ग्रन्थ, माला के समान रचा है। इस प्रकार ग्रन्थ कर्ता ने अन्तिम पद्य में स्वयं सूचित किया है।[१]

आचार्य जयसेन का समय विक्रम की ११ वीं शताब्दी का मध्य भाग जाना जाता है। धर्मरत्नाकर ग्रन्थ में, अमृतचन्द्र आचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धयुपाय से, गुणभद्र आचार्य विरचित आत्मानुशासन से, यशस्तिलक चम्पू से पद्यों को संकलित किया इससे ये उनके पश्चात्वर्ती विद्वान हैं, ऐसा निश्चित होता है। धर्मरत्नाकर की अन्तिम प्रशस्ति का अन्तिम पद्य लिपिकारों की कृपा से प्राय: स्खलित हुआ है। वह दिल्ली नगर के पंचायती मंदिर की प्रतियों में और आरा नगर स्थित जैन सिद्धान्त भवन की प्रतियों में दिखाई नहीं देता।

"बाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सबलीकरहाटके॥" [२]

इस पद्य के द्वारा ग्रन्थ रचना काल वि.सं. १०५५ और रचना स्थान सबलीकर हाटक है, यह स्पष्ट जाना जाता है। लाडबागड संघ के ये आचार्य प्रसिद्ध हैं। और धर्मरत्नाकर ग्रन्थ की रचना करहाटक नगर में, वर्तमान महाराष्ट्र के कराड नामक नगर में हुई, ऐसा निश्चित किया जाता है।[३]

७. सातवें जयसेन आचार्य :- लाडबागड संघ की गुर्वावलि अनुसार ये नरेन्द्रसेन के शिष्य तथा गुणसेन और उदयसेन के सधर्मा थे।

सिद्धान्तसार की प्रशस्ति में दो बार जयसेन आचार्य का उल्लेख प्राप्त होता है। उनमें से प्रथम जयसेन धर्मरत्नाकर ग्रन्थ के प्रणेता थे। द्वितीय जयसेन, नरेन्द्रसेनके शिष्य और गुणसेन, उदयसेन के साधर्मी बन्धु लक्षित होते हैं।

---

१. इत्येतैरुपनीतचित्ररचनैः स्वैरन्यदीयैरपि।
भूतोदद्यगुणैस्तथापि रचिता मालेव सेयं कृतिः॥ धर्मरत्नाकर, अ. २०, श्लोक सं.३७

२. जुगल किशोर मुख्तार : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रस्तावना पृ.सं. ४,५, प्रथम संस्करण, सन् १९५४

३. डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, कस्तूरचंद कासलीवाल : वीरशासन के प्रभावक आचार्य, पृ.सं. ७५, प्रथम संस्करण १९७५

सिद्धान्तसार की प्रशस्ति में निम्नलिखित प्रकार से गुरु परम्परा का उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है:-" पद्मसेनो, धर्मसेनः, शान्तिषेणो, गोपसेनो, जयसेनो, ब्रह्मसेनो, वीरसेनो, गुणसेनो, नरेन्द्रसेनो, गुणसेनो (उदयसेनः जयसेनः) नरेन्द्रसेन इति"। इनमें गुणसेन, उदयसेन और जयसेन समकालीन थे, ऐसा अनुमान किया जाता है। [१]

प्रथम जयसेन का समय विक्रम की ११ वीं शताब्दी निश्चित किया है। ये उसके पश्चात् पाँचवीं वंश परम्परा में हुए, अत: उस काल से बहुधा १०० वर्ष के पश्चात् इनका समय मानना चाहिए| अत: इनका काल विक्रम की बारहवीं शताब्दी अनुमानित की जाती है।

८. आठवें जयसेन :- ये मूल संघ के विद्वान आचार्य वीरसेन के प्रशिष्य और सोमसेन के शिष्य थे। इन्होंने कुन्दकुन्द आचार्य विरचित प्राकृत ग्रन्थों का अध्ययन किया और उनमें से पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार- इन तीन प्राभृतों के ऊपर संस्कृत भाषा में वृत्तियां रची। उनमें से प्रत्येक का नाम "तात्पर्यवृत्ति" है। वृत्तियों की भाषा सरल और सुगम है।

इनका काल ई.सन् बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १३वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।[२]

९. नौवें जयसेन :- ये प्रतिष्ठा पाठ ग्रन्थ के रचयिता थे। उनका दूसरा नाम वसुबिन्दु था। वे अपने को कुन्दकुन्द का अग्र शिष्य मानते हैं। डॉ. आ.ने. उपाध्ये ने धर्मरत्नाकर ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा है, वह इस प्रकार है :-

दक्षिण देश में राजा ललाट ने कोंकण भाग में स्थित रत्नागिरि गाँव में एक विशाल चैत्य का निर्माण किया। इस उत्सव के निमित्त गुरु आज्ञा से, कोल्हापुर नगर वासी जनों के प्रमोद के लिए जयसेन मुनि (वस्तुबिंदु) ने दो दिन में प्रतिष्ठा पाठ रचा। इस प्रकार इस प्रशस्ति से लक्षित होता है कि लेखक जयसेन, कोल्हापुर नगर से सम्बन्धित थे। पं. बाहुबलि शर्मा ने मुझे (डॉ. आ. ने. उपाध्ये को) कहा कि यह रत्नागिरि गाँव अभी कोल्हापुर नगर के निकट स्थित ज्योतिबा नामक पर्वत के पास में है।[३]

---

१. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, पृ.सं. १०३-१०४, प्रशस्ति सं.७६, प्रथम संस्करण, सन् १९५४

२. डॉ. आ. ने. उपाध्ये, प्रवचनसार प्रस्तावना, पृ.सं.४४, द्वितीय संस्करण, सन् १९३५

३. डॉ. आ. ने. उपाध्ये, धर्मरत्नाकर ग्रन्थ की प्रस्तावना, पृ.सं.२१.

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में आचार्य वसुनन्दि का दूसरा नाम जयसेन कहा है। माघनन्दि गुर्वावली के अनुसार, ये नेमिचन्द्र के शिष्य थे। इनकी कृतियां आप्तमीमांसावृत्ति, वास्तुविद्या, मूलाचारवृत्ति, जिनशतक टीका, प्रतिष्ठा पाठ, श्रावकाचार इत्यादि उपलब्ध होते हैं। इनका समय विक्रम सं. ११०० से ११५० (ई.सन् १०४३ से १०९३) माना गया है।

१०. दसवें जयसेन :- इनके अतिरिक्त मुनि जयसेन (नाथसेन) का उल्लेख प्राप्त होता है। त्रिनयन परिवार के भीम, नरवाहन नामक उनके दो प्रमुख शिष्य थे। उन दोनों के लिए अम्बराज द्वितीय (विजयादित्य) राजा ने एक गांव दान में दिया था। अम्बराज द्वितीय चालुक्य वंश परम्परा में दशम शताब्दी का राजा जैन धर्म का आश्रय दाता था। यद्यपि वह शैवधर्मीय था, तथापि उसकी पत्नि चामिकम्बा नाम की जैन श्राविका आर्यनन्दि आचार्य की शिष्या थी। इससे अनुमान किया जाता है कि जयसेन मुनि दसवीं शताब्दी में विद्यमान थे।[१]

वृत्तिकार जयसेन आचार्य :-

उपर्युक्त विविध जयसेन आचार्यों में से आठवें जयसेन आचार्य वृत्तिकार रूप से विख्यात हुए। वे जयसेन आचार्य ही यहाँ विवक्षित हैं। क्योंकि इनको छोड़कर, किसी अन्य जयसेन आचार्य ने कुन्दकुन्द आचार्य के ग्रन्थों के ऊपर वृत्तियां नहीं लिखी है। उपर्युक्त जयसेनों में तीन ही जयसेन आचार्य साहित्यिक क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं।

१. प्रथम धर्मरत्नाकर ग्रन्थ के रचयिता जयसेन आचार्य,

२. प्रतिष्ठा पाठ के रचयिता जयसेन, एवं

३. कुन्दकुन्द प्राभृतत्रय के वृत्ति कर्ता जयसेन आचार्य।

उनमें भी द्वितीय जयसेन, वसुबिन्दु नाम से प्रसिद्ध हुए। अत: शेष दो ही जयसेन आचार्य विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए।

विवक्षित जयसेन आचार्य ने कुन्दकुन्द आचार्य विरचित पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार- इन प्राभृत त्रय के ऊपर वृत्तियाँ रची हैं। इन तीनों वृत्तियों का "तात्पर्यवृत्ति" नाम है। ये तात्पर्य अर्थात् अभिप्राय को स्पष्ट रूप से बताती हैं, इसलिए यथा नाम तथा गुण- इस सूक्ति को साध्य करती हैं। तीनों भी वृत्तियाँ वर्तमान में अर्थ सहित प्रकाशित हैं। जयसेन आचार्य ने अतीव सरल शैली में सहज सुबोधगम्य भाषा में अल्पबुद्धि सामान्य जनों के लिए कुन्दकुन्द आचार्य के हार्द को उद्घाटित किया है। केवल टीका के माध्यम से ख्याति प्राप्त

---

१. एस.के. रामचन्द्र राव: जैनिज्म इन साउथ इन्डिया, पृ.सं. ७३-७४, १९७०

आचार्यों में जयसेन का नाम अग्रणी है। इन्होंने अमृतचन्द्र आचार्य के समान, कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा विरचित तीन परमागमों के ऊपर उत्कृष्ट वृत्तियां लिखी हैं। इन तीन वृत्तियों के अतिरिक्त, जयसेन आचार्य की अन्य वृत्तियां उपलब्ध नहीं हैं।

अमृतचन्द्र आचार्य कृत प्रौढ, सशक्त, गंभीर टीकाओं के विद्यमान होने पर भी, इनके द्वारा रचित वृत्तियाँ, इनके श्रुत उपहार के लिए प्रतीक रूप में विद्यमान हैं। जिस प्रकार माता अपने शिशु को मृदु भोजन पाचक बनाकर परोसती है, उसी प्रकार जयसेन आचार्य ने गूढ अर्थों को दृष्टान्त आदि के द्वारा सरल करके भव्य वत्सलों को रसपान कराया है। इनके द्वारा प्रणीत वृत्तियाँ एक ओर से इनके अध्यात्म रस में निमग्न आध्यात्मिक व्यक्तित्व को प्रस्तुत करती हैं वहीं दूसरी ओर इनके स्वतन्त्र विचारशीलपना और विद्वत्ता को प्रकाशित करती हैं। यदि जयसेन आचार्य प्राभृत त्रय पर वृत्तियां नहीं रचते तो अल्पबुद्धि साधारण जन, प्राभृत त्रय में भरे हुए अध्यात्म अमृत के रसपान से वंचित होकर प्यासे ही रह जाते। इसलिए इन्होंने करुणाबुद्धि से वृत्तियों की रचना की है।

ये आगमज्ञ और अध्यात्म कुशल थे। अतः इन्होंने आगम और अध्यात्म में सामञ्जस्य स्थापन करके महत्त्वपूर्ण कार्य किया। जिस कारण अध्यात्म सदृश मिष्ट और गरिष्ठ अन्न अजीर्ण न होकर, आगम रूपी घी के साथ ग्रहण करने से सुपाच्य हुआ है। जयसेन आचार्य विरचित वृत्तियों के अध्ययन बिना प्राभृतत्रय के स्पष्ट अर्थ को जानना शक्य नहीं है। इसलिए कुन्दकुन्द आचार्य के अभिप्राय को जानने के लिए ये वृत्तियां अवश्य पठनीय हैं।

निष्कर्ष :- भारतीय दर्शन शास्त्र में जीव, जगत और परमात्मा इन तीनों के ऊपर विशेष ऊहापोह किया है। जैन दर्शन में भी उपरोक्त तीनों की अच्छी समीक्षा की गई है। जैन दर्शन में प्रयुक्त अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह - ये अकार त्रयी, विश्व कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती हैं। और विश्व शान्ति स्थापित करने के लिए समर्थ होती हैं। कुन्दकुन्द आचार्य आदि बहुत महर्षियों ने भारतीय संस्कृति साहित्य की वृद्धि की है। उन्हीं की परम्परा में जयसेन आचार्य के द्वारा वृत्ति साहित्य की रचना से महती साहित्य सेवा समर्पित की गई है।

****

द्वितीय अध्याय

आचार्य जयसेन का जीवन वृत्त, व्यक्तित्व और प्रभाव

अध्यात्म रसिक आचार्यों में जयसेन आचार्य का नाम सर्व विदित है, किन्तु जैसे लोग उनके नाम से परिचित हैं, वैसे उनके जीवन के विषय में अपरिचित हैं। उन्होंने किस काल में, किस देश में जन्म लेकर इस भारत वसुन्धरा को पवित्र किया, यह बताना यद्यपि अशक्य नहीं, परन्तु कठिन अवश्य है। अपनी आत्मा में मग्न, आध्यात्मिक आचार्य जयसेन ने अपने विषय में कहीं पर भी, किञ्चित् भी लौकिक परिचय नहीं कहा, क्योंकि वे लौकिक जीवन को यथार्थ जीवन नहीं मानते थे। ख्याति, प्रतिष्ठा, पूजा आदि से दूरवर्ती आचार्य ने सदैव अपने निर्लिप्त स्वभाव को ही प्रसिद्ध किया। इसलिए विद्वान उनके समय और स्थान आदि का निर्णय करने में असमर्थ हुए।

रचना काल :-

किसी भी ग्रन्थकार का रचना काल जानने के लिए उसके द्वारा रचित ग्रन्थों का अन्तरंग और बहिरंग प्रमाणों के द्वारा अध्ययन किया जाता है। अन्तरंग प्रमाण में ग्रन्थकार के द्वारा अपने विषय में जो लिखा गया है, वह प्रामाणिक स्वीकार किया जाता है। यदि ग्रन्थकर्ता अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखे, परन्तु अपनी रचनाओं में अपने से पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है, अथवा उन ग्रन्थों के उद्धरण उद्धृत किये हैं, वह विचारा जाता है। उसके आधार से विवक्षित आचार्य का काल निर्णीत किया जाता है।

जयसेन आचार्य के विषय में अन्तरंग प्रमाणों का अभाव दिखाई देता है। परंतु उनकी वृत्तियों में प्रथम शतक से बारहवें शतक पर्यन्त रचित ग्रन्थों के उद्धरण प्राप्त होते हैं। उसके आश्रय से यहाँ पर उनका समय निश्चित किया जाता है।

जयसेन आचार्य की पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में विद्यानन्दी आचार्य कृत आप्तपरीक्षा ग्रन्थ से, "श्रेयोमार्गस्य संसिद्धि ....." और श्लोकवार्तिकवृत्ति से "अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय:....." ये दो पद्य अवतरित हैं। विद्यानन्दी आचार्य विरचित 'अष्ट सहस्री' नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति पद्य में कुमारसेन की उक्ति से प्रवर्द्धमान ऐसा कहा है।[1]

---

१. कष्टसहस्रीसिद्ध साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्ति वर्धमानार्था ॥ विद्यानन्दिकृत अष्टसहस्री, अन्तिम प्रशस्ति.

इससे विद्यानन्दी आचार्य कुमारसेन के उत्तरवर्ती निश्चित किये जाते हैं। कुमारसेन का समय ई.सन्. ७८३ से पूर्ववर्ती है, क्योंकि पुण्णाट संघी जिनसेन आचार्य ने शक सं. ७०५ और ई. सन्. ७८३ हरिवंशपुराण में कुमारसेन का स्मरण किया है।[1] अतः कुमारसेन ई. सन्. ७८३ से पूर्ववर्ती हुए। उस काल में उनका यश वृद्धिंगत था।

शिव मार राजा के चाचा विजय आदित्य के पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम, शिवमार राज्य के उत्तराधिकारी हुए और वह ई. सन् ८१६ वें वर्ष में सिंहासन् पर आरूढ हुए। विद्यानन्दि आचार्य ने अपने रचित ग्रन्थों में सत्यवाक्य राजा का उल्लेख किया है।[2] इन प्रमाणों से जाना जाता है कि विद्यानन्दि आचार्य की रचनाऐं ई. सन् ८१० - ८४० के बीच में रची गई हैं। अत: विद्यानन्दि आचार्य का समय ई. सन् ७७५ से ८४० पर्यन्त जाना जाता है। इससे जयसेन आचार्य का काल नौवीं शताब्दी के पश्चात् ही निश्चित होता है।

अमृतचन्द्र आचार्य और जयसेन आचार्य ने पञ्चास्तिकाय संग्रह की वृत्ति में मुनि रामसिंह के द्वारा विरचित पाहुडदोहा ग्रन्थ से "अंतो णत्थि सुईणं ....." यह दोहा उद्धृत किया है। मुनि रामसिंह का काल नौवीं शताब्दी है। इसलिए अमृतचन्द्र आचार्य और जयसेन आचार्य की संभावना इसके पश्चात् ही हो सकती है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के प्राभृत त्रय ग्रन्थ के प्रथम सम्मत टीकाकार अमृतचन्द्र आचार्य हुए। उनके अनन्तर जयसेन आचार्य ने प्राभृत त्रय के ऊपर वृत्तियाँ रची। यह उनकी विरचित वृत्तियों से निर्विवाद सिद्ध है। आचार्य जयसेन ने अपनी रचित वृत्तियों में, अमृतचंद्र आचार्य विरचित टीकाओं का केवल अनुकरण ही नहीं किया अपितु उनकी कृतियों का अंश प्रमाण रूप से अवतरित किया है। समयसार की तात्पर्यवृत्ति में जयसेन आचार्य के द्वारा अमृतचन्द्र आचार्य विरचित समयसार कलश टीका के सात पद्य उद्धृत किये गये हैं। उनमें प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति में अमृतचन्द्र आचार्य की टीका का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है :-

---

१. आकूपारं यशोलोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्॥
जिनसेनकृत हरिवंशपुराण सर्ग १, श्लोक सं. ३८, प्रथम संस्करण, सन् १९९९

२. शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघाधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः |
युक्त्यनुशासनालंकार प्रशस्ति श्लोक १, अन्तिमचरण |
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थ सिद्ध्यै। आप्तपरीक्षा, श्लोक १२३
जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः। सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः॥
प्रमाणपरीक्षा, मंगल पद्य

"तदनन्तरं स्त्रीनिर्वाण निराकरण प्रधानत्वेन 'पेच्छदि ण हि इह लोगं।"[1]

पट्टावलि में अमृतचन्द्र आचार्य का पट्टारोहण काल विक्रम संवत् ९६२ कहा है। वह यथार्थ भाषित होता है, क्योंकि धर्मरत्नाकर के रचयिता जयसेन लाडबागड संघ के विद्वान थे। उन्होंने अमृतचन्द्र सुरि विरचित पुरुषार्थ -सिद्ध्युपाय के ५९ पद्य अवतरित किये हैं। उससे धर्मरत्नाकर ग्रन्थ वि.सं. १०५५ वर्ष में रचकर समाप्त किया है। अत: अमृतचन्द्र सूरि वि.सं. १०५५ वर्ष से पूर्ववर्ती हुए। विश्वविख्यात जर्मन विद्वान डॉ. विन्टर नित्स ने भी पीटर रिपोर्ट के अनुसार अमृतचन्द्र सूरि की २२६ पद्यात्मक पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय रचना वि.सं. ९६१ (ई.स. ९०४) वें वर्ष की मानी है।[2] इसलिए अमृतचन्द्र आचार्य का समय ई.स. नौवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध जाना जाता है। इससे जयसेन आचार्य का समय १०वीं शताब्दी के पश्चात् जाना जाता है।

सोमदेव आचार्य ने राजा यशोधर का चरित्र चित्रणात्मक यशस्तिलकचम्पू नामक ग्रन्थ रचा है। उससे जयसेन आचार्य ने समयसार तात्पर्यवृत्ति में दो श्लोक उद्धृत किये हैं। सोमदेव आचार्य का समय सुनिश्चित है। उन्होंने यशस्तिलकचम्पू ग्रन्थ की रचना समय शक सं. ८८१ (ई.सन् ९५९) लिखा है।

शक संवत् ८८१ वें वर्ष में चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन जब कृष्णराज देव पाण्ड्य सिंहलचोलचेर इत्यादि राजाओं को जीतकर मेल पाटी नामक स्थान पर सेना शिबिर में था, तब गंगधारा में यह काव्य परिपूर्ण हुआ।[3] अतः सोमदेव आचार्य दशवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य निश्चित किये जाते हैं। इससे जयसेन आचार्य, दसवीं शताब्दी से पूर्व नहीं हुए, यह जाना जाता है।

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. सं. २३६ समुदायपातनिका।

२. In about 904 A.D. wrote the words "Purushartha Siddyupaya" or "Jain Pravachana Rahasya Kosa", in 226 Sanskrit Verses, Tattvarthasara, Tattvadipika and commentaries on Kundkunda's works.

३. शकन्नृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अंकत: (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्र- मासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्यसिंहलचोरचेर प्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेलपाटी प्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्योपजीविनः समधिगत पञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद् वद्दिगराजस्य लक्ष्मी प्रवर्धमानवसुधारायां गंगधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति। - श्री सोमदेव सूरि, यशस्तिलकचम्पू, अन्तिम प्रशस्ति, पृ. सं ४१९, निर्णयसागर, मुंबई सन् १९०३

पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वानुशासन ग्रन्थ से पाँच पद्य ग्रन्थ के नाम निर्देश पूर्वक उद्धृत किये हैं। २५८ प्रमाण संस्कृत पद्यात्मक तत्त्वानुशासन ग्रन्थ रामसेन आचार्य की कृति है। रामसेन आचार्य ने अपने ग्रन्थ में रचना काल नहीं कहा है। तथापि अन्य साधन सामग्रियों से रचना काल का विचार किया है। तत्त्वानुशासन ग्रन्थ में गुणधर आचार्य रचित उत्तरपुराण और आत्मानुशासन के समान श्लोक उपलब्ध होते हैं। उत्तर पुराण की अन्तिम प्रशस्ति में उसका समय शक सं. ८२० (ई.सन् ८९८) वर्ष प्रतिपादित किया है।[1] वास्तव में यह उसका रचना काल नहीं है, अपितु उसका पूजोत्सव काल है। पूजा उत्सव का यह काल, रचनाकाल से बहुत अन्तर काल प्रतिभासित नहीं होता। यदि उनसे ग्रन्थ लिपि इत्यादि काल पाँच वर्ष कम किया जाता है तो बहुधा शक सं. ८१५ (ई.सन् ८९३) उत्तर पुराण का रचना काल जाना जाता है।

इसप्रकार तत्त्वानुशासन की पूर्व सीमा ई.सन् ८९८ स्थिर होती है। जयसेन आचार्य रचित धर्मरत्नाकर के पंद्रहवें अवसर में तत्त्वानुशासन के एक पद्य को अपने ग्रन्थ का अंग बनाया है। वह तत्त्वानुशासन का १०७ वाँ श्लोक है। धर्म रत्नाकर का रचना काल वि.सं. १०५५ (ई.सन् ९९७) निश्चित होता है। तत्त्वानुशासन इससे पूर्ववर्ती रचना है। तत्त्वानुशासन के ऊपर अमृतचन्द्र आचार्य रचित ग्रन्थों का साहित्यिक अनुसरण और प्रभाव लक्षित होता है। पं.जुगल किशोर मुख्तार ने अमृतचन्द्र का समय १०वीं शताब्दी का तीसरा चरण कहा है और रामसेन आचार्य का १०वीं शताब्दी का चौथा चरण अनुमानित किया है। अतः जयसेन आचार्य १०वीं शताब्दी के पश्चात् हुए, ऐसा जाना जाता है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा विरचित गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड ग्रन्थ से कुछ गाथाओं को जयसेन आचार्य ने अपनी वृत्तियों में उद्धृत किया है। चामुण्डराय के निमित्त से नेमिचन्द्र आचार्य ने गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना की है। आचार्य नेमिचन्द्र ने चामुण्डराय के द्वारा निर्मापित श्रवणबेलगोला में स्थित गोम्मटेश्वर बाहुबलि स्वामी की अद्भुत प्रतिमा की स्थापना चैत्र शुक्ल पंचमी तिथि में ई.सन् १०२८ वें वर्ष में की थी।[2] अत: नेमिचन्द्र

---

१. शकनृप कालाभ्यन्तर विंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते।
मङ्गलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे॥ ३५॥
जिनसेनकृत उत्तर पुराण, अन्तिम प्रशस्ति, श्लोक सं. ३५, पृ.सं. ४७७, तृतीय संस्करण, सन् १९८९

२. कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे|
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार श्रीमच्चामुण्डराजो बेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम्॥
बाहुबलि चरित्र से उद्धृत, जैन शिलालेख संग्रह, भा.१, पृ. सं. २९-३१

सिद्धान्त चक्रवर्ती का काल ई.सन् १०वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और ११वीं शताब्दी का पूर्वार्ध्द निश्चित किया जाता है। अत: जयसेन आचार्य इसके पश्चात् हुए, ऐसा जाना जाता है।

चामुण्डराय ने चारित्रसार नाम का ग्रन्थ लिखा है। उससे ऋषि, मुनि, यति, अनगार, इनके वर्णन स्वरूप एक पद्य जयसेन आचार्य ने प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति में ग्रहण किया है। चामुण्डराय गंगवंशीय राजा राचमल्ल के प्रधान मंत्री और सेनापति थे। राचमल्ल चतुर्थ का राज्यकाल शक सम्वत् ८९६ से ९०६ (ई.सन् ९७४ से ९८४) वर्ष पर्यन्त सुनिश्चित है।[१] श्रवणबेलगोलस्थ उगे नामक ब्रह्मदेव स्तम्भ में उत्कीर्ण लेख में (ई.सन्. ९७४) लिखा है कि इस प्रसिद्ध दुर्ग में हुए आक्रमण से सम्पूर्ण जगत आश्चर्य चकित हुआ।[२]

चामुण्डराय ने शक सम्वत् ९०० वें (ई.सन् ९७८) वर्ष में त्रिषष्ठी शलाका पुरुष चरित्र लिखकर समाप्त किया। [३] अतः चामुण्डराय का समय ई.सन् १०वीं शताब्दी का उत्तरार्ध प्रामाणिक माना जाता है। अत: जयसेन आचार्य १०वीं शताब्दी के पश्चात् हुए, यह जाना जाता है।

जयसेन आचार्य ने पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में द्रव्य संग्रह से एक गाथा उद्धृत की है। उसमें द्रव्य संग्रह रचना के निमित्त सोम श्रेष्ठी की जिज्ञासा का और द्रव्य संग्रह के सार्थक नाम का भी उल्लेख किया है। टीकाकार ब्रह्मदेव के कथनानुसार द्रव्य संग्रह के कर्ता नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव, धारानगरी के स्वामी राजाभोज के समकालीन थे। धाराधिपति भोजराज अपनी विद्वत्ता और विद्वत् प्रियता से अति प्रसिद्ध था। उसका राज्यकाल ई.सन्१०२० से १०४५ (वि.सं. १०७७ से ११०४) वर्ष पर्यन्त माना जाता है। अत: द्रव्य संग्रह की रचना ई.सन् ११वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई। इससे जयसेन आचार्य ई सन् ११वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पश्चात् हुए, ऐसा अनुमान किया जाता है।

आचार्य वसुनन्दिकृत श्रावकाचार नामक ग्रन्थ से, जयसेन आचार्य ने समयसार तात्पर्यवृत्ति में एक गाथा अवतरित की है। वि.सं. १३ शताब्दी के विद्वान पं. आशाधरजी ने सागार धर्मामृत की टीका में वसुनन्दी का आदरणीय शब्दों में उल्लेख किया है। सागार धर्मामृत वि.सं. १२९६ वर्ष में परिपूर्ण हुआ। [४] इससे निश्चित होता है कि वसुनन्दि आचार्य १३वी

---

१. परमानन्द शास्त्री जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भा. २, पृ.सं. २६५, प्रथम संस्करण, सन् १९७४

२. डॉ. हीरालाल जैन: जैन शिलालेख संग्रह: पृ.सं. १६, ले.सं.३८

३. डॉ. हीरालाल जैन: सुदंसणचरिउ- प्रस्तावना, प्र. सं. १४, १९७८

४. कैलाशचन्द्र शास्त्री : सागार धर्मामृत - प्रस्तावना, पृ.सं.८, प्रथम संस्करण, सन् १९७८

शताब्दी के पूर्ववर्ती थे। उन्होंने ११ वीं शताब्दी में विद्यमान, आचार्य अमितगति श्रावकाचार से पाँच पद्य मूलाचार की वृत्ति में उद्धृत किये हैं। उससे वसुनन्दि, अमितगति आचार्य के पश्चात् हुए। वसुनन्दि आचार्य ने नयनन्दि आचार्य को पितामहगुरु रूप से स्मरण किया है। नयनन्दि ने वि. सं. ११०० (ई.सन् १०४२) वें वर्ष में "सुदंसण चरिउ" नामक अपभ्रंश भाषात्मक ग्रन्थ रचा है।[1] वह भोजराजा के राज्य काल में (ई. सन् १०२० से १०४७) विद्यमान थे। भोजराजा के विद्वत मंडल की ख्याति संस्कृत, प्राकृत भाषा के साहित्य सृजनार्थ विशेष रूप से है। इससे जयसेन आचार्य ई. सन् की ११वीं सदी के पश्चात् हुए, ऐसा जाना जाता है।

समयसार की तात्पर्यवृत्ति में जयसेन आचार्य ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ से तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। ज्ञानार्णव के रचयिता शुभचन्द्र आचार्य हैं। आचार्य नेमिसेन के शिष्य अमितगति प्रथम के द्वारा विरचित योगसार के नौवें अधिकार का एक पद्य "ज्ञानार्णव में "उक्तंच" रूप से उपलब्ध होता है।

अमितगति द्वितीय ने सुभाषितरत्नसंदोह वि.सं. १०५० (ई.सन् ९९३) और पंचसंग्रह वि सं. १०७३ (ई.सन् १०१६) वें वर्ष में समाप्त किया।[2] इससे दो पीढी पहले अमितगति प्रथम हुए। अतः उनका समय ११वीं शताब्दी का प्रथम चरण है। नियमसार तात्पर्यवृत्ति में पद्मप्रभमलधारिदेव ने ज्ञानार्णव के ४२वें प्रकरण से एक पद्य उद्धृत किया है। पद्मप्रभमलधारिदेव का स्वर्गवास शक सं. ११०७ (ई.सन् ११८५) वें वर्ष में हुआ।[3] नियमसार की यह वृत्ति ई.सन् ११८५ वें वर्ष पूर्व निर्माण की, ऐसा निश्चय किया जाता है। उससे बहुधा २०-२५ वर्ष पूर्व ज्ञानार्णव रचना की संभावना की जाती है। हेमचन्द्र आचार्य ने योगशास्त्र वि.सं. १२०७ वें वर्ष में रचा।[4] ज्ञानार्णव उससे पहले रचा है, अतः शुभचन्द्र आचार्य का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १२वीं शताब्दी का प्रथम चरण प्रतीत होता है। इससे जयसेन आचार्य इससे पहले नहीं हुए, ऐसा निश्चय किया जाता है।

---

१. णिव विक्कमकालहो ववगएसु एयारह संवच्छर सएसु।
तहि केवलि चरिउं अमरच्छरेण णयणंदी विरयउ वित्थरेण (कोच्छरेण)।
नयनन्दि कृत सुदर्शन चरिउ, सन्धि सं. १२, पद्य१०, पृ.सं. १५१, सन् १९७०

२. समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे, सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके।
समाप्तं पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ, सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥८॥
सुभाषितरत्नसंदोह प्रशस्ति: श्लोक सं.८, पृ.सं. २३८, सोलापुर, प्रथम संस्करण, सन् १९७७

३. परमानन्द शास्त्री: जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भा. २, पृ. सं. ३०४, प्रथम संस्करण, सन् १९७४

४. वहीं पर, पृ.सं. ३०५

आचार्य पद्मनन्दि ने "पद्मनन्दिपंचविंशतिका" नामक ग्रन्थ रचा है। उसके एकत्वसप्तति प्रकरण से एक श्लोक, जयसेन आचार्य ने पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में उद्धृत किया है। पद्मनन्दि पंचविंशति प्रकरण के ऊपर आचार्य अमृतचन्द्र, सोमदेव आचार्य और अमितगति आचार्य का स्पष्ट प्रभाव और अनुसरण लक्षित होता है। इससे, पद्मनन्दि इनके पश्चात्वर्ती विद्वान जाने जाते हैं। पद्मनन्दि पंचविंशतिका के एकत्व सप्तति अधिकार की टीका वि.सं. ११९३ वर्ष में रचकर पूर्ण हुई। [१] इससे जाना जाता है कि एकत्व सप्तति उससे पूर्व रची गई है, अर्थात् एकत्व सप्तति ई.सन् ११२२-२७ कालावधि की रचना होनी चाहिए।

अत: पद्मनन्दि आचार्य का समय वि. सं. १०७३ से ११९३ (ई सन् १०१६ से ११३६) पर्यन्त काल के बीच माना गया है। अत: जयसेन आचार्य ई.सन् १२वीं शताब्दी के प्रथम चरण के पश्चात् हुए, ऐसा माना जाता है।

आचारसार ग्रंथ से जयसेन आचार्य ने पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में दो श्लोक उद्धृत किये हैं। वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती आचारसार के प्रणेता हैं। आचारसार ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति से यही जाना जाता है कि इनके गुरु मेघचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती हुए। श्रवणबेलगोला स्थित अभिलेख से जाना जाता है कि मेघचन्द्र आचार्य का स्वर्गवास शक सं. १०३७ (ई.सन् १११५) वें वर्ष में हुआ। [२] आचारसार की मूल रचना के कुछ काल पश्चात् ई.सन् ११५३ वें

---

१. श्री पद्मनन्दिव्रति निर्मितेयम् एकत्वसप्तत्यखिलार्थपूर्तिः।
वृत्तिश्चिरं निम्बनृपप्रबोधलब्धात्मवृत्तिर्जयतां जगत्याम्॥
स्वस्तिश्री शुभचन्द्रराद्धान्तदेवाग्रशिष्येण कनकनन्दिपण्डित
वाग्रश्मिविकसितहृत्कुमुदानन्द श्रीमद् अमृतचन्द्रचन्द्रिकोन्मीलितनेत्रोत्पलावलोकिता-
शेषाध्यात्मतत्त्ववेदिना पद्मनन्दिमुनिना श्रीमज्जैनसुधाब्धिवर्धनकरापूर्णेन्दुदुरारातिवीर
श्रीपतिनिम्बराजावबोधनाय कृतैकत्वसप्ततेर्वृत्तिरियम्।
प्रो.आ.ने.उपाध्ये, सं. पद्मनन्दिपंचाविंशति, अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ.सं. १७, सन् १९६२

२. सकवर्ष १०३७ नेय मन्मथसंवत्सरदमार्ग्गसिर सुद्ध १४ बृहस्पतिवार धनुलग्नद पूर्वाण्हदारूघलिगेयप्पा गलु श्री मूलसंघद देसियगणद पुस्तकगच्छ श्री मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवर्त्तम्मवशानकालमन-रिदुपल्यंकाशनदोलिद्दु आत्मभावनेयं भाविसुत्तं देवलोकक्के सन्दराभावनेयेन्तप्पुदेन्दोडे"

अनन्तबोधात्मकमात्मतत्त्वं निधाय चेतस्यपट्टायहेयं।
त्रैविद्यनामा मुनिमेघचन्द्रो दिवं गतो बोधनिधिर्विशिष्टम्॥

श्री हीरालाल जैन: जैन शिलालेख संग्रह, भा.१, ले.नं. ४७, प्र.सं.६४

वर्ष में स्वयं वीरनन्दि आचार्य ने उस पर कर्नाटक भाषा में टीका रची।[१] वीरनन्दि आचार्य का समय ई.सन्१२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित किया जाता है। उसी के अति निकट समकाल में जयसेन आचार्य विद्यमान थे, ऐसा प्रतीत होता है।

यह जयसेन आचार्य की पूर्व समय सीमा कह सकते हैं। अब उनकी उत्तर समय सीमा की मीमांसा की जाती है।

पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति की हस्तलिखित प्रति में ई.सन् १३६९ समय लिपि काल लिखा है। इससे यह सिद्ध होता है कि मूल पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति इससे पूर्व लिखी गई है।[२]

प्रभाचन्द्र आचार्य ने कुन्दकुन्द आचार्य कृत पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार इन तीन प्राभृत ग्रन्थों के ऊपर संक्षिप्त टीकाऐं लिखी हैं। उनके द्वारा विरचित टीकाओं के ऊपर जयसेन आचार्य का प्रभाव लक्षित होता है। प्रवचनसार सरोजभास्कर के कर्ता प्रभाचन्द्र आचार्य के समय का निर्णय करते हुए डॉ. आ.ने. उपाध्ये ने श्रुतमुनि कृत प्राकृत भाव त्रिभंगी की प्रशस्ति का उल्लेख किया है।

श्रुत मुनि ने प्रशस्ति में कहा है कि बालचन्द्र मेरे अणुव्रतगुरु, अभयचन्द्र सिद्धान्ति मेरे महाव्रत गुरु, अभयचन्द्र और प्रभाचन्द्र मेरे शिक्षा गुरु हैं।[३]

---

१. स्वस्ति श्रीमन्मेघचन्द्रत्रैविद्यदेवरश्रीपादप्रसादासादितात्मप्रभावसमस्तविद्याप्रभाव-
सकलदिग्वर्ति कीर्ति- श्रीमद्वीरणंदिसिद्धान्तचक्रवर्तिगळ शकवर्षं १०७६
श्रीमुखनामसंवत्सरद ज्येष्ठशुक्ल १ सोमवारंददु तावु माडिदाचारसारक्के कर्णाटकवृत्तियं
मडिदपर, कर्णाटक कविचरिते जिल्द १, पृ.१८५, इन्डियन एन्टिक्वेरी, या. ८८

२. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति: हस्तलिखित प्रति, श्री पार्श्वनाथ स्वामी,
दि. जैन सेनगण मन्दिर, कारंजा

३. अणुवदगुरुबालेन्दु महव्वदे अभयचन्दसिद्धंति।
सत्थे भयसूरिप्पहाचंदा खलु सुयमुणिस्स गुरू॥११७॥
वरसारत्तयणिउणो सुद्धप्परओ विरहियपरभावो।
भवियाणं पडिवोहणपरो पहाचंदणाम मुणी॥१२३॥
श्रुतमुनि कृत भावत्रिभंगी, गा. ११७, १२३

इसी प्रशस्ति में, अन्तिमश्लोक में "प्रभाचन्द्र मुनि सारत्रय में निपुण, शुद्धात्मरत और परभाव रहित" ऐसा कहा है। श्रुत मुनि के द्वारा स्वरचित परमागमसार की अन्तिम प्रशस्ति में प्रभाचन्द्र का स्मरण करते हुए" सारत्रयनिपुण" ऐसा कहा है। वे सारत्रय समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय ही हैं। डॉ. आ.ने. उपाध्ये इन्हीं प्रभाचन्द्रको उपर्युक्त तीन टीकाओं के रचयिता कहते हैं। श्रुत मुनि के द्वारा परमागमसार में उसका रचना काल शक सं. १२६३ (ई.सन् १३४१) वृष संवत्सर मार्गशीर्ष शुद्ध सप्तमी कही है।[1]

अतः प्रभाचन्द्र का समय ई.सन् की चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण कहा है इससे यह निश्चित होता है कि जयसेन आचार्य १४ वीं शताब्दी के पूर्व हुए हैं।

जयसेन आचार्य कृत पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति की एक प्राचीनतम् पाण्डु लिपि जयपुर नगर में स्थित दिगम्बर जैन बड़ा तेरह पंथ चैत्यालय के शास्त्र भंडार में संग्रहित है। उसका लेखन काल वि.सं. १३१९ (ई.सन् १२६२) लिखा है। पांडुलिपि के अन्तिम पृष्ठ का अभाव होने से सम्पूर्ण प्रशस्ति उपलब्ध नहीं होती। यह पाण्डुलिपि अतिस्पष्ट, परिष्कृत कागज के ऊपर लिखी है। [2]

इस प्रमाण से जयसेन आचार्य का समय, इससे पूर्व अर्थात् ई.सन् १३ शतक से पूर्ववर्ती प्रतीत होता है।

बालचन्द्र ने कुन्दकुन्द प्रणीत, तीन ग्रन्थों के ऊपर कर्नाटक भाषा में वृत्तियाँ लिखी हैं। उनकी वृत्तियों का मूल आधार, जयसेन आचार्य की वृत्तियाँ हैं। डॉ. आ.ने. उपाध्ये ने "अध्यात्मी बालचन्द्र" के नाम से इनका उल्लेख किया है, क्योंकि बालचन्द्र नाम के बहुत आचार्य हुए हैं।[3] अध्यात्मि बालचंद्र, नयकीर्ति आचार्य के शिष्य थे। नयकीर्ति का स्वर्गवास शक सं. १०९९ (ई.सन् ११७६) वैशाख शुक्ल चतुर्दशी के दिन हुआ। [4]

श्रवणबेलगोला के ई. सन् ११८२ के शिलालेख में बालचन्द्र का नामोल्लेख है। जिसमें चन्द्रमौलि की प्रार्थना से राजा ने एक गाँव दान रूप से दिया। आचार्य बालचन्द्र ने नयकीर्ति

---

१. सगकाले हु सहसस्से विसयतिसट्ठी १२६३ गदे दु विसवरिसे।
मग्गसिरसुद्धसत्तमि गुरुवारे गन्थसंपुण्णो ॥ २२४॥ परमागमसार प्रशस्ति

२. संवत् १३१९ चैत्र बदी दशम्यां बुधवासरे अद्येह योगिनीपुरे समस्तराजावलीसमालंकृत-
सुरत्राणगयासदीनराज्ये अत्रस्थित अग्रोतकान्वय परमश्रावक जिनचरणकमल...
डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल, आचार्य कुन्दकुन्द व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. ३२-३३

३. डॉ. आ. ने. उपाध्ये : प्रवचनसार प्रस्तावना, पृ.१०४

४. कर्णाटक कविचरिते, जिल्द १ पृ. ९९

के शिष्य सागरनन्दि नाम के मुनि की सुश्रुषा की। सागरनन्दि ई.सन् १२३१ पर्यंत जीवित थे।[१] जब नयकीर्ति का स्वर्गवास हुआ, तब अन्य शिष्यों से ये युवा थे | ऐसा प्रतिभाषित होता है। स्थूल रूप से बालचन्द्र का समय ई. सन् ११७६-१२३१ पर्यन्त कह सकते हैं। डॉ.आ. ने. उपाध्ये के मत में बालचन्द्र ने कुन्दकुन्द आचार्य कृत ग्रन्थों की वृत्तियों की अपने जीवन के अन्तिम समय में रचना की है। इसलिए वृत्तियों का समय ई.सन् की १३वी शताब्दी का प्रथम चरण होना चाहिए। इससे यह जाना जाता है कि जयसेन आचार्य, बालचन्द्र से पूर्व अर्थात् १३वीं शताब्दी के पूर्व हुए।

पद्मप्रभमलधारिदेव ने कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा रचित नियमसार ग्रन्थ के ऊपर तात्पर्यवृत्ति रची है। पद्मप्रभमलधारिदेव ने अमृतचन्द्र आचार्य प्रणीत अनेक पद्यों को अवतरित किया है और उनका अनुकरण करके स्वयं भी वृत्ति के अन्तर्गत अनेक पद्य रचे हैं। जयसेन आचार्य की अपेक्षा पद्मप्रभमलधारीदेवने अमृतचन्द्र आचार्य की शैली को अधिक आत्मसात किया है। परन्तु उनके द्वारा विरचित वृत्ति में जयसेन आचार्य के समान अन्य ग्रन्थों से उद्धरण की बहुलता दिखाई देती है। इस प्रकार उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती दोनों टीकाकारों का अनुसरण किया है।[२]

नियमसार की १६४ वीं गाथा के अनन्तर पद्मप्रभमलधारीदेव ने श्रुतबिन्दु नामक ग्रन्थ का उद्धरण उद्धृत किया है। श्रवणबेलगोला के शक सं. १०५०वें (ई.सन् ११२८) के शिलालेख में इस ग्रन्थ का उल्लेख है।[३] अतः पद्मप्रभमलधारीदेव ई.सन् ११२८ वें वर्ष के पश्चात् हुए।

मद्रास प्रान्त के "पाटशिवरम्" नामक गाँव के दक्षिण प्रवेश द्वार में स्थित स्तम्भ के खंडित शिलालेख में वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य पद्मप्रभमलधारिदेव के शरीर उत्सर्ग स्थिति२४ फरवरी ई.सन् ११८५, सोमवार" ऐसा लिखा है।[४]

---

१. डॉ. आ. ने. उपाध्ये : प्रवचनसार, अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ.सं. १०६, द्वितीय संस्करण, १९३५

२. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास, भा. २, पृ.सं. १९७

३. जैन शिलालेख संग्रह : भा. १, लेख नं. ५४, पृ.१०६

४. सकवर्ष सप्तखेंदु क्षिति ११०७ परिमितविश्वावसु प्रान्तफाल्गुण्यकनच्छुद्धा।
चतुर्थीतिथियुतभरणी सोमवारार्द्ध रात्रा
धिकनाड्येकांत्यदोल्लु निर्म्मलमति मल्लम्टं नाम पद्मप्रभं।
पुस्तकगच्छं मूलसंघं यतिपतिनुतदेसीगणं मुक्तनादं॥
"जैनिजम इन साउथ इन्डिया", पृ. १५९ से उद्धृत।

इन उल्लेखों से पद्मप्रभमलधारिदेव की पूर्व सीमा ई.सन् ११२८ और पर सीमा ई.सन् ११८५ जानी जाती है । जयसेन आचार्य, पद्मप्रभमलधारिदेव के पूर्ववर्ती परन्तु निकट समकालीन थे। ऐसा प्रतीत होता है। इससे यह निश्चित किया जाता है कि जयसेन आचार्य ई.सन् १२वीं शताब्दी के द्वितीय अथवा तृतीय चरण में विद्यमान थे। यह निर्णय हुआ।

अलौकिक जीवन परिचय

साधु महात्माओं, आचार्यों के चरित्र ही उनका जीवन है। उनके द्वारा स्वयं जीवन की अनुभूति के द्वारा प्राप्त किया हुआ सार ही विशुद्ध रूप से प्राप्त कराने के लिए कृतियों के प्रवाह रूप से प्रवाहित हुआ है। अतः बहुधा जैन ग्रन्थ कर्ता, रचना कर्ता और टीका कर्ताओं का जीवन वृत्त अत्यन्त न्यून रूप से प्राप्त किया जाता है। अथवा कुछ भी नहीं प्राप्त होता है। अध्यात्म रसिक विद्वान बाह्य लौकिक जीवन से अति विरक्त और आत्म गुप्त थे। वे बाह्य प्रसंगों को, कर्म व्यापारों को और अध्यवसायों को अपना जीवन ही नहीं मानते थे। उनका जीवन, भावना प्रधान होकर भी ज्ञान, ध्यान, तप में लीन स्वानुभूति परक था। वह उनका ज्ञान का ही व्यवसाय कह सकते हैं। परन्तु वह ज्ञान व्यवसाय लौकिक जीवन से पृथक् है।

आचार्य जयसेन अध्यात्म रसिक, आत्मनिष्ठ, आत्मयोगी थे। परमात्मा की उपासना ही उनका ध्येय है। उनके द्वारा लिखित साहित्य से यह स्पष्ट जाना जाता है कि उन्होंने तत्त्वज्ञान मूलक अध्यात्म तत्पर जीवन जिया। पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में उन्होंने स्वयं कहा है, "मेरे ज्ञान में आत्मा, मेरे दर्शन में आत्मा, मेरे चारित्र में आत्मा, मेरे प्रत्याख्यान, संवर और योग (ध्यान) में आत्मा ही है।" इससे अधिक कोई अध्यात्म योगी अपना क्या परिचय दे सकता है।[1]

जयसेन आचार्य शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव को ही अपने प्राण मानते थे। वस्तुतः जीव रूप ज्ञानमय भाव से ही निज शुद्धात्मानुभूति लक्षण ज्ञानमय भाव प्राप्त होता है। स्वोपलब्धि की भावना से उन्होंने त्रैकालिक ध्रुव आत्मा में ही आत्मत्वबुद्धि की थी। आत्मानुभव में ही वे सदा निरत, मग्न और तल्लीन थे। प्राभृत त्रय ग्रन्थ में पुनः पुनः समागत अहं शब्द के स्पष्टीकरण से जाना जाता है कि उनकी कहाँ पर आत्मबुद्धि थी।

---

१. यहाँ यह भावार्थ है:- आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे॥"
एवं प्रभृत्यागमसारादर्थपदानामभेदरत्नत्रयप्रतिपादकानामनुकूलं यत्र व्याख्यानं क्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते। पञ्चास्तिकाय गा. १७३, अन्तिम परिशिष्ट

"यतोऽहं टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावएकः, सोऽहं वीतरागश्चिन्मात्रं ज्योतिः, शुद्धनिश्चयनयेनैको भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः, शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवपदार्थः निश्चयनयेन स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धचिन्मात्रज्योतिरहं ....." [१]

अर्थात् जिस कारण से मैं टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावी हूँ वह मैं वीतराग चिन्मात्रज्योति हूँ, शुद्ध निश्चयनय से एक, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित हूँ, शुद्धबुद्ध एक स्वभाव जीव पदार्थ निश्चयनय से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, शुद्ध चिन्मात्र ज्योति मैं हूँ .....। इन वाक्यों से जाना जाता है कि उनकी निज ध्रुव, शुद्ध, बुद्ध, एक परमात्मा में ही अहं बुद्धि थी। शुद्धात्मा को छोड़कर उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। यद्यपि चारों ओर होने वाले विस्तृत विश्व प्रपंच को वे अच्छी तरह से जानते थे। बाह्य जगत में घटित घटनाओं से वे अपरिचित नहीं थे। परन्तु उनमें आत्मबुद्धि का अभाव होने से अपने चैतन्य ध्रुव आत्मा का ही आत्मारूप से सदैव संवेदन करते थे। आहार को ग्रहण करते हुए, धर्म ग्रन्थों को पढ़ते हुए, प्रश्नों के उत्तर देते हुए, एक स्थान से दूसरे स्थान, एक गाँव से दूसरे गाँव विहार करते हुए भी निजज्ञायक चैतन्य प्रभु को कभी भी नहीं भूलते थे।

वे अपने को सांसारिक प्रपंचोंसे निरुपलेप अनुभव करते थे। वह इस प्रकार -

"शुद्धस्वभावेन सानन्दमव्ययमनादिमनन्तशक्तिमुद्योतिनं निरुपलेपगुणमपि जीवं .....।" [२] अर्थात् शुद्ध स्वभाव से सानन्द, अव्यय, अनादि, अनन्त शक्ति को उद्योत करने वाला, निरुपलेप गुण युक्त जीवको .....।

"भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितमनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपं शुद्धात्मानं निर्विकारसुखानुभूतिलक्षणेन भेदज्ञानेन विजानन्ननुभवन् ज्ञानी जीव: ---।"[३]

अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित अनन्तज्ञानादि गुणस्वरूप शुद्ध आत्मा को निर्विकार सुख अनुभूतिलक्षण वाले भेद ज्ञान से जानता हुआ, अनुभव करता हुआ ज्ञानी जीव---। ज्ञान आत्मा है, ज्ञानरूप से परिणमना ही आत्मा का कार्य है। काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह आदि परिणाम आत्मा के नहीं हैं, आत्मा तो उनका ज्ञाता ही है, जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है। जब कभी उनका उपयोग, बाह्य जगत में प्रवर्तमान कार्य व्यापारों की ओर जाता था, तब वे चिंतन करते थे कि :

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं.४३, ५३,७८

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा सं. १७५

३. वहीं पर, गाथा सं. १९४

"मनुष्यादिपर्यायरूपोऽहमित्यहंकारमात्रः । वस्तुतो मनुष्यादिशरीरं शरीराधारेण चोत्पन्नपंचेन्द्रियविषयसुखं मम स्वरूपं नास्ति, अपि तु स ममकार एव इति ॥"

अर्थात् मनुष्यादि पर्याय रूप मैं हूँ, यह अहंकार मात्र है। वास्तविक मनुष्य आदि शरीर और शरीर के आधार से उत्पन्न पाँच इन्द्रियों के विषय सुख, मेरा स्वरूप नहीं है, अपितु वह ममकार ही है।

"नास्ति मम शुद्धनिश्चयनयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य सतो रागादिपरभावेन कर्तृभूतेन भावयितुं रंजयितुमशक्यत्वात्कश्चिद् द्रव्यभावरूपो मोहो यतः कारणादहमेकः ततो मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहमेकः ।" [१]

अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावी मेरे, कर्तारूप रागादि परभाव रूप से भावना करना और रंजायमान होना अशक्य होने से कोई द्रव्य मोह, भाव रूप मोह नहीं है, जिस कारण से मैं एक हूँ, इसलिए मोह के प्रति निर्ममत्व हूँ। मैं एक विशुद्ध ज्ञान, दर्शन, उपयोग ही हूँ।

इस प्रकार जयसेन आचार्य मोह आदि पर भावों से सदैव भेद भावनाओं को नचाते थे। उसी प्रकार के धर्मास्तिकाय आदि पर द्रव्यों से भी भेदभावना को नचाते हैं, वह इस प्रकार है : -

"न सन्ति न विद्यन्ते धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था ममेति यतोऽहं टंकोत्कीर्णज्ञायकैक-स्वभावएकस्ततो दधिखण्डशिखरिणीवत् व्यवहारेणैकत्वेऽपि शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूपं न भवन्तीति परद्रव्यंप्रति निर्ममत्वोऽस्मि ।" [२]

अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थ मेरे नहीं है, क्योंकि मैं टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावरूप एक हूँ। इस कारण से दधि और शक्कर के मिश्रण रूप श्रीखण्ड के समान व्यवहार से एकत्व होने पर भी, 'शुद्ध निश्चयनय से मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार पर द्रव्य के प्रति मैं निर्मम हूँ।

इस प्रकार यह उनका अन्तरंग अलौकिक अद्भुत जीवन विलसित होता है । उनका बहिरंग जीवन भी अलौकिक साधु जीवन था। वें छठे - सातवें गुणस्थान में सतत् झूलते हुए भावलिंगी श्रमण थे। उनका श्रामण्य अन्तरंग बहिरंग निर्दोष, निष्कलंक था। वे शुद्धात्मानुभूति को ही वास्तविक साधुजीवन मानते थे। उन्होंने दीक्षादायक आचार्य का सम्यक् स्वरूप

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा सं. ४१

२. वहीं पर, गाथा सं. ४२

दिखाया है। अत: वे भी संघ के नायक आचार्य थे, ऐसा जाना जाता है। आचार्य के गुण, वय, रूप आदि का वर्णन करते हुए, उन्होंने कैसा सुन्दर आत्मानुभूति परक स्वरूप कहा है, देखिए:-

"चतुरशीतिलक्षगुणाष्टादशसहस्रशीलसहकारिकारणोत्तमनिजशुद्धात्मानुभूतिगुणेनाढ्यं भृतम्, अन्तरङ्गशुद्धात्मानुभूतिज्ञापकं निर्ग्रन्थनिर्विकारं रूपमुच्यते, शुद्धात्मसंवित्तिविनाशकारिवृद्धबालयौवनोद्रेकजनितबुद्धिवैकल्यरहितम् ..... । [1] अर्थात् चौरासी लाख गुण, अठारह हजार शील के सहकारी कारण रूप उत्तम निज शुद्धानुभूति के गुण से परिपूर्ण एवं भरे हुए, अन्तरंग शुद्धानुभूति को बताने वाला, निर्ग्रन्थ, निर्विकार रूप कहा जाता है और शुद्धात्मानुभूति का विनाश करने वाले वृद्ध, बाल, यौवन के उद्वेग से उत्पन्न हुई बुद्धि विकलता से रहित-----।

इससे मुनि जीवन में निज शुद्धात्मा की भावना का महत्त्व प्रकाशित होता है। निजशुद्धात्मा की भावना में निमग्न जीवों का श्रामण्य परिपूर्ण होता है। ऐसा उनका मत था। मुनिचर्या में सामायिक, प्रतिक्रमण, आहार, विहार, उपवास आदि जो क्रियायें बताई हैं, वे सब शुद्धात्मा की सहायक बताई हैं। उन सब क्रियाओं का लक्ष्य शुद्धात्मानुभूति ही है। उन्होंने सामायिक आदि की परिभाषा भी शुद्धात्मा परक की है। वह इस प्रकार है:-

" समस्तशुभाशुभपरिणामनिवृत्तिरूपं स्वस्वरूपे निश्चलावस्थानं परमसामायिकव्रतम् ....." [सम्पूर्ण शुभ अशुभ परिणामों से निवृत्ति रूप अपने स्वरूप में निश्चल अवस्थान ही परम सामायिक व्रत है ...]"

मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च जगत्त्रये कालत्रयेऽपि समस्तशुभाशुभकर्मभ्यो भिन्ना निजशुद्धात्म परिणतिलक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन बृहत्प्रतिक्रमणा ....." अर्थात् मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से, तीनों जगत और तीनों कालों में सम्पूर्ण शुभ अशुभ कर्मों से भिन्न निजशुद्धात्म परिणति लक्षण वाली जो क्रिया है, वह निश्चय ही बृहत् परिक्रमण है .....।

"अधिकृतगुरुकुलवासे निश्चयेन स्वकीयशुद्धात्मवासे वा" अर्थात् अधिकृत गुरुकुलवास में अथवा निश्चय से अपने शुद्धात्म वास में। *"शुद्धात्मभावना सहकारिभूतदेहस्थितिहेतुत्वेन गृह्यमाने भक्ते"* अर्थात् शुद्धात्मा के सहकारी कारणभूत शरीर की स्थिति के कारण भूत से ग्रहण किये हुए आहार में, *"इन्द्रियदर्पविनाशकारणभूतत्वेन निर्विकल्पसमाधिहेतुभूते क्षपणे वानशने ...."*[2] अर्थात् इन्द्रिय दर्प के विनाश के कारण भूत निर्विकल्प समाधि के हेतुभूत उपवास में ..... ।

---

१. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति गाथा सं. २१७

२. वहीं पर, गाथा सं. २२१

मुनिवर्यों को आगम विरुद्ध आहार विहार नहीं करना चाहिए और योग्य आहार विहार आदि में भी ममत्व नहीं करना चाहिए। मुनिवर्य इसलोक और परलोक की आकांक्षा से निरपेक्ष होते हैं, वही उन्होंने कहा है, वह इस प्रकार है :-

"टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजात्मसंवित्तिविनाशकख्यातिपूजालाभरूपेहलोकका-ङ्क्षारहितस्तपश्चरणे कृते दिव्यदेवस्त्रीपरिवारादिभोगा भवन्तीति एवंविध परलोके प्रतिबद्धो न भवति। " [टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव निजात्मा की संवित्ति के विनाशक ख्याति, पूजा, लाभ रूप इस लोक की आकांक्षा से रहित और तपश्चरण करने पर दिव्यदेव स्त्री परिवार आदि भोग होते हैं, इस प्रकार परलोक में प्रतिबद्ध नहीं होते।]

"बाह्यव्यापाररूपाः शत्रवस्तावत्पूर्वमेव त्यक्तास्तपोधनैरशनशयनादिव्यापारै: पुनस्त्यक्तं नायाति । ततः कारणादन्तरंगक्रोधादिशत्रुनिग्रहार्थं तत्रापि संक्लेशो न कर्तव्य इति जयसेनाचार्यस्य मन्तव्यम् ।"[1] [तपोधनों ने बाह्यव्यापार रूप शत्रु तो पहले ही छोड़ दिये हैं। किन्तु अशन शयन आदि व्यापार तो नहीं छोड़ सकते हैं, इस कारण से अन्तरंग क्रोधादि शत्रुओं का निग्रह करने के लिए वहाँ भी संक्लेश नहीं करना चाहिए, ऐसा जयसेन आचार्य का मन्तव्य है।]

तपोधनों के द्वारा निज परमात्मा का परिग्रह स्वीकार करके शेष सर्व परिग्रह, मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से छोडना चाहिए। जिस उपकरण के द्वारा शुद्धोपयोग लक्षण संयम का छेद नहीं होता, स्वसंवित्तिलक्षणभाव संयम का अथवा बाहिरंग द्रव्य संयम का छेद न हो, उसके साथ श्रमण को रहना चाहिए।[2] दिन रात की चर्या भी आगम के अनुकूल प्रवृत्त होती ही है।

लौकिक जीवन परिचय

प्रसिद्धि परान्मुख जयसेन आचार्य ने अपना लौकिक परिचय कहीं पर भी नहीं कहा। इन्होंने अपने जन्म से किस स्थान को पवित्र किया ? इनके माता पिता कौन थे ? अन्य भी कौन से ग्रन्थ रत्न इनके द्वारा रचे गये हैं ? इत्यादि विषयों का कहीं पर भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होने से इसको जानने और कहने में हम समर्थ नहीं हैं। इसलिए हमारा मन खेद खिन्न होता है।

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्तिः गाथा सं. २३०

२. वहीं पर : गाथा सं. २४१

परिवार :-

पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति और प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति की हस्त लिखित प्रति में अन्त में आठ श्लोकों की प्रशस्ति प्राप्त होती है। वह प्रशस्ति स्वयं टीकाकार ने लिखी है या अन्य किसी लिपिकार ने लिखी है, यह कहना शक्य नहीं है। इस प्रशस्ति में उनका पारिवारिक परिचय दो श्लोकों में संक्षेप में लिखा है, वह इस प्रकार है:-

शीघ्रं बभूव मालूसाधुः सदा धर्मरतो वदान्यः ॥
सूनुस्तत: साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनुजः ॥४॥
यः संततं सर्वविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति ।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः ॥५॥[1]

सदैव धर्म में रत प्रसिद्ध साधुमालू हुए और उनके पुत्र साधु महीपति हुए, उनसे यह चारुभट्ट नाम का पुत्र हुआ। जयसेन आचार्य का दीक्षा ग्रहण से पूर्व नाम चारुभट्ट, ऐसा प्रतीत होता है। वह सदैव सर्वज्ञ देव की पूजा, आचार्यों के चरण कमलों की आराधना पूर्वक सेवा करता था। उसने अपने पिता की भक्ति के लोप के भय से प्राभृत ग्रन्थों की वृत्तियां रची। इससे जयसेन आचार्य के पिता का नाम साधु महिपति और पितामह का नाम साधुमालू था, ऐसा जाना जाता है। उनकी माता का क्या नाम था? उनका विवाह हुआ था या नहीं, इसके विषय में कुछ भी जाना नहीं जा सकता।

डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल ने उनके गोत्र के विषय में लिखा है कि " यहाँ पर (प्रशस्ति में) मालू और महिपति नाम के आगे जो साधु शब्द लिखा है, वह उनके गोत्र का सूचक है। राजस्थान के सवाई माधोपुर नाम के नगर में दिगम्बर जैन पंचायती पार्श्वनाथ चैत्यालय में और रोडारायसिंह नामक ग्राम में दिगम्बर जैन आदिनाथ चैत्यालय में वि.सं. १५८६ वर्ष का एक यंत्र और चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा प्राप्त हुई है, उसमें साधु गोत्र खण्डेलवाल जाति का गोत्र लिखा है। वह इस प्रकार है:-

१) चतुर्विंशतितीर्थंकरस्योपरि लिखितो लेख:- (मूर्ति पद्मासन्, धातु पीतल – ६।१/२ x १३)

"संवत् १५८६ वर्षे फागुणसुदी १० श्री मूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये भ.श्री पद्मनन्दिदेवा तत्पट्टे भ. शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे भ. जिनचन्द्रदेवा तत्पट्टे भट्टारक प्रभाचन्द्रदेवा तत्शिष्यमंडलाचार्य धर्मचन्द्र गुरूपदेशात् तदाम्नाये खंडेलवालान्वये साधूगोत्र सा. राधो तद्भार्या खणादे तत्पुत्र सा. रामदास.... धर्मसी इदं प्रणमति ।"

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, अन्तिम प्रशस्ति, श्लोक ४, ५

२) यंत्र - अर्हत् चतुष्कोणं धातुः - ताम्र अवगाहना ७×७

"संवत् १५८६ वर्षे फागुणसुदी १० श्री मूलसंघे कुन्दकुन्दाम्नाये भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेवा तत्पट्टे भ. श्री प्रभाचन्द्रदेवा तत् शिष्यमंडलाचार्य श्री धर्मचन्द्रतस्य तत् उपदेशात् खण्डेलवालान्वये साधुगोत्रे सा. गूजर तत्भार्या लख्मी तत्पुत्र सा. भौम लाला करमा सा ..... "

दोनों लेख एक ही तिथि के हैं, परन्तु उनकी प्रतिष्ठापना अलग-अलग है। इन दोनों लेखों से खंडेलवाल जाति में किसी काल में साधु गोत्र था, और इसी साधु गोत्र के आचार्य जयसेन थे। [१]

जन्म स्थान :-

किस देश में, किस गांव में, जयसेन आचार्य का जन्म हुआ, उनका निवास स्थान कहाँ पर था, उनका कार्य क्षेत्र कहाँ पर है ? इस विषय में उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। साहित्य का इतिहास भी इनके विषय में मौन है। अतः इनके निश्चित स्थान का निर्णय करना कष्ट साध्य है। उनका जन्म स्थान और निवास स्थान राजस्थान अथवा दक्षिण भारत होना चाहिए, ऐसा केवल हमारे द्वारा अनुमान किया जा सकता है। डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल महोदय ने जयसेन आचार्य को राजस्थानी विद्वान स्वीकार किया है। उनके मत में टोडारायसिंह गांव के निकट वासी थे। उनके साधु नामक गोत्र का भी इसी क्षेत्र में सद्भाव था। अत: आचार्य जयसेन राजस्थानी आचार्य हैं। [२] यह तो विचारणीय ही है। साधु शब्द के उल्लेख मात्र से राजस्थान वासी निश्चित नहीं किया जा सकता है।

दक्षिण प्रदेश पर राज्य करने वाले राजवंशों में राष्ट्रकूट वंश ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रकूट नरेशों ने लगभग ३५० वर्ष दक्षिण भारत पर शासन किया। [३] राष्ट्रकूट वंशका दन्ति दुर्ग राजा ई.सन् ७५७ पर्यन्त दक्षिण भारत का सम्राट था। उसने चित्रकूट पुर के श्रीवल्लभ राहप्पदेव को पराजित करके उनकी उपाधि और श्वेत छत्र को ग्रहण किया। उस समय ही राहप्पदेव के अनुज, श्री वीरप्पदेव ने निर्ग्रन्थ दीक्षा अंगीकार की। वह वीरसेन स्वामी नाम से प्रसिद्ध हुए। वे राष्ट्रकूट की राजधानी के निकट वाट ग्राम में आये और उन्होंने चन्द्रप्रभु जिनालय में और चामरलेन की गुफा मंदिरों में विद्या केन्द्र स्थापित किया।[४] वीरसेन आचार्य के, जिनसेन आचार्य नामक प्रमुख प्रतिभाशाली शिष्य हुए। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष,

---

१. डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल: आ. कुन्दकुन्द व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पृ.सं. ५६-५७

२. वहीं पर ,पृ.सं.६०

३. मान्यखेट महान पृ. ५

४. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृ. २२०

जिनसेन के परम भक्त थे। पार्श्वाभ्युदय काव्य की अन्तिम प्रशस्ति में जिनसेन आचार्य ने अमोघवर्ष के लिए सदा राज्य रक्षण का आशीर्वचन दिया है।[१]

इसी काव्य के सर्ग की अन्तिम पुष्पिका में जयसेन आचार्य, अमोघवर्ष नृप के परमगुरु, ऐसा लिखा है।[२] अमोघवर्ष राजाने राष्ट्रकूट की राजधानी मान्यखेट को बनाया। इस मान्यखेट में रहकर, जिनसेन आचार्य ने विद्या दान और शास्त्र रचना का कार्य किया। उस गुरुकुल से अनेक शिष्य विद्यापारंगत होकर भारत वर्ष में विचरण करते थे। राष्ट्रकुल राज्य की समाप्ति के बाद यह विद्यादान का कार्य विदर्भ प्रान्त में प्रारम्भ हुआ।

प्रकृत जयसेन आचार्य ने इसी सेनगणीय गुरुकुल में ज्ञान सम्पादन किया, ऐसा अनुमान किया जाता है, क्योंकि "सेन नाम के बहुत से आचार्य इसी विदर्भ प्रान्त में हुए।" उपर्युक्त वाट ग्राम विदर्भ प्रदेश में स्थित था। आचार्य नयनन्दि ने लिखा है कि वराड प्रदेश के वाड ग्राम में बहुत जिन मंदिर हैं। उसी प्रकार श्री वीरसेन और जिनसेन के द्वारा धवल, जयधवल, महाधवल ग्रन्थों की रचना यहीं पर की है।

अनुमान से विदर्भ प्रान्त के अकोला जिले में बालापुर तालुका में स्थित वाडेंग्राम ही प्राचीन 'वाट' ग्राम होगा। यहाँ से अल्प अन्तर में स्थित पातूर ग्राम के समीप जैन शिल्पों के अवशेष भी उपलब्ध होते हैं।[३]

उपर्युक्त विवेचन से यह अनुमान किया जाता है कि विदर्भ प्रान्त प्राचीन काल में धर्मपीठ, विद्या केन्द्र और कतिपय आचार्यों की विहार भूमि थी। सेनगण का प्रचार भी यहाँ बाहुल्यता से हुआ। सेन गणीय भट्टारक परम्परा यहीं पर विकसित हुई। अत: जयसेन आचार्य भी यहाँ के होने चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है।

कर्नाटक में उपलब्ध जैन साहित्य के अध्ययन से यह जाना जाता है कि यहाँ जैन तत्त्वज्ञान और अध्यात्म की सुदीर्घ परम्परा रही थी। कर्नाटक देश में कुन्दकुन्द आचार्य से लेकर प्रसिद्ध टीकाकार बालचन्द्र पर्यन्त अविच्छिन्न परम्परा प्रवाहित हुई। १०वीं शताब्दी से

---

१. भुवनमवतु देवस्सर्वदामोघवर्षः।
आचार्य जिनसेन: पार्श्वाभ्युदयम्, सर्ग ४, श्लोक सं.७० चतुर्थ चरण

२.इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टितवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः। पार्श्वाभ्युदयम्, सर्गचतुर्थ, पुष्पिकावाक्य, पृ.सं. ४१९

३. विद्याधर जोहरापुरकर, विदर्भ में जैन धर्म की परम्परा, अनेकान्त वर्ष १८, किरण ४, सन् १९९५ अक्टूबर, पृ. सं. १४७

१४वीं शताब्दी पर्यन्त समस्त दक्षिण भारत देश में अध्यात्म का प्रबल प्रचार था | जयसेन आचार्य इसी युग के अध्यात्म मूर्ति थे । उनके समकालीन आचार्यों में वीरनन्दि, पद्मनन्दि, पद्मप्रभमलधारिदेव, बालचन्द्र इत्यादिकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जयसेन आचार्य ने स्वरचित वृत्तिग्रन्थों में जिन लघुसमकालिक ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं, वे अधिकतर दक्षिण भारत के ही रचे हुए हैं। उनमें वीरनन्दिकृत आचारसार, चामुण्डरायकृत चारित्रसार, पद्मनन्दिकृत पंचविंशतिका इत्यादि ग्रन्थ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं ।

जिन आचार्यों के ऊपर जयसेन आचार्य का प्रभाव दिखाई देता है, वे भी बहुलता से कर्नाटक देशीय उपलब्ध होते हैं । उनमें पद्मप्रभमलधारिदेव और बालचंद्र का नाम प्रमुखता से ग्रहण किया जाता है ।

इससे व्यतिरिक्त अपनी वृत्तियों में जयसेन आचार्य ने जिन दृष्टान्तों का प्रयोग किया है, उनके अध्ययन से जाना जाता है कि ये दक्षिण भारत के प्रदेशों से और उनकी समृद्धि से सुपरिचित थे । वह इस प्रकार है: -

"यथा वृक्षसेचनविषये जलप्रवाहश्चन्दनादिवनराजिरूपेण परिणतः सन्स्वकीयकोमलशीतलनिर्मलस्वभावं न लभते तथाऽयं जीवोऽपि वृक्षस्थानीयकर्मोदय-परिणतः सन्परमाल्हादैकलक्षणसुखामृतास्वादनैर्मल्यादिस्वकीयगुणसमूहं न लभत" इति । [१]

जिस प्रकार वृक्ष सिंचन के विषय में जल प्रवाह चन्दनादि वनराजि रूप से परिणत होता हुआ अपने कोमल, शीतल, निर्मल स्वभाव को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार, यह जीव भी वृक्षस्थानीय कर्मोदय से परिणत होकर परम आल्हाद, एक लक्षण रूप सुखरूपी अमृत के आस्वाद, निर्मलता आदि अपने गुणों को प्राप्त नहीं होता । कर्नाटक देश में चन्दनवृक्ष प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं । उसी प्रकार बाँसका डंडा, तण्डुल, माणिक्य, नींब, आम्र आदि भी बहुलता से प्राप्त होते हैं । इनसे सम्बन्धित दृष्टान्त उन्होंने बहुलता से प्रयोग किये हैं । अत: इससे प्रतीत होता है कि जयसेन आचार्य दक्षिण भारत देश के इसी सुरम्य स्थान में रहते थे ।

पञ्चास्तिकाय वृत्ति में, दिव्यध्वनि भाषा के प्रकरण में, जिनभाषाओं का उल्लेख किया है, उनमें प्रथमतः कर्नाटक भाषा का नाम लिया है ।[२] वे कर्नाटक देश के अवश्य रहे थे ऐसा

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति : गाथा सं. १२८

२. अथवा कर्णाटमागधमालवलाटगौडगुर्जरप्रत्येकं त्रयमित्यष्टादशमहाभाषासप्तशतक्षुल्लकभाषा तदन्त-र्भेदगतबहुभाषारूपेण युगपत्सर्वजीवानां स्वकीयस्वकीयभाषायाः स्पष्टार्थप्रतिपादकत्वात् ।
पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति : गाथा सं. १

इससे जाना जाता है, क्योंकि मनुष्य जिस प्रदेश से, भाषा से और वस्तुओं से सुपरिचित होता है, उसका नाम वह सर्व प्रथम ग्रहण करता है। इससे वे कर्नाटक देशीय थे, ऐसा अनुमान किया जाता है।

उपर्युक्त विचार विमर्श से यह निश्चित होता है कि आचार्य जयसेन दक्षिण भारत में अधिकतर रहे थे। उन्होंने वहाँ दीर्घकाल विहार किया था, किन्तु प्रमाण के अभाव में अन्य निश्चित स्थान बताना शक्य नहीं है।

दीक्षा गुरु और शिक्षा गुरु :-

जयसेन आचार्य के दीक्षा गुरु कौन थे और शिक्षा गुरु कौन थे इस विषय में स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति की अन्तिम प्रशस्ति में चार आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है:-

प्रथम श्लोक में अज्ञान अन्धकार से आच्छादित रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग के प्रकाशन में समर्थ कुमुदेन्दु को नमस्कार किया है। द्वितीय व तृतीय श्लोकों में गुरु परम्परा कही है। मूल संघ में परम तपस्वी वीरसेन नामक, जातरूपधर, निर्ग्रन्थ दिगम्बर आचार्य हुए। उसके अनन्तर, गुण समूह को धारण करने वाले सोमसेन नाम के उनके शिष्य हुए। उनके बाद, उनके शिष्य जयसेन आचार्य हुए।

अन्तिम तीन श्लोकों में त्रिभुवन चन्द्र को नमस्कार किया है। वे त्रिभुवनचन्द्र, अपने मतरूपी पानी को बढ़ाने में चन्द्रमा सदृश, काम नामक महाप्रबल पर्वत के विदारक, जगत में सभी संसारी जीवों के अकारण बन्धु, गुणरूपी रत्नों के सिंधु, जिनका उदय जगत के अन्तरंग अन्धकार राशि को विच्छेद करने वाला था और महासंयम धारण करने में उत्तम थे। [१]

---

१. अज्ञानतमसा लिप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मकः। तत्प्रकाशसमर्थाय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ॥१॥
सूरिः श्रीवीरसेनाख्यौ मूलसंघेऽपि सत्तपाः। नैर्ग्रन्थ्यपदवीं भेजे जातरूपधरोऽपि यः ॥२॥
ततः श्री सोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रयः। तद्विनेयोऽस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ॥३॥
श्रीमत्त्रिभुवनचन्द्रं निजमतवाराशितायना चन्द्रम्। प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधारम् ॥६॥
जगत्समस्तसंसारिजीवाकारणबन्धवे। सिंधवे गुणरत्नानां नमस्त्रिभुवनेन्दवे ॥७॥
त्रिभुवनचन्द्रं चन्द्रं नौमि महासंयमोत्तमं शिरसा | यस्योदयेन जगतां स्वान्ततमोराशिकृन्तनं कुरुते ॥८॥
प्रवचनसार तात्पर्यवृत्तिः अंतिम प्रशस्ति; पृ.सं. ४१२-४१३

यहाँ पर सर्व प्रथम कुमुदेन्दु को नमस्कार किया है। ये कुमुदेन्दु कौन थे ? इनका जयसेन आचार्य के साथ क्या सम्बन्ध था ? यह जानना शक्य नहीं है। वे अज्ञान अन्धकार से आच्छादित, रत्नत्रय स्वरूप मार्ग के प्रकाशन में समर्थ थे, इस विशेषण से प्रतीत होता है कि वे कोई प्रभावशाली आचार्य थे। उन्होंने कोई ग्रन्थ भी लिखा होगा, ऐसी संभावना है। कदाचित् वे आचार्य जयसेन के विद्यागुरू होंगे, यह भी संभावना है। कर्नाटक कविचरित्र में मूल संघ, नन्दिसंघ बलात्कार गण के विद्वान रूप से कुमुदेन्दु का उल्लेख है। इनकी "कुमुदेन्दु रामायण" नाम की अद्वितीय कृति है। परन्तु उनका समय ई.सन् १२६० लगभग है। इस काल से आचार्य जयसेन का सुमेल नहीं होता। वे लिपिकार के गुरु थे, ऐसा भी हो सकता है। जिससे उपर्युक्त प्रशस्ति स्वयं जयसेन आचार्य की प्रतिभासित नहीं होती है। किसी लिपिकार ने बाद में इसकी योजना की है। प्रशस्ति किसी की भी लिखी हो, द्वितीय, तृतीय श्लोक से यह निश्चित होता है कि जयसेन आचार्य के दीक्षा गुरु सोमसेन और सोमसेन के दीक्षा गुरु वीरसेन थे। इन वीरसेन और सोमसेन आचार्य के विषय में कुछ जानना शक्य नहीं है। पट्टावलि, शिलालेख आदि में उनका नामोल्लेख दिखाई नहीं देता।

प्रशस्ति के अन्तिम भाग में त्रिभुवन चन्द्र की स्तुति की है। ये त्रिभुवनचन्द्र कौन थे ? इसके विषय में भी निश्चित ज्ञान नहीं होता।

धारवाड जिले में अन्नैगिरे और गावरवाड, इन गाँवों में दो विस्तृत शिलालेख प्राप्त होते हैं। इन दोनों के बीच कल्याणी चालुक्य राजा सोमेश्वर (द्वितीय) के समय में ई.सन् १०७०-७१ वे वर्ष में मूलसंघ नन्दिसंघ बलात्कार गण के आचार्य त्रिभुवनचन्द्र को दान दिया था, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। इससे अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। इससे निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

व्यक्तित्व

आचार्य जयसेन आध्यात्मिक संत थे, वे स्वभाव से साधु, संसार शरीर और भोग से निर्विन्न, निरंतर आत्मरत, निर्ग्रन्थ, भावलिंगी सन्त थे। वे महान सिद्धान्तज्ञ, तत्त्व मर्मज्ञ, प्रकाण्ड तार्किक, चारों अनुयोगों में सुमेल साधक, अध्यात्म ग्रन्थों के सफल व्याख्याता और बहुश्रुत विद्वान थे। सर्वसाधारण जनों के परम उपकारी महापुरुष थे। विनश्वर, क्षणभंगुर असार संसार में, जो लोग यश काया से सर्वदा विराजमान हैं, अपनी आचरण रूपीज्योति के द्वारा दिग्भ्रान्त लोगों के लिए मार्ग निर्देश करते हैं, उनके ही "महापुरुष" ऐसी यथार्थ संज्ञा सुशोभित

होती है। उस प्रकार के लोगों में जयसेन आचार्य प्रतिष्ठा प्राप्त थे, यह कौन अध्यात्म रसिक नहीं जानता।

सुबोध व्याख्याकार :-

आचार्य जयसेन का व्यक्तित्व सुबोध व्याख्याकार के रूप से विशिष्ट लक्षित होता है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि कालीदास विरचित महाकाव्यों के टीकाकार रूप से मल्लिनाथ प्रख्यात हैं, उसी प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य प्रणीत अध्यात्म ग्रन्थों के टीकाकार रूप से अमृतचन्द्र आचार्य और जयसेन आचार्य प्रसिद्ध हुए। यद्यपि मल्लिनाथ के समान आचार्य अमृतचन्द्र, कुन्दकुन्द आचार्य के ग्रन्थोंके उत्कृष्ट रहस्यज्ञ थे, तथापि उन्होंने मल्लिनाथ के समान अन्वयार्थ, व्याकरण आदिकों का स्पष्टीकरण नहीं किया। इस विषय में जयसेन आचार्य विशिष्ट व्याख्याकार हैं। उन्होंने मल्लिनाथ के समान केवल विषय को ही स्पष्ट नहीं किया अपितु व्याकरण आदि सभी विधाओं का स्पष्टीकरण किया है। मल्लिनाथ ने स्वयं अपने व्याख्यान के सम्बन्ध में लिखा है, वह इस प्रकार है :

"इहान्वयमुखेनैव सर्व व्याख्यायते मया।
नामूलं लिख्यते किञ्चन्नानपेक्षितमुच्यते। [१]

अर्थात् मल्लिनाथने अन्वय की प्रधानता से व्याख्यान किया, उन्होंने मूल को छोड़कर अन्य कुछ भी व्याख्यान नहीं किया और अधिक विस्तृत कुछ भी नहीं लिखा। उसी प्रकार जयसेन आचार्य ने भी अन्वय पद्धति को अंगीकार करके पद खंडना रूप से व्याख्यान किया, न अतिसंक्षेप रूप से, न अधिक विस्तार रूप से व्याख्यान किया है।

जिस प्रकार मल्लिनाथ महोदय ने शब्दों की रूप रचना जानने के लिए, व्याकरण नियमों का उल्लेख किया है, उसी प्रकार आचार्य जयसेन ने भी संस्कृत, प्राकृत नियमों का सम्यक् उल्लेख किया है। अत: जयसेन आचार्य व्याख्या पद्धति के विषय में मल्लिनाथ का अनुसरण करते हैं।

उन्होंने अध्यात्म सदृश गूढ अर्थ वाले विषय, साधारण लोगों को समझाने के लिए चरणानुयोग शैली में सरलता से स्पष्ट किए हैं। इससे उनका सरल व्यक्तित्व दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि पचन शैली ही मनुष्य के व्यक्तित्व का दर्पण है। यदि कुन्दकुन्द आचार्य नहीं होते तो

---

१. मल्लिनाथ कृत संजीविनी टीका, सम्पादक-काशीनाथ पांडुरंग परव, आद्यप्रशस्ति, सप्तम संस्करण, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, सन् १९१६

सर्वज्ञ भगवान के द्वारा दी हुई मूल निधि हमें प्राप्त नहीं होती। यदि अमृतचन्द्र आचार्य नहीं होते तो कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा विरचित ग्रन्थों के अध्यात्म का रहस्य उद्घाटित नहीं होता। उसी प्रकार यदि जयसेन आचार्य नहीं होते तो आगम और अध्यात्म में सुमेल नहीं होता। जैन सैद्धान्तिक अत्यन्त गहन विषय भी, जिस प्रकार से सुगम हो, वैसे सुलभ, सुललित पद्धति से प्रतिपादित किये हैं। इस प्रकार यह विद्वत्श्रेष्ठ आचार्य भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र हैं। कुशल व्याख्याकार के सभी गुण उनमें विराजमान थे। वह इस प्रकार है :-

वृत्ति रचना का उद्देश्य :-

उन्होंने सभी वृत्तियाँ अपने हित और पर हित के लिए लिखी हैं। न ख्याति, पूजा, लाभ के लिए, न पांडित्य प्रदर्शन के लिए और न किसी अन्य लौकिक प्रयोजन से लिखी हैं। अपितु निज शुद्धात्मा की संवित्ति प्राप्ति के लिए रची हैं। उन्होंने सभी वृत्तियों में सर्वत्र ख्याति, पूजा, लाभ इत्यादि का निषेध किया है। उदाहरण के लिए जैसे :-

"ख्यातिपूजालाभादिसमस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति"[१]

अर्थात् ख्याति, पूजा, लाभ आदि समस्त राग रूप विकल्प उपाधि से रहित, समाधि में स्थित होकर जो जानता है, वह ज्ञानी है। इससे उनका निस्पृह व्यक्तित्व व्यक्त होता है। समयसार के प्रारम्भ में शास्त्र का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं :-

'निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन शुद्धात्मपरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्राय: ।[२]

निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्धात्मा का परिज्ञान होना अथवा प्राप्ति होना प्रयोजन है, ऐसा अभिप्राय है। तात्पर्यवृत्ति के सुनने का और अध्ययन का फल, उन्होंने केवलज्ञान और मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति, प्रतिपादित किया है। वह इस प्रकार है :-

"यश्चाभ्यस्यति संश्रृणोति पठति प्रख्यापयत्यादरात् ।
तात्पर्याख्यमिदं स्वरूपरसिकै: संवर्णितं प्राभृतम् ॥
शश्वद्रूपमलं विचित्रसकलं ज्ञानात्मकं केवलम् ।
संप्राप्याग्रपदेऽपि मुक्तिललनारक्तः सदा वर्तते ॥[३]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा ८१
२. वहीं पर, गाथा १
३. वहीं पर, अंतिम श्लोक

जो तात्पर्य नामक इस स्वरूप रसिकों के द्वारा वर्णित प्राभृत का अभ्यास करता है, सुनता है, पढ़ता है, आदर से प्रसिद्ध करता है, वह शाश्वत स्वरूप सम्पूर्ण केवलज्ञानात्मक पदको प्राप्त करके आगे भी सदा मुक्तिरूपी स्त्री में आसक्त होता है, अर्थात् मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त होता है। "

उन्होंने व्याख्याकार रूप से अपनी वृत्तियों में संस्कृत गद्य साहित्य की विभिन्न शैलियों का सफल प्रयोग किया है। उनकी वृत्तियों में उपलब्ध प्रमुख शैलियों के नाम अधोलिखित हैं:-

उत्थानिका शैली, व्युत्पत्ति अर्थ शैली, नय शैली, दृष्टान्त शैली, प्रश्नोत्तर शैली, तर्क शैली, आगम- अध्यात्म शैली, उद्धरण शैली इत्यादि । इन शैलियों का, उदाहरण सहित स्पष्टीकरण आगे पाँचवे अध्याय में करेंगे, तथापि यहाँ उदाहरण रूप से कुछ शैलियों का संक्षेप से दिग्दर्शन करते हैं।

१. उत्थानिकाशैली :-

यह आचार्य की अत्यन्त उपयुक्त शैली है। गाथा में वर्णित विषय का हार्द संक्षेप में बताने के लिए और गाथाओं का पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्थानिका शैली का प्रयोग किया गया है, वह इस प्रकार है: -

"अथानन्तरं यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति तर्हि कीदृशी भवतीति पृष्टे सति द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियविषयान् स्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानेन जित्वा योऽसौ शुद्धात्मानं संचेतयते स जिनो जितेन्द्रिय इति सा चैव निश्चयस्तुतिः परिहारं ददाति।[1]

इसके अनन्तर यदि शरीर के गुणों के स्तवन से निश्चय स्तुति नहीं होती, तो कैसी होती है ? ऐसा पूछने पर द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय, पाँचों इन्द्रियों के विषयों को, स्वसंवेदन लक्षण वाले भेद विज्ञान से जीतकर जो शुद्धात्मा का संचेतन करता है, वह जितेन्द्रिय जिन है और वही निश्चय स्तुति है। इस प्रकार प्रश्न का परिहार करते हैं। इस प्रकार यहाँ पर गाथा का भाव स्पष्ट किया और पूर्वापर सम्बन्ध भी दिखाया।

२. व्युत्पत्ति अर्थ शैली :-

आचार्य, जहाँ जहाँ मूल शब्द का रहस्य उद्घाटित करने की इच्छा करते हैं, वहाँ वहाँ उक्त शैली का प्रयोग करते हैं । जिस प्रकार समयसार के प्रारम्भ में "समय प्राभृत" शब्द के रहस्य को प्रगट करते हुए बताया है कि :-

---

१. समयसार, तात्पर्यवृत्तिः गाथा ३६

"सम्यग् अय: बोधो यस्य भवति स समय आत्मा अथवा समं एकीभावेनायनं गमनं समय:।"

"प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतम् ।"[१]

समीचीन 'अय:' अर्थात् बोध जिसको है, वह समय अर्थात् आत्मा, अथवा सम् अर्थात् एकीभाव से 'अयनं' अर्थात् गमन, वह समय है। प्राभृत अर्थात् सार, शुद्धावस्था, समय का, आत्मा का, प्राभृत - वह समय प्राभृत है। अथवा 'समय' ही प्राभृत है, वह समय प्राभृत है।

इसी प्रकार अक्ष शब्द का आत्मा, ऐसा अर्थ का वर्णन करने में *"अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा"।*[२], इस प्रकार निरुक्ति कही है।

३. पंचविध प्रतिपादन शैली :-

यह शैली जयसेन आचार्य का अपना वैशिष्ट्य है। उन्होंने शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ आगमार्थ और भावार्थ- इस पाँच प्रकार का गाथा का स्पष्टीकरण किया है। सर्वप्रथम मूल गाथा का शब्दार्थ कहा है। उसके अनन्तर भावार्थ में गाथा का अभिप्राय व्यक्त किया है। शब्दार्थ और भावार्थ के साथ आवश्यकतानुसार नयार्थ, मतार्थ और आगमार्थ भी प्ररूपित किया है।

पंचविध अर्थ कथन शैली, जयसेन आचार्य का महत्त्वपूर्ण प्रदेय है। जब पाँच प्रकार से गाथा के अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, तब उस गाथा का अर्थ स्पष्ट रूप से जाना जाता है।

सर्वप्रथम गाथा का मूलभूत अर्थ जानने के लिए शब्दार्थ का परिज्ञान आवश्यक है। अपेक्षा जानने के लिए नयार्थ का प्ररूपण करना चाहिए। यदि मतार्थ जाना जाता है तो स्वपक्ष की सिद्धि और पर पक्ष का निराकरण हो जाता है। आगमार्थ को कहने से, अपने वक्तव्य को प्रामाणिकता की पुष्टि हो जाती है। भावार्थ के परिज्ञान बिना, क्या ग्रहण करना चाहिए और क्या छोडना चाहिए, इसका विवेक नहीं होता। अतः पाँच प्रकार के रूप से प्रतिपादन करना, व्याख्याकार का विशेष गुण माना जाता है। तीनों वृत्तियों में, कुछ गाथाओं की वृत्तियों में शब्दार्थ आदि पाँचों का भी व्याख्यान किया है और उसी प्रकार सर्वत्र व्याख्यान का अनुरोध किया है। उदाहरणार्थ :

---

१. समयसार, तात्पर्यवृत्तिः गाथा १

२. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति : गाथा २३

"एवं गाथात्रयशब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्यः । व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्यः । सांख्यं प्रति मतार्थो ज्ञातव्यः । आगमार्थस्तु प्रसिद्धः । हेयोपादेयव्याख्यानरूपेण भावार्थोऽपि ज्ञातव्यः । इतिशब्दनयमतागमभावार्था व्याख्यानकाले यथा संभवं सर्वत्र ज्ञातव्याः।[1]

४. नयशैली :-

जयसेन आचार्य ने सर्वत्र नय शैली का आश्रय करके मार्मिक, गम्भीर और सुस्पष्ट व्याख्यान किया है। व्यवहार और निश्चय नय का यथार्थ दिग्दर्शन करके सर्वथा एकान्त का निराकरण किया है। जिनागम में वर्णित विविध विषयों का नय दृष्टि से विभाग करके, उनमें समन्वय स्थापित किया है और परस्पर विरोध दूर किया है। वर्णादिक और रागादिक जीव के हैं, ऐसा आगम में कहा है, परन्तु अध्यात्म ग्रन्थ में उसका निषेध किया है। इस प्रकार पूर्वापर विरोध उपस्थित होने पर नयशैली का आश्रय करके उन दोनों में विरोध को दूर किया है, वह इस प्रकार है :-

" सिद्धान्तादिशास्त्रेषु अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यन्तरे रागादयो बहिरङ्गे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोऽपि जीवा इत्युक्ताः । अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभागविवक्षया नास्ति विरोध इति । "[2]

सिद्धान्तादि शास्त्रों में अशुद्ध पर्यायार्थिक नय से अभ्यंतर में रागादिक, बहिरंग में शरीर वर्ण की अपेक्षा से वर्णादिक भी जीव हैं, ऐसा कहा है। यहाँ पुनः अध्यात्म शास्त्र में शुद्ध निश्चयनय से निषेध किया है। इस प्रकार दोनों जगह नय विभाग की विवक्षा से विरोध नहीं है। इससे आचार्य का संतुलित व्यक्तित्व और समन्वय रूपत्व प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार उनकी विद्वत्ता भी स्पष्ट प्रकाशित होती है।

५. प्रश्नोत्तर शैली :-

इस शैली में जयसेन आचार्य की व्याख्या का मनोहारी रूप दिखाई देता है। प्रश्नोत्तर रूप से विषय का स्पष्टीकरण करना, इनकी वृत्ति का महान वैशिष्ट्य है। कहीं पर पद खण्डान्वय प्रश्नोत्तर रूप से प्रस्तुत किया है। कहीं पर उत्थानिका का, कहीं पर विषय को अभिव्यक्त करने के लिए प्रश्नोत्तरों का प्रयोग किया है। सर्वज्ञ सिद्धि के लिए प्रश्नोत्तरों का विलोभनीय रूप अवलोकनीय है, वह इस प्रकार है :-

---

१. समयसार, तात्पर्यवृत्ति : गाथा १२३-१२५

२. वहीं पर : गाथा ५५-६०

"अथ भट्टचार्वाकमतानुसारी कश्चिदाह नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः खरविषाणवत् | तत्र प्रत्युत्तर दीयते- कुत्र सर्वज्ञो नास्त्यत्र देशे तथा चात्रकाले किं जगत्त्रये कालत्रयेऽपि वा ? यद्यत्र देशे काले नास्तीति भण्यते तदा सम्मतमेव। अथ जगत्त्रये कालत्रयेऽपि नास्ति तत्कथं ज्ञातं भवता ? जगत्त्रयकालत्रयं सर्वज्ञरहितं ज्ञातं चेद्भवता, तर्हि भवानेव सर्वज्ञः। कुत इति चेत् ? योऽसौ जगत्त्रयं कालत्रयं च जानाति स एव सर्वज्ञ:।" [१]

भट्टचार्वाक मतानुसारी कोई कहता है कि सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि अनुपलब्धि है, गधे के सींग के समान | इसका प्रत्युत्तर देते हैं – "कहाँ सर्वज्ञ नहीं है? इस देश में, इस काल में अथवा तीनों जगत में और तीनों कालों में भी ? यदि इस देश और इस काल में नहीं है, ऐसा कहा जाता है, तब सम्मत ही है। यदि तीनों जगत में, तीनों कालों में भी नहीं है, तो यह बात आपने कैसे जानी ? तीन जगत और तीन काल को आपने सर्वज्ञ रहित जाना, तो आप ही सर्वज्ञ हुए। यह कैसे? जो तीन जगत और तीन काल को जानता है, वह सर्वज्ञ है।"

इस प्रकार उत्तर - प्रत्युत्तर रूप से विस्तार से सर्वज्ञ की सिद्धि की है।

जयसेन आचार्य की प्रश्नोत्तर स्वरूप विवरण शैली को देखकर के धवलाकार वीरसेन आचार्य का स्मरण होता है। वीरसेन आचार्य की प्रश्नोत्तर शैली का प्रभाव जयसेन आचार्य के ऊपर अच्छा लक्षित होता है। वह इस प्रकार है :-

"सुत्तं किं मंगलमुद अमंगलमिदि ? जदि ण मंगलं, ण तं सुत्तं पावकारणस्स सुत्तविरोहादो। अह मंगलं किं तत्थ मंगलेण, एगदो चेय कज्ज णिप्पत्तीदो इदि। ण ताव सुत्तं ण मंगलमिदि ? तारिस पइज्जाभावादो। परिसेसादो मंगलं स | सुत्तस्सादीए मंगलं पढिज्जदि, ण पुव्वुत्तदोसो वि, दोण्हं पुध विणासिज्जमाणपावदंसणादो। [२]

सूत्र मंगल है या अमंगल है ? यदि मंगल नहीं है, तो वह सूत्र नहीं है, क्योंकि जो पाप का कारण है, उसमें सूत्रपने का विरोध है। यदि मंगल है, तो फिर वहाँ मंगल से क्या प्रयोजन है ? इसी से कार्य की निष्पत्ति होगी। सूत्र मंगल नहीं, ऐसा नहीं, उस प्रकार की प्रतिज्ञा का अभाव होने से, पारिशेष से वह मंगल है। सूत्र के आदि में मंगल कहा जाता है, उसमें पूर्वोक्त दोष नहीं है। दोनों से अलग-अलग पाप का नाश होता दिखाई देता है।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गाथा २९

२. धवला, पु. १, पृ. ४३, द्वितीय संस्करण, सन् १९८५

"पुनरपि शिष्यो ब्रूते - शास्त्रं मङ्गलममङ्गलं वा ? मङ्गलं चेत्तदा मङ्गलस्य मङ्गलं किं प्रयोजनं, यद्यमङ्गलं तर्हि तेन शास्त्रेण किं प्रयोजनं ? आचार्याः परिहारमाहुः भक्त्यर्थं मङ्गलस्यापि मङ्गल क्रियते। "[१]

पुनः शिष्य कहता है कि शास्त्र मंगल अथवा अमंगल है ? यदि मंगल है, तो मंगल का मंगल करने से क्या प्रयोजन ? यदि अमंगल है तो उस शास्त्र से क्या प्रयोजन ? आचार्य परिहार करते हैं - भक्ति के लिए मंगल का भी मंगल किया जाता है।

६. उद्धरण शैली :-

स्व विषय का विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए, व्याख्यान को दृढ करने के लिए, अपने वक्तव्य की प्रामाणिकता को स्थापित करने के लिए अन्य ग्रन्थों से बहुत उद्धरण भी यत्र तत्र सर्वत्र उद्धृत किये हैं। समयसार परमागम में लगभग ५५, प्रवचनसारमें ४०, पञ्चास्तिकायमें ६० उद्धरण उपलब्ध होते हैं।

७. दृष्टान्त दार्ष्टान्त शैली :-

उन्होंने उनकी वृत्ति में दृष्टान्तों की बहुलता से गूढतम, सैद्धान्तिक और आध्यात्मिक रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए अपूर्व सफलता प्राप्त की है। उन्होंने समयसार तात्पर्यवृत्ति में लगभग एक सौ से अधिक सुन्दर और मनोहारी दृष्टान्त प्रयुक्त किये हैं। उसी प्रकार प्रवचनसारवृत्ति में लगभग ७५ और पञ्चास्तिकाय वृत्तियों में ५० दृष्टान्त समाविष्ट हैं। दैनिक-लौकिक जीवन में प्रयुक्त विविध उदाहरणों से वर्णनीय विषय सहज हृदयंगम कराने के लिए, उनका लेखन अनुकरणीय है। जैसे सप्तभंगी प्रकरण में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले विरुद्ध धर्मयुगल से सहित अनेकान्तात्मक वस्तु 'पिता' - पुत्र' आदि दृष्टान्त से सहज बोधगम्य की है। वह इस प्रकार है :

"स एव नित्यः स एवानित्यः कथं घटते इति चेत्। यथैकस्य देवदत्तस्य पुत्रविवक्षाकाले पितृविवक्षा गौणा, पितृविवक्षाकाले पुत्रविवक्षा गौणा, तथैकस्य जीवस्य द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वविवक्षाकाले पर्यायरूपेणानित्यत्वं गौणं पर्यायरूपेणानित्यत्वविवक्षाकाले द्रव्यरूपेण नित्यत्वं गौणं।"[२]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गाथा १

२. वहीं पर, गाथा १९

वही नित्य है, वही अनित्य है, ये कैसे घटित होता है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं:- जैसे एक देवदत्त का, पुत्र विवक्षा काल में पितृ विवक्षा गौण होती है और पितृ विवक्षा काल में पुत्र विवक्षा गौण होती है, उसी प्रकार, एक जीव के द्रव्यार्थिक नय से नियत्व की विवक्षा काल में पर्याय रूप से अनित्यत्व गौण होता है और पर्याय रूप से अनित्यत्व की विवक्षा काल में द्रव्यरूप से नित्यत्व गौण होता है।

इसी प्रकार बहिरंग और अन्तरंग शुद्धि परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध को लौकिक दृष्टान्त से सामान्य जन भाषा में कहा है, वह इस प्रकार है :-

"यथा बहिरङ्गतुषसद्भावे सति तण्डुलस्याभ्यन्तरशुद्धिं कर्तुं नायाति तथा विद्यमाने वा बहिरङ्ग परिग्रहाभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपां चित्तशुद्धिं कर्तुं नायाति । यदि पुनर्विशिष्टवैराग्यपूर्वकपरिग्रहत्यागो भवति तदा चित्तशुद्धिर्भवत्येव ख्यातिपूजालाभनिमित्तत्यागे तु न भवति।"[१]

जिस प्रकार बहिरंग तुष के सद्भाव में तन्दुल की अभ्यंतर शुद्धि नहीं कर सकते, उसी प्रकार बहिरंग परिग्रह की इच्छा के सद्भाव में निर्मल शुद्धात्मानुभूति रूप चित्त शुद्धि नहीं कर सकते। यदि पुनः विशिष्ट वैराग्य पूर्वक परिग्रह का त्याग होता है, तब चित्त शुद्धि होती ही है। ख्याति, पूजा, लाभ के निमित्त से त्याग करने पर चित्त शुद्धि नहीं होती।

८. सुगम व्याख्या शैली :-

जयसेन आचार्य की व्याख्या शैली अतीव सुगम है, सामान्य पाठक भी उसे सहजता से जान सकता है। अल्पबुद्धि साधारण जनों के सम्बोधन के लिए ही उन्होंने वृत्तियाँ रची हैं। इसकी सूचना वे स्वयं पञ्चास्तिकाय संग्रह की वृत्ति में प्रारम्भ में देते हैं, वह इस प्रकार है -

"प्राथमिकशिष्यं प्रति सुखबोधार्थमत्र ग्रन्थे सन्धेर्नियमो नास्तीति सर्वत्र ज्ञातव्यम्।"[२]

प्राथमिक शिष्य के प्रति सुखपूर्वक बोध होने के लिए ग्रन्थ में संधि का नियम नहीं है, ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए। समयसार की वृत्ति की समाप्ति में भी कहा है :-

"अत्र ग्रन्थे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृता । वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थम्।" [३]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा २३६

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति : गाथा १

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति : परिशिष्ट स्याद्वाद अधिकार

इससे जाना जाता है कि आचार्य ने अपनी वृत्तियों की भाषा प्रयत्नपूर्वक अति सरल प्रयुक्त की है, क्योंकि सरलतम भाषा के बिना कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों का मर्म प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होना शक्य नहीं है, ऐसा उन्होंने जाना था।

व्यावहारिक लोगों के लिए अतीन्द्रिय सुख की कल्पना उन्हीं लौकिक जनों की सुगम भाषा में कही है, वह इस प्रकार है :-

"हे भगवन्। अतीन्द्रियसुखं निरन्तरं व्याख्यातं भवद्भिस्तच्च जनैर्न ज्ञायते ? भगवानाह - कोऽपि देवदत्तः स्त्रीसेवनप्रभृतिपञ्चेन्दियविषयव्यापाररहितप्रस्तावे निर्व्याकुलचित्तः तिष्ठति, स केनापि पृष्टः भो देवदत्त सुखेन तिष्ठसि त्वमिति ? तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमतीन्द्रियम्। कस्मात् ? इति चेत्, सांसारिकसुखं पञ्चेन्द्रियप्रभवम् । यत्पुनरतीन्द्रियसुखं तत्पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि दृष्टं यत इदं तावत्सामान्येनातीन्द्रियसुखमुपलभ्यते । यत्पुनः पञ्चेन्द्रियमनोभवसमस्तविकल्पजालरहितानां समाधिस्थपरमयोगिनां स्वसंवेदन-गम्यमतीन्द्रियसुखं तद्विशेषेणेति।"[१]

हे भगवान, आपने निरन्तर अतीन्द्रिय सुख का व्याख्यान किया, वह तो लोगों के द्वारा नहीं जाना जाता है। भगवान ने कहा- कोई देवदत्त, स्त्री सेवन आदि पांच इंद्रियों के विषय व्यापार रहित प्रसंग में व्याकुलता से रहित स्थित है। किसी व्यक्ति के द्वारा पूछा गया, अहो देवदत्त ! तुम सुख से हो, उसने कहा, सुख है। उसका वह सुख अतीन्द्रिय है। किस कारण से ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि सांसारिक सुख पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। जो पुनः अतीन्द्रिय सुख है, वह पाँच इन्द्रियों के विषय व्यापार के अभाव में भी देखा गया है। जिस कारण से यह सामान्य रूप से अतीन्द्रिय सुख उपलब्ध होता है। जो पुनः पाँच इन्द्रिय, मन से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण विकल्पजाल से रहित समाधि में स्थित परम योगियों को स्वसंवेदन के द्वारा जानने योग्य अतीन्द्रिय सुख है, वह विशेष रूप से अतीन्द्रिय सुख कहा जाता है। इससे उनकी प्रतिपादन पद्धति कितनी सुगम और सहज ग्राह्य थी, यह परिलक्षित होता है।

उन्होंने कहीं पर भी आज्ञार्थ का प्रयोग नहीं किया है। बहुधा विध्यर्थ का प्रयोग सर्वत्र देखा जाता है। वह इस प्रकार है:-

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ४३७

'शुद्धज्ञानचेतनाभावनावष्टंभेन कृत्वा कर्मचेतनासंन्यासभावना कर्मफलचेतनासंन्यास-भावना च मोक्षार्थिना पुरुषेण कर्तव्येति।"[1]

शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना के अवलम्बन से कर्मचेतना सन्यास भावना और कर्मफलचेतना सन्यास भावना मोक्षार्थी पुरुष को करनी चाहिए।

"सर्वप्रकारोपादेयभूतं शुद्धज्ञानस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वमेव श्रद्धेयं, ज्ञेयं ध्यातव्यमिति।"[2]

सर्वप्रकार से उपादेयभूत शुद्ध ज्ञान स्वभाव, शुद्धात्म तत्त्व का ही श्रद्धान करना चाहिए, जानना चाहिए, और ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए, करना चाहिए, भावना करनी चाहिए, ध्याना चाहिए, इत्यादि विध्यर्थ रूप प्रयोगों से प्रेरणा की है। करो, जानो, भावो, ध्यावो - इस प्रकार आज्ञार्थ प्रयोगों से आज्ञा नहीं की है। इससे उनके विनम्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है।

प्रकाण्ड तार्किक :-

आचार्य जयसेन का व्यक्तित्व तार्किक नैयायिक रूप से भी दृष्टिगोचर होता है। वे कुशल दार्शनिक और तर्कशक्ति से सम्पन्न थे। उनके द्वारा दिये गये तर्क अपूर्व और अबाधित हैं। वे प्रतिपाद्य विषय को तर्क के द्वारा सिद्ध करना अच्छी तरह से जानते हैं। उनकी युक्तियाँ एकान्त पक्ष का निराकरण करने में सक्षम हैं। उन्होंने सब परमतों का खण्डन तर्क और युक्तियों के द्वारा किया है। जिस प्रकार बौद्ध, सत्ता को उपचरित मानते हैं और नैयायिक, द्रव्य से सत्ता को सर्वथा पृथक् मानते हैं, उनका खन्डन तर्कों के द्वारा संक्षेप से प्रश्नोत्तर रूप से इतना सुन्दर किया है, वह देखने योग्य है -

"अत्रावसरे सौगतमतानुसारी कश्चिदाह- सिद्धपर्यायसत्तारूपेण शुद्धात्मद्रव्य-मुपचारेणास्ति न च मुख्यवृत्येति।

'इस अवसर में कोई बौद्ध मतानुसारी कहता है- सिद्धपर्याय की सत्ता रूप से शुद्धात्म द्रव्य उपचार से है। मुख्य रूप से नहीं है।

"परिहारमाह- सिद्धपर्यायोपादानकारणभूतपरमात्मद्रव्याभावे सिद्धपर्यायसत्तैव न संभवति वृक्षाभावे फलमिव "

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ४०९-४११

२. वहीं पर, गा. ४१२-४२६

उसका परिहार कहते हैं :- सिद्ध पर्याय के उपादान कारण भूत परमात्म द्रव्य के अभाव में सिद्धपर्याय की सत्ता ही संभव नहीं है। जैसे वृक्ष के अभाव में फल की सत्ता नहीं है।

इस प्रस्ताव में कोई नैयायिक मतानुसारी कहता है:- वह परमात्म द्रव्य है, परंतु सत्ता से भिन्न है। पश्चात् सत्ता समवाय से सत् होता है।

आचार्याः परिहारमाहु :- *सत्तासमवायात् पूर्वं द्रव्यं सदसद्वा, यदि सत्तदा सत्तासमवायो वृथा, पूर्वमेवास्तित्वं तिष्ठति, अथासत्तर्हि खपुष्पवदविद्यमान द्रव्येण सह कथं सत्ता समवायं करोति करोतीति चेत्तर्हि खपुष्पेणापि सह सत्तासमवायं करोतु, न च तथा तस्मादभेदनयेन शुद्धचैतन्यस्वरूपसत्तैव परमात्मद्रव्यं भवति।"*[१]

आचार्य परिहार कहते हैं - सत्ता के समवाय से पूर्व द्रव्य सत् था या असत् था। यदि सत् था, तब सत्ता का समवाय व्यर्थ है, क्योंकि पहले ही अस्तित्व है। अब यदि कहते हो कि असत् था, तो आकाश पुष्प के समान और अविद्यमान द्रव्य के साथ सत्ता, समवाय को कैसे करती है ? करती है, ऐसा कहते हो तो आकाश पुष्प के साथ भी सत्ता समवाय को करे। वैसा तो नहीं है। इसलिए अभेद नय से, शुद्धचैतन्य स्वरूप की सत्ता ही परमात्म द्रव्य है।

इसी प्रकार अन्यत्र एक स्थल में द्रव्य, गुण में सर्वथा अभेद पक्ष में दोष दिखाते हुए तर्क का आश्रय करते हुए भेद एकान्त का निरसन करते हैं।

'गुणा: साश्रया वा निराश्रया वा ? साश्रयपक्षे दूषणं दीयते। अनन्तज्ञानादयो गुणास्तावत् क्वचिच्छुद्धात्म द्रव्ये समाश्रिताः । यत्रात्मद्रव्ये समाश्रिताः तदन्यद्गुणेभ्यश्चेत् पुनरपि क्वचिज्जीवद्रव्यान्तरे समाश्रितास्तदप्यन्यद् गुणेभ्यश्चेत् पुनरपि क्वचिदात्मद्रव्यान्तरे समाश्रिताः । एवं शुद्धात्मद्रव्यादनन्तज्ञानादिगुणानां भेदे सति भवति शुद्धात्मद्रव्यानन्त्यम् । अथवा गुणगुणिभेदैकान्ते सति विवक्षितावविवक्षितैकगुणस्य विवक्षितावविवक्षितैकैकद्रव्याधारे सति भवति द्रव्यानन्त्यम् | द्रव्यात्सकाशान्निराश्रयभिन्नगुणानां भेदे द्रव्याभावः कथ्यते । गुणानां समुदयो द्रव्यं भण्यते । गुणसमुदायरूपद्रव्याद्गुणानां भेदैकान्ते सति गुणसमुदायरूपं क्वास्ति ? न क्वापीति | "[२]

गुण साश्रय हैं या निराश्रय हैं ? साश्रय पक्ष में दूषण देते हैं :- अनन्तज्ञान आदि गुण किसी शुद्धात्मद्रव्य में आश्रित हैं, जिस आत्म द्रव्य में वे आश्रित हैं, वह द्रव्य, गुणों से अन्य है

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा ११५

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गाथा ५०

ऐसा कहेंगे तो पुन: किसी दूसरे जीव द्रव्य में समाश्रित हैं, तो वह दूसरा जीव भी गुणों से भिन्न है, तो पुन: किसी अन्य जीव द्रव्य में समाश्रित है, इस प्रकार शुद्धात्म द्रव्य से अनन्तर ज्ञानादि गुणों का भेद मानने पर शुद्धात्म द्रव्य में अनन्तपना प्राप्त होता है, अथवा गुण और गुणी में भेद एकान्त मानने पर विवक्षित और अविवक्षित एकगुण का, विवक्षित और अविवक्षित एक एक द्रव्य आधार होने पर द्रव्य में अनन्तपना होता है। द्रव्य से निराश्रित भिन्न गुणों का भेद होने पर द्रव्य का अभाव कहा जाता है। गुणों का समुदाय द्रव्य कहा जाता है। गुणों के समूहरूप द्रव्य से गुणों के भेद का एकान्त मानने पर गुण समूह रूप कहाँ रहा ? कहीं पर भी नहीं। उपर्युक्त गद्यांश से उनकी तार्किक प्रतिभा का परिचय जाना जाता है। उनकी तर्क शक्ति और न्याय प्रतिभा, पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में विशेष रूप से विकसित और प्रस्फुटित दिखाई देती है। समग्र व्याख्या हेतु परक तर्क सापेक्ष शैली से सुसज्जित और सम्पन्न है। उदाहरणार्थ वे धर्म, अधर्म और काल आदि अमूर्तिक द्रव्यों को सिद्ध करने के लिए अद्वितीय तर्कों को प्रस्तुत करते हैं। वह इस प्रकार हैं :-

"धर्माधर्मौ विद्येते लोकालोकसद्भावात् षड्द्रव्यसमूहात्मको लोकस्तस्माद् बहिर्भूत शुद्धमाकाशमलोकः तत्र लोके गतिं तत्पूर्वकस्थितिमास्कन्दतोः स्वीकुर्वतोर्जीवपुद्गल-योर्यदिबहिरङ्गहेतुभूतधर्माधर्मो न स्यातां तदा लोकाद्बहिर्भूतबाह्यभागेऽपि गतिः केन नाम निषिध्यते? न केनापि। ततो लोकालोकविभागादेव ज्ञायते धर्माधर्मो विद्येते।"[1]

"धर्म और अधर्म विद्यमान हैं, क्योंकि लोक और अलोक का सद्भाव है। छह द्रव्यों के समूह स्वरूप लोक है। उससे बहिर्भूत शुद्ध आकाश अलोक है। उस लोक में गति और गतिपूर्वक स्थिति को स्वीकार करने वाले जीव और पुद्गल में यदि बहिरंग हेतुभूत धर्म अधर्म नहीं होंगे तो लोक से बाह्यभाग में भी गति किसके द्वारा रोकी जायेगी ? किसी के द्वारा भी नहीं। इसलिए लोक अलोक के विभाग से ही जाना जाता है कि धर्म अधर्म द्रव्य विद्यमान हैं।

अनुमान प्रयोग :-

उनकी समस्त वृत्तियां न्यायपद्धति से रची गई हैं। न्यायशास्त्रों में अनुमान शैली का अधिकतर प्रयोग प्राप्त होता है। साधन से साध्य का ज्ञान करना अनुमान कहा जाता है। अनुमान

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गाथा ९४

के पाँच अंग माने गये हैं। १) प्रतिज्ञा २) हेतु ३) उदाहरण ४) उपनय ५) निगमन आचार्य ने कहीं पर पाँचों अंगों का, कहीं पर तीन अंगों का, कहीं पर दो अंगों का प्रयोग किया है। वह इस प्रकार है:-

"एते वर्णादयो धर्मिणः शुद्धनिश्चयेन जीवस्य न सन्तीति साध्यो धर्मश्चेति धर्मधर्मि-समुदायलक्षणः पक्षः आस्था संधा प्रतिज्ञेति यावत्, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वादिति हेतुः। एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणाङ्गद्वयमनुमानं ज्ञातव्यम्।"[१]

ये वर्णादिक धर्मी जीव के शुद्ध निश्चयनय से नहीं हैं, यह साध्य धर्म है। धर्म धर्मी के समूह को पक्ष कहते हैं। पक्ष के आस्था, संधा, प्रतिज्ञा ये पर्यायवाची शब्द हैं। क्योंकि पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने पर शुद्धात्मानुभूति से भिन्न है, यह हेतु है। इस प्रकार इस व्याख्यान में पक्ष, हेतु रूप से अनुमान के दो अंग जानना चाहिए।

इसी प्रकार वृत्तियों में न्याय विषयक शब्दावलियों का जैसे- हेतु हेतमद् भाव, युतसिद्धअयुत सिद्ध, सिद्धसिद्धिमद्भाव, दृष्टान्त दार्ष्टान्त, अन्वयव्यतिरेक, पक्ष, हेतु, प्रतिज्ञा, विधि-निषेध इत्यादिकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है।

एक स्थल पर उदाहरण पूर्वक अन्वय व्यतिरेक का अच्छा स्पष्टीकरण किया है। वह इस प्रकार है:

"सति सम्भवोऽन्वयलक्षणम् असत्यसम्भवो व्यतिरेक लक्षणं तत्रोदाहरणं निश्चयव्यवहार मोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं सम्भवतीति विधिरूपोऽन्वय उच्यते, तत्कारणाभावे मोक्षकार्यं न सम्भवतीति निषेधरूपो व्यतिरेक इति। तदेव दृढयति यस्मिन्नग्न्यादिकारणे सति यद्धूमादिकार्यं भवति तदभावे न भवतीति तद्धूमादिकं तस्य कार्यमितरदग्न्यादिकं कारणमिति।"[२]

होने पर होना, अन्वय का लक्षण है। नहीं होने पर, नहीं होना- यह व्यतिरेक का लक्षण है। उसके उदाहरण:- निश्चय व्यवहाररूप मोक्ष के कारण होने पर, मोक्ष का कार्य होता है, इस प्रकार विधि रूप अन्वय कहा जाता है। उस कारण के अभाव में मोक्षकार्य नहीं होता, यह निषेधरूप व्यतिरेक है। उसी को दृढ करते हैं। जहाँ अग्नि आदि कारण के होने पर जो धूमादि

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा ५५-६०

२. पञ्चास्तिकायसङ्ग्रह तात्पर्यवृत्ति, गाथा ११३

कार्य होता है, उसके नहीं होने पर नहीं होता, वह धूमादि उसका कार्य है और इतर अग्नि आदि कारण हैं।

उसी प्रकार न्यायशास्त्र में प्रतिपादित दोषों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे:-संकर, व्यतिकर अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, अनवस्था, इतरेतर दोष इत्यादि। उसी प्रकार वस्तु स्वरूप की सिद्धि के लिए विभिन्न न्यायों का प्रयोग भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार चामीकर अवलोकन न्याय, टंकोत्कीर्ण आकार न्याय इत्यादि | उपर्युक्त विवेचन से जयसेन आचार्य का व्यक्तित्व तर्क, न्याय के विशेषज्ञ के रूप से प्रकाशित होता है।

महान सिद्धान्तज्ञ :-

जयसेन आचार्य उत्कृष्ट सिद्धान्तज्ञ थे। यह उनकी वृत्तियों के अवलोकन से स्पष्ट जाना जाता है। वे कुन्दकुन्द आचार्य प्रणीत ग्रन्थों के वृत्तिकार हैं। कुन्दकुन्द आचार्य द्वितीय श्रुतस्कंध की सिद्धान्त परम्परा के ज्ञाता थे। वह सिद्धान्त परम्परा मुख्य रूप से अध्यात्ममय है। इसी सिद्धान्त परम्परा के वृत्तिकार जयसेन आचार्य हैं। वे अध्यात्म परक सिद्धान्तों के तलस्पर्शी विद्वान व्याख्याता थे। ऐसा जाना जाता है।

उनकी विरचित वृत्तियों में उद्धृत उद्धरण देखकर यह जाना जाता है कि वे बहुधा पूर्व लिखित समस्त सिद्धान्त ग्रंथों के पारगामी कुशल विद्वान थे। वे चारों प्रकार के अनुयोगों में प्राप्त सिद्धान्तों के अध्ययनों में तत्पर थे।

प्रथमानुयोग में समागत कितने ही राम, पाण्डव, भरत आदि महा पुरुषों का उन्होंने उल्लेख किया है। 'यशस्तिलक चम्पू' समान गहन ग्रन्थों से कुछ श्लोक अवतरित किये हैं। धवल, जयधवल, गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, तिलोयपण्णत्ति, पंचसंग्रह इत्यादि करणानुयोग के ग्रन्थों से उद्धृत उद्धरणों को देखकर उनका सिद्धान्त सम्बन्धी गहन अध्ययन मालूम होता है। मूलाचार, आचारसार, चारित्रसार, रत्नकरंड श्रावकाचार, वसुनन्दी श्रावकाचार सदृश महत्त्वपूर्ण चरणानुयोग के ग्रन्थों का भी उनका सर्वांग परिपूर्ण अध्ययन था, यह उनके द्वारा अवतरित श्लोकों से जाना जाता है। अध्यात्म ग्रन्थों का तो उनका विशेष अध्ययन था ही। उन्होंने इष्टोपदेश, परमात्म प्रकाश, योगसार, द्रव्यसंग्रह, अष्टपाहुड, पाहुडदोहा, एकत्व सप्तति (पद्मनन्दि - पञ्चविंशतिका), नियमसार, आराधना समुच्चय इत्यादि अध्यात्म ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। तत्त्वानुशासन, ज्ञानार्णव इत्यादि ध्यान शास्त्रों के आधार से पंचमकाल में ध्यान की सिद्धि की है। उसी प्रकार ध्याता, ध्यान, ध्येयों का भी वर्णन किया है। युक्त्यनुशासन, आप्तपरीक्षा, आलापपद्धति, प्रमाणपरीक्षा, सिद्धि विनिश्चयटीका, स्वयंभू स्तोत्र

इत्यादि न्यायग्रन्थों को आधार करके गंभीर दार्शनिक विषयों का विश्लेषण किया है। दशभक्ति समवसरण स्तोत्र इत्यादि स्तुति काव्यों का भी उपयोग किया है। कुछ उद्धरण तो किन ग्रन्थों से उद्धृत किये हैं, यही नहीं जाना जाता। बहुधा कितने ही ग्रन्थ काल कवलित हो गये और कुछ ग्रन्थ, ग्रन्थालयों में धूल धूसरित पडे हैं। उनके संशोधन की अत्यावश्यकता है।

इनके द्वारा विरचित वृत्तियों में, जिनागम में बहुचर्चित गूढ सिद्धान्तों का विशद विवेचन प्राप्त होता है। उनमें प्रमाण सप्तभंगी, नयसप्तभंगी, अनेकान्त-स्याद्वाद, उपादान निमित्त, प्रमाण नय, द्रव्य गुण पर्याय, सप्ततत्त्व, नौ पदार्थ, पञ्चअस्तिकाय, सर्वज्ञ सिद्धि इत्यादि प्रमुख सिद्धान्त हैं। इनका विवरण आगे चौथे अध्याय में करेंगे।

जयसेन आचार्य जिसप्रकार जैन सिद्धान्तों में पारंगत एवं विशेष मर्मज्ञ थे, उसी प्रकार वे अन्य दर्शनों के भी विशेष मर्मज्ञ थे। अन्य दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक, भट्ट, सदामुक्त, अद्वैत, श्वेताम्बर इत्यादि मतों का उल्लेख और निराकरण किया है। पञ्चास्तिकाय संग्रह की २७वीं गाथा की वृत्ति में जीव के नौ विशेषणों के द्वारा कौन कौन से मतों का निराकरण होता है, इसका सविस्तर वर्णन किया है। उनको पर मतों का नाममात्र ज्ञान ही नहीं था, अपितु उनके सिद्धान्तों का अच्छा परिज्ञान था। जिस प्रकार नैयायिक मत में सम्मत सन्निकर्ष का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा है कि :-

"चक्षुरादीन्द्रियं घटपटादिपदार्थपार्श्वे गत्वा पश्चादर्थं जानातीति सन्निकर्षलक्षणं नैयायिकमते अथवा संक्षेपेणेन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः स एव प्रमाणम् | स च सन्निकर्ष आकाशाद्यमूर्तपदार्थेषु देशान्तरितमेर्वादिपदार्थेषु कालान्तरितरामरावणादिषु स्वभावान्तरित-भूतादिषु तथैवातिसूक्ष्मेषु परचेतोवृत्तिषु पुद्गलपरमाण्वादिषु च न प्रवर्तते। कस्मादिति चेत् इन्द्रियाणां स्थूलविषयत्वात् तथैव मूर्तविषयत्वाच्च। ततः कारणादिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवति।[1]

चक्षु आदि इन्द्रियाँ घट पट आदि पदार्थ के पास जाकर पश्चात् अर्थ को जानती हैं, ऐसा सन्निकर्ष का लक्षण नैयायिक मत में है अथवा संक्षेप से इंद्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध सन्निकर्ष है वही प्रमाण है और वह सन्निकर्ष आकाश आदि अमूर्त पदार्थों में, देश की अपेक्षा दूरवर्ती मेरु आदि पदार्थों में, काल की अपेक्षा दूरवर्ती राम, रावण आदि में, स्वभाव से सूक्ष्म भूत आदि में,

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा ४१

उसी प्रकार अति सूक्ष्म, दूसरे के मन की वृत्ति में और पुद्गल परमाणु आदि में प्रवर्त नहीं होता, किस कारण से? इन्द्रियाँ स्थूल और मूर्त को विषय बनाती हैं, उस कारण से इन्द्रिय ज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होता है। इसी प्रकार सब पर मतों का पूर्व पक्ष का विश्लेषण करके निरसन् किया है। इससे उनका बहुश्रुतपना व्यक्त होता है।

" स्वभावस्य परापेक्षा नास्ति"व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च"[१]

स्वभाव को परकी अपेक्षा नहीं होती, व्यापक तत् अतत् दोनों में रहता है और व्याप्य केवल व्यापक में ही रहता है।

"न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते, न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते"[२]

जोशक्ति स्वयं नहीं होती, वह अन्य के द्वारा नहीं की जाती है। वस्तु की शक्तियाँ, परकी अपेक्षा नहीं करती हैं।

"उपादानकारणसदृशानि कार्याणि भवन्ति " "उपादान कारण के समान कार्य होते हैं" इत्यादि महा सिद्धान्तों का समावेश उनके द्वारा रचित तीनों तात्पर्यवृत्तियों में दिखाई देता है। इससे वे महान सिद्धान्तज्ञ थे, यह स्पष्ट जाना जाता है !

अध्यात्म रसिक :-

विविध प्रतिभाओं के धनी आचार्य जयसेन का सर्वाधिक श्रेष्ठ गुण अध्यात्म रसिकता है। अध्यात्म शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ "आत्मनि इति अध्यात्मम्" | उन्होंने स्वयं ही अध्यात्म शब्द का अर्थ कहा है कि *"रागादिपरद्रव्यनिरालम्बनत्वेन निजशुद्धात्मनि विशुद्धाधार-भूतेऽनुष्ठानमध्यात्मम्" इति।* [३]

रागादि परद्रव्यों के आलम्बन के बिना, विशुद्ध आधारभूत निजशुद्धात्मा में अनुष्ठान ही अध्यात्म है। आचार्य का समग्र जीवन और साहित्य आत्मानुभूति का दर्पण है। इसलिए ही उन्होंने पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में, मंगलाचरण में स्वसंवेदन के द्वारा सिद्ध शुद्ध जीवास्तिकाय को नमस्कार किया है। वह इस प्रकार है:-

स्वसंवेदन सिद्धाय जिनाय परमात्मने।
शुद्धजीवास्तिकायाय नित्यानन्दचिदे नमः ॥[४]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०, २४

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा १२६-१३०

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, स्याद्वादाधिकार

४. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति - मंगलाचरण

स्वसंवेदन से सिद्ध, जिनपरमात्म स्वरूप, नित्य आनन्द और चैतन्य स्वरूप शुद्ध जीवास्तिकाय को नमस्कार हो।

पञ्चास्तिकाय संग्रह सदृश तात्त्विक ग्रंथ में भी स्थान-स्थान पर भावार्थ रूप से शुद्ध जीव द्रव्य को ही उपादेय कहा है। वह इस प्रकार है :-

"स्वसंवेदनज्ञानेन गम्यं प्राप्यं भरितावस्थं शुद्धनिश्चयनयेन स्वकीयदेहान्तर्गत जीवद्रव्यमेवोपादेयमिति।" [१]

शुद्ध निश्चयनय से, स्वसंवेदन के द्वारा जानने योग्य, प्राप्य, भरितावस्थ, अपने देह के अन्तर्गत जीव द्रव्य ही उपादेय है।

द्रव्य गुण पर्यायों का वर्णन हो, जीव द्रव्य का निरूपण हो, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल रूप अजीव द्रव्यों का वर्णन हो, अस्तिकायों का अथवा सात तत्त्वों का विश्लेषण हो, सर्वत्र भावार्थ रूपसे शुद्ध जीव ही ध्यान करने, मनन करने, जानने, उपादेय और अनुभव करने योग्य है। जिस प्रकार द्रव्य पर्यायों का लक्षण कहकर भावार्थ में लिखा है :-

"अत्र सूत्रे द्रव्यार्थिकनयेन नरनारकादिविभावपरिणामोत्पत्तिविनाशरहितमपि पर्यायार्थिकनयेन वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसम्भवेन सहजपरमानन्दरूपसुखरसास्वादेन स्वसंवेदनरूपपर्यायेण परिणतं सहितं शुद्धजीवास्तिकायसंज्ञं शुद्धजीवद्रव्यमेवोपादेयमिति।"[२]

इस सूत्र में द्रव्यार्थिक नय से नरनारक आदि विभाव परिणामों के उत्पत्ति और विनाश से रहित होने पर भी पर्यायार्थिक नय से वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न सहज परमानन्द रूप सुखरस के आस्वाद रूप स्वसंवेदन पर्याय रूप से परिणत, शुद्ध जीवास्तिकाय नामक शुद्ध जीवद्रव्य ही उपादेय है।

"निर्विकल्पसमाधिबलेन जातमुत्पन्नं वीतरागसहजपरमानन्दसुखसंवित्त्युपलब्धि-प्रतीत्यनुभूतिरूपं यत्स्वसंवेदनज्ञानं तेनैव परिच्छेद्यं प्राप्यं रागादिविभावविकल्पजालशून्यमपि केवलज्ञानादिगुणसमूहेन भरितावस्थं यत् शुद्धजीवास्तिकायभिधानं शुद्धात्मद्रव्यं तदेव मनसा ध्यातव्यं तदेव वचसा वक्तव्यं कायेन तदनुकूलानुष्ठानं कर्तव्यमिति।"[३]

---

१. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गाथा ७

२. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा.११

३.वहीं पर, गा. १३

निर्विकल्प समाधि के बल से उत्पन्न वीतराग सहज परमानन्द सुख की संवित्ति, उपलब्धि, प्रतीति, अनुभूति रूप जो स्वसंवेदन ज्ञान है, उसके द्वारा ही जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य, रागादि विभावरूप विकल्पजाल से शून्य होते हुए भी केवल ज्ञानादि गुण समूहों से भरितावस्थ, जो शुद्धजीवास्तिकाय नामक शुद्ध आत्म द्रव्य है, वही मन के द्वारा ध्यान करने योग्य, वचन के द्वारा कहने योग्य, शरीर के द्वारा उसके अनुकूल अनुष्ठान करने योग्य है। पुद्गल के वर्णन के पश्चात् भी कहा है :

"इदं सर्वं हेयतत्त्वमेतस्माद्भिन्नं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थः।" [१]

यह सर्व हेय तत्त्व है, इससे भिन्न शुद्धात्मतत्त्व ही उपादेय है, ऐसा भावार्थ है। वे शुद्धात्मा को कभी भी नहीं भूलते थे, क्योंकि उनका जीवन ही आध्यात्मिक था | स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभवन, यही कर्तव्य है, ऐसा वे मानते थे। उन्होंने कहा है :-

"भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपया परमात्मचिन्तयैव पूर्यतेऽस्माकं किं विशेषेण शुभाशुभविकल्पजालेनेति' [२]

भेदाभेद रत्नत्रय की भावना रूप परमात्म की चिंता से ही हमारी पूर्णता हो जाती है। फिर विशेष रूप शुभाशुभ रूप विकल्प जाल से हमें क्या लाभ ?

सम्पूर्ण आगम का सार अध्यात्म है, ऐसा वे मानते थे।

वह इस प्रकार से :-

"आगम पदसारभूतमध्यात्मशास्त्रं।" [३]आगम पद का सार अध्यात्म शास्त्र है।

प्रवचनसार की २६६ नं. की गाथा में आगम से पदार्थ की निश्चित्ति कही है। उस गाथा की वृत्ति में उन्ही के शब्दों में :- पदार्थ की निश्चित्ति केवल आगम से नहीं होती, परन्तु आगम के सारभूत अध्यात्म शास्त्रों से होती है, ऐसा कहा है।

"जीवभेदकर्मभेदप्रतिपादकागमाभ्यासाद्भवति, न केवलमागमाभ्यासात्तथैवागमपदसार-भूताच्चिदानन्दैकपरमात्मतत्त्वप्रकाशकादध्यात्मभिधानात्परमागमाच्च पदार्थपरिच्छित्ति-र्भवति।"

---

१. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा. ८६

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०-२१

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २६७

जीवभेद कर्म भेद के प्रतिपादक आगम अभ्यास से होती है। केवल आगम अभ्यास से ही नहीं। उसी प्रकार आगम पद के सारभूत चिदानन्दैक परमात्मतत्त्व के प्रकाशक अध्यात्म नामक परमागम से पदार्थ का जानना होता है।

इससे उनकी अध्यात्म में कितनी रुचि थी, यह जाना जाता है। उनके हृदय में अध्यात्म के लिए सर्वोच्च स्थान था। यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का प्रतिपादन करना हो, तो उसे शुद्धात्म के विषय में जोड़ते हैं। द्रव्य, गुण, पर्यायों को भी शुद्धात्मा में ही नियोजित करते हैं, पुद्गल परमाणु को भी शुद्धात्मा के उदाहरण रूप से ही समझाया है। इससे उनकी अध्यात्म विषयक उत्कृष्ट रुचि लक्षित होती है। वे सदैव अध्यात्म में निमग्न थे। निरंतर निजानंद सुखामृत रस का आस्वादन करने में तृप्त रत, मग्न और संतुष्ट थे।

जब कभी भी ज्ञानी शब्द आता है, तब उसका अर्थ निर्मलात्मानुभूति लक्षण ज्ञानी, वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी, शुद्धात्म संवित्ति लक्षण ज्ञानीपना, अभेद रत्नत्रयलक्षण भेदज्ञानी, निरूपराग शुद्धात्मानुभूति लक्षण भेदज्ञानी इत्यादि करते हैं। एक जगह "ज्ञानी" शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि *"यो जीवितमरणलाभालाभसुख दुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिविकल्पविषये रागद्वेषरहितशुद्धात्मभावनासंजातपरमानन्दसुखा-स्वादरूपे वा भेदज्ञाने रतः स ज्ञानी इति।"*[१]

जो जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख, दुःख, शत्रु,मित्र, निन्दा प्रशंसा आदि विकल्प के विषय में अथवा रागद्वेष रहित शुद्धात्म भावना से उत्पन्न परमानन्द सुख के आस्वाद रूप भेदज्ञान में रत है, वह ज्ञानी है।

उनके अभिप्राय से जिसको आत्मानुभव हुआ है वही वास्तव में ज्ञानी है, उसी की साधु संज्ञा है। वे आत्मानुभव के लिए ही सर्वोपरि प्राधान्य देते थे। वे स्वयं ज्ञानी का जीवन जीते थे। इसीलिए ज्ञानी के जीवन की सर्व कलाऐं स्वानुभूति के प्रत्यक्ष से अनुभव करके सूक्ष्म रूप से अपनी लेखनी से चित्रित की हैं।

राग, द्वेष, मोह,क्रोध आदि विभाव भावों का और पुद्गल की अवस्थाओं का परिचय भी उन्होंने आत्म मुख से दिया है। वह इस प्रकार है:

'अन्तरात्मविलक्षणो भावक्रोधः शान्तात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एष अक्षमारूपो भाव: क्रोधः'[२]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा ८६,

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा २६३,

अन्तरात्मा से विलक्षण भाव क्रोध, शान्त आत्मतत्त्व से पृथक रूप यह अक्षमा रूप भाव क्रोध *'परमात्मद्रव्य प्रच्छादक नवतरद्रव्यकर्मणः'* - परमात्म द्रव्य के प्रच्छादक नवीन द्रव्यकर्म के *"निष्कर्मात्मतत्त्वविलक्षणत्वेन कर्मकरान् निर्मोहात्मद्रव्य पृथक्त्वेन मोहकरान्"*

निष्कर्म आत्मतत्त्व से विलक्षण होने से कर्म करने वाले निर्मोह आत्मद्रव्य से पृथक् होने से मोह करने वाले,

'निजशुद्धात्मानुभतेर्भिन्नायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः'[१]

निज शुद्धात्मानुभूति से भिन्न पुद्गलपरिणाम की अवस्था, इत्यादि कितने ही उदाहरण प्राप्त होते हैं।

वे अपनी आत्मा को एक क्षण भी नहीं छोड़ते थे। सतत आध्यात्मिक अध्ययन, चिंतन, मनन के फलस्वरूप "मैं जयसेन आचार्य" ऐसा अनुभव न करके, टंकोत्कीर्ण, परमानंद ज्ञायक एक स्वभाव रूप मैं हूँ, ऐसी अनुभूति का रसास्वाद लेते हुए, उन्होंने कहीं पर भी अपना लौकिक परिचय नहीं दिया है, परन्तु बार बार अपने अलौकिक, आध्यात्मिक परिचय देने से नहीं थकें। उनके द्वारा रचित वृत्तियों में प्राय: दो सौ से अधिक आत्मा के विशेषण प्राप्त होते हैं। वे बाह्य अपेक्षा से निरालम्बपने की भावना करते हुए भी आत्मा की अपेक्षा से सावलम्बनपने का अनुभव करते थे। वह इस प्रकार है:

"जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च बाह्याभ्यंतरपरिग्रहरूपे चेतनाचेतनपरद्रव्ये सर्वत्र निरालम्बोऽपि अनंतज्ञानादिगुणस्वरूपे स्वस्वभावे पूर्ण कलश इव सालम्बन एव तिष्ठतीति।"[२]

तीनों जगत् और तीनों कालों में मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से बाह्य, अभ्यंतर परिग्रह रुप चेतन और अचेतन पर द्रव्य में निरालंब होने पर भी अनन्त ज्ञानादि गुण स्वरूप अपने स्वभाव में पूर्ण कलश के समान सावलंबन ही रहता है। इसी प्रकार :-

"सहजशुद्ध ज्ञानानन्दैक स्वभावोऽहं, निर्विकल्पोहं, उदासीनोऽहं.... भरितावस्थोऽहं....

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा २०८, २४५, १०० इ.

२. वहीं पर, गा. २२८

मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द एक स्वभावी हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ, मैं उदासीन हूँ, मैं भरितावस्थ हूँ... इत्यादि स्वात्मभावना को सदैव भाते थे। उनको शुद्धात्मानुभूति अतिप्रिय थी। इसलिए उन्होंने अपनी विरचित तात्पर्यवृत्ति का लक्षण भी शुद्धात्मानुभूति किया है।

वे सदैव स्वयं अध्यात्म रस में निमग्न अध्यात्म रस पीने के लिए पिपासु थे और अन्य भव्य जीवों को भी पुन: पुन: अध्यात्म रस का आस्वादन करने के लिए और शुद्धात्म भावना को करने के लिए प्रेरित करते थे। वह इस प्रकार है:-

"निजशुद्धात्मध्येयरूपसर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थशुद्धनयो विवेकिभिर्नत्याज्य" इति।"[१]

निजशुद्ध आत्मा के ध्येयरूप सम्पूर्ण कर्म का निर्मूलन करने में समर्थ शुद्धनय विवेकियों के द्वारा छोडने योग्य नहीं है।

"एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कारे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्तव्येति।"[२]

इस प्रकार शरीर और आत्मा के भेदज्ञान जानकर मोह के उदय से उत्पन्न सम्पूर्ण विकल्प जाल को छोड़कर निर्विकार चैतन्य चमत्कार स्वरूप निज परमात्म तत्त्व में भावना करनी चाहिए।

"रागादिविकल्पजालशून्ये पूर्णकलशवच्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थे स्वकीय परमात्मनि निरन्तरं भावना कर्तव्येति।"[३]

रागादि विकल्प जाल से शून्य पूर्ण कलश के समान चिदानन्द एक स्वभाव से भरितावस्थ अपनी परमात्मा में निरन्तर भावना करनी चाहिए।

"निजशुद्धात्मभावनारूपया निश्चयचतुर्विधाराधनया मनुष्यजन्म सफलं कुरू।" [४]

निजशुद्धात्मा की भावना रूप निश्चयचतुर्विध आराधना से मनुष्य जन्म सफल कर। इस प्रकार इस सदृश कितने ही प्रेरणात्मक वचनों से शुद्धात्मानुभूति के प्रति प्रोत्साहित किया है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति,गा. १८८

२. वहींपर, गा. २८-३०

३. वहीं पर, गा. ९२

४. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २१७

निपुण व्याकरणज्ञ :-

संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों में व्याकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।" *प्रधानं च षटस्वङ्गेषु व्याकरणम् ।"*[१] छह अंगों में व्याकरण प्रधान है। '

वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् | [२] वेद का मुख व्याकरण माना है । इत्यादि उक्तियाँ व्याकरण के महत्त्व को प्रसिद्ध करती हुई साहित्य क्षेत्र में विराजमान हैं।

व्याकरण के ज्ञाता अत्यन्त अल्प और दुर्लभ हैं, क्योंकि व्याकरण विषय अत्यन्त क्लिष्ट और शुष्क माना जाता है। व्याकरण की कुशलता के बिना कोई भी ज्ञानी किसी भी भाष्य का अधिकारी विद्वान नहीं हो सकता । व्याकरण के बिना भाष्य का ज्ञान अपूर्ण है। जयसेन आचार्य संस्कृत भाषा और प्राकृत भाषा के व्याकरण में अति निपुण थे, यह उनकी वृत्तियों के अवलोकन से स्पष्ट जाना जाता है। उन्होंने वृत्तियों में सरल भाषा का प्रयोग किया और क्लिष्ट संधि नहीं की। वे व्याकरण के नियमों को अच्छी तरह जानते हुए भी मंदबुद्धि लोगों के लिए उन्होंने संधि नहीं की। ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है:-

"पदयोर्विवक्षितः सन्धिर्नसमासान्तरयो" रिति परिभाषासूत्रबलेन विवक्षितस्य सन्धिर्भवतीति वचनात्प्राथमिक शिष्यं प्रति सुखबोधार्थमत्र ग्रन्थे सन्धिर्नियमो नास्तीति सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।" [३]

सामासिक दो पदों में संधि विवक्षित नहीं होती । इस परिभाषा सूत्र के बल से विवक्षित की संधि होती है। इस वचन से प्राथमिक शिष्य के प्रति सुख से ज्ञान होने के लिए इस ग्रन्थ में संधि का नियम नहीं है, ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए ।

सुबोध व्याख्याकार रूप से पूर्व में बताया था कि आचार्य जयसेन ने मल्लिनाथ के समान संस्कृत, प्राकृत व्याकरण नियमों का स्पष्ट उल्लेख किया है, अतः उनमें से कुछ नियमों का यहाँ उल्लेख किया जाता है। मल्लिनाथ कृत 'संजीवनी टीका' में "पार्वती " शब्द की सिद्धि का प्रतिपादन करने में व्याकरण नियमों का निर्देश किया है, वह इस प्रकार है:

---

१. पतञ्जलिमहाभाष्य, प्रथमखण्ड, पृ. १६, ई.स. १९६७

२. श्रीपिंगलाचार्य कृत पाणिनीय शिक्षा, पृ. ४३ सं. मनमोहन घोष, कलकत्ता, सन् १९३८

३. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति : गाथा १

'पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती। 'तस्यापत्याम्' इत्यण्। टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप्।[1]

जयसेन आचार्य ने भी वर्द्धमान शब्द के विग्रह के प्ररूपण के अवसर में 'अवाप्योरलोप इस प्रकार नियम का निर्देश किया है। इसी प्रकार प्रवचनसार में 'लोचावस्सयं" यहाँ पर "समाहारस्यैकवचनम्" इस प्रकार समास नियम का निर्देश किया है।[२]

उनकी व्याकरणज्ञता के कुछ उदाहरण यहाँ लिखे जाते हैं।

१) आचार्य उनकी वृत्तियों में कहीं पर किसी पद की व्याख्या समास विग्रह की शैली में करते हैं। प्रवचनसार के मंगलाचरण में 'वर्द्धमान 'शब्द की व्याख्या समास विग्रह से की है, वह इस प्रकार है:

"अव समन्तादृद्धं वृद्धं मानं प्रमाणं ज्ञानं यस्य स भवति वर्धमानः 'अवाप्योरलोपः' इति लक्षणेन भवत्यकार लोपोऽवशब्दस्यात्र "

अव = चारों ओर, ऋद्ध- बढा हुआ, मान = प्रमाण ज्ञान, जिसका है, वह वर्द्धमान है। 'अव' और 'अपि' उपसर्ग के 'अ' का लोप होता है, इसलक्षण से, 'अव' शब्द के अकार का लोप हुआ।

यहाँ पर वर्द्धमान शब्द का विग्रह करके'अवाप्योरलोप: इस व्याकरण सूत्र का भी उल्लेख किया है। इससे जाना जाता है कि वे व्याकरणज्ञ थे।

उसी प्रकार "समयसार" शब्द का विग्रह भी अनेक प्रकार से किया है, वह इस प्रकार है :-

१. सम्यग् अय: बोधो यस्य भवति स समय आत्मा अर्थात् सम्यक बोध जिसके होता है, वह समय - आत्मा है।

२. समं एकीभावेनायनं गमनं समयः। अर्थात् एकीभाव रूप से प्राप्त होना,

प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं अथवा समय एव प्राभृतं समय प्राभृतम्।[1] प्राभृत = सार, सार = शुद्ध अवस्था। अर्थात् समय = आत्मा का प्राभृत वह समय प्राभृत है। अथवा समय ही प्राभृत है।

---

१. रघुवंश अ. १, श्लोक १, संजीवनी टीका

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा २२३

३. सम्यगयते गच्छति परिणमति स्वकीय गुण पर्यायान् इति।

अर्थात् सम्यक् रूप से जो अपने गुण पर्यायरूप से परिणमता है, वह समय है।

जयसेन आचार्य संस्कृत व्याकरण के समान, प्राकृत व्याकरण भी अच्छी तरह से जानते थे। प्राकृत व्याकरण के उल्लिखित नियमों का अध्ययन करने से यह जाना जाता है कि कुन्दकुन्द आचार्य प्रणीत ग्रन्थों में प्राचीनतम वैय्याकरणों के शब्दानुशासन का अनुसरण करके शब्दों का सम्यक् प्रयोग किया है। आज उपलब्ध प्राकृत व्याकरणों के अध्ययन से यह परिलक्षित होता है कि प्राकृत व्याकरण के पालन किये हुए नियमों का सामान्य ज्ञान होने पर भी, पूर्ण रूप से पालन किये हुए विशिष्ट नियमों का विधान नहीं पाया जाता। इससे स्पष्ट अनुमान किया जाता है कि कुन्दकुन्द आचार्य के काल में कोई प्राकृत व्याकरण अवश्य होना चाहिए परन्तु वह आज उपलब्ध नहीं होता। ऐसा कहा जाता है कि शब्द पाहुड में प्राकृत नियमों का व्याकरण रूप से विधान था परन्तु उसका उल्लेख मात्र प्राप्त होता है। कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा विरचित ग्रन्थों में पालन किये हुए कुछ नियम पश्चात्वर्ती प्राकृत वैय्याकरणों के बीच में हेमचन्द्र आचार्य के शब्दानुशासन में, त्रिविक्रम के प्राकृत शब्दानुशासन में, वररुचिके प्राकृतप्रकाश में दृष्टिगोचर होते हैं। जयसेन आचार्य प्राकृत व्याकरण के तज्ञ थे। यह कुछ उल्लेखों से जाना जाता हैं।

१. पंञ्चास्तिकाय संग्रह की ५६वीं गाथा में "उदयेण उवसमेण य खयेण दुहि मिस्सिदेहि परिणामे" इस चरण में "परिणामे" इस शब्द में तृतीया के स्थान में सप्तमी विभक्ति प्रयोग की है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए जयसेन आचार्य कहते हैं :-

'प्राकृतलक्षण बलात् सप्तम्यन्तं तृतीयान्तं व्याख्यायते परिणामेन करणभूतेन" इति। प्राकृत लक्षण के बल से सप्तमी के स्थान पर परिणाम के द्वारा कारण भूत तृतीया का व्याख्यान किया जाता है।

यहाँ पर प्राकृत व्याकरण के अनुसार तृतीया के स्थान पर सप्तमी का भी प्रयोग किया जाता है। यह नियम जयसेन आचार्य यथार्थ जानते थे। यह नियम हेमचन्द्र आचार्य के प्राकृत शब्दानुशासन में उपलब्ध होता है। वह इस प्रकार है :-

"द्वितायातृतीययोः सप्तमी। द्वितीयातृतीययोः स्थाने क्वचित् सप्तमी भवति। [२]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १

२. हेमचन्द्र आचार्य - प्राकृत व्याकरण, अ. ८, पाद ३, सू. १३५

द्वितीया, तृतीया के स्थान पर कहीं पर सप्तमी होती है।

२. संस्कृत में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में जिन शब्दों का ह्रस्वांत विधान किया है, उन्हीं का प्राकृत भाषा में दीर्घान्त प्रयोग देखा जाता है। समयसार की प्रथम गाथा में 'सुदकेवलीभणिदं' इस स्थान पर संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'केवलि' शब्द ऱ्हस्व होना चाहिए, परन्तु यहाँ प्राकृत में 'केवली' शब्द दीर्घ हुआ है। वही जयसेन आचार्य ने कहा है :-

"प्राकृतलक्षण बलात्केवली शब्ददीर्घत्वं इति।"

उसी प्रकार आचार्य ने कितने ही स्थलों में प्राकृत व्याकरण के लिंग नियमों को भी बताया है, वह इस प्रकार है :- समयसार ग्रन्थ की तीसरी गाथा में *"विसंवादी इति पुल्लिंग स्थाने "विसंवादिणी" इति स्त्रीलिंग शब्दः प्रयुक्तः"* अर्थात् विसंवादी इस पुल्लिंग के स्थान में 'विसंवादिणी' ऐसा स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है। नियम इस प्रकार बताया है : - *'क्वचित प्राकृते लिङ्गव्यभिचारोऽपि इति वचनान्नपुसंकलिंगे पुल्लिंगनिर्देश: पुल्लिंगेऽपि नपुंसकलिङ्गनिर्देश: कारके कारकान्तरनिर्देशो भवतीति।* [१] अर्थात् कहीं पर प्राकृत में लिंग व्यभिचार भी है। इस वचन से, नपुसंक लिंग में पुल्लिंग का निर्देश होता है, पुल्लिंग में नपुंसक लिंग का निर्देश होता है। एक कारक में दूसरे कारक का निर्देश होता है।

कहीं पर प्राकृत और व्याकरण में वचन नियम का भी संकेत किया है, वह इस प्रकार है: *"चउविह इति बहुवचने प्राकृतलक्षणबलेन ह्रस्वत्वम् इति।"* [२] अर्थात् "चउविह" इस प्रकार बहुवचन में प्राकृत लक्षण के बल से ह्रस्वपना होता है। कहीं पर प्राकृत व्याकरण के संधि नियमों का भी उल्लेख किया है।

'सण्णसण्णा' इत्यत्र प्राकृतलक्षणबलात् अकारलोपो द्रष्टव्यः "[३] 'सणसण्णा'

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १८१-१८४
लिङ्गमतन्त्रम्। अपभ्रंशे लिङ्गमतन्त्रं व्यभिचारिप्रायो भवति।
त्रिविक्रम प्राकृत शब्दानुशासनम् अ-३, पाद ४, सू.६८
हेमचन्द्र आचार्य, प्राकृत व्याकरण अ.८, पाद ४, सू ४४५

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १७८

३. वहीं पर गा. २६३

यहाँ पर प्राकृत लक्षण के बल से अकार का लोप जानना चाहिए। इन सर्व प्रमाणों से यह प्रमाणित किया जाता है कि जयसेन आचार्य प्राकृत व्याकरण के केवल ज्ञाता ही नहीं थे, परन्तु प्राकृत व्याकरण में निपुण और कुशल थे। उन्होंने पूर्व लिखित सम्पूर्ण प्राकृत व्याकरणों का अच्छी तरह से अध्ययन किया था। प्राकृत व्याकरणज्ञ होने से उनकी वृत्तियों में प्रत्येक गाथा का शब्दश: अर्थ प्राप्त होता है, जो अमृतचन्द्र आचार्य कृत टीकाओं में उपलब्ध नहीं होता।

प्रभाव

आचार्य जयसेन के सरल व्यक्तित्व का प्रभाव परवर्ती आचार्य, मुनिवर्ग और विद्वानों पर स्पष्टरूप से लक्षित होता है। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित लेखकों के द्वारा अपनी रचना में उनका अनुसरण किया गया है। विशेषत: उनकी सुबोध कथन पद्धति, पंचार्थ प्ररूपणशैली और आगम एवं अध्यात्म में सुमेल शैली का प्रभाव उत्तरवर्ती लेखकों पर दिखाई देता है। उनके नाम का उल्लेख परवर्ती कृतियों में प्राय: नहीं के बराबर है। उस समय के आचार्य, मुनि और विद्वानों से आज के आचार्य, मुनि और विद्वानों के हृदयपटल पर उनका प्रभाव अधिक दिखाई देता है।

कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा समर्पित आध्यात्मिक रहस्य को उद्घाटित करने के लिए उनकी सरल सुबोध शैली आज अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि अभी जीवों की मन्दबुद्धि होने से, वे जयसेन आचार्य की सरल संस्कृत भाषा से तत्त्व का मर्म शीघ्र जानने के लिए समर्थ होते हैं। इसी से आज उनके द्वारा विरचित वृत्तियों का हिन्दी में अनुवाद भी संपादित हुआ है।

ब्रह्मदेव के ऊपर प्रभाव :-

जयसेन आचार्य कृत पञ्चास्तिकाय आदि वृत्तियों के साथ ब्रह्मदेव कृत वृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से ब्रह्मदेव के ऊपर जयसेन आचार्य का प्रभाव स्पष्ट प्रतिभासित होता है। जयसेन आचार्य की भाषाशैली, उत्थानिका शैली, उद्धरणशैली, शब्द, नय, मत, आगम, भाव रूप पंचार्थ प्रतिपादन शैली, सिद्धान्त और अध्यात्म में सुमेल शैली, दृष्टान्त शैली का उन्होंने अनुसरण किया है। | इस विषय में उदाहरण सहित विस्तृत विवेचन, इस शोध निबन्ध के छट्टे अध्याय में किया है, वहाँ से देखना चाहिए।

इस विषय में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि ब्रह्मदेवने जयसेन आचार्य का अनुकरण किया है, जयसेन आचार्य ने ब्रह्मदेव का अनुकरण नहीं किया है, इस विषय में क्या प्रमाण है ? दोनों

वृत्तियों के परीक्षण से यह तथ्य दृष्टिगोचर होता है कि ब्रह्मदेव ने जयसेन आचार्य का अनुकरण किया है, वह इस प्रकार है: -

१) ब्रह्मदेव के द्वारा बृहत् द्रव्यसंग्रह की ५७ वीं गाथा के ऊपर विस्तार से वृत्ति लिखी गई है। उन्होंने उस वृत्ति में जयसेन आचार्य प्रणीत अनेक गाथा वृत्तियों का अनुकरण करके उनमें उद्धृत पद्यों को अपनी बुद्धि से वहां पर एक जगह संग्रहित किये हैं। जिस प्रकार पञ्चास्तिकायसंग्रह की १५४ वीं गाथा की वृत्ति में जयसेन आचार्य ने "आज के काल में ध्यान नहीं है "इत्यादि प्रश्नोत्तरों को लिखकर मोक्ष प्राभृत से 'भरहेदुस्समकाले' 'अज्जवि तिरयण सुद्धा' इन दो गाथाओं को, उसी प्रकार तत्त्वानुशासन से 'चरितारो न सन्त्यद्य' यत्पुनर्वज्रकायस्य ऐसे दो श्लोकों को उद्धृत किया है। ये चारों पद्य ब्रह्मदेवने उपर्युक्त गाथा की वृत्ति में उसी विषय का अनुसरण करके अवतरित किये हैं। उसी प्रकार पञ्चास्तिकायसंग्रह की ७७-७८वीं गाथा की वृत्ति में कहा है "जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा नाना जल घटों में दिखाई देता है" इत्यादि पूर्व पक्षपूर्वक एक ब्रह्ममत का निराकरण ही यहाँ संग्रहीत है। उसी प्रकार समयसार की २१५ वीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति में जो अपध्यान का लक्षण प्रतिपादन करने में, रत्नकरंड श्रावकाचार से एक पद्य, यशस्तिलक चम्पू से दो पद्य, मूलाचार से एक पद्य उद्धृत करके बताया है। वह भी यहाँ द्रव्य संग्रह की वृत्ति में संग्रहीत है।

२) जैसे अमृतचन्द्र आचार्य ने जो विषय संक्षेप से प्रतिपादित किया है, वही विषय विस्तार से कहा है। उसी प्रकार जो विषय जयसेन आचार्य ने संक्षेप में वर्णन किया है, ब्रह्मदेव ने उसका ही विस्तार से वर्णन किया है।[१] इससे, जिस प्रकार अमृतचन्द्र आचार्य से जयसेन आचार्य पश्चाद्वर्ती जाने जाते हैं, उसी प्रकार जयसेन आचार्य से ब्रह्मदेव पश्चाद्वर्ती हैं, ऐसा अनुमान किया जाता है।

३. जयसेन आचार्य ने पहले पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार ग्रन्थों के ऊपर वृत्तियाँ रची थीं। इसलिए उन ग्रन्थों को छोड़कर ब्रह्मदेवने बृहत् द्रव्यसंग्रह और परमात्म प्रकाश के ऊपर वृत्तियाँ रची।

४. द्रव्य संग्रह की वृत्ति में, पञ्चास्तिकायसंग्रह की टीका का एक उद्धरण भी प्राप्त होता है। डॉ. आ.ने. उपाध्ये ने ब्रह्मदेव के ऊपर जयसेन आचार्य का प्रभाव स्वीकार किया है, वह इस प्रकार है :-

---

१. द्रष्टव्यम् सर्वज्ञ सिद्धिः पञ्चास्तिकायसंग्रह, ता.वृ.गा.२९, बृहद्द्रव्यसंग्रह वृत्ति, गा. ४८, ५०

"पदच्छेद उत्थानिका, प्रकरण संगत चर्चा ब्रह्मदेव की वृत्ति के अन्य कतिपय विषय हमें जयसेन आचार्य की वृत्तियों की याद दिलाते हैं। ब्रह्मदेव ने जयसेन आचार्य का पूर्णतया अनुकरण किया है। परमात्म प्रकाश की टीका की कुछ चर्चा जयसेन आचार्य की पञ्चास्तिकाय की वृत्ति की चर्चा के समान हैं। उदाहरण के लिए, परमात्म प्रकाश अ.२, श्लोक २१, पञ्चास्तिकायसंग्रह पद्य २३, परमात्मप्रकाश अ.२, श्लोक ३३ पञ्चास्तिकायसंग्रह १५२, परमात्म प्रकाश अ.२ श्लोक ३६, पञ्चास्तिकाय १४६ इत्यादि। [१]

ऊपर में कहा ही है कि जयसेन आचार्य की वृत्तियों का ब्रह्मदेव के ऊपर महान प्रभाव था। जयसेन आचार्य ई.स. की १२वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बहुधा हुए। अतः ब्रह्मदेव १२वीं शताब्दी के बाद हुए।[२]

दोनों में सादृश्यत्व को देखने से, दोनों ने एक ही गुरु से अध्ययन किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। अत: वे दोनों सहपाठी होने चाहिए, ऐसा अनुमान होता है, अन्यथा इस प्रकार का सादृश्य कैसे संभव है। डा. उत्तमचन्द्रजी महोदय ने भी जयसेन आचार्य के सधर्मा के रूप से ब्रह्मदेव का उल्लेख किया है।[३]

आध्यात्मिक बालचन्द्र के ऊपर प्रभाव :-

अध्यात्मी बालचन्द्र मूल संघस्थ देशीय गण, पुस्तक गच्छ, कुन्दकुन्द परम्परा के विद्वान थे। गुणचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य और नयकीर्ति के गुरु थे। इनके भाई का नाम

---

१. The analysis, introductory remarks, the closing discussions and some other features of Brahmadeva's commentary remind us of Jaysena's commentaries. Brahmadeva closely follows Jaysena with whose commentaries he appears to be thoroughly conversant some discussions in the commentary of P. prakasa are almost the same as those in the commentary of Jaysena on Pancastikaya. Compare for instance, P-prakasa on II. 21 with Pancastikaya on 23ff Ppon II 33 with P.on 152 and pp. on II36 with p.on146 आ.ने.उपाध्ये, परमात्म प्रकाश प्रस्तावना पृ.८२

२. It is shown above that Brahmadeva is much influenced by the commentaries of Jaysena and even some passages of Jaysena are almost reproduced by our author. Jaysena Conged to C Second half of the 12th Century A.D. S.O. Brahmadva is later than 12th century परमात्म प्रकाश प्रस्तावना पृ.८४

३. आप समयसार के टीकाकार जयसेन के सहधर्मी थे क्योंकि उनकी उपदेश शैली से ब्रह्मदेव की शैली में अत्यधिक साम्य दिखाई देता है।

डॉ. उत्तमचन्द्र जैन- आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पृ.सं. १८८

दामनन्दि था। अनेक प्रकार के शिलालेखों में इनकी स्तुति पर पद्य प्राप्त होते हैं। इनके द्वारा कर्नाटक भाषा में रची हुई पाँच वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। १) पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति २) प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति ३) समयसार तात्पर्यवृत्ति ४) परमात्म प्रकाशवृत्ति ५) तत्त्वरत्न दीपिका (तत्त्वार्थ सूत्रटीका) [१]। संभवतः इनके द्वारा द्रव्यसंग्रह के ऊपर भी वृत्ति रची गई है। अन्य बालचन्द्र नामक व्यक्तियों से भिन्नत्व बताने के लिए इन्होंने अपनी प्रशस्ति में "अध्यात्मी बालचन्द्र" इस रूप से उल्लेख किया है।

इनके द्वारा अपनी रचित वृत्तियों में जयसेन आचार्य के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। परन्तु जयसेन आचार्य का इनके ऊपर प्रभाव था, यह इनके द्वारा विरचित वृत्तियों के अवलोकन से स्पष्ट रूप से जाना जाता है। १) पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार इन तीनों की वृत्तियों का प्रारम्भ और समापन, जयसेन आचार्य के समान ही दिखाई देता है। पञ्चास्तिकाय संग्रह में प्रथम गाथा की वृत्ति में जयसेन आचार्य ने मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्त्ता का विस्तार से वर्णन किया है। वह सर्व बालचन्द्र ने अपनी वृत्ति में कुछ कर्नाटक भाषा में परिवर्तन करके यथावत् उद्धृत किया है। उसी प्रकार ग्रन्थ के अन्त में भी दीक्षा, शिक्षा आदि छह कालों का वर्णन भी जयसेन आचार्य का अनुसरण करके किया है। उसी प्रकार प्रवचनसार के प्रारम्भ में उत्थानिका और अन्तिम परिशिष्ट जयसेन आचार्य के द्वारा किये हुए विवरण के समान ही है।

२) कुछ गद्यांश जयसेन आचार्य विरचित वृत्ति से यथावत उद्धृत दिखाई देते हैं। उनमें केवल संस्कृत विभक्ति प्रत्यय के स्थान में कर्नाटक भाषा के प्रत्ययों का प्रयोग किया है।[२]

---

१. पं. परमानन्दजी शास्त्री: जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ.सं. ३३३

२. अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः समस्तदुर्नयैकान्तदुराग्रहः, परित्यक्त समस्तशत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थोभूत्वा धर्मार्थकामेभ्य: सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पञ्चपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाण: श्रीवर्धमानस्वामीतीर्थंकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतः पञ्च परमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्र्यमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति-

आचार्यजयसेनकृता प्रवचनसारतात्पर्यवृत्तिः गा.१ उत्थानिका|

स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतनु समुत्पन्न परमभेद विज्ञान प्रकाशातिशयनुं निराकृत समस्त दुर्नयैकान्तदुराग्रहनुमासन्नभव्यनुमप्प शिवकुमारमहाराजं परित्यक्त शत्रुमित्रादिपक्षपातदिन-त्यन्तमध्यस्थनागि सकलपुरुषार्थसारभूतेयुमत्यन्ता-त्महितेयमविनश्वरेयुं भगवत्पंचपरमेष्टि-प्रसादोत्पन्नेयुमप्प मुक्तिश्रियनुपादेयं माडि. ..... । द्रव्यभाव नमस्कारादिं बन्दिसि परम चारित्रमनाश्रयिसुवेनेंदु पुण्केयं माडिदपं।

मुनि बालचन्द्र कृता प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति: गा.१ उत्थानिका।

बालचन्द्रने कर्नाटक भाषा भी संस्कृत मिश्र प्रयोग की है। शुद्ध कर्नाटक भाषा का प्रयोग नहीं किया है।

३) पं. जुगल किशोर मुख्तार ने जयसेन आचार्य से बालचन्द्र को पूर्वकालीन माना है। परन्तु दोनों की वृत्तियों के अवलोकन से यह तथ्य निष्पन्न होता है कि केवल जयसेन आचार्य की वृत्तियों को आधार बनाकर बालचन्द्र ने अपनी वृत्तियाँ रची हैं। बालचन्द्र की वृत्ति में इस प्रकार का स्पष्टीकरण प्राप्त नहीं होता कि जो जयसेन आचार्य की वृत्ति में न हो | जयसेन आचार्य विरचित वृत्तियों में समस्त विषय जान करके जो निष्कर्ष प्रतिपादित किया है, उस प्रकार बालचन्द्र की वृत्ति में नहीं देखा जाता है। बालचन्द्र की वृत्तियाँ अत्यन्त साधारण शब्दार्थ मात्र का वर्णन करने वाली हैं, इससे जाना जाता है कि बालचन्द्रने प्रकट रूप से जयसेन आचार्य का अनुकरण किया है।

४) जयसेन आचार्य ने अमृतचन्द्र आचार्य का अनुकरण किया है। और जगह जगह पर उनसे प्रमाण भी दिये हैं। अमृतचन्द्र आचार्य कृत टीका के नाम का उल्लेख भी किया है। यदि बालचन्द्र की वृत्ति का उपयोग जयसेन आचार्य ने किया होता तो उसका उल्लेख भी वे निश्चित करते। बालचन्द्र ने अपनी प्रशस्ति में अमृतचन्द्र आचार्य का उल्लेख भी नहीं किया है और उनकी टीका का उपयोग भी नहीं किया। प्रायः बालचन्द्र ने जयसेन आचार्य की वृत्ति को छोड़कर अन्य टीका का अनुसरण नहीं किया है। इससे बालचन्द्र से जयसेन आचार्य पूर्व कालीन सिद्ध होते हैं।

५) जयसेन आचार्य का अनुसरण करके बालचन्द्र ने अपनी रचित वृत्तियों का नाम तात्पर्यवृत्ति रखा है। उपर्युक्त प्रमाणों से बालचन्द्र के ऊपर जयसेन आचार्य का प्रभाव निश्चित होता है।

आरातीय मुनि और विद्वद्वर्गों में प्रभाव

१. आचार्य ज्ञानसागर के ऊपर प्रभाव :-

जिन आरातीय मुनि वृन्दों में और विद्वत वर्गों में आचार्य जयसेन देव का प्रभाव दिखाई देता है, उनमें ज्ञान सागर महाराज एक हैं। शान्तिसागर आचार्य के द्वितीय पट्टाधीश, शिवसागर आचार्य से वे दीक्षित थे। उन्होंने पूर्व अवस्था में वाराणसी के स्याद्वाद महाविद्यालय में व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त विषयों की विद्या प्राप्त की थी। वे पूर्वोक्त विषयों में पारंगत पंडित थे। ये बालब्रह्मचारी पूर्वावस्था में पं. भूरामल शास्त्री के नाम से प्रसिद्ध थे। उन्होंने संस्कृत भाषा में जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय इत्यादि स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे हैं। उन्होंने हिन्दी भाषा में

भी साहित्य लिखा है। इनका समय ई.सन् १८९१ से १९७२ पर्यंत है। आचार्य ज्ञानसागर, जयसेन आचार्य के व्यक्तित्व और कृतित्व से केवल प्रभावित ही नहीं थे, अपितु उन्होंने जयसेन आचार्य कृत समयसार तात्पर्यवृत्ति का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी किया है। उसके ऊपर उन्होंने विशेषार्थ भी लिखे हैं।

२. मुनि वीरसागर महाराज के ऊपर प्रभाव :-

जयसेन आचार्य से प्रभावित मुनिवर्यो में वीरसागर महाराज जी एक हैं। आचार्य शान्तिसागर महाराज की परम्परा में हुए आदिसागर आचार्य इनके दीक्षा गुरु थे। इनकी जन्मभूमि अकलूज नामक गाँव है। वीर सागर मुनि गृहस्थ अवस्था में सपत्नीक वैद्यकीय व्यवसाय करते थे। वे दम्पति वैराग्य शील थे|

उन दोनों ने वैद्यकीय व्यवसाय और गृहस्थ धर्म को छोडकर एक साथ भगवती दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् मुनि वीरसागरजी ने न्याय, व्याकरण आगम और आध्यात्मिक विषयों में प्राविण्य प्राप्त किया। अध्यात्म योगी वीरसागर मुनि की भवताप संहारिणी और शान्ति प्रदायनी वाणी के प्रभाव से बहुत भव्य जीव जिनधर्म के रहस्य को जानने वाले हुए। बहुत जीवों को उनके निमित्त से शास्त्र स्वाध्याय में रुचि उत्पन्न हुई। उन्होंने अनेक प्रकार के चित्रों के माध्यम से न्याय और अध्यात्म विषयों का स्पष्टीकरण किया है। इनके ऊपर जयसेन आचार्य की रचना का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है, क्योंकि उन्होंने जयसेन आचार्य कृत समयसार तात्पर्यवृत्ति को हिन्दी भाषा में अनुवादित किया है। उसी प्रकार विशेषार्थों के माध्यम से अध्यात्म रहस्यों को उद्घाटित किया है। स्थान-स्थान पर जयसेन आचार्य के द्वारा कही हुई आगम और अध्यात्म की विवक्षा को व्यक्त करके दोनों की तुलना की है।

३. पं. हीरानन्द के ऊपर प्रभाव :-

जयसेन आचार्य से प्रभावित विद्वत वर्ग में पं. हीरानन्दजी एक है। ये आगरा निवासी पं. जगजीवन के सहचर विद्वान थे। उनका जीवन काल ई.सन्. १६१३-१६८३ पर्यन्त है। पं. जगजीवन की प्रेरणा से उन्होंने पञ्चास्तिकायसंग्रह का ई.सन् १६४३ वे वर्ष में हिन्दी में पद्यानुवाद पूर्ण किया ।[१] अमृतचन्द्र आचार्यकृत समय व्याख्या का आश्रय करके पञ्चास्तिकायसंग्रह की पद्य टीका लिखी है, ऐसा उन्होने स्वयं कहा है। जयसेन आचार्य के

---

१. पं. हीरानन्दकृत पञ्चास्तिकाय समयसार प्रशस्ति, पद्य २९, पृ.सं. १९६

नाम का उल्लेख उन्होंने अपनी टीका में कहीं पर भी नहीं किया है, परन्तु उनकी विरचित वृत्ति का उन्होंने उपयोग किया है, ऐसा कितने ही प्रमाणों से जाना जाता है, जैसे - १) उन्होंने पञ्चास्तिकायसंग्रह में तीन अधिकारों की १८१ गाथा संख्याओं का उल्लेख किया। [१] परन्तु अमृतचन्द्र आचार्यकृत समयव्याख्या में दो श्रुत स्कंध और १७३ गाथाएँ हैं, उनमें १७१ गाथाओं पर ही टीका उपलब्ध होती है। परन्तु जयसेन आचार्य कृत वृत्ति में तीन अधिकार और १८१ गाथाएँ प्राप्त होती है। इससे उनके समक्ष जयसेन आचार्य की वृत्ति थी, ऐसी प्रतीति होती है। उन्होंने उसका अनुसरण किया है, यह स्पष्ट जाना जाता है।

२. अमृतचन्द्र आचार्य विरचित टीका से अधिक १० गाथाओं के ऊपर भी उन्होंने पद्य टीका रची है। उनमें २४ वीं गाथा के ऊपर प्रश्नोत्तर रूप से कालद्रव्य की सिद्धि के लिए विस्तृत विवेचन किया है। उसका अनुसरण करके ही पं. हीरानन्दजी ने पद्य टीका रची है। उस वृत्ति के पाये जाने वाले सर्व दृष्टान्तों और प्रश्नोत्तरों का समावेश अपने रचित पद्यों में किया है। [२]

३. उसी प्रकार अतिरिक्त ९ गाथाओं की पद्य टीका भी जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति का आश्रय करके ही की हैं। यह, पद्य टीका के अवलोकन से स्पष्ट जाना जाता है।[३]

इन प्रकरणों से पं. हीरानन्द महोदय के ऊपर, जयसेन आचार्य की कृति का प्रभाव था, यह अनुमान किया जाता है।

४. ब्र. शीतल प्रसाद जी के ऊपर प्रभाव :-

ब्र. शीतल प्रसाद के ऊपर भी जयसेन आचार्य का प्रभाव लक्षित होता है। ब्र. शीतल प्रसाद जी अग्रवाल गोयल गोत्रीय श्रावक थे। ये जैन सिद्धान्त और अध्यात्म के मर्मज्ञ, वैराग्यशील तथा प्रभावशाली विद्वान थे। इन्होंने जैन आगम और अध्यात्म की महती सेवा की। जैन सिद्धान्त के प्रचार प्रसार में उनका महान योगदान है। इनका जन्म वर्ष १८७८ तथा मृत्यु वर्ष १९४८ है। [४] इनकी कृतियाँ :- १) नियमसारभाषाटीका, २) पञ्चास्तिकाय भाषा

---

१. इक्कासी अरू सौ अधिक यहु सब गाथा मान। श्रुत स्कन्ध है तीन तिहि गहरा बहुत बखान॥
पं. हीरानन्दकृत, पञ्चास्तिकाय समयसार, प्रथमश्रुत स्कन्ध, पद्य १३, पृ.सं. ३.

२. द्रष्टव्यम् पं. हीरानन्द कृत पञ्चास्तिकाय समयसार, प्रथम श्रुतस्कन्ध पद्य १४६, १४७, १४८, १४९, पृ.सं. ३०,३१

३. द्रष्टव्यम् पं. हीरानन्द कृत पञ्चास्तिकाय समयसार, प्रथम श्रुतस्कंध २२० पद्यानन्तर १-२० पद्य पृ.सं. ४८, ४९, ५०, ५२; ३४१ पद्यानन्तर १-४ पृष्ठ सं. ८३-८४, द्वितीय श्रुत
स्कंध अष्टम पद्यानंतर १,२,३ पद्य पृ.सं. ११३ पद्य २७, २८, २९ पृ. सं. ११७,११८

४. आगम पथ, (शीतल जन्मशताब्दी विशेषांक) पृ. सं. ७४

टीका (पञ्चास्तिकाय दर्पण, नो पदार्थ दर्पण-ऐसे खण्डों में विभक्त) ३) प्रवचनसार भाषा टीका (ज्ञानतत्त्वदीपिका, ज्ञेयतत्त्व दीपिका और चारित्रतत्त्व दीपिका) ऐसे तीन खण्डों में विभक्त हैं। ४. समयसार टीका ५) समयसार कलश भाषा टीका इत्यादि १९ ग्रन्थों के ऊपर भाषा टीका रची हैं। उसी प्रकार अन्य भी प्रायः आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक, धार्मिक, पौराणिक, भक्ति, इतिहास आदि विविध विषयों पर ६० पुस्तकें रची हैं। 'जैन मित्र' आदि जैन पत्रिकाओं में उनके सैकडों लेख भी प्रसिद्ध हैं।[१]

इन्होंने जयसेन आचार्य के तीनों तात्पर्यवृत्तियों के सब से प्रथम हिन्दी भाषा में अनुवाद किये। इसके पूर्व जयसेन आचार्य की वृत्तियों का किसी ने भी अनुवाद नहीं किया था। उन्होंने स्वयं लिखा है कि कुन्दकुन्द आचार्य कृत प्रवचनसार के ऊपर प्रथम टीका अमृतचन्द्र आचार्य ने रची है। दूसरी वृत्ति जयसेन आचार्य ने लिखी है। उसका पान करके मैं सुखी हुआ और मेरी रुचि अधिक बढी। प्रथम टीका की भाषा टीका विद्वान हेमराज जी ने की है। दूसरी वृत्ति की भाषा टीका अभी तक किसी ने नहीं की है। इसलिए उसकी बालबोध भाषा वचनिका मैं रचता हूँ।[२]

समयसार भाषा टीका के प्रारम्भ में भी जयसेन आचार्य के लिए आदरसूचक पद का प्रयोग तथा टीका रचना का कारण व्यक्त किया है।[३]

प्रत्येक भाषा टीका की पीठिका में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है। उन्होंने जयसेन आचार्य के लिए 'निजसुधा बहाय', 'वृत्तिकारगुणवान', 'अनुभवरसपूर्ण', 'उदार', 'परम ज्ञान रसदान', 'सहज बोधसुदेन' इत्यादि प्रशंसा वाचक पद प्रयुक्त किये हैं। इससे जयसेन आचार्य की प्रतिपादन शैली से ये प्रभावित थे, यह जाना जाता है।

५. क्षुल्लक गणेश प्रसाद वर्णी महोदय के ऊपर प्रभाव :-

क्षुल्लक गणेश प्रसाद वर्णी जी ने झाँसी जिले के अन्तर्गत हँसेरा ग्राम में ई.स. १८७४ वे वर्ष में वैष्णव परिवार में जन्म लिया।[४] परन्तु जैनधर्म के तर्कशुद्ध आचार विचारों को सुनकर

---

१. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, 'समाजोन्नायक क्रान्तिकारी युगपुरुष ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद' पृ.सं. ३४, प्रथम संस्करण, सन् १९८५

२. शीतल प्रसादजी कृत प्रवचनसारभाषाटीका खण्ड १ प्रारम्भिक प्रशस्ति, पृ.सं. २, श्लोक ११-१४

३. ताकी वृत्ति संस्कृत, तात्पर्य है नाम | ताके कर्ता निजरसी, वन्दों आठों जाम ॥
याकी भाषा वचनिका, नहीं प्रगट यह देख | निज पर को हित जानि के, लिखू नागरी लेख ॥
शीतल प्रसाद जी कृत - समयसार टीका प्रारम्भिक प्रशस्ति, श्लोक १०-११

४. श्री गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ. १

इनका हृदय परिवर्तन हुआ। इसलिए उन्होंने जैन धर्म अंगीकार किया। प्रतिकूल प्रसंग में भी उन्होंने अपने ग्रहण किये हुए व्रत को नहीं छोडा | उन्होंने न्यायाचार्य परीक्षा भी यशस्वीरीति से उत्तीर्ण की। दिगम्बर जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए उन्होंने वाराणसी में स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर नगर में गणेश दिगम्बर जैन विद्यालय स्थापित करके जैन धर्म की महती प्रभावना की।

इनके ऊपर समयसार ग्रन्थ का सर्वाधिक प्रभाव था। उन्होंने जीवन के अन्तिम समय में *"सर्वं त्यज, एकंभज"* सर्वको छोडो, एक को भजो, इस सिद्धान्त अनुसार अन्य ग्रन्थों से अपने उपयोग को व्यावृत्त करके एक समयसार में ही अपने उपयोग को संलग्न किया। एक पत्र में उन्होंने समयसार का "मोक्षमार्ग का अभिभाषक" इस रूप से उल्लेख किया है।'[१]

वे उक्त ग्रन्थ के ऊपर अमृतचन्द्र आचार्य कृत आत्म ख्याति और जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति के अध्ययन, मनन और रसास्वादन में मग्न हुए थे। इनके ऊपर जयसेन आचार्य का प्रभाव था। इसका प्रमाण उन्होंने समयसार ग्रन्थ के ऊपर प्रवचन लिखें हैं, उसके प्रारम्भ में ही उन्होंने अमृतचन्द्र आचार्य के साथ जयसेन आचार्य का भी सादर स्मरण किया है। वह इस प्रकार है :-

'आचार्यामृतचन्द्रोऽसौ जयसेनश्च सन्मुनिः।
व्याख्याकारौ मम स्यातां मार्गदर्शनदीपकौ। [२]

उपर्युक्त श्लोक में जयसेन आचार्य के प्रति "सन्मुनि" मार्गदर्शन दीपक है, इस प्रकार के समागत प्रशंसा के उद्‌गारों को अपनी हृदयगत भक्ति से प्रदर्शित किया है। इससे उनके ऊपर अमृतचन्द्र आचार्य के समान जयसेन आचार्य का भी प्रभाव लक्षित होता है।

६. कानजी स्वामी के ऊपर प्रभाव :-

कानजी स्वामी का जन्म वि.सं. १९४६ (ई. सन् १८८९) वें वर्ष में वैशाख मास में रविवार को काठियावाड में स्थित उमराना गाँव में श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कुल में हुआ था।[३] वे बचपन से विलक्षण बुद्धि के परम विरागी अध्यात्म रसिक थे। उन्होंने आयु के २४ वें

---

१. वर्णीवाणी भा. ४, पृ.सं. १४९
२. समयसार प्रवचन सहित श्लोक ४, प्रवचनकार गणेश प्रसाद वर्णी, पृ.सं. १, प्रथम संस्करण, १९६९
३. अयोध्याप्रसाद गोयलिक : जैन जागरण के अग्रदूत, पृ.सं. ९३, बनारस प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् १९५२

वर्ष में श्वेताम्बर जैन साधु की दीक्षा ग्रहण की। वे सदा सत्य की खोज करते थे। भाग्यवश ई. सन् १९२० में उनके हाथ समयसार परमागम प्राप्त हुआ।[१] उसके अध्ययन से उन्होंने दीर्घ काल से इच्छित सत्य स्वरूप को प्राप्त किया। समयसार को प्राप्त करके उनका हृदय परिवर्तन हुआ, अत: उन्होंने पंथ व्यामोह को छोड़कर दिगम्बर जैन धर्म को अंगीकार किया। पश्चात् समस्त भारत भू-मंडल और विदेशों में पर्यटन करके दिगम्बर जैन अभिमत तत्त्वज्ञान और अध्यात्म का प्रचार प्रसार किया। उन्होंने जनसभा में १९ बार समयसार ग्रन्थ के ऊपर भाव पूर्ण प्रवचन किये। जिस प्रकार ये कुन्दकुन्द आचार्य कृत समयसार ग्रन्थाधिराज के ऊपर अमृतचन्द्र आचार्य रचित आत्मख्याति के भ्रमरवत् रसिक थे, उसी प्रकार जयसेन आचार्य प्रणीत तात्पर्यवृत्ति का भी यथेच्छ रसास्वादन करते थे। जयसेन आचार्य की तात्पर्यवृत्ति का भी इनका गहन अध्ययन है। समयसार ग्रन्थ की ३४३ वी गाथा (अमृतचन्द्र आचार्य कृत आत्मख्याति की अपेक्षा ३२०वीं) के अनन्तर जयसेन आचार्य ने मोक्ष पदार्थ चूलिका के अन्तिम भाग में मोक्षकारण की मीमांसा की है। औपशामिक आदि पाँच भावों में से किस भाव से मोक्ष होता है, इसका विचार किया है। उसके ऊपर कानजी स्वामी ने सुविस्तृत अध्यात्म रसभरित भावपूर्ण प्रवचन अनेक बार किये हैं। उसी प्रकार उनके प्रवचनों में जयसेन आचार्य के लिए हृदयगत गरिमा प्रकाशित की है। वह इस प्रकार है:-

जयसेन आचार्य देव वीतरागी मुनिवर कहते हैं..." वे वनवासी मुनि थे" "निजानन्द रस में निमग्न थे, उनकी यह टीका है।" "अन्तरंग में जिनकी राग रहित वीतराग दशा और बहिरंग में वस्त्र रहित दिगम्बर दशा वर्तती थी", "जिसके अतीन्द्रिय प्रचुर स्वसंवेदन था, वे मुनिराज यह कहते हैं...." इत्यादि।

प्रशंसा रूप उद्गारों से जयसेन आचार्य के प्रति अपनी अन्तरंग भक्ति भावना समर्पित करते थे।[२] ये हृदय के उद्गार आचार्य जयसेन के व्यक्तित्व और कृतित्व का कानजी स्वामी के ऊपर प्रभाव प्रमाणित करते हैं।

---

१. आगमपथ मासिक, मई १९७६, पृ.सं. ४१

२. "अहाहा ... जयसेनाचार्य महामुनिवर दिगम्बर संतनी आ टीका छे, तेओ वनवासी मुनि हता, मुख्यपणे निजानन्द रसमा लीन रहेता, तेमनी आटीका छे.

प्रवचन रत्नाकर गुजराथी भाग ९ पृ. १०४

"आ तो महामुनिवर दिगम्बर संत श्री जयसेन आचार्य देवनु कथन छे अहाहा अंतरमां जेमने रागरहित नग्न दशा हती ने जेमने अतीन्द्रिय आनन्दनु प्रचुर संवेदन हतु ते मुनिराज आ कहे छे के .....।

प्रवचन रत्नाकर गुजराथी भाग ९ पृष्ठ १०६

निष्कर्ष :-

१. जयसेन आचार्य ने अपनी रचित वृत्तियों में १२वीं शताब्दी के द्वितीय चरण पर्यन्त रचित ग्रन्थों से उद्धरण उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार १२ वी शताब्दी के तीसरे चरण से अन्य आचार्यों के द्वारा विरचित वृत्तियां, इनकी वृत्तियों से प्रभावित दिखाई देती हैं। इसलिए जयसेन आचार्य का समय १२वी शताब्दी के दूसरे और तीसरे चरण के बीच में निश्चित होता है।

२. जयसेन आचार्य सदैव अन्तरंग में निज परमात्म पदार्थ में लीन थे और बाह्य में निर्दोष मुनि आचार का पालन करने में दक्ष थे, इस प्रकार उनका बाह्याभ्यंतर जीवन अतिपवित्र अलौकिक था |

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति की प्रशस्ति से जाना जाता है कि जयसेन आचार्य के पिता का नाम साधुमहिपति और पितामह का नाम साधुमालू था। उन्होंने पिता के भक्ति के लोप के भय से प्राभृत ग्रन्थों की वृत्तियां रची।

४. इनका निश्चित स्थान जाना नहीं जाता। कुछ विद्वान उनको राजस्थानीय और कुछ विदर्भ प्रान्त के स्वीकार करते हैं। परन्तु प्रमाण के अभाव में कुछ भी निर्णय नहीं कर सकते। कुछ प्रमाणों से, इन्होंने दक्षिण भारत को अलंकृत करते हुए यहाँ वास किया था, ऐसा अनुमान किया जाता है।

५. उनके दीक्षा गुरु सोमसेन तथा दादा गुरु वीरसेन थे।

६. सुबोध व्याकरण के रूप में इनका व्यक्तित्व प्रकाशित होता है। उन्होंने स्व और पर के लिए वृत्तियां रची, लौकिक प्रयोजन के लिए नहीं। उत्थानिका, व्युत्पत्ति अर्थ, पाँच प्रकार अर्थ प्रतिपादन, दृष्टान्त, प्रश्नोत्तर शैलियों का प्रयोग करके अध्यात्म जैसे गूढ अर्थ विषय को सहज, बोधगम्य बनाया है।

७. वे कुशल दार्शनिक और तर्क शक्ति सम्पन्न थे। उन्होंने तर्क शैलियों की सब विधाओं का प्रयोग करके अपने पक्ष की सिद्धि की है। वे सर्व सिद्धान्त ग्रन्थों के पारगामी विद्वान थे। उनकी अध्यात्म रसिकता, अध्यात्म प्रेमियों के हृदय को आकर्षित करती है। वे संस्कृत प्राकृत व्याकरण में तज्ञ थे।

****

तृतीय अध्याय
आचार्य जयसेन के वृत्ति ग्रन्थों का सामान्य परिचय

सूत्रवृत्ति ग्रन्थों की परम्परा :-

सूत्र ग्रन्थों की रचना अति प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। संस्कृत के समान प्राकृत भाषा में भी रचे गये सूत्र ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। जिनागम अथवा श्रुत, मूलरूप में सूत्रों में निबद्ध दिखाई देते हैं। दिगम्बर परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा में श्रुत का अर्थाधिकार दो प्रकार से कहा है। १) अंग प्रविष्ट २) अंग बाह्य | अंगप्रविष्ट में आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह रचनाऐं समाविष्ट हैं। दिगम्बरों के मत में अंगप्रविष्ट और अंग बाह्य दोनों भी आगम विच्छिन्न हैं, केवल १२वें अंग का मूल रूप से आज षट्खंडागम ही सुरक्षित है। वही टीका सहित धवल, जयधवल, महाधवल के नाम से विख्यात है।[१] श्वेताम्बर केवल दृष्टिवाद नाम के १२वें अंग का ही विच्छेद मानते हैं। आचारांग आदि ११ अंगों का विच्छेद नहीं मानते हैं।[२] इन्द्रभूति गौतम ने तीर्थंकर महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि से निकले हुए श्रुत को सूत्र रूप से निबद्ध किया। इसलिए इन्द्रभूति गौतम गणधर के द्वारा रचित आगम को सूत्र कहते हैं। आम्नाय रूप से प्रत्येक बुद्धर्षि के द्वारा वर्णित आगम भी सूत्र कहा जाता है। उसी प्रकार श्रुत केवलियों के द्वारा, अभिन्न दस पूर्वी आचार्यों के द्वारा रचे गए आगम ग्रन्थ भी सूत्र कहे जाते हैं।[३] आचार्य, संघ प्रवर्तक, गण परिरक्षक उसी प्रकार सूत्रार्थ को जानने वाले भी होते थे।[४] आगम में स्पष्ट रूप से बताया है कि परस्पर विरोधी दो वचन सूत्र नहीं हो सकते। परन्तु दोनों वचनों के संग्रह करने से संशय मिथ्यादृष्टि भी नहीं होता, क्योंकि सूत्र में कहा हुआ कथन सापेक्ष और प्रामाणिक होता है।

---

१. The only surviving pieces of the original Jain Canon of twelve Angas are according to Digambara tradition perserved in what are popularly known as Dhavala, Jai Dhavala and Maha Dhavala Siddhantas". डा.हीरालाल जैन, षट्खंडागम की प्रथम खण्ड प्रस्तावना, पृ.१, सोलापुर प्रकाशन, सन् १९३६

२. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, डॉ. मोहन लाल मेहता: जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भा. २ प्राक्कथन पृ.सं.५, वाराणसी, सन् १९६६

३. सुत्तं गणधरकधिदं तहेव पत्तेयबुद्धकधिदं च।
सुदकेवलिणा कधिदं अभिण्णदसपुव्विकधिदं च॥ भगवती आराधना गा. २७७, धवला १३, ५, ५, १२०,३४, ३८१, कसाय पाहुड १,६७,१५३

४. द्रष्टव्यं, मूलाचार, गा. ३५,३७,३८

उसी के स्पष्टीकरण के लिए आचार्य व्याख्या में बताते हैं। इसका अर्थ अथवा भाव क्या है ? आचार्य आदिकों के द्वारा सूत्र का अर्थ सम्यक् प्रकार से बताने पर भी, यदि जीव विपरीत अर्थ को छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता तो उसी समय से वह मिथ्यादृष्टि होता है।[१]

सूत्र शब्द का अर्थ:-

श्रुत ही सूत्र है, जो भगवान अरहंत सर्वज्ञ ने स्वयं जानकर के उपदिष्ट स्यात्कार चिह्न युक्त पौद्गलिक शब्दब्रह्म है। [२] जयसेन आचार्य के शब्दों में परिच्छित्ति रूप "भावश्रुत ज्ञानसमय" ही सूत्र कहा जाता है।[३] जो सम्यक् प्रकार से अर्थ को सूचित करता है, अथवा अर्थ को उत्पन्न करता है, बहुअर्थ गर्भित रचना को, सूत्रकार निश्चय से सूत्र कहते हैं।[४] सूत्र शब्द ग्रन्थ, तन्तु और व्यवस्था अर्थ में है।[५] यहाँ पर सूत्रशब्द' ग्रन्थ' अर्थ में ग्रहण किया जाता है।

सूत्र का लक्षण:-

जो अल्प अक्षरों से संयुक्त है, संदेह रहित है, परमार्थसहित गूढ पदार्थों का निर्णायक, निर्दोष युक्तियुक्त यथार्थ होता है, उसे विद्वानों ने सूत्र कहा है।[६] जो अल्प परिमाण, महत्त्वपूर्ण ३२ दोषों से रहित, आठ गुणों से सहित होता है, उसे सूत्र कहते हैं। [७]

---

१. सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि। सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो॥ षट्खण्डागम, जीवस्थान १,१,३६ टीका में उद्धृत गा.सं. १४३

२. श्रुतं हि तावत्सूत्रम्| तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्वात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म।" प्रवचनसार टीका, अमृतचन्द्र आचार्य कृत तत्त्वप्रदीपिका गा. ३४।

३. "सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति।" समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. १७

४. अर्थस्य सूचनात्सम्यक् सूतेर्वार्थस्य सूरिणा| सूत्रमुक्तमनल्पार्थं सूत्रकारेण तत्त्वतः॥
कसाय पाहुड गा.७३ बृहत् कल्पभाष्यं, गा. ३१४, पाराशरोपपुराण अ. १८, न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका १/१/१२, प्रमाणमीमांसा पृ. ३५, कल्पभाष्य गा. २८५.

५. सूत्रं तु सूचनाकारि ग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयोः। स्याद्वाद मञ्जरी, श्लो.सं. ८, पृ.सं. ७४, पंक्ति सं. ६.

६. अल्पाक्षरं संदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्। निर्दोषहेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधै :। धवला पु. ९/४, १, ५४ पृ.सं. २५९, आवश्यक निर्युक्ति सू. ८८६, कषायपाहुड पु. १/१, १५, ६८, पृ.सं. १५४, स्वल्पाक्षरं संदिग्धं सारवद् गूढ निर्णयम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ लघु सिद्धान्त कौमुदी परिशिष्ट पृ.सं. ३४२, अनुयोगद्वार सूत्र गा.सू. १२

७. अल्पग्रंथमहत्त्वं द्वात्रिंशद्दोष विरहितं च। लक्षणयुक्तं सूत्रं अष्टेन च गुणेन उपमेयं।
अनुयोग द्वार सूत्र गा.सू. १२७, बृहत्कल्पभाष्य गा. २७७-२८२, व्यवहार भाष्य १९०

'सूत्र 'दो प्रकार का है गद्य सूत्र और पद्य सूत्र। प्राय: सूत्र गद्य में लिखे जाते हैं, जिस प्रकार संस्कृत भाषा में निबद्ध "तत्त्वार्थ सूत्र" ग्रन्थ के सूत्र गद्य सूत्र हैं। "कसायपाहुड सुत्तं" प्राकृत भाषा में गाथा वृत्त में रचा गया है। जैन धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ आगम संज्ञा से कहे गये हैं। वे सभी गाथा सूत्रों में लिखे गये हैं। कषाय पाहुड के सूत्र पद्यात्मक हैं। उसी प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य विरचित पाहुड ग्रन्थ, गाथा सूत्रों में ही निबद्ध हैं। अमृतचन्द्र आचार्य ने भी समयपाहुड की गाथाओं को सूत्र संज्ञा कही है। [१] सभी पाहुड ग्रन्थ गाथा सूत्रों में रचित हैं। धवलाकार ने एक स्थान पर परिकर्म का सूत्र रूप से उल्लेख किया है। [२] प्राय: वृत्ति रूप व्याख्या सूत्र संज्ञा से भी कही जाती है। जयधवला में यतिवृषभ आचार्य कषाय प्राभृत के वृत्तिसूत्र कर्ता कहे गये हैं। [३]

वृत्ति सूत्र का लक्षण :-

जो सूत्र का ही व्याख्यान करता है, जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त होती है, जिसमें सूत्र का सम्पूर्ण अर्थ संग्रहित किया जाता है, वह वृत्ति सूत्र कहा जाता है। आचार्य गुणधर भट्टारक ने प्रथम १८० सूत्र रचे। [४] इसी से दिगम्बर आगम ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई। गाथा सूत्रों में जो कहा गया है, उसी के संक्षेप से विवरण को 'वृत्ति सूत्र' कहते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। यदि उसकी रचना स्वयं सूत्रकार करता है, तो वह स्वोपज्ञ वृत्ति कही जाती है। वृत्तिसूत्र मंत्र के समान सूत्रों का विवरण मात्र है। अतः कषाय पाहुड की टीका में मंगलाचरण के अन्तर्गत यतिवृषभ आचार्य विरचित चूर्णिसूत्र, वृत्ति रूप से कहे गये हैं। इससे यह अनुमान किया जाता है कि परिकर्म व्याख्यान, वृत्तिरूप था।

वृत्ति का स्वरूप :-

"वृतु वर्तने" इस धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर वृत्ति शब्द निष्पन्न होता है। "मेदिनी" शब्दकोष में "वर्तने स्थितौ विवरणे" वर्तन, स्थिति और विवरण इन तीन अर्थों में वृत्ति शब्द

---

१. "अथ सूत्रावतारः" समयसार आत्मख्याति, गा. १, उत्थानिका

२. "रूवाहियाणि त्ति परियम्मसुत्तेण सह विरूज्झइ", षट्खण्डागम पु. १, प्रस्तावना पृ. ४२

३. सो वित्ति सुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ। जय धवला, मंगलाचरण, गा.सं. ८ टीका।

४. सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्त सद्दरयणाए। संगहिय सुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्त ववएसादो॥
कसायपाहुड सुत्तवित्ति पु. २, भा.२, प्रकरण सं. २९, पृ.सं. १४, पंक्ति सं. ६

कहा है । "वैजयन्ती" कोष के अनुसार ग्रन्थ और जीवन अर्थ में वृत्ति शब्द कहा गया है। "अभिधान राजेन्द्र" कोष में वृत्ति रूप जीविका, चित्त वृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त है ।[१] अर्थात् ग्रन्थ, वृत्ति का पर्यायवाचक है ।

"शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखी वृत्तिं सपत्नीजने "[२]

इसमें लोक जीवन अर्थ और शिक्षा में वृत्ति शब्द प्रयुक्त किया है । *"शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां । यौवने विषयैषिणां वार्धक्ये मुनि वृत्तीनां योगेनान्त्ये तनुत्यजाम् "* । बाल अवस्था में विद्याओं का अभ्यास करने वाले, यौवन अवस्था में विषयों की इच्छा करने वाले और वृद्धावस्था में मुनि के आचरण करने वालों को अन्तिम समय में योग से शरीर को छोड़ना चाहिए । इसमें "आचरण" के अर्थ में वृत्ति शब्द का प्रयोग दिखाई देता है । [३] नाट्यशास्त्र में कैशिकी, सात्वती, आरभटी, भारती – ये चार वृत्तियाँ लिखी गई हैं ।[४] जिस प्रकार जीवन के सारभूत अर्थ में, वृत्ति शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार ग्रन्थ में सारभूत वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है । इस प्रकार विविध अर्थों में प्रयुक्त भी वृत्ति शब्द यहाँ पर सूत्रार्थ विवरण रूप अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।

सामान्य रूप से लोग टीका को ही वृत्ति कहते हैं । अनेक शब्द कोषों में, वृत्तिशब्द, टीका शब्द का पर्याय वाचक लिखा है । परन्तु इन दोनों में अन्तर है, वह आगे दिखायेंगे ।

वृत्ति, टीका, पद्धति, पंजिका आदि में परस्पर अन्तर :-

शब्द भेद है तो अर्थ भेद अवश्य होना चाहिए । शब्दभेद में अर्थभेद निश्चित है । [५] ऊपरलिखित शब्दों का सामान्य रूप से व्याख्यान अर्थ प्रतिभासित होता है, परन्तु उनमें कुछ अर्थ भिन्नत्व है, वह इस प्रकार है:

---

१. विजयराजेन्द्र सूरीश्वर, अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. ६, पृ.सं. ११९२
रतलाम प्रकाशन, १९३४

२. महाकविकालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, अंक ४, श्लो.सं.१८, जयपुर, सन् १९९१

३. महाकवि कालीदासकृत : रघुवंश, सर्ग १, श्लोक सं. ८

४. श्रङ्गारे कैशिकीवीरे सात्वत्यारभटी पुनः । रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥
चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मातृकाः । वी.एस. आप्टेकर, संस्कृत - आंग्लशब्द कोष से, पृ.सं. १४९१ । स उद्धृत, परिवर्धित संस्करण, पुनर्मुद्रित, पूना सन् १९७९.

५. जिनेन्द्र वर्णी, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष, भा. १, पृ.सं. १३२, द्वितीय संस्करण, सन् १९८५

१. वृत्ति :-

सूत्र अर्थ प्रधान ग्रन्थ वृत्ति है। [१] वृत्ति में सूत्रों का विवरण करने के लिए संक्षिप्त शब्द रचना में सम्पूर्ण अर्थों का ग्रहण करने का प्रयास किया जाता है। जहाँ सूत्रों का सार और अर्थ कहा जाता है, वह वृत्ति है। [२] वृत्ति की व्याख्या शैली प्रौढ पांडित्यपूर्ण यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने वाली और परिष्कार युक्त होती है। उदाहरणार्थ:- पाणिनी सूत्रों के ऊपर उपलब्ध 'काशिका' वृत्ति। वृत्ति के लिए प्राकृत में "वित्ति" शब्द का प्रयोग किया जाता है।[३]

"वित्ति सूत्रविवरणे" ऐसा विशेष आवश्यक बृहद् वृत्ति में भी बताया है।

२. टीका :-

वृत्ति सूत्रों के विवरण को टीका कहते हैं। [४] जिसमें वृत्ति, सूत्र, पद्धति आदि में प्रतिपादित विषयों का उल्लेख होता है, वह टीका कही जाती है। [५] *"टीक्यते गम्यते ग्रन्थोऽनया सा टीका इति टीका शब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थ।"* जिसके द्वारा ग्रन्थ जाना जाता है, वह टीका है। इस प्रकार टीका शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है। जिस प्रकार षट्खंडागम के पाँच खंडों के ऊपर वीरसेन आचार्य ने टीका रची हैं, उसी प्रकार कषाय प्राभृत के ऊपर 'जय धवला' नामक टीका प्रसिद्ध है। कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा विरचित तीन प्राभृतों के ऊपर अमृतचन्द्र आचार्य ने समय व्याख्या, तत्त्वप्रदीपिका और आत्मख्याति नामक टीकायें रची हैं।

३. पंजिका :-

वृत्ति सूत्र के अन्तर्गत विषम पदों का जहां पर भंजन अर्थात् विश्लेषण किया जाता है, उसे पंजिका कहते हैं। [६] पंजिका, वह निरन्तर व्याख्या है, जो प्रत्येक शब्द का विश्लेषण करके उसकी व्याख्या प्रस्तुत करती है। [७] "शेषाः पद्धतिपञ्जिकाः" ऐसा 'जयधवला' की अंतिम

---

१. हरिदत्तकृत पदमञ्जरी

२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्यिकी भूमिका, पृ.सं. २१

३. छंदं वित्ती णिरुत्तं सुमियणं सत्थ सडणं जाणं।
उद्योतन सूरि, कुवलयमाला, पृ.सं. २२, पंक्ति सं. २, सिंघी जैन ग्रन्थालय मुंबई, सन् १९५९

४. वित्तिसुत्त विवरणाए टीका ववएसादो | जयधवला, पु.२/१, २२/२९

५. आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ.सं. २१

६. "वित्ति सुत्त विसमपय भंजियाए पंजिय ववएसादो | कसायपाहुड पु.२, पृ. सं. १४

७. टीका निरन्तर व्याख्या पञ्जिका पदनक्तिका |
दि प्रॅक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी जिल्द २, पृ.सं. ९५२

प्रशस्ति में कहा है। इससे धवला, जयधवला के ऊपर अनेक पंजिकाऐं लिखी थीं, ऐसा अनुमान किया जाता है। धवला गत षट्खण्डागम के सत्कर्म नामक अन्तिम खण्ड के ऊपर एक पंजिका उपलब्ध होती है। उसका नाम 'सत्कर्म पंजिका' है। यह पंजिका मूडबिद्री गाँव के सिद्धान्त वसति देवालय के शास्त्र भंडार से उपलब्ध होती है। उसमें महाबन्ध के ताडपत्रीय प्रति के प्रारम्भ में सत्ताईस पत्रात्मक यह सत्कर्म पंजिका है। यह पंजिका सत्कर्म के अन्तर्गत अठारह अनुयोग द्वारों में से प्रथम चार अनुयोग द्वारों के ऊपर लिखी हैं। पंजिका रूप विवरण में सम्पूर्ण ग्रन्थ का व्याख्यान नहीं होता, परन्तु उसके कठिन और गम्भीर स्थलों का ही स्पष्टीकरण होता है। उसके अनुसार पंजिकाकार ने वीरसेन स्वामी कृत सत्कर्म वाक्यों को लेकर स्पष्टीकरण किया है। यह पंजिका धवला टीका के समान प्राकृत भाषा में गद्य रूप से निबद्ध है। यह पंजिका किसने और कब रची है, इस विषय में आज भी ज्ञात नहीं है। वीरसेन स्वामी के पश्चात् यह रची गई है, यह निश्चित है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार ग्रन्थ के ऊपर गिरिकीर्ति के द्वारा रची गई एक पंजिका प्राप्त होती है। पंजिका की भाषा प्राकृत संस्कृत मिश्रित है। इसमें गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड ग्रन्थ के गाथागत विशिष्ट शब्दों का और विषम पदों का अर्थ व्यक्त किया है। कहीं कहीं पर संक्षिप्त व्याख्या भी की है।

४. पद्धति :-

सूत्रों और उनकी वृत्तियों का विवरण पद्धति कही जाती है।[१] सूत्र और वृत्ति का परीक्षण पद्धति कही जाती है। शामकुण्ड आचार्य ने कषाय प्राभृत सूत्रों की चूर्णि सूत्रों के ऊपर पद्धति लिखी है। जयधवला की अन्तिम प्रशस्ति के कषायपाहुड विषयक साहित्य का विभाग बताया है, वह इस प्रकार है : -

गाथा सूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्रं च वार्तिकम्।
टीका श्री वीरसेनीया शेषाः पद्धतिपञ्जिकाः॥[२]

५. वृत्ति रचनाओं की परम्परा :-

यह पहले ही बताया है कि वृत्ति रचना का सम्बन्ध सूत्रों से है। सूत्रों के रहस्य को उद्घाटित करने के लिए वृत्ति रचना का प्रारम्भ हुआ। भगवान तीर्थंकर महावीर के पश्चात् प्रायः छह सौ वर्ष तक सूत्र और आगमों की परम्परा मौखिक रूप से प्रचलित थी। दिगम्बर जैन

---

१. सुत्तविवित्ति विवरणाए पद्धईववएसादो | कसायपाहुड भा. २, पृ.सं. १४

२. जय धवला अंतिम प्रशस्ति, श्लो.सं.२९

आम्नाय अनुसार गुणधर आचार्य पाँचवी ज्ञान प्रवाद के दसवीं वस्तु के तृतीय "पेज्ज दोस पाहुड" के पारगामी विद्वान थे। इसके अतिरिक्त महाकर्म प्रकृति पाहुड के भी कुशल विद्वान थे। वे उपलब्ध बारहवें अंगश्रुत के सूत्र रचना के सर्वप्रथम सूत्रकार के रूप में स्मरणीय हैं।[१] प्रथमसूत्र स्कंध की उत्पत्ति आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि के द्वारा विरचित षट्खण्डागम से मानी जाती है। और द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति आचार्य गुणधर रचित तृतीय प्राभृत से मानी जाती है। आचार्य गुणधर के द्वारा रचा गया २३३ गाथा प्रमाण "पेज्जदोसपाहुड" आर्य मंक्षु और नागहस्ति को मौखिक गाथा सूत्र के रूप में प्राप्त हुआ।[२] वास्तव में यह परम्परा श्रुतकेवली प्रथम भद्रबाहु से गुणधर आचार्य ने प्राप्त की। श्रुतकेवली भद्रबाहु का समय ई. सन् पूर्व ३९० से ३६१ कहा गया है। [३] जिनश्रुत, जिनागम की अखण्ड परम्परा का अविच्छिन्न प्रवाह आज तक प्रवाहित हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने भी सम्भवतया इसी कारण से श्रुतकेवली भद्रबाहु का सादर स्मरण गमक गुरु रूप से किया है।[४] 'वित्थरण' शब्द से अंग पूर्वांगों की सूत्रवृत्ति का संकेत प्राप्त होता है। परन्तु अनुपलब्ध होने से कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार गुणधर आचार्य और कुन्दकुन्द आचार्य की प्रसिद्धि गाथा सूत्रकार रूप से विश्रुत है। आचार्य गुणधर का समय विक्रम पूर्व प्रथम शतक अर्थात् ई. सन् पूर्व ११८ कहा जाता है।[५]

वृत्ति ग्रन्थों का रचना काल :-

पहले ही यह प्राय: विदित है कि अत्यन्त प्राचीन काल में सम्पूर्ण साहित्य सर्व प्रथम सूत्र रूपों में निबद्ध था। उस युग में लेखन कार्य का कुछ भी साधन नहीं था, अतः उसे लिपिबद्ध नहीं किया। मौखिक रूप से ही प्रचलित था। सूत्र भी गाथा में निहित सरलतया स्मृति पटल

---

१. डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, वारसाणुवेक्खा (सं.) प्रस्तावना पृ.४, जयपुर, सन् १९९१

२. गुणहरवयणविणिग्गयगाहाणत्थो वहारियो सव्वो।
जेणज्जमंखुणा सो सणागहत्थी वरं देऊ|
जयधवला भा-१, मंगलाचरण, श्लो.सं.७, पृ.सं. ४.

३. जैन सिद्धान्त भास्कर, भा. १, किरण ४, पृ.सं. ७१-७४,

४. बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहु गमय गुरु भगवओ जयउ॥ बोधपाहुड, गाथा ६२.

५. देखें - पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री - कसायपाहुड सुत्तं, प्रस्तावना पृ.सं. ५८, कलकत्ता.

में धारण करने में समर्थ थे। सूत्र रचना के दीर्घकाल के पश्चात् उनके विवरण की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। कालक्रम से धारणशक्ति मंद होने पर टीका ग्रन्थों की रचना हुई। सामान्य रूप से वृत्ति, सूत्रवृत्ति, पद्धति, टीका, पंजिका इत्यादि शब्द भाव को अभिव्यक्त करने वाली रचना विशेष के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। जन सामान्य उन सबकों टीका रूप से जानते हैं।

गुणधर आचार्य के द्वारा विरचित कषाय पाहुड सूत्र के ऊपर सर्वप्रथम चूर्णिसूत्रों की रचना हुई। उसके पश्चात् उनका आश्रय करके कषाय पाहुड की वृत्तियां लिखी गई।[१] कषाय पाहुड के ऊपर यतिवृषभ आचार्य ने ६००० (छह हजार) प्रमाण चूर्णि सूत्रों की रचना की। यति वृषभ आचार्य से चूर्णिसूत्रों का अध्ययन करके उच्चारणाचार्य ने १२००० (बारह हजार) प्रमाण उच्चारणा सूत्र (उच्चारणा वृत्ति) रचे हैं। उच्चारणाचार्य की उच्चारणा वृत्ति का उल्लेख जयधवला टीका में बहुत बार प्राप्त होता है। वह वृत्ति अति विस्तृत थी, ऐसा प्रतीत होता है। चूर्णिसूत्रकार ने निर्देश मात्र किये हुए और छोडे हुए विषय का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन इस वृत्ति में था। ऐसा प्रतीत होता है। जयधवलाकार ने इस प्रकार के विषयों के वर्णन में और प्राय: अनुयोग द्वार के व्याख्यान में उच्चारणा वृत्ति का प्रयोग किया है। उसी प्रकार उपयोग के कारणों का भी स्पष्ट निर्देश किया है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि यह वृत्ति उनके सम्मुख विद्यमान थी। उच्चारणाचार्य ने रची हुई होने से, ग्रन्थकार के नाम से उनकी वृत्ति का भी "उच्चारणा वृत्ति" ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ।[२] चूर्णिसूत्र और उच्चारणा वृत्ति मूल कषाय प्राभृत के अविभाज्य अंग हैं। अतः इन तीनों की भी "कषाय प्राभृत" यह संज्ञा प्रचलित हुई। कषाय प्राभृत का उपसंहार इनमें कहा जाता है।[३] शामकुण्ड आचार्य कृत टीका का उल्लेख इंद्रनन्दि ने किया है। ये टीका छठे खण्ड को छोड़कर पहले पाँच खण्डों के और द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थों के ऊपर रची गई हैं।

यह टीका पद्धति रूप थी। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि आचार्य शामकुन्ड के सम्मुख कुछ वृत्तिसूत्र विद्यमान थे, इसकी उन्होंने पद्धति लिखी है। षट्खण्डागम के ऊपर परिकर्म नामक वृत्ति रूप ग्रन्थ विद्यमान था। इसलिए शामकुन्ड आचार्य ने उसके ऊपर, उसी प्रकार कषाय प्राभृत की वृत्ति के ऊपर पद्धति रची है।[४] कर्नाटक भाषा में कुछ सिद्धान्त ग्रन्थों के

---

१. कसाय पाहुड पु.१ प्रस्तावना पृष्ठ सं. ६५, द्वितीय संस्करण, मथुरा, सन् १९७४

२. कसाय पाहुड पु. १, प्रस्तावना, पृ.सं. ९-१०

३. गाथाचूर्ण्युच्चारणसूत्रे संहृतं कषायाख्या।
प्राभृतमेवं गुणधरयतिवृषभोच्चारणाचार्यै : ॥ श्लोक १५१, श्रुतावतार १

४. कसाय पाहुड पु.१, प्रस्तावना पृ. सं. ११

ऊपर टीका रचने वाले टीकाकारों ने टीका के स्थान में व्याख्यान शब्द का प्रयोग किया है। वह वृत्ति का वाचक प्रतीत होता है।

यद्यपि श्वेताम्बर मतानुसार ८४ आगम कहे जाते हैं। उनमें ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल सूत्र, २ चूलिका सूत्र, ६ छेद सूत्र, ११ निरुक्तियां, विशेष आवश्यक भाष्य आदि सम्मिलित हैं। [१] इनके अधिकतर सूत्र ग्रन्थ हैं। पाँचवी, छठी शताब्दी से पूर्ववर्ती वृत्तिग्रन्थों की रचना प्राप्त नहीं होती।

दिगम्बर परम्परा में सूत्र शैली में लिपिबद्ध "तत्त्वार्थ सूत्र" के ऊपर अनेक वृत्तियां, भाष्य, टीका ग्रन्थ लिखे हुए प्राप्त होते हैं। वर्तमान समय में उपलब्ध "सर्वार्थसिद्धि" नाम की वृत्ति "तत्त्वार्थ सूत्र" नामक ग्रन्थ के ऊपर लिखी गई सबसे पहली वृत्ति है। यह स्वनामधन्य आचार्य पूज्यपाद की अमर कृति है। प्रत्येक सूत्र के समस्त पदों का परिमित शब्दों से सांगोपांग व्याख्यान सर्वार्थसिद्धि वृत्ति का वैशिष्ट्य है। यदि किसी सूत्र के विविध पदों में लिंग भेद अथवा वचन भेद दिखाई देता है, तो उसका भी वहाँ स्पष्टीकरण किया है। [२]

श्वेताम्बरीय कर्म साहित्य में चन्द्रर्षि महत्तर कृत पंच संग्रह सटीक रचना छठी शताब्दी की रचना कही जाती है। परन्तु वह स्वोपज्ञ वृत्ति है।

व्याकरण जगत् में श्रीमद् वामन जयादित्य विरचित काशिका वृत्ति ई.सन् सातवीं शताब्दी की रचना सुप्रसिद्ध है। पाणिनीय सूत्राष्टक की उपलब्ध वृत्तियों में सबसे प्राचीनतम यह काशिका वृत्ति है। इस वृत्ति की प्रौढ प्रतिपादन शैली, प्रौढों के मन को भी आश्चर्यचकित करती है।[३] उसके विषय में लिखा है : -

"इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगुणा विवृतगूढसूत्रार्था।
व्युत्पन्नरूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम॥"

अष्टम शताब्दी से बारहवीं शताब्दी पर्यन्त व्याकरण साहित्य में वृत्ति का लेखन अनिवार्य था, क्योंकि सामान्य पाठक वृत्ति के बिना सूत्रों के रहस्य को जानने में असमर्थ थे। वृत्ति की रचना प्रायः दसवीं शताब्दी तक सिद्धान्त रूप से स्वीकृत थी। व्याकरण शास्त्र के

---

१. फतेहचंद बेलानी (सं.); जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार पृ. सं. ४, बनारस, सन् १९५०

२. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री, अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ.सं. ४४०, वाराणसी, सन् १९८५

३. श्रीमद्वामन जयादित्य, काशिकावृत्ति, पाणिनीयाष्टाध्यायी व्याख्या पृ.सं. १०-१२, सन् १९६५.

गंभीरतया अध्ययन करनेवाले विद्वानों का भी यही अभिमत है। वैय्याकरण हेमचन्द्र से (१२वीं शताब्दी) पहले ही व्याकरण सम्प्रदाय में पाँच सिद्धान्तीय पाठों का समावेश था। वह इस प्रकार है : सूत्रपाठ, धातु पाठ, वृत्ति (गणपाठ सहित) उणादि और लिंगानुशासन | शाकटायन व्याकरण में आचार्य शाकटायन ने अपने ग्रन्थ के अंगभूत रचना अमोघ वृत्ति में सूत्रों का विवरण किया है। सत्रहवीं शताब्दी के कर्नाटक के विशेष विद्वान चिदानन्द कवि ने "मुनि वंशाभ्युदय" काव्य में शाकटायन मुनि से रचित अठारह हजार (१८०००) श्लोक प्रमाण व्याकरण ग्रन्थ का विश्व की अप्रतिम रचना रूप से वर्णन किया है। [१]

ग्यारहवीं शताब्दी में अभयनन्दी मुनि ने जैनेन्द्र शब्दानुशासन के ऊपर महावृत्ति रची थी। उन्होंने महावृत्ति के प्रारम्भिक श्लोक में पूर्ववर्ती प्राचीन वृत्तियों के सद्भाव का संकेत दिया है। वह इस प्रकार है :-

"यस्य दुरासदशब्दलक्षणस्य व्याख्यानमन्यैर्दरिद्रैर्न स्पष्टीकृतं तत्समस्तं शब्द लक्षणमभयनन्दिमुनिना सकलजनहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तिक्रियते इति" जिस दुरासद लक्षण के शब्द का व्याख्यान अन्य दरिद्रों ने स्पष्ट नहीं किया, उस समस्त शब्द लक्षण का अभयनन्दी मुनि ने सर्व लोगों के हृदय को प्रिय चारु वाक्यों से व्यक्त किया है। इससे जाना जाता है कि अभयनन्दी के पूर्व शब्दानुशासन के ऊपर अनेक वृत्तियाँ लिखी गई, परन्तु उनमें सूत्रों की सम्पूर्ण व्याख्या प्राप्त नहीं होती। ये वृत्तियां लघु वृत्तियां रूप से थीं। यह तथ्य "दरिद्र" इस पद से जाना जाता है। [२]

इस प्रकार प्राचीन काल से सिद्धान्त, अध्यात्म, व्याकरण ग्रन्थों के ऊपर वृत्ति ग्रन्थों की रचना की परम्परा दृष्टिगोचर होती है। उनमें से कुछ वृत्तियों का कालक्रम के अनुसार यहाँ उल्लेख किया जाता है। वह इस प्रकार है : -

---

१. प्रो. डॉ. आर. बिरवे, जर्मनी: शाकटायन व्याकरण परिचय, पृ.सं. ८२. उद्धृत सम्पादक : पं. शम्भुनाथ त्रिपाठी, शाकटायन व्याकरण, भारतीय ज्ञानपीठ, सन् १९७१

२. यच्छब्दलक्षणमसुब्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः।
तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम्॥
अभयनन्दिमुनिः जैनेन्द्र महावृत्ति, श्लोक सं.२, प्रस्तावना - श्री युधिष्ठिर मीमांसक, प्रथम संस्करण, सन् १९५६

दिगम्बरीय वृत्तियों की कालक्रम अनुसार सूची

क्र.सं.	वृत्ति	वृत्तिकार	रचना समय
१	सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थ सूत्र वृत्ति)	आचार्य पूज्यपाद	पञ्चम शताब्दी
२	चूर्णिसूत्र वृत्ति	यतिवृषभ आचार्य	वि.सं. ५५०-६५०, षष्ठ शताब्दी
३	लघीयस्त्रय स्वोपज्ञ विवृत्ति	अकलङ्काचार्य	ई. सप्तम शताब्दी
४	अष्टशती	अकलङ्काचार्य	ई. सप्तम शताब्दी
५	न्याय विनिश्चय सवृत्ति	अकलङ्काचार्य	वि. सप्तम शताब्दी
६	प्रमाण सङ्ग्रह - स्वोपज्ञवृत्ति	अकलङ्काचार्य	वि. सप्तम शताब्दी
७	सन्मति सूत्र वृत्ति	आचार्य सुमति	विक्रम अष्टम शताब्दी
८	लघीयस्त्रय तात्पर्यवृत्ति	अभयचन्द्र सूरि	नवम शताब्दी
९	पंचसंग्रह प्राकृतवृत्ति	पद्मनन्दि मुनि	विक्रम दशम शताब्दी पूर्व
१०	जैनेन्द्र महावृत्ति	अभयनन्दि	वि.सं. १०००-१०५०
११	शब्दार्णव चन्द्रिका जैनेन्द्र लघुवृत्ति	श्री सोमदेव सूरि	एकादश शताब्दी
१२	तत्त्वार्थवृत्ति	प्रभाचन्द्र आचार्य	एकादश शताब्दी
१३	गोम्मटसार वीर मार्तंड कर्नाटक वृत्ति	चामुण्डराय	एकादश शताब्दी
१४	त्रिलोकसार वृत्ति	माधवचन्द्र त्रैविद्य	एकादश शताब्दी
१५	न्याय विनिश्चय विवरणम्	श्रीवादिराज सूरि	एकादश शताब्दी
१६	देवागम वृत्ति	वसुनन्द्याचार्य	एकादश शताब्दी
१७	मूलाचार वृत्ति	वसुनन्दि आचार्य	एकादश शताब्दी
१८	स्तुति विद्यावृत्ति	वसुनन्दि आचार्य	एकादश शताब्दी
१९	प्रतिष्ठासार सङ्ग्रहवृत्ति	वसुनन्दि आचार्य	एकादश शताब्दी

क्र.सं.	वृत्ति	वृत्तिकार	रचना समय
२०	पञ्चास्तिकाय - तात्पर्यवृत्ति	जयसेन आचार्य	ई. बारहवीं शताब्दी
२१	प्रवचनसार - तात्पर्यवृत्ति	जयसेन आचार्य	ई. बारहवीं शताब्दी
२२	समयसार - तात्पर्यवृत्ति	जयसेन आचार्य	ई. बारहवीं शताब्दी
२३	नियमसार - तात्पर्यवृत्ति	श्री पद्मप्रभमलधारिदेव	ई. बारहवीं शताब्दी
२४	परमात्म प्रकाश वृत्ति	ब्रह्मदेव सूरि	द्वादश-त्रयोदश शताब्दी
२५	बृहद् द्रव्य सङ्ग्रह वृत्ति	ब्रह्मदेव सूरि	द्वादश-त्रयोदश शताब्दी
२६	परीक्षामुख लघुवृत्ति (प्रमेय रत्नमाला)	लघु अनन्तवीर्य	ई. १२ वी शताब्दी
२७	द्रव्यसंग्रह वृत्ति	प्रभाचन्द्र आचार्य	ई. बारहवी शताब्दी
२८	प्रवचन सरोज भास्कर	प्रभाचन्द्र आचार्य	ई. बारहवी शताब्दी
२९	पञ्चास्तिकाय वृत्ति	प्रभाचन्द्र आचार्य	ई. बारहवी शताब्दी
३०	समयसार तात्पर्यवृत्ति	प्रभाचन्द्र आचार्य	ई. बारहवी शताब्दी
३१	पञ्चास्तिकाय – तात्पर्यवृत्ति (कन्नड)	अध्यात्मी बालचन्द्र	ई. १२-१३ वीं. शताब्दी
३२	प्रवचनसार – तात्पर्यवृत्ति (कन्नड)	अध्यात्मी बालचन्द्र	ई. १२-१३ वीं. शताब्दी
३३	समयसार - तात्पर्यवृत्ति (कन्नड)	अध्यात्मी बालचन्द्र	ई. १२-१३ वीं. शताब्दी
३४	परमात्मप्रकाश – तात्पर्यवृत्ति (कन्नड)	अध्यात्मी बालचन्द्र	ई. १२-१३ वीं. शताब्दी
३५	बृहद् द्रव्य सङ्ग्रह - तात्पर्यवृत्ति (कन्नड)	अध्यात्मी बालचन्द्र	ई. १२-१३ वीं. शताब्दी
३६	शब्द चन्द्रिका वृत्ति	मुनि सोमदेव	वि. त्रयोदश शताब्दी
३७	अष्ट सहस्त्री – विषमपद	लघुसमन्तभद्र	वि. त्रयोदश शताब्दी

क्र.सं.	वृत्ति	वृत्तिकार	रचना समय
	तात्पर्यवृत्ति		
३८	प्राकृत शब्दानुशासन स्वोपज्ञ वृत्ति सहित	त्रिविक्रम देव	वि. त्रयोदश शताब्दी
३९	स्याद्वाद भूषण (लघीयस्त्रय - तात्पर्यवृत्ति)	अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती	वि. चौदहवी शताब्दी
४०	गोम्मटसार जीवतत्त्व प्रदीपिका, कर्नाटक वृत्ति	केशव वर्णी	वि. चौदहवी शताब्दी
४१	गोम्मटसार कर्मकाण्ड, कर्नाटक वृत्ति	केशव वर्णी	वि. चौदहवी शताब्दी
४२	गोम्मटसार मन्द प्रबोधिका (अपूर्ण)	अभयचन्द्र त्रैविद्य	वि. चौदहवी शताब्दी
४३	लब्धिसार वृत्ति	अज्ञात	वि. चौदहवी शताब्दी
४४	सहस्रनाम स्वोपज्ञ विवृत्ति सहित	पं. प्रवर आशाधर	वि. १३-१४ वी शताब्दी
४५	तत्त्वार्थ सुखबोध वृत्ति	भास्करनंदि आचार्य	वि. चौदहवी शताब्दी
४६	तत्त्वार्थ वृत्ति	श्रुतसागर	वि.सं. १५५०
४७	गोम्मटसार जीवकाण्ड संस्कृत वृत्ति	नेमिचन्द्र आचार्य	वि. षोडश शताब्दी
४८	गोम्मटसार कर्मकाण्ड संस्कृत वृत्ति	नेमिचन्द्र आचार्य	वि. षोडश शताब्दी
४९	तत्त्वज्ञान तरंगिनी स्वोपज्ञ वृत्ति	भट्टारक ज्ञान भूषण	वि.सं. १५६०
५०	स्वरूप संबोधन वृत्ति	भट्टारक शुभचन्द्र	वि.सं. १६१३
५१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा वृत्ति	भट्टारक शुभचन्द्र	वि.सं. १६१३

श्वेताम्बरीय वृत्तियों की कालक्रम अनुसार सूची

क्र.सं.	वृत्ति	वृत्तिकार	रचना समय
१	पञ्चसङ्ग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, सप्ततिका प्राकृत वृत्ति	चन्द्रर्षिमहत्तर	वि. षष्ठ शताब्दी
२	विशेषावश्यक भाष्य - स्वोपज्ञवृत्ति	जिनभद्रक्षमाश्रमण	वि. सप्तम शताब्दी
३	विशेषावश्यक भाष्य विवरण	कोट्याचार्य	वि. सप्तम शताब्दी
४	अनुयोगद्वार वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
५	नन्दी लघु वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
६	ओघनिर्युक्ति वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
७	आवश्यक वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
८	जीवाभिगम लघु वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
९	तत्त्वार्थसूत्र लघु वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
१०	दश वैकालिक लघु वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
११	पिण्ड निर्युक्ति वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
१२	न्यायावतार वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
१३	लोक बिन्दु क्षेत्र समास वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
१४	कर्मस्तव वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
१५	चैत्यवन्दन वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
१६	ध्यानशतक वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
१७	प्रज्ञप्ति वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
१८	सङ्ग्रहणी वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि. अष्टम शताब्दी
१९	शब्दानुशासन – स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति	शाकटायन	वि. नवम शताब्दी
२०	न्यायावतार विवृत्ति	सिद्धर्षिगणी	वि. दशम शताब्दी
२१	धर्मोपदेश माला वृत्ति	जयसिंह सूरि	वि. दशम शताब्दी

क्र.सं.	वृत्ति	वृत्तिकार	रचना समय
२२	जीव समास वृत्ति	शीलाचार्य	वि. दशम शताब्दी
२३	उपदेश माला विवरण	सिद्धर्षि	वि. दशम शताब्दी
२४	प्रायश्चित्त चूलिका वृत्ति	श्रीनन्दी	एकादश शताब्दी
२५	नवपद लघु वृत्ति	जिनचन्द्र गणी	एकादश शताब्दी
२६	स्थानाङ्ग वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
२७	समवायाङ्ग वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
२८	व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
२९	ज्ञाता धर्म कथा वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
३०	उपासक दशाङ्ग वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
३१	अन्तकृद्दशा वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
३२	अनुत्तरौपपातिक दशा वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
३३	प्रश्न व्याकरण वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
३४	विपाक वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
३५	औपपातिक वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
३६	प्रज्ञापना वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
३७	पञ्चाशक वृत्ति	अभयदेव सूरि	वि. द्वादश शताब्दी ११२०
३८	चैत्य वन्दन वृत्ति	नमि साधु	वि. १२ वी शताब्दी ११२५-११२९
३९	धर्मोपदेश माला विवरण	नमि साधु	वि. १२ वी शताब्दी ११२५-११२९
४०	उत्तराध्ययन वृत्ति	नेमिचन्द्र सूरि	वि. १२ वी शताब्दी ११२५-११२९
४१	सङ्ग्रहणी वृत्ति	शालिभद्र सूरि	वि. १२ वी शताब्दी ११२५-११२९
४२	देवेन्द्र नरेन्द्र प्रकरण वृत्ति	मुनिचन्द्र सूरि	वि.सं. ११६८
४३	धर्म बिन्दु वृत्ति	मुनिचन्द्र सूरि	वि.सं. ११६८

क्र.सं.	वृत्ति	वृत्तिकार	रचना समय
४४	पिण्ड निर्युक्ति वृत्ति	वीरगणी	वि.सं. ११६८
४५	धर्मकरण्ड वृत्ति	वर्धमान आचार्य	वि.सं. ११६८
४६	न्यायावतार वार्तिक वृत्ति	शान्ति सूरि	वि. द्वादश शताब्दी
४७	वृन्दावन - घटखर्पर-मेघाभ्युदय शिवभद्र चन्द्रदूत काव्यों की वृत्ति	शान्ति सूरि	वि. द्वादश शताब्दी
४८	हेमशब्दानुशासन बृहद् वृत्ति - लघु वृत्ति	हेमचन्द्र	वि.सं. ११४५-१२२९
४९	नवपद प्रकरण वृत्ति (बृहद् वृत्ति)	यशोदेव सूरि	वि.सं. ११७४
५०	नवतत्त्व प्रकरण वृत्ति	यशोदेव सूरि	वि.सं. ११७४
५१	सूक्ष्मार्थ विचारसार वृत्ति	धनेश्वर सूरि	वि.सं. ११७१
५२	सार्द्ध शतक वृत्ति	धनेश्वर सूरि	वि.सं. ११७१
५३	विशेष आवश्यक भाष्य बृहद् वृत्ति	मलधारि हेमचन्द्र सूरि	वि. द्वादश शती
५४	अनुयोगद्वार वृत्ति	मलधारि हेमचन्द्र सूरि	वि. द्वादश शती
५५	जीवसमास वृत्ति	मलधारि हेमचन्द्र सूरि	वि. द्वादश शती
५६	शतक कर्मग्रंथ वृत्ति	मलधारि हेमचन्द्र सूरि	वि. द्वादश शती
५७	बन्ध स्वामित्व वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि.सं. ११७२-११८५
५८	षडशीति कर्मग्रन्थ वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि.सं. ११७२-११८५
५९	प्रशम रति वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि.सं. ११७२-११८५
६०	क्षेत्र समास वृत्ति	हरिभद्र सूरि	वि.सं. ११७२-११८५
६१	क्षेत्र समास वृत्ति	सिद्ध सूरि	वि.सं. ११९२
६२	सङ्ग्रहणी वृत्ति	देवभद्र सूरि	वि. १२ वीं. शताब्दी

क्र.सं.	वृत्ति	वृत्तिकार	रचना समय
६३	षडशीति वृत्ति	यशोभद्र सूरि	वि. १२ वीं. शताब्दी
६४	षडशीति वृत्ति - प्राकृत वृत्ति	रामदेव	वि. १२ वीं. शताब्दी
६५	आवश्यक बृहद् वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
६६	ओघ निर्युक्ति वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
६७	चन्द्र प्रज्ञप्ति वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
६८	जीवाभिगम वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
६९	ज्योतिष्करण्डक वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
७०	नन्दी वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
७१	पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
७२	प्रज्ञापना वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
७३	बृहत्कल्पपीठिका वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
७४	राजप्रश्नीय वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
७५	विशेषावश्यक वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
७६	व्यवहार सूत्रवृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
७७	क्षेत्र समासवृत्ति, सप्ततिका वृत्ति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वी शताब्दी
७८	षोडशाशीति वृत्ति - कर्म प्रकृति	मलयगिरी	वि. १२-१३ वीं. शताब्दी
७९	श्रावक प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति	श्रीचन्द्र सूरि	वि.सं. १२२२
८०	निशीथ चूर्णि दुर्ग पद व्याख्या	श्रीचन्द्र सूरि	वि.सं. ११७३
८१	निरयावलि वृत्ति	श्रीचन्द्र सूरि	वि.सं. १२२८
८२	चैत्य वन्दन सूत्र वृत्ति	श्रीचन्द्र सूरि	वि.सं. १२२८
८३	शीलभावना वृत्ति	कनक चन्द्र	वि.सं. १२१४
८४	द्रव्यालङ्कार स्वोपज्ञ वृत्ति	रामचन्द्र सूरि	वि. तेरहवी शताब्दी
८५	संघपट्टक बृहद् वृत्ति	जिनपति सूरि	वि. तेरहवी शताब्दी
८६	पाक्षिक सप्तति पर सुखप्रबोधिनी वृत्ति	महेश्वर सूरि	वि. तेरहवी शताब्दी
८७	प्रश्नोत्तर रत्नमाला वृत्ति	हेमप्रभ सूरि	वि. तेरहवी शताब्दी

क्र.सं.	वृत्ति	वृत्तिकार	रचना समय
८८	सिद्ध जयन्ति वृत्ति	मलयप्रभ	वि.सं. १२६०
८९	जीतकल्प वृत्ति	तिलकाचार्य	वि.सं. १२७४
९०	आवश्यक निर्युक्ति लघुवृत्ति	तिलकाचार्य	वि.सं. १२७४
९१	वन्दन प्रत्याख्यान लघुवृत्ति	तिलकाचार्य	वि.सं. १२७४
९२	श्रावक प्रतिक्रमण लघुवृत्ति	तिलकाचार्य	वि.सं. १२७४
९३	षट्स्थानक वृत्ति	जिनपाल	वि.सं. १२६२
९४	कर्मस्तव वृत्ति	गोविन्दाचार्य	वि.सं. १२८८
९५	स्वप्न सप्ततिका वृत्ति	सर्वदेव	वि. तेरहवी शताब्दी
९६	मनः स्थिरीकरण प्रकरण वृत्ति	महेन्द्र सूरि	वि.सं. १२८४
९७	गणधर सार्ध शती बृहत् वृत्ति	सुमतिगणि	वि.सं. १२९४
९८	योगरत्नमाला वृत्ति	गुणाकर सूरि	वि.सं. १२९९
९९	हितोपदेश माला वृत्ति	परमानन्द सूरि	वि.सं. १३०४
१००	कर्म विपाक वृत्ति	परमानन्द सूरि	वि.सं. १३०४
१०१	द्वयाश्रय वृत्ति (प्राकृत)	जिनेश्वर सूरि	वि.सं. १३०७
१०२	श्रावक धर्म विधि बृहद्वृत्ति युक्त	जिनेश्वर सूरि	वि.सं. १३०७
१०३	श्रावक दिन कृत्य सवृत्ति	देवेन्द्र सूरि	वि. चतुर्दश शताब्दी
१०४	पाचनव्य कर्म ग्रन्थ सटीक	देवेन्द्र सूरि	वि. १४ वी शताब्दी
१०५	न्यायालंकार वृत्ति	अभय तिलक	वि. १४ वी शताब्दी
१०६	द्वयाश्रय वृत्ति	अभय तिलक	वि. १४ वी शताब्दी
१०७	सन्देह दोलावलि बृहद् वृत्ति	प्रबोध चन्द्र गणी	वि.सं. १३२९
१०८	धर्मोपदेश माला वृत्ति	मुनिदेव सूरि	वि. १४ वी शताब्दी
१०९	गणित तिलक वृत्ति	मुनिदेव सूरि	वि. १४ वी शताब्दी
११०	भुवन दीपक वृत्ति	मुनिदेव सूरि	वि. १४ वी शताब्दी
१११	बृहत्कल्पसूत्र विवृत्ति	क्षेमकीर्ति	वि. १४ वी शताब्दी
११२	विषय निग्रह कुलक वृत्ति	भालचन्द्र	वि. १४ वी शताब्दी
११३	साधु प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति	जिनप्रभ सूरि	वि.सं. १३६४

क्र.सं.	वृत्ति	वृत्तिकार	रचना समय
११४	अजित शान्ति स्तवन वृत्ति	जिनप्रभ सूरि	वि. १४ वी शताब्दी
११५	उपसर्गहर स्तोत्र वृत्ति	जिनप्रभ सूरि	वि. १४ वी शताब्दी
११६	भयहर स्तोत्रवृत्ति	जिनप्रभ सूरि	वि. १४ वी शताब्दी
११७	सोमप्रभकृताष्टाविंशति स्तुत्युपरिवृत्ति	सोमतिलक	वि. १४ वी शताब्दी
११८	चैत्य वन्दनकुलक वृत्ति	जिनकुशल सूरि	वि. १४ वी शताब्दी
११९	आतुर प्रत्याख्यानवृत्ति	भुवनतुंग सूरि	वि. १४ वी शताब्दी
१२०	चतुःशरण वृत्ति	भुवनतुंग सूरि	वि. १४ वी शताब्दी
१२१	छन्दोनुशासन वृत्ति स्वोपज्ञ	कविभाग्भट	वि. १४ वी शताब्दी
१२२	काव्यानुशासन स्वोपज्ञवृत्ति युक्त	वाग्भट	वि. १४ वी शताब्दी
१२३	कातन्त्र वृत्ति	सोमकीर्ति	वि.सं. १४११
१२४	भक्तामर स्तोत्र वृत्ति	गुणाकर	वि.सं. १४२६
१२५	प्रश्नोत्तर रत्नमाला वृत्ति	रत्नशेखर	वि. १५ वी शताब्दी
१२६	कातन्त्र व्याकरण वृत्ति	मेरूतुंग	वि.सं. १४४४
१२७	उपदेश रत्नाकर वृत्ति	कुलमण्डन	वि. १५ वी शताब्दी
१२८	यतिजीत कल्पवृत्ति	साधु रत्न	वि.सं. १४५६
१२९	षडावश्यक वृत्ति	रत्नशेखर सूरि	वि. १५ वी शताब्दी
१३०	श्राद्ध प्रतिक्रमण वृत्ति	रत्नशेखर सूरि	वि. १५ वी शताब्दी
१३१	प्रबोधचन्द्रोदय वृत्ति	रत्नशेखर सूरि	वि. १५ वी शताब्दी
१३२	भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति	शुभ शील	वि. १५ वी शताब्दी
१३३	शत्रुञ्जय कल्पवृत्ति	शुभ शील	वि. १५ वी शताब्दी
१३४	उत्तराध्ययन लघु वृत्ति	तपोरत्न	वि. १६ वी शताब्दी
१३५	महावीर चरित्र वृत्ति	साधु सोम	वि. १६ वी शताब्दी
१३६	पुष्पमाला वृत्ति	साधु सोम	वि. १६ वी शताब्दी
१३७	नन्दीश्वर स्तवन वृत्ति	साधु सोम	वि. १६ वी शताब्दी

क्र.सं.	वृत्ति	वृत्तिकार	रचना समय
१३८	षडावश्यक वृत्ति	राजवल्लभ	वि.सं. १५३०
१३९	उत्तराध्ययन वृत्ति	कीर्तिवल्लभ गणी	वि.सं. १५५२
१४०	उत्तराध्ययन वृत्ति	विनय हंस	वि. १६ वी शताब्दी
१४१	दश वैकालिक वृत्ति	विनय हंस	वि. १६ वी शताब्दी
१४२	जीव विचार वृत्ति	उदयधर्म गणी	वि.सं. १६१०
१४३	वाग् भट्टालंकार वृत्ति	धर्मसागर उपाध्याय	वि.सं. १६२९
१४४	तत्त्व तरंगिणी वृत्ति	धर्मसागर उपाध्याय	वि.सं. १६२९
१४५	पर्यूषण शतक वृत्ति	धर्मसागर उपाध्याय	वि.सं. १६२९
१४६	सर्वज्ञ शतक वृत्ति सहित	धर्मसागर उपाध्याय	वि.सं. १६२९
१४७	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति	विजयदेव सूरि	वि. १७ वी शताब्दी
१४८	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति	पुण्य सागर	वि.सं. १६४५
१४९	प्रश्नोत्तर काव्य वृत्ति	पुण्य सागर	वि.सं. १६४५
१५०	कल्पलता वृत्ति	समय सुन्दर	वि.सं. १६११
१५१	दशवैकालिक शब्दार्थ वृत्ति	समय सुन्दर	वि.सं. १६११
१५२	जीव विचार नव तत्त्व वृत्ति	समय सुन्दर	वि.सं.१६९८
१५३	रघुवंश वृत्ति	समय सुन्दर	वि.सं. १६११
१५४	वृत्तरत्नाकर वृत्ति	समय सुन्दर	वि.सं. १६१४

पञ्चास्तिकाय संग्रह की तात्पर्यवृत्ति का परिचय

आधार ग्रन्थ :-

पञ्चास्तिकाय संग्रह नामक ग्रन्थ श्रीमद् आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्राकृत भाषा में रचा है। पञ्चास्तिकायसंग्रह की तात्पर्यवृत्ति में जयसेन आचार्य ने ग्रन्थकर्ता का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है :-

"श्री मत्कुन्दकुन्ददेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयै.... विरचिते पञ्चास्तिकाय प्राभृतशास्त्र"[१] अतः ग्रन्थकर्ता के विषय में किसी का विसंवाद नही है। सनातन जैन सम्प्रदाय में भगवान कुन्दकुन्द आचार्य का स्थान अद्वितीय है। कुन्दकुन्द आचार्य ने त्रिलोकाधिपति सर्वज्ञ के मुखकमल से प्रवाहित श्रुत सुधा सरोवर से भरे हुए अमृतपात्र आज भी रसास्वादन के समर्पण से आत्मार्थियों को आत्म जीवन देते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने चौरासी पाहुड ग्रन्थ रचे हैं। परन्तु अभी पन्द्रह ही उपलब्ध हैं। उनमें यह पञ्चास्तिकायसंग्रह नामक एक है।

कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा प्रणीत यह पञ्चास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ, जिन सिद्धान्त और अध्यात्म का प्रवेश द्वार है। "यदि समयसार ग्रन्थाधिराज जिन अध्यात्म का उत्तुंग प्रासाद है, प्रवचनसार उसका विशाल आँगन है, अध्यात्म रस भरित नियमसार सुख सुविधा सम्पन्न शयन कक्ष है, यतियों का अनुशासक अष्ट प्राभृत चतुर्दिश सुरक्षित परकोटा है तो पञ्चास्ति-काय संग्रह उसका उन्नत प्रवेश द्वार है।[२]

जिस प्रकार जीव प्रवेश द्वार से प्रासाद में प्रवेश नहीं करेगा, तो उसके अन्तरंग सौन्दर्य को बिना देखे आनन्द का अनुभव नहीं कर सकेगा। उसी प्रकार, यदि जीव पञ्चास्तिकाय के अध्ययन के प्रवेशद्वार से समयसार प्रासाद में प्रवेश नहीं करेगा, तो अपने आत्मा के वैभव को न देखकर समयसार रूप निजात्मा के आनन्द का अनुभव नहीं करेगा। उपशम भाव के बिना धर्म प्रारम्भ का अभाव ही है। साधुपद के ग्रहण बिना पंच परमेष्ठी में समावेश नहीं होता। उसके समान पञ्चास्तिकाय के पठन के बिना वस्तु व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इसलिए प्रवचनसार, नियमसार और समयसार, इन तीनों ग्रन्थों के मर्म को जानने के लिए

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति प्रारम्भ - उत्थानिका

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, प्रस्तावना, मन्नुलालजैन पृ.सं. १७
भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, सन् २०००

पञ्चास्तिकायसंग्रह का गहन रूप से अवश्य अध्ययन करना चाहिए। इस ग्रन्थ में जिनागम वर्णित द्रव्य व्यवस्था का और पदार्थ व्यवस्था का संक्षेप व्याख्यान होने से यह ग्रन्थ सर्व प्रथम पठनीय है। इसमें काल सहित पंच अस्तिकाय, नवपदार्थ और मोक्षमार्ग का निरूपण है। पञ्चास्तिकायसंग्रह द्वितीय श्रुतस्कंध परम्परा के सर्वोत्कृष्ट आगमों में से एक आगम, अध्यात्म वेत्ताओं के मन को हरण करता है।

आत्मिक आनन्द के संशोधक और शान्ति के उपासकों के द्वारा और कुन्दकुन्द आचार्य परम योगी के द्वारा विरचित सभी ग्रन्थ पुनः पुनः पठनीय और मननीय हैं। उनके वचन भव्य जीवों को परम अनुपम तत्त्व ज्ञानामृत को पिलाते हैं। द्रव्यानुयोग आगमों का सार दिखाने के लिए ये ग्रन्थ दर्पण के समान प्रतिभासित होते हैं।[१]

नाम करण :-

ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'समयमिणं सुणहवोच्छामि' इसके द्वारा समय वर्णन की प्रतिज्ञा की है। परन्तु इसका नाम नहीं बताया है। परन्तु कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रथम अधिकार के द्विचरम गाथा सूत्र में और ग्रन्थ की अन्तिम गाथा में "पञ्चास्तिकाय संग्रह" ऐसा नाम स्वयं कहा है। वह इस प्रकार है:-

"एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ॥११०॥ (१०३)
मगप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थिय संगहं सुत्तं ॥१८१॥ (१७३)"

नाम दो प्रकार का है, १) अन्वर्थ २) इच्छानुसार (यथेच्छ) जैसा नाम वैसा अर्थ हो, तो वह अन्वर्थ है, जैसे:- जो तपता है वह तपन (सूर्य) है, यह नाम अन्वर्थ है। यदृच्छ नाम:- जैसे लकड़ी के भार को वहन करने वाले का नाम ईश्वर कहना, यह यदृच्छ है। पञ्चास्तिकायसंग्रह अन्वर्थनाम है। जिस शास्त्र में पंच अस्तिकाय का वर्णन किया गया है, वह पञ्चास्तिकाय है, ऐसा यह पञ्चास्तिकायसंग्रह अन्वर्थ नाम है।[२] समस्त वस्तु के सूचक अर्हद् सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत प्रवचन का सार इसमें समाविष्ट है।

छह द्रव्यों में कालको छोड़कर शेष जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, ये पाँच द्रव्य

---

१. पञ्चास्तिकाय टीका, द्वितीय खण्ड, नव पदार्थ दर्पण, टीकाकार- ब्र. शीतल प्रसाद

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा १

पञ्चास्तिकाय नाम से कहे गये हैं। जिसमें एक से अधिक प्रदेश होते हैं, वह कायवान कहा जाता है। काल द्रव्य का एक प्रदेशपना होने से वह कायवान नहीं है। जीवसे आकाश पर्यन्त पाँच द्रव्य हैं, उस कारणसे "अस्ति" कहे जाते हैं और जिस कारण से ये काय (शरीर) के समान बहुप्रदेशी हैं, उस कारण से “काय” कहे जाते हैं। इस प्रकार केवल अस्तित्व से उनकी अस्ति संज्ञा नहीं है, अपितु कायत्व से युक्त, उनकी 'काय' संज्ञा है। परन्तु दोनों के मिलाप से " अस्तिकाय " संज्ञा है।

अमृतचन्द्र आचार्य ने समय व्याख्या में अन्तिम गाथा की टीका में "पञ्चास्तिकाय सङ्ग्रहाभिधानं " ऐसे नाम का उल्लेख किया है।[१] परन्तु जयसेन आचार्य ने तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में ही "पञ्चास्तिकाय प्राभृत" ऐसा ग्रन्थ का नाम सूचित किया है।[२] ‘समयमिणं सुणहवोच्छामि' इस प्रतिज्ञा वाक्य से पं. हेमराज महोदय ने "पञ्चास्तिकाय समयसार " ऐसा नाम भी उद्घोषित किया है।

पञ्चास्तिकाय संग्रह का, इसमें समागत संग्रह शब्द से यह संग्रहीत ग्रन्थ है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु वैसा नहीं है। यह संग्रह ग्रन्थ नहीं है। यह कुन्दकुन्द आचार्य की स्वतन्त्र रचना है। इसमें तीन अधिकार, विषय वस्तु के अनुसार, स्वतन्त्र ग्रन्थ के समान प्रतीत होते हैं। इसलिए आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अन्तिम गाथा में "पञ्चास्तिकायसंग्रह” ऐसा नाम दिया है।

जयसेन आचार्य द्वारा लिखित वृत्ति का “तात्पर्यवृत्ति” यह नाम भी सार्थक है क्योंकि प्रत्येक गाथा का भावार्थ और तात्पर्य अन्त में दिया ही है। वृत्ति के प्रारम्भ में ही उन्होंने स्वयं कहा है, वह इस प्रकार है : -

“पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते"।

पञ्चास्तिकाय प्राभृतशास्त्र में यथाक्रम से अधिकार शुद्धिपूर्वक तात्पर्य अर्थ व्याख्यान किया जाता है। इस प्रतिज्ञा का अच्छी तरह से निर्वाह किया है।

ग्रन्थ रचना का निमित्त :-

इस ग्रन्थ की रचना शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि शिष्य के लिए की गई है। जयसेन आचार्य ने यह स्पष्ट बताया है।

---

१. प्रवचनस्य सारभूतं पञ्चास्तिकायसंग्रहाभिधानं भगवत् सर्वज्ञोपज्ञत्वात् सूत्रमिदमभिहितं मयेति। पञ्चास्तिकायसंग्रह-समय व्याख्या गा. १७३

२." श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैर्विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकार शुद्धिपूर्वकं 'तात्पर्यार्थ व्याख्यानं कथ्यते। पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.१ उत्थानिका|

"शिवकुमारमहाराजादि संक्षेप रुचि शिष्य प्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकाय प्राभृत शास्त्रे |" शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि शिष्यों को प्रतिबोधन करने के लिए विरचित पञ्चास्तिकाय प्राभृत शास्त्र में"

उसी प्रकार प्रथम गाथा की वृत्ति में ग्रन्थ का निमित्त बताया है :-

इस प्राभृत ग्रन्थ में शिव कुमार महाराज निमित्त हैं। अन्यत्र द्रव्य संग्रह आदि में सोमश्रेष्ठी आदि निमित्त जानना चाहिए।

ग्रन्थ रचना काल :-

कुन्दकुन्द आचार्य प्रणीत पाँच परमागमों में सर्वप्रथम पञ्चास्तिकाय संग्रह रचा गया है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि पञ्चास्तिकायसंग्रह संक्षेप रुचि शिष्यों को समझाने के लिए कहा है। प्रवचनसार मध्यम रुचि शिष्य को शिक्षा के लिए और समयसार विस्तार रुचि शिष्य को समझाने के लिए रचा गया है। इस प्रकार जयसेन आचार्य ने अपनी वृत्तियों में उल्लेख किया है। पञ्चास्तिकाय संग्रह प्राथमिक शिष्यों को तत्त्व परिचय के लिए और अध्यात्म प्रासाद में प्रवेशद्वार रूप है। ऐसा पहले कहा है। इसलिए जाना जाता है कि यह उनकी पहली कृति है।

उसी प्रकार जयसेन आचार्य ने भी तीन वृत्तियों में पञ्चास्तिकाय संग्रह के ऊपर तात्पर्यवृत्ति पहले लिखी है । ऐसा प्रतीत होता है । प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति के पहले पञ्चास्तिकायसंग्रह की वृत्ति लिखी गई, इसकी पुष्टि के लिए प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति में कुछ प्रमाण प्राप्त होते हैं। वह इस प्रकार है :-

१) पञ्चास्तिकाय में "स्याद्अस्ति" इत्यादि प्रमाण वाक्य से प्रमाण सप्तभंगी का व्याख्यान किया है। [१]

२) उसी प्रकार स्वभाव विभाव गुण पर्याय "जेसिं अत्थि सहावो" इत्यादि गाथा में, उसी प्रकार "भावा जीवादीया" इत्यादि गाथा में पञ्चास्तिकाय में पहले कहे हुए क्रमसे यथा संभव जानना चाहिए। [२]

३) और वह "सद्दो खंधप्पभवो" इत्यादि गाथा में पञ्चास्तिकाय में व्याख्यान किया है। इसलिए यहाँ ठहरते हैं। प्रसंग से बस हो। [३]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १२५

२. वहीं पर, गा. १०३

३. वहीं पर, गा. १४२

ग्रन्थ परिमाण :-

मुख्य रूप से इस ग्रन्थ के ऊपर संस्कृत भाषा में दो टीका प्राप्त होती हैं। जयसेन आचार्य विरचित वृत्ति में १८१ गाथा प्राप्त होती हैं। उसमें तीन महाधिकार हैं। पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य के निरूपण स्वरूप प्रथम महाधिकार में १११ गाथाएँ हैं। सप्ततत्त्व, नौ पदार्थ के व्याख्यान रूप द्वितीय महाधिकार में ५० गाथाएँ हैं। मोक्षमार्ग, मोक्ष स्वरूप के कथन स्वरूप तृतीय महाधिकार में २० गाथाएँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर १८१ गाथाएँ प्राप्त होती हैं। अमृतचन्द्र आचार्य विरचित टीका में १७१ गाथाएँ दिखायी देती हैं। प्रकाशित प्रति में १७३ गाथाएँ प्राप्त होती हैं। अमृतचन्द्र आचार्य ने यह ग्रन्थ दो श्रुत स्कन्धों में विभाजित किया है। प्रथम श्रुत स्कन्ध में, प्रकाशित प्रति में, १०४ गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। परन्तु जयसेन आचार्य ने उत्थानिका में अमृतचन्द्र आचार्य के अभिप्राय अनुसार १०३ गाथाएँ स्वीकार की हैं। वह इस प्रकार है:- *"अथवा स एवामृतचन्द्रटीकाभिप्रायेणत्र्यधिकशतपर्यंतश्च।"* [१]

प्रकाशित प्रति में, द्वितीय श्रुत स्कन्ध में ६९ गाथाएँ प्राप्त होती हैं। उसमें मोक्षमार्ग प्रपंच वर्णनात्मक प्रथम भाग में ४९ और मोक्षमार्ग प्रपंच चूलिका में २० गाथाएँ प्राप्त होती हैं, परन्तु जयसेन आचार्य ने उत्थानिका में, अमृतचन्द्र आचार्य विरचित टीका में नौ पदार्थ वर्णनात्मक प्रथमभाग में ४८ गाथाएँ स्वीकार की हैं, वह इस प्रकार है :

"अथ स एवामृतचन्द्रटीकाभिप्रायेण अष्टचत्वारिंशद् गाथापर्यन्तश्च "[२]

वह सम्यक् प्रतीत होता है। क्योंकि १११ वीं गाथा के ऊपर अमृतचन्द्र आचार्य की टीका दिखाई नहीं देती।

इस प्रकार सब मिलाकर अमृतचन्द्र आचार्य की टीका में १७१ गाथाएँ ही माननी चाहिए। प्रथम महाधिकार में ८ अन्तराधिकार, ३९ स्थल, १११ गाथाएँ हैं। उनमें प्रथम अन्तराधिकार में समय शब्दार्थ के व्याख्यान की मुख्यता से ७ गाथाएँ हैं। द्वितीय अन्तराधिकार में सामान्य द्रव्य पीठिका के प्ररूपण के लिए १४ गाथाएँ हैं। तीसरे अन्तराधिकार में, काल द्रव्य के वर्णन की मुख्यता से ५ गाथाएँ हैं। चौथे अन्तराधिकार में जीवास्तिकाय के कथन रूप से ५३ गाथाएँ हैं। पाँचवें अन्तराधिकार में पुद्गल अस्तिकाय के वर्णन की मुख्यता से १० गाथाएँ हैं। छठे अन्तराधिकार में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के निरूपण की मुख्यता

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गाथा १ समुदाय पातनिका

२. वहीं पर, गा.१ समुदायपातनिका

से ७ गाथाएँ हैं। सातवें अन्तराधिकार में आकाश अस्तिकाय के कथन के लिए ७ गाथाएँ हैं और आठवें अन्तराधिकार में चूलिका के उपसंहार के व्याख्यान की मुख्यता से ८ गाथाएँ हैं। इस प्रकार प्रथम महाधिकार में १११ गाथाएँ हैं।

द्वितीय महाधिकार में १० अन्तराधिकार, २१ स्थान, और ५० गाथाएँ हैं। उसमें पहले अन्तराधिकार में व्यवहार मोक्षमार्ग की मुख्यता से ४ गाथाएँ हैं। द्वितीय अन्तराधिकार में जीव पदार्थ के प्रतिपादन रूप से १६ गाथाएँ हैं। तीसरे अन्तराधिकार में अजीव पदार्थ के प्रतिपादन रूप से ४ गाथाएँ हैं। चौथे अन्तराधिकार में पुण्यपाप आदि ७ पदार्थों की पीठिका रूप से ३ गाथाएँ हैं। पंचम अन्तराधिकार में पुण्य, पाप दो पदार्थों के विवरण के लिए ४ गाथाएँ हैं। छठे अन्तराधिकार में शुभ अशुभ आस्रवके व्याख्यान के लिए ६ गाथाएँ हैं। सातवें अन्तराधिकार में संवर पदार्थ के विवेचन के लिए तीन गाथाएँ हैं। आठवें अन्तराधिकार में निर्जरा पदार्थ की प्ररूपणा के लिए तीन गाथाएँ हैं। नौवें अन्तराधिकार में बंध पदार्थ के कथन के लिए तीन गाथाएँ हैं। दसवें अन्तराधिकार में मोक्ष पदार्थ के विश्लेषण के लिए चार गाथाएँ हैं। इस प्रकार दस अन्तराधिकारों से ५० गाथाओं के द्वारा जीव आदि नौ पदार्थों का प्रतिपादक द्वितीय महाधिकार शोभायमान है।

तृतीय महाधिकार में, १२ अन्तराधिकार, १२ स्थल और २० गाथा सूत्र हैं। उनमें क्रमश: जीव स्वरूप के कथन के द्वारा एक गाथा सूत्र है। स्वसमय परसमय के स्वरूप के प्रतिपादन रूप से एक गाथा सूत्र है। व्यवहार मोक्षमार्ग के निरूपण रूप से एक गाथा सूत्र है। निश्चय मोक्षमार्ग के विवेचन की मुख्यता से दो गाथा सूत्र हैं। भाव सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान की मुख्यता से एक गाथा सूत्र है। रत्नत्रयके फल के वर्णन द्वारा एक गाथा सूत्र है। स्थूल परसमय और सूक्ष्म परसमय के विश्लेषण रूप से पाँच गाथा सूत्र हैं। शुद्धोपयोग से मोक्ष प्राप्तिके वर्णन रूप से दो गाथा सूत्र हैं। वीतरागत्व ही शास्त्र का तात्पर्य है, ऐसे व्याख्यान रूप से एकगाथा सूत्र है। उपसंहार रूप से एक गाथा सूत्र है। इस प्रकार बारह अन्तराधिकार और बीस गाथा सूत्रों से यह तृतीय महाधिकार विराजमान है।

विषय वस्तु :-

पञ्चास्तिकाय संग्रह ग्रन्थ तीन अधिकारों में विभक्त है। उनमें प्रथम महाधिकार में पञ्चास्तिकाय और छह द्रव्यों का विस्तार से स्वरूप कहा है। इस ग्रन्थ में द्रव्य का "समय" शब्द से उल्लेख किया है। जीव आदि पाँच अर्थों का समूह “समय" कहा जाता है। समय का निर्देश तीन प्रकार से किया है। १. शब्द समय, २. ज्ञान समय ३. अर्थ समय | अर्थ को जानने

रूप भावश्रुत ज्ञानसमय है। द्रव्य श्रुतरूप शब्दसमय है। द्रव्य आगमरूप शब्दसमय के द्वारा वाच्य और भावश्रुत रूप ज्ञानसमय के द्वारा जानने योग्य, पाँच अस्तिकायों का समूह अर्थसमय है। अर्थसमय, लोक और अलोक के विभाग द्वारा दो प्रकार का है।

अस्तिकाय शब्द अस्तित्व और कायत्व का द्योतक है। अस्तित्व शब्द से सद्भाव जाना जाता है। बहुप्रदेशपना कायत्व का लक्षण है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशों का बहु प्रदेशपना होने से कायत्व है। एक जीव, धर्म और अधर्म इनमें से प्रत्येक के असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। मूर्त पुद्गल के संख्यात, असंख्यात, अनन्त तीन प्रकार के प्रदेश हैं। काल का एक ही प्रदेश है। उस कारण से उसका कायपना नहीं है। यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है, तथापि उसके स्कन्ध के कारण भूत स्निग्ध रूक्षत्व शक्ति का सद्भाव होने से उपचार से कायपना कहा जाता है। परन्तु कालाणुओं के बन्ध के कारणभूत स्निग्ध, रूक्षत्व शक्ति का अभाव होने से उपचार से भी कायत्व नहीं है।

द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार से कहा है। १. सद्लक्षणं (सत्तालक्षणं) द्रव्यम् २. उत्पाद व्यय ध्रौव्य संयुक्तं द्रव्यम्, ३) गुण पर्यायाश्रयं द्रव्यमिति। तीनों लक्षणों में परस्पर विरोध नहीं है। एक लक्षण के कहने पर अन्य दो लक्षण नियम से प्राप्त होते हैं। क्योंकि तीनों लक्षणों में परस्पर अविनाभावीपना है। उत्पाद व्यय पर्यायरूपता को और ध्रौव्य गुणरूपताको सिद्ध करते हैं। उसी प्रकार, उत्पाद व्यय ध्रौव्य और गुणपर्याय सत्ता को प्रसिद्ध करते हैं। द्रव्यार्थिकनय से, द्रव्य की उत्पत्ति अथवा विनाश नहीं होता। पर्यायार्थिक नयसे द्रव्य का उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना घटित होता है। दही, दूध आदि पर्याय से रहित गोरस के समान, पर्याय रहित द्रव्य नहीं है। गोरस रहित दही दूध आदि पर्याय के समान द्रव्य से रहित पर्याय नहीं है। द्रव्य और पर्याय में अभेद है। उसी प्रकार द्रव्य और गुण में भी अभेद है, क्योंकि दोनों में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अभिन्नपना है। द्रव्यार्थिक नय से सत् का विनाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं होता। द्रव्य नित्य है तथापि पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद व्यय रूप है।

जिस प्रकार पुद्गल के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदिक गुण हैं तथा शब्द, बंध, सोना, चांदी, प्रकाश, छाया इत्यादि पर्याय हैं, उसी प्रकार जीव के ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदिक गुण और नर, नारक, तिर्यञ्च, देव आदि पर्यायें हैं। जीव का जीव रूप से उत्पाद नहीं होता, और व्यय भी नहीं होता, परंतु मनुष्य आदि पर्यायरूप से उत्पाद व्यय होते हैं। जीव सम्पूर्ण क्रमवर्ती परिणामों में और अक्रमवर्ती गुणों में अन्वय रूप से व्यापक विराजमान है। पर्याय प्रति समय अपने काल में उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। सर्व अज्ञानी दृश्यमान द्रव्य पर्यायरूप

से जीव को जानते हैं, परन्तु शुद्ध द्रव्य अथवा शुद्ध स्वभावरूप से नहीं जानते। कर्म सम्बन्ध से रागद्वेष आदि विकारी भावों से परिणत आत्मा ही विविध नर नारक आदि पर्यायों में परिभ्रमण करता है। और वही, विकार का नाश होने पर, कर्म के अभाव से अभूतपूर्व सिद्ध पर्याय को प्राप्त करता है। यही अविनाशी सिद्ध पद, सभी जीवों को साध्य है। इस साध्य प्राप्ति का मार्ग ही मोक्षमार्ग है। उसके अलाभ से ही अज्ञानी जीव संसार रूपी अटवी में भटकता है। वह देव आदि पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ, भाव का कर्त्ता होता है। वही मनुष्य आदि पर्याय का व्यय करता हुआ, अभाव का कर्ता होता है। देव पर्याय से च्युत होने के काल में, विद्यमान देव पर्याय का अभाव करता है, इसलिए भाव-अभाव का कर्ता होता है। उसी प्रकार अविद्यमान मनुष्यपर्याय को उत्पन्न करता है, अत: वह अभाव-भाव का कर्ता होता है। इस प्रकार संसारी जीव के भाव, अभाव, भावाभाव, अभावभाव में कर्तृत्व का कथन किया। परन्तु सिद्धपद प्राप्त होने पर पर्याय धर्मपना होने पर भी सिद्धत्वरूप से नाश नहीं होता। और संसार पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं होता। उसमें उत्पाद-व्यय का सद्भाव होने पर भी सिद्धत्व रूप से सदृश परिणमन प्रवृत्त होता है।

जीव संसार अवस्था में सदैव स्वचैतन्यमय भावप्राणों से और इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास रूप द्रव्य प्राणों से जी रहा है, जीयेगा और जीया था | सिद्ध दशा में शाश्वत चैतन्य प्राणों से जीवित है। मिथ्यात्व आदि विकार का अभाव होने से द्रव्य प्राणों से जीने की जिनके दीनता नहीं है। सिद्ध पर्याय में जीवत्व का अन्वय रहता है। निर्वाण में जीवत्व का अभाव नहीं है। यदि मोक्ष में जीवत्व का अभाव मानते हैं तो परद्रव्य से शून्यपना, स्वरूप से अशून्यपना, नित्यपना, अनित्यपना, भव्यत्व, अभव्यत्व, अज्ञान विनाश, ज्ञान प्राप्ति आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

चेतना तीन प्रकार की है। ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना (एकजीव राशि स्वभाव अवस्था में स्वज्ञान स्वभाव का अनुभव करती है। एक जीव राशि अनादि काल से मोह से मलिन, चेतक भाव होने से उसकी सामर्थ्य प्रच्छादित होती हुई स्थावर अवस्था में सुख, दु:खरूप कर्म फल का वेदन करती है। अन्यजीव राशि, त्रस पर्याय में कर्म फल के अनुभव के साथ, जिसकी सामर्थ्य प्राप्त हो गई है, ऐसे चेतकभाव से, इच्छा पूर्वक इष्ट अनिष्ट विकल्प रूप कर्म का वेदन करती है। अरिहंत और सिद्धों के परिपूर्ण ज्ञान चेतना है। स्थावरों के एक मात्र कर्मफल चेतना है। परन्तु मिथ्यादृष्टि त्रसों के कर्मफल चेतना और कर्म चेतना है। ज्ञान चेतना का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन आदि निर्मल पर्याय की प्राप्ति के क्षण ही होता है।

उपयोग आत्मा का लक्षण है। आत्मा के चैतन्य अनुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं। वह दो प्रकार का है। १) दर्शनोपयोग २) ज्ञानोपयोग | पदार्थों का भेदरूपसे भिन्न प्रतिभास होने से पहले अस्तित्व मात्र सामान्य प्रतिभास होता है अथवा आत्मजागृति को दर्शनोपयोग कहते हैं। पदार्थों का भेदरूप से विशेष प्रतिभास ज्ञानोपयोग कहा जाता है। ज्ञान सविकल्प है, दर्शन निर्विकल्प है। छद्मस्थ अवस्था में दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। दर्शनोपयोग पूर्वक ही ज्ञानोपयोग होता है। परन्तु केवली के दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार का है । ज्ञानोपयोग मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमति, कुश्रुति, विभंगज्ञान के भेद से आठ प्रकार का है। चक्षु इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला सामान्य अवलोकन चक्षुदर्शन है। उससे भिन्न स्पर्शन आदि चार इन्द्रियों के द्वारा और मन के द्वारा उत्पन्न होने वाला सामान्य ग्रहण अचक्षुदर्शन है। इन्द्रिय और मनसे निरपेक्ष अवधिज्ञान से पूर्व उत्पन्न होने वाला, रूपी द्रव्यमात्र का सामान्य प्रतिभास अवधिदर्शन है। केवलज्ञान के साथ ही उत्पन्न होने वाला, सम्पूर्ण चराचर वस्तुओं का सामान्य ग्रहण केवल दर्शन है। मिथ्यादृष्टि को विभंग अवधि के पूर्व अवधि दर्शन नहीं है।

मतिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम होने पर, पाँच इन्द्रियों से और मन से मूर्त अमूर्त वस्तुको विकल्प रूप से जो जानता है, वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान तीन प्रकार का है। उपलब्धि, भावना, उपयोग। मति ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली, पदार्थ को ग्रहण करने की शक्ति को "उपलब्धि" कहते हैं। पदार्थ के जानने पर पुनः पुनः चिन्तन "भावना" है। यह नीला है, यह पीला है इत्यादि रूप से पदार्थ को ग्रहण करने का व्यापार " उपयोग" है। मति ज्ञानपूर्वक उसी पदार्थ का विकलरूप से, सकलरूप से विशेष ग्रहण करना, उसे श्रुत ज्ञान कहते हैं। वह पुनः लब्धिरूप, भावनारूप, उपयोग विकल्प और नय विकल्परूप होता है। इन्द्रिय और मन से निरपेक्ष, रूपी द्रव्य मात्र विषय को प्रत्यक्ष से विशेष ग्रहण करना अवधिज्ञान है। सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण पर्याय को विषय करने वाला केवलज्ञान है। मिथ्यात्व के साहचर्य से पहले ज्ञान ही मिथ्या ज्ञानरूप होते हैं।

ज्ञान, दर्शन और आत्मा पृथक्द्रव्य नहीं हैं । आत्मा स्वभाव से ज्ञान दर्शनमय है । क्योंकि गुणों से द्रव्य का और गुणों का द्रव्य से भेद होने पर द्रव्य के अनन्तपना प्राप्त होता है, और द्रव्य के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। द्रव्य और गुणों में यथायोग्य अभिन्न प्रदेश रूप अनन्यपना है। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा व्यवहार से भेद है। व्यपदेश, संस्थान,

संख्या, विषय आदि द्रव्य गुणों में सर्वथा भिन्नत्व सिद्ध नहीं करते हैं। ज्ञान और ज्ञानी में अत्यन्त भेद मानने पर, दोनों में अचेतनपने का प्रसंग आता है। ज्ञान और ज्ञानी में अत्यन्त भेद मानने पर समवाय सम्बन्ध से भी एकत्व नहीं कर सकते।

गुण और गुणी में कथंचित् एकत्व को छोड़कर अन्य कोई समवाय नहीं है। इस प्रकार आत्मा स्वरूपी है, आत्मा लक्ष्य है और उपयोग उसका आत्मभूत लक्षण है।

आत्मा, त्रिकाल ध्रुव पारिणामिक भाव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है। परन्तु नर, नारक आदि, राग द्वेष मोह आदि औदयिक भाव की अपेक्षा से, मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा से, सम्यक्त्व आदि औपशमिकभाव की अपेक्षा से, सादि सनिधन है। केवलज्ञान आदि क्षायिकभाव की अपेक्षा से सादि-अनन्त है। भव्यत्व भाव अनादि सान्त है। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक भाव, कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना उत्पन्न नहीं होते। इसलिए वे भाव उपचार से कर्मकृत कहे गये हैं। मोहजन्य औदयिक भाव का निमित्त मिलने पर कर्मों का आस्रव और बंध होता है। कर्म उदय का निमित्त होने पर जीव के रागादिभाव होते हैं। इस प्रकार जीवभाव और कर्म में परस्पर केवल निमित्त नैमित्तिक भाव है। परन्तु कर्तृ और कर्म भाव नहीं है, क्योंकि जीव के राग द्वेष मोह का सद्भाव होने पर कार्मण वर्गणा स्वयं कर्म रूप से परिणमती हैं।

जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य की प्रभा होने पर अभ्र, संध्याराग, इन्द्रधनुष परिवेश आदि बहुत प्रकार से दूसरों के द्वारा बिना किये भी पुद्गल स्वयं ही परिणमन करते हैं। उसी प्रकार जीवों के मिथ्यात्व राग आदि परिणाम होने पर कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल उपादान कारण भूत जीव के द्वारा बिना किये भी, अपने उपादान कारणों से ज्ञानावरण आदि मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृति रूप परिणमन करते हैं। पुद्गल ही कर्म परिणाम में तन्मय होने से कर्म का कर्ता है। उसी प्रकार कर्म के उदय का सद्भाव होने पर जीव स्वयं ही रागादि रूप से परिणमन करता है। अपने औदयिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिक भावों का जीव ही कर्ता है। निश्चय से अभेद षट्कारक रूप से परिणमन करने पर, जीव स्वयं षट्कारक रूप से परिणमन करता है। कर्म का वेदन करने वाला आत्मा, जिस प्रकार का भाव करता है, उसका वह कर्ता होता है। इस प्रकार आत्मा, शुद्ध निश्चय नय से, अपने शुद्ध चेतन भाव का कर्ता है। अशुद्ध निश्चय नय से रागादि भाव कर्मों का कर्ता है। व्यवहार से, कर्मबंध का निमित्त होने से द्रव्य कर्मों का कर्ता है।

जिन भावों का जीव कर्ता है, उन्हीं भावों का तन्मय रूप से वेदन करता है, उससे उन्ही का वह भोक्ता है। अतः शुद्ध निश्चय नय से अपने चेतन भावों का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चय नय से स्वकीय रागादिक और सुख दुःख आदिक भावों का भोक्ता है। व्यवहार नय से पाँच इन्द्रियों के विषयों का भोक्ता कहा जाता है। अपने ही रागादि परिणामों का कर्ता और भोक्ता आत्मा, मोह से प्रच्छादित होकर विकार रूप से परिणमन करके स्वयं ही पंच परिवर्तन रूप संसार में घूमता है। संसार परिभ्रमण में वह स्वतन्त्र है। उसी प्रकार पुरुषार्थ पूर्वक रागादिकों का नाश करके निर्वाण प्राप्त करने में भी वह स्वाधीन है। इस प्रकार संसार अवस्था में अथवा मुक्त अवस्था में स्वयं स्वतन्त्र होने से प्रभु है।

यह आत्मा संसार में प्राप्त हुए शरीर के आकाररूप होता है। गति के अनुसार और प्राप्त शरीर के अनुसार उसकी अवगाहना परिवर्तित होती है। क्योंकि अनादिकालसे, कर्म संयुक्त होने से विविधभावों को धारण करता है। इसलिए संसारी जीव कर्म सम्बन्ध से स्वदेह प्रमाण है। यद्यपि स्वभाव से आत्मा अपने ज्ञान दर्शन स्वभाव के कारण पुद्गल से भिन्न है।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहित होने से आत्मा अमूर्त है। तथापि कर्म, नोकर्म के संयोग से उपचार से मूर्त कहा जाता है। परन्तु सिद्ध परमात्मा सर्वथा अमूर्त हैं।

इस प्रकार से यह जीव स्वभावरूप से एक होने पर भी गुण भेद से और संयोग की विविधता से दो, तीन, चार आदि भेद से अनेक प्रकार का है। संसारी जीवों की मरण काल में विग्रहगति में, विदिशा को छोड़कर छह गतियां होती हैं। परन्तु कर्म का क्षय होने पर वह ऊपर ही लोकाग्र पर्यन्त जाता है। अर्थात् मुक्त जीव की ऊर्ध्व गति होती है।

जो चेतना रहित स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाला है, वह पुद्गल है। परमाणु और स्कंध के भेद से पुद्गल दो प्रकार का है। जो एक रस, एक वर्ण, एक गंध, दो स्पर्श युक्त है और अविभागी प्रदेश मात्र है, वह परमाणु है। दो परमाणुओं से अथवा बहुत परमाणुओं से उत्पन्न समानजातीय द्रव्य पर्याय स्कंध कहा जाता है। स्कंध, स्कंध देश और स्कंध प्रदेश, इस प्रकार स्कंध तीन प्रकार का है। अनन्तानन्त परमाणुओं के पिण्ड की स्कंध संज्ञा है। स्कंध के अर्धभाग पर्यन्त स्कंध की भी स्कंध संज्ञा है। स्कंध के अर्धभाग को स्कंध देश कहते हैं। स्कंध देश के अर्धभाग से द्विअणुक पर्यन्त द्रव्य पर्याय को स्कंध प्रदेश कहते हैं।

स्कन्धों के अन्य प्रकार से छह भेद किये हैं। १. स्थूल स्थूल, २. स्थूल ३. स्थूल सूक्ष्म, ४. सूक्ष्म स्थूल ५ सूक्ष्म, ६. सूक्ष्म सूक्ष्म। जो छिन्न होने पर स्वयं ही जुड़ने में असंभव हैं, वे भूमि, पर्वत आदि स्थूल स्थूल हैं। जो छिन्न होने पर उसी क्षण से जुड़ने के लिए स्वयं

समर्थ हैं, वे घी, तेल, जल आदि स्थूल हैं। जो हाथ से ग्रहण करने में और दूसरे देश में ले जाने में असमर्थ हैं, ऐसे नेत्र इन्द्रिय के विषय छाया, आतप आदि स्थूल सूक्ष्म हैं। जो चक्षु के विषय नहीं हैं, वे स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द चार इन्द्रियों के विषय सूक्ष्म स्थूल हैं। जो ज्ञानावरणादि कर्म वर्गणा के योग्य इन्द्रिय ज्ञान के विषय नहीं है, वे सूक्ष्म हैं, और जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से कर्म वर्गणा से अतीत द्वयणुक स्कन्ध पर्यन्त स्कन्ध सूक्ष्म सूक्ष्म हैं। परमाणु किसी भी स्कन्ध रूप से परिणमन करने में समर्थ है, इसलिए वह कारण परमाणु कहा जाता है। स्कन्ध से भेदा जाने वाला परमाणु कार्य परमाणु कहा जाता है। दो स्कन्धों के संघात होने पर भाषा वर्गणा से शब्द उत्पन्न होता है। वह मूर्त के द्वारा ग्राह्य होने से और मूर्त के द्वारा रोका जाने से मूर्तिक कहा जाता है। वह अमूर्तिक आकाश का गुण नहीं है। समस्त वर्गणाऐं, पाँच इन्द्रियों के विषय, इन्द्रियाँ, औदारिक आदि शरीर, मन, वाणी, ज्ञानावरण आदि कर्म ये सभी पुद्गल के परिणाम हैं।

धर्म द्रव्य चेतना रहित होने से अजीव द्रव्य है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहित होने से अमूर्त है। लोक व्यापक, तिल में तेल के समान, परस्पर प्रदेश के व्यवधान से रहित होने से निरन्तर, अनादि अनन्त रूप से स्वभाव से विस्तीर्ण लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। धर्म द्रव्य गति परिणत जीव पुद्गलों के गमन में सहकारी कारण है। जिस प्रकार जल, स्वयं गमन न करते हुए भी, मछलियों को प्रेरित न करते हुए भी, स्वयं गमन करने वाले उनकी गति का सहकारी कारण है। उसी प्रकार धर्म द्रव्य भी स्वयं गमन न करते हुए, दूसरों को प्रेरित न करते हुए, स्वयं ही गति परिणत जीव पुद्गलों की गति का सहकारी कारण है। जहाँ जहाँ जीव, पुद्गलों का गति परिणाम देखा जाता है, वहाँ धर्म द्रव्य है ही। इसलिए आश्रय कारण की अपेक्षा से उदासीन हेतु कहा है। अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों के गति पूर्वक स्थिति का सहकारी कारण है। जिस प्रकार पूर्व में स्थिर रहने वाली छाया, स्वयं स्थिर रहने वाले पथिकों को स्थिति में उदासीन सहकारी कारण है, उसी प्रकार स्वयं पूर्व में स्थिर अधर्म द्रव्य स्वयं गति पूर्वक स्थिर रहने वाले जीव पुद्गलोंकी स्थिति में उदासीन कारण है। धर्म और अधर्म के सद्भाव से ही लोक और अलोक का विभाग हुआ है। लोक में गति को और गति पूर्वक स्थिति को प्राप्त होने वाले जीव पुद्गलों को यदि बहिरंग कारणभूत धर्म अधर्म द्रव्य नहीं होते, तब लोक से बहिर्भूत बाह्यभाग में भी गति होती। जो गति करते हैं, वे ही पुनः स्थिति करते हैं। जो स्थिति करते हैं, वे ही पुनः गति करते हैं। इससे जाना जाता है कि वे धर्म अधर्म गति और स्थिति में मुख्य हेतु

नहीं हैं। जीव और पुद्गल निश्चय से अपने परिणामों के द्वारा ही गति और स्थिति करते हैं। इस प्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य इस विश्व में स्वभाव से विद्यमान हैं।

सभी जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने में निमित्तभूत आकाश द्रव्य है। अति विशाल और अपरिमित होने से, सामान्य अवगाह दान आकाश का ही कार्य है। अखंड भी आकाश के लोकालोक विभाग से दो विभाग हुए हैं। छह द्रव्यों का समूह लोक है। उससे बाहर अनंतानंत आकाश अलोक है। आकाश जैसे जीवादि द्रव्यों को अवकाश देता है, वैसे यदि गति स्थिति में भी कारण हो तो स्वाभाविक ऊर्ध्वगति स्वभाववाले सिद्ध जीव वहाँ लोकाग्र में स्थित नहीं होंगे। लोक के बाह्यभाग में भी उस आकाश का सद्भाव होने से वहाँ पर भी जीव पुद्गलों का गमन होगा। उससे अलोक की हानि होगी। और लोक के अन्त की वृद्धि होगी। वैसा तो नहीं होता। उस कारण से जाना जाता है कि आकाश, गति-स्थिति का कारण नहीं है, परन्तु धर्म अधर्म ही गति स्थिति के कारण हैं।

पञ्चास्तिकाय प्रकरण में अस्तिकायरूप से जिसका कथन नहीं किया, ऐसा काल द्रव्य भी सामर्थ्य से प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है :-

पाँच अस्तिकाय परिणामी हैं और परिणमन कार्य है। कार्य कारण की अपेक्षा करता है। और वह द्रव्यों की परिणति का निमित्तभूत कालाणु रूप द्रव्य काल है। सभी द्रव्यों का परिणमन स्व स्वभाव अनुसार स्वाधीनता से होता है। परन्तु वह परिणमन कालपर्याय से विशिष्ट होता है। उसका उल्लेख समय आदि काल द्रव्य की पर्याय द्वारा किया जाता है। इसलिए काल द्रव्य का गुण परिणमन-हेतुत्व कहा है। कोई भी शब्द, द्रव्य, गुण अथवा पर्याय का नियम से वाचक होता है। इसलिए कालशब्द, कालाणु रूप निश्चय कालका और उसी के परिणामभूत समय, निमिष, घटिका आदिरूप व्यवहार काल का वाचक है। सर्वथा असत् रूप वस्तुओं का वाचक कोई शब्द नहीं है। काल द्रव्य के समय आदि परिणामों से अन्य द्रव्यों के परिणाम जाने जाते हैं। परमाणु, आदित्य आदि के द्वारा काल द्रव्य के समय आदि परिणाम जाने जाते हैं। अनादि अनिधन, समय आदि कल्पना भेद से रहित, वर्णादि मूर्ति रहित, सूक्ष्म, अतीन्द्रिय ज्ञान ग्राह्य और वर्तना लक्षण, कालाणु रूप से व्यवस्थित निश्चय काल है। उसी के पर्यायभूत सादि सनिधन समय निमिष, काष्ठा, कला, घटिका, मुहूर्त, दिवस आदि व्यवहार काल हैं। व्यवहार काल क्षणभंगुर है। निश्चय काल नित्य है। समयादि व्यवहार काल, यद्यपि निश्चय से परमार्थ काल की पर्याय है तथापि जीव पुद्गल की नवीन जीर्ण आदि परिणति के द्वारा व्यक्त होने से कथञ्चित पराधीन है। इस प्रकार काल सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश

छहों भी द्रव्य संज्ञा को धारण करते हैं। परन्तु बहु प्रदेशपने का अभाव होने से काल के कायपना नहीं है।

इस प्रकार पाँच अस्तिकाय और छह द्रव्यों के स्वरूप को जानकर 'मैं चेतन मात्र हूँ शेष सर्व मुझसे भिन्न हैं, ऐसे स्वपर स्वरूप का निश्चय करना चाहिए। जो जीव प्रवचन के सारभूत पञ्चास्तिकाय संग्रह को जानकर राग द्वेष छोडता है, वह चतुर्गति के दुःख से छूट जाता है।

द्वितीय अधिकार :-

द्वितीय महाधिकार में मोक्षमार्ग के विषयभूत जीवादि नौ पदार्थों का निरूपण है। मोक्षमार्ग विषयक आठ प्रकार का नियम है। १. वह मोक्षमार्ग सम्यक्त्व ज्ञान युक्त ही है; सम्यक्त्व ज्ञान रहित नही है। २. चारित्र सहित ही है, चारित्र रहित नहीं है। ३. रागद्वेष रहित ही है, रागद्वेष सहित नहीं है। ४. यह मोक्ष का ही मार्ग है, बंध का नहीं है। ५. वह मार्ग ही है, अमार्ग नहीं है। ६. यह मोक्षमार्ग भव्यों को ही होता है, अभव्यों को नहीं। ७. लब्धबुद्धियों को ही होता है, अलब्धबुद्धियों को नहीं। ८. कषाय का क्षय होने पर शुद्धता की प्राप्ति होने पर ही होता है, कषाय सहित अशुद्ध आत्मा की प्राप्ति होने पर नहीं। प्रयोजनभूत जीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, शुद्ध चैतन्य रूप आत्मतत्त्व के निश्चय का कारण है। उन्हीं नौ पदार्थों का विपरीत अभिनिवेश रहित अधिगम सम्यग्ज्ञान, ज्ञानचेतना प्रधान आत्मतत्त्व की प्राप्ति का साधन है। सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक इष्ट अनिष्ट विषयों में समभावरूप सम्यक् चारित्र अपुनर्भव सौख्य का एक बीज है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं। इनमें जीव और अजीव पृथग्भूत अस्तित्व से रचित होने से भिन्न स्वभावभूत मूल पदार्थ हैं। जीव पुद्गल के संयोग और वियोगरूप परिणाम से रचे हुए अन्य सात पदार्थ हैं। उनमें चेतना लक्षण जीव है। जीव दो प्रकार के हैं। संसारी और मुक्त। वे दोनों भी चेतना स्वरूप हैं और उपयोग लक्षण से लक्षित हैं। संसारी जीव देह सहित और मुक्त जीव देह रहित है। संसारी जीव इन्द्रियों की अपेक्षा से पाँच प्रकार के हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। उनमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव स्पर्शनेन्द्रियावरण के क्षयोपशम से केवल स्पर्श को जानते हैं। अन्डे में स्थित, गर्भस्थ मूर्च्छित जीवों का, जिस प्रकार से बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं दिखायी देने पर भी जीवन निश्चित किया जाता है, उसी प्रकार एकेन्द्रियों के भी बुद्धिपूर्वक व्यापार दिखायी नहीं देने पर भी जीवत्व का निश्चय किया जाता है। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय युक्त शम्बूक, मातृवाह, शंख, शुक्ति, अपादग कृमि, द्वीन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसना और

घ्राण से युक्त जूँ, खटमल, कुम्भी, चींटी, बिच्छू आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। पूर्वोक्त तीन इन्द्रियों के साथ चक्षुरिन्द्रिय सहित, डांस, मच्छर, मक्खी, भौंरा, मधुमक्खी, पतंग आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, शब्द के जानने वाले पञ्चेन्द्रिय जीव हैं।

उनमें देव, मनुष्य, नारकी, मनसहित होने से समनस्क ही हैं। तिर्यञ्च पुनः कुछ समनस्क (संज्ञी), कुछ अमनस्क (असंज्ञी) हैं। ये सभी जीव पूर्व गतिनाम कर्म और आयु आदि कर्मों का क्षय होने पर लेश्या के अनुसार अन्य गति और आयु को प्राप्त करते हैं। संसारी जीवों में कुछ सीझने वाले मूंग के समान (पाच्य) शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति की शक्ति का सद्भाव होने से भव्य हैं। कुछ नहीं सीझने वाले मूंग के समान (अपाच्य) शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति की शक्ति का अभाव होने से अभव्य हैं। इन जीव पर्यायों में शरीर, मनुष्य आदि गतियाँ, स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ, पृथिवी आदि काय, चेतन स्वभाव का अभाव होने से जीव नहीं हैं।

जानना, देखना, सुख की इच्छा, दुःख से भीरुता, हित और अहित का कर्तृत्व और भोक्तृत्व- ये जीव के ही असाधारण कार्य जानने चाहिए।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल- इनमें चेतनता का अभाव होने से अजीव कहे गये हैं। अजीव के सुख, दुःख, जाननेपना, हित परिकर्म, पाप भीरुतारूप चैतन्य विशेषों का अभाव होने से अचेतनत्व हैं। शरीर और शरीरी का संयोग होने पर भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणों से, संस्थान, संघात आदि पर्यायों से, इन्द्रिय ग्रहण के योग्य अजीव पुद्गल द्रव्य है, ऐसा जानना चाहिए। परन्तु जीव, पूर्वोक्त गुण पर्यायों से रहित अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श, अशब्द, चेतना गुणरूप निश्चय करना चाहिए | जीव पुद्गल का संयोगरूप परिणाम, पुण्य आदि सात पदार्थों का कारण है। संसारी जीव के अनादि कर्मबंध के वश से अशुद्ध परिणाम होता है। परिणाम से ज्ञानावरण आदि कर्म, कर्म के उदय से चतुर्गति गमन, गति को प्राप्त हुए को देह, देह से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण, उससे रागद्वेष- इस प्रकार जीव परिणाम और पुद्गल के परिणाम में चक्र, निमित्त नैमित्तिक भावरूप से अनादिकाल से प्रवर्त रहा है। यह ही पुण्य पाप आदि सात पदार्थों का बीज है।

जिसके सद्भाव से मोह, राग, द्वेष और चित्त प्रसाद होता है, उसके अवश्य शुभ अथवा अशुभ परिणाम होता है। दर्शन मोहनीय के उदय से जो कलुषरूप परिणाम होता है, वह मोह है। विचित्र चारित्र मोहनीय के उदय के निमित्त से प्रीतिरूप परिणाम राग है और अप्रीतिरूप परिणाम द्वेष है। उसी के मंद उदय होने पर विशुद्ध परिणाम होना, चित्त का प्रसन्नरूप परिणाम है। उनमें प्रशस्त राग और चित्त प्रसाद शुभ परिणाम हैं। मोह, द्वेष, अप्रशस्तराग अशुभ परिणाम

हैं। शुभ अशुभ भावरूप से परिणत जीव के द्रव्य पुण्य अथवा द्रव्य पाप का निमित्तरूप कारण होने से भाव पुण्य और भाव पाप कहे जाते हैं। उसके निमित्त से पुण्य पाप प्रकृति रूप से उत्पन्न हुआ कर्म परिणाम द्रव्य पुण्य और द्रव्य पाप कहा जाता है। जिस कारण से उदयागत कर्म का मूर्त पाँच इन्द्रियों के विषय भूत फल मूर्त इन्द्रियों के द्वारा भोगा जाता है और स्वयं मूर्त सुख दुःख आदिरूप कार्य दिखाई देता है, उस कारण से 'कारण सदृश कार्य होता है' ऐसा मानकर, कर्म मूर्त है, इस प्रकार कार्य के अनुमान से जाना जाता है। पुराने मूर्त कर्म के साथ स्निग्ध रूक्षत्व के वश से, पुरातन मूर्त कर्म के साथ नवीन मूर्त कर्म बाँधे जाते हैं, उसी प्रकार मूर्त विरहित भी जीव अनादि बंध के वश से मूर्त होता हुआ मिथ्यात्व रागादि परिणामों से परिणत कर्म वर्गणा के योग्य पुद्गलों को परस्पर अनुप्रवेश रूप से बाँधता है, जीव भी मूर्त कर्म के साथ बाँधा जाता है। यह परस्पर अवगाहात्मक जीव और मूर्त कर्म के बंध का प्रकार है।

प्रशस्त राग, अनुकम्पा रूप परिणति चित्त की अकलुषता-ये तीन शुभ परिणाम द्रव्य पुण्यास्रव के कारण हैं। अरिहन्त, सिद्ध और साधुओं में भक्ति, व्यवहार चारित्र के अनुष्ठान में चेष्टा, गुरुओं का अनुगमन - इनमें प्रशस्त विषयपना होने से, ये प्रशस्त राग हैं। ये अज्ञानियों को भोगों की इच्छारूप निदानबंध रूप से बहुलता से देखे जाते हैं। निर्विकल्प समाधि के अभाव में विषय कषाय रूप अशुभ राग से बचने के लिए, कदाचित् ज्ञानी को भी होता है। तीव्र क्षुधा, तृषा, रोगादिक के द्वारा दुःखी जीव को देखकर के, उसके प्रति चिकीर्षा से आकुलित चित्तपना, यह अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी को भी विकल्प भूमिका में, संसार समुद्र में डूबे हुए जगत् को देखकर मन में थोड़ा सा खेद होता है, यह ही सम्यक् अनुकम्पा है। क्रोधादि जनित चित्त विकलता कालुष्य है। उससे विपरीत अकलुषता है। वह मंद कषाय का उदय होने पर अज्ञानी को होती है। कदाचित् ज्ञानी को भी होती है।

प्रमाद बहुल चर्या, कालुष्य परिणति, विषय लोलुपता परिणति, पर परिताप परिणति, पर अपवाद रूप परिणति, ये पाँच अशुभ भाव द्रव्य पापास्रव के निमित्त मात्ररूप से कारण होने से भाव पापास्रव हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञा, अशुभ लेश्या, पंचेन्द्रिय विषयों में अधीनता, आर्त्तध्यान, रौद्र ध्यान, दुष्ट भाव में प्रवृत्त ज्ञान और दर्शन चारित्र मोह - ये भाव पापास्रव हैं।

पापास्रव के कारण भूत उपर्युक्त विषय लोलुपता आदि भाव जितने अंश से अथवा जितने काल तक रोके जाते हैं, उतने अंश से और उतने काल तक पापास्रव का द्वार रोका जाता है। राग, द्वेष, मोह का निरोध होने पर, समस्त कर्म मात्र का निरोध हो जाता है। मोह

राग द्वेष परिणाम का निरोध भाव संवर है। शुभ अशुभ परिणाम अविशेष रूप से संसार के कारण जानकर, जब सबसे निवृत्त योगी को शुभ परिणाम रूप पुण्य और अशुभ परिणाम रूप पाप नहीं होता, तब उसके शुभाशुभ भाव कृत द्रव्यकर्म का संवर प्रसिद्ध होता है। इसलिए शुद्धोपयोग भाव- संवर है और उस निमित्तक द्रव्यकर्म का निरोध द्रव्य संवर है।

शुभाशुभ परिणाम के निरोध रूप भाव संवर से और शुद्धोपयोग से युक्त ज्ञानी अन्तरंग बहिरंग तप के द्वारा चेष्टा करता है, तब वह निश्चय से बहुत कर्मों की निर्जरा करता है। बारह प्रकार के तप से वृद्धिंगत, वीतराग परमानंद जिसका एक लक्षण है, ऐसा शुद्धोपयोग भावनिर्जरा है। उस शुद्धोपयोग की सामर्थ्य से पूर्वोपार्जित कर्मों का एक देश क्षय द्रव्य निर्जरा है। आत्मध्यान मुख्य रूप से निर्जरा का कारण है। जिस प्रकार स्तोक भी अग्नि प्रचुर तृण काष्ठ राशि को थोडे ही काल में जलाती है, उसी प्रकार मोह राग द्वेष विभाव के त्याग रूप महा वायु से प्रज्वलित ध्यान अग्नि, शुभाशुभकर्म ईंधन राशि को क्षण मात्र में जलाती है। इस पंचम काल में धर्मध्यान का निषेध नहीं है। आज भी जीव, आत्मा का ध्यान करके इन्द्रत्व और लौकान्तिक देव पद को प्राप्त करता है। वहाँ से च्युत होकर मनुष्यपने को प्राप्त करके निर्वाण को जाता है।

यदि आत्मा शुभाशुभ परिणाम करता है, तो अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों से बंध होता है। मोह राग द्वेष से स्निग्ध शुभाशुभ परिणाम जीव का भावबंध है। उसके निमित्त से जीव के साथ कर्म पुद्गलों का संश्लेष द्रव्यबंध है। मन, वचन, काय से उत्पन्न आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन योग है। योग के निमित्त से पुद्गल कर्मों का ग्रहण होता है। अर्थात् योग से कार्मण वर्गणा ज्ञानावरणादि रूप से परिणमती हैं और कर्म प्रकृति परमाणुओं का वर्गीकरण होता है। उसी समय रागद्वेष मोहादि जीव के परिणामों के अनुसार कर्म पुद्गलों की स्थिति और फलदान शक्ति निश्चित होती है। स्थिति बंध और अनुभाग बंध ही वास्तव में बंध हैं।

इस कारण से, बंध के बहिरंग कारण योग और अन्तरंग कारण जीवभाव हैं। उदयागत द्रव्य प्रत्यय ही बंध के बहिरंग निमित्त हैं। उदयागत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्य प्रत्यय, नवीन आठ प्रकार के द्रव्य कर्मों के कारण हैं। उनके भी जीवगत रागादिक कारण हैं।

जिस कारण से जीवगत रागादिक कारण हैं, उस कारण से रागादिकों का अभाव होने पर द्रव्य प्रत्ययों के विद्यमान होने पर भी कर्म बन्ध नहीं होता। इसलिए द्रव्य प्रत्यय बंध के बहिरंग कारण हैं और रागादिक ही निश्चय से बंध के कारण हैं।

द्रव्य प्रत्यय रूप हेतु का अभाव होने पर ज्ञानी के जीव आश्रित रागादि आस्रव का निरोध होता है। भाव आस्रव का निरोध होने पर कर्म का निरोध होता है। कर्म के अभाव से जीव सर्वज्ञ, सर्वलोक दर्शी होकर अतीन्द्रिय, अव्याबाध, अनन्त सुख को प्राप्त करता है। यह ही जीवन मुक्ति रूप भावमोक्ष है। उसके निमित्त से सर्वकर्मों का सर्वथा विप्रमोक्ष द्रव्यमोक्ष कहा जाता है। अपने शुद्धात्म स्वरूप में अविचल स्थिति ही ध्यान है। ध्यान ही कर्म क्षय का कारण है।

तृतीय अधिकार :-

ज्ञान दर्शन जीव का स्वभाव है। उस ज्ञान दर्शन में नियत अवस्थित, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप वृत्तिमय जो अस्तित्व है, वह राग आदि परिणति का अभाव होने से अनिन्दित चारित्र है, वही मोक्षमार्ग है। संसारी जीवों में दो प्रकार का चारित्र है, स्वचारित्र और परचारित्र | उनमें प्रथम, अनादि मोह के उदय के वश होने से मतिज्ञान आदि विभाव गुण और नर नारक आदि विभाव पर्याय से परिणत जो परसमय रत हैं, वह परचारित्र है। परन्तु जब भेद विज्ञान के बलसे, शुद्ध बुद्ध एक स्वभावी, एक आत्मा की भावना करता है, तब जो स्व समय में रत है, वह स्व चारित्र है। स्वभाव में अवस्थित अस्तित्व स्वरूप स्वचारित्र है और परभाव में अवस्थित अस्तित्व स्वरूप पर चारित्र है। जो निज शुद्धात्म द्रव्य से भ्रष्ट होकर रागभावरूप से परिणमन करके समस्त पर द्रव्यों में शुभ अथवा अशुभ भाव करता है, वह स्वकीय चारित्र से भ्रष्ट होकर पर चारित्र का आचरण करने वाला है। परचारित्र रूप से परिणत पुरुष को पुण्य अथवा पाप का आस्रव होता है ।

जो जीव सर्व संग मुक्त होकर एकाग्र मन से निज आत्मा को निर्विकल्प रूप से जानता देखता है, वह स्वचारित्र का अनुभव करता है। मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र रूप परसमय प्रवृत्ति बंध मार्ग है। सम्यग्दर्शन ज्ञान युक्त स्व समय प्रवृत्ति मोक्षमार्ग है। यदि चारित्र, सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित और राग द्वेष रहित होता है तो वह मोक्ष का कारण है, अन्यथा नहीं। धर्मादि श्रद्धान सम्यक्त्व है, उनका अधिगम ज्ञान है, बारह प्रकार के तप में चेष्टा चारित्र है। ऐसे व्यवहार रत्नत्रय का परिणाम व्यवहार से, निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है। निश्चय नय से दर्शन ज्ञान चारित्र से समाहित आत्मा ही मोक्षमार्ग है। स्वर्णपाषाण के समान निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्य साधक भाव है।

मोहनीय के क्षयोपशम आदि होने पर जीव, तत्त्व श्रद्धान आदि भावों को प्राप्त करता है। उसी समय अन्तरंग में निज शुद्ध आत्मा की रुचि, परिच्छित्ति, निश्चल अनुभूति रूप निश्चय

रत्नत्रय परिणाम भी व्यक्त होता है। निश्चय रत्नत्रय आत्मा की अन्तरंग शुद्धि है। अन्तरंग शुद्धि विद्यमान होने पर बाह्य रूप से व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प रहता ही है, इसलिए शुभोपयोग रत्नत्रय का साधन कहा है। स्वभाव की प्रतिकूलता दु:ख का कारण है। आत्मा का दृशि, ज्ञप्ति स्वभाव है। त्रिलोक, त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण द्रव्य पर्यायों का सामान्य रूप से अथवा विशेष रूप से एक साथ प्रतिभासन् स्वभाव का सहज कार्य है।

परन्तु वहाँ पर कर्मोदय, क्रम, इन्द्रियाँ आदि के द्वारा प्रतिबन्ध होता है। अतः दुःख है। प्रतिबन्ध के नष्ट होने पर, निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करता है। भव्यजीव ही इस प्रकार के निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न अतीन्दिय सुख को उपादेय मानता है। अभव्य जीव नहीं। भव्य ही मोक्षमार्ग का साधक हो सकता है। अभव्य नहीं | दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणाम बंध और मोक्ष का कारण है। व्यवहार रत्नत्रय शुभोपयोग परसमय की प्रवृत्ति से मिश्रित दर्शन-ज्ञान चारित्र बंध के कारण हैं। परन्तु जब सम्पूर्ण परसमय की प्रवृत्ति की निवृत्ति रूप स्वसमय प्रवृत्ति से संगति करते हैं, तब साक्षात् मोक्ष के ही कारण हैं।

निर्विकल्प परम समाधिरूप सामायिक संयम में स्थिर रहने के लिए समर्थ होने पर भी, उसे छोड़कर यदि अज्ञान के कारण शुभोपयोगरूप सराग चारित्र को एकान्त से मोक्ष का कारण मानता है तो वह स्थूल परसमय मिथ्यादृष्टि है। यदि पुन: वहाँ स्थिर रहने की इच्छा करता हुआ, सामग्री की विकलता से अशुभ से बचने के लिए शुभोपयोग करता है तो वह सूक्ष्म परसमय सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। अर्हद् आदि में भक्ति सम्पन्न जीव, राग की कणिका जीवन्त होने से बहुश: पुण्य का बंध करता है। निश्चय से कर्मक्षय का आरम्भ नहीं करता है।

जिसके हृदय में शुभ अशुभ परद्रव्य सम्बन्धी, परमाणुमात्र भी राग विद्यमान है, वह सर्व शास्त्र में पारंगत रहते हुए भी स्वस्वरूप को नहीं जानता | सर्व अनर्थ परम्पराओं का मूल राग ही है। इसलिए मोक्षार्थियों के द्वारा निसंग, निर्मम होकर सिद्धगुण सदृश अनन्त ज्ञानात्मक गुणों में पारमार्थिक एवं स्वसंवित्तिरूप सिद्ध भक्ति करनी चाहिए। उससे निर्वाण को प्राप्त होता है।

अर्हद् आदि की भक्तिरूप परसमय की प्रवृत्ति से साक्षात् मोक्ष हेतुत्व का अभाव होने पर भी परम्परा से मोक्ष का हेतुत्व होता है। जो अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन में भक्त होकर उत्कृष्ट रूप से तप कर्म करता है, वह नियम से देवलोक को प्राप्त करता है, भवान्तर में पुनः परमात्म भावना की स्थिरता होने से मोक्ष को जाता है। पञ्चास्तिकाय प्राभृत शास्त्र का वीतरागता ही तात्पर्य है। जिस कारण से इस शास्त्र में निरुपाधि चैतन्य प्रकाश रूप वीतरागता दिखाई है, उस कारण से मोक्षाभिलाषी भव्य जीव अर्हद् आदि विषय में भी राग न करें। उससे

वह वीतरागी होकर संसार सागर को उत्तीर्ण करके मोक्ष को प्राप्त करता है। वह पुन: वीतरागता, परस्पर सापेक्ष निश्चय व्यवहार नय के द्वारा साध्यसाधक रूप से मोक्ष की सिद्धि के लिए कारण होती है, न पुन: निरपेक्षरूपसे।

जयसेन आचार्य की वृत्ति में प्राप्त होने वाली अतिरिक्त गाथाएँ :-

पञ्चास्तिकाय संग्रह में अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीका के अनुसार १७१ गाथाएँ (मुद्रित प्रति के अनुसार १७३ गाथाएँ) हैं। परन्तु जयसेन आचार्य की वृत्ति के अनुसार १८१ गाथाएँ प्राप्त होती हैं। अत: अमृतचन्द्र आचार्य की टीका से जयसेन आचार्य की वृत्ति में १० गाथाएँ अधिक हैं। प्रथम अधिकार में काल द्रव्य के वर्णन में २३ वीं गाथा के अनन्तर एक गाथा है।

जीवास्तिकाय के व्याख्यान में ४३वी गाथा के पश्चात् ६ गाथाएँ हैं। पुद्गल अस्तिकाय के प्ररूपण में ७६वीं गाथा के अनन्तर एक गाथा है। द्वितीय अधिकार में व्यवहार रत्नत्रय के स्वरूप वर्णन में १०६वीं गाथा के पश्चात् एक गाथा है। जीव पदार्थ के व्याख्यान में १११ वीं गाथा के पश्चात् एक गाथा उपलब्ध होती है। जयसेन आचार्य की वृत्ति में इन गाथाओं का क्रमांक २४, ४४,४५ ४६,४७,४८,४९, ८३, ११४, ११९ है।

दस गाथाओं में से प्रथम गाथा में काल द्रव्य के स्वरूप का वर्णन है। वह विषय वर्णन के अनुसार आवश्यक ही प्रतीत होता है। उसके अनन्तर छह गाथाओं में क्रमश: मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान और अज्ञान रूप उपयोगों का और उनके भेदों का वर्णन है। वह उपयोग अधिकार में प्रकृत ही है। ४४ वीं गाथा में मतिज्ञान तीन प्रकार से कहा है। उपलब्धि, भावना और उपयोग।

मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली पदार्थ के ग्रहण करने की शक्ति 'उपलब्धि' है। पदार्थ के ज्ञान होने पर पुन: पुन: चिंतन यह भावना है। "यह नीला है, यह पीला है" इत्यादि रूप पदार्थ को ग्रहण करने का व्यापार उपयोग है। इस गाथा के भावार्थ में जयसेन आचार्य लिखते हैं कि "अत्र निर्विकारशुद्धात्मानुभूत्यभिमुखं यन्मतिज्ञानं तदेवोपादेयभूतानन्त-सुखसाधकत्वान्निश्चयेनोपादेयं तत्साधकं बहिरंगं पुनर्व्यवहारेणेति तात्पर्यम्" यहाँ पर निर्विकार शुद्धात्मानुभूति के सम्मुख जो मतिज्ञान है, वह ही उपादेयभूत अनन्त सुख का साधक होने से निश्चय से उपादेय है और उसका साधक बहिरंग मतिज्ञान व्यवहार नय से उपादेय है, ऐसा तात्पर्य है। ४५वीं गाथा में श्रुतज्ञान के उपलब्धि, भावना, उपयोग और नय- ऐसे चार भेद कहें हैं। वहाँ उपयोग शब्द का अर्थ वस्तु ग्राहक प्रमाण; नय शब्द का अर्थ, वस्तु के एक देश का

ग्राहक ज्ञाता का अभिप्राय नय है, ऐसा कहा है | ४६, ४७,४८ गाथाओं में क्रमश: अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान का वर्णन किया है। ४९ वीं गाथा में द्रव्य मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान भी अज्ञान है। द्रव्य मिथ्यात्वरूप आवरण का भी कारण भाव आवरण कहा है। यहाँ पर भाव शब्द का अर्थ तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण भाव सम्यक्त्व कहा है, उसका जो आवरण, वह भाव मिथ्यात्व है। उस कारण से, भाव आवरण से अज्ञान व अविरति भाव होता है तथा सुनय दुर्नय रूप होता है। प्रमाण दु:प्रमाण होते हैं , ऐसा कहा है।

८३ नं. की गाथा में स्कंध के छह भेद बताये हैं, उनका भी वर्णन प्रकरण संगत ही है। ११४ वीं गाथा में व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है। जिनेन्द्र भगवान ने कहे हुए सम्पूर्ण भावों का श्रद्धान करने वाले भव्य जीव के मतिज्ञान और मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होने पर, “यह दार्शनिक पुरुष है,” ऐसी संज्ञा होती है। इस सूत्र में "यद्यपि क्वापि निर्विकल्प समाधिकाले निर्विकार शुद्धात्मरुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं स्पृशति तथापि प्रचुरेण बहिरंगपदार्थरुचिरूपं यद् व्यवहारसम्यक्त्वं तस्यैव तत्र मुख्यता"। "यद्यपि कभी कभी निर्विकल्प समाधि के काल में निर्विकार शुद्ध आत्मा की रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व को स्पर्श करता है, तथापि प्रचुर रूप से बाह्य पदार्थों की रुचि रूप जो व्यवहार है, उसकी ही वहाँ पर मुख्यता है, ऐसा कहा है।

इससे गृहस्थ के व्यवहार सम्यक्त्व के साथ निश्चय सम्यक्त्व होता है, ऐसा निश्चय होता है। ११९ वीं गाथा के व्यवहार से अग्निकायिक, वायुकायिक को भी त्रसपना दिखाया है।

इस प्रकार उपर्युक्त १० गाथाओं में प्रतिपादित विषय इस ग्रन्थ के विषय और प्रकरणों के अनुकूल ही है। ये गाथाएँ प्रतिकूल और अनावश्यक नहीं हैं। गाथाओं की भाषा भी कुन्दकुन्द आचार्य की गाथाओं की शैली से पृथक् नहीं हैं। अतः ये गाथाएँ बाह्य और क्षेपक दिखायी नहीं देती हैं। परन्तु जयसेन आचार्य ने मूलग्रन्थ के अंगभूत गाथा रूप से इनका स्पष्ट उल्लेख किया है।

तात्पर्यवृत्ति का कौशल्य :-

पञ्चास्तिकाय संग्रह के ऊपर लिखी हुई तात्पर्यवृत्ति संस्कृत भाषा में है। तात्पर्यवृत्ति के नाम से ही वृत्ति का अन्तरंग जाना जाता है। प्रत्येक गाथा के अन्त में उसका सारभूत तात्पर्य अर्थ बताया है। पाठकों के हाथ में मानो अनायास नवनीत ही प्राप्त होता है। यह वृत्ति, भेद विज्ञान और स्वसंवेदन के प्रति साधक को ले जाती है। न्याय और तर्क से कसी हुई यह वृत्ति है। यह जैनागम के शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगम और भावार्थ के रूप पाँच प्रकार से पदार्थ की कथन पद्धति का अनुसरण करती है।

इस वृत्ति में प्रत्येक गाथा गतपदों की सार्थकता और प्रयोजन प्रतिपादित किया है। उसके उदाहरण स्वरूप प्रथम गाथा की वृत्ति देखिये :- प्रथम मंगलाचरण गाथा में चार विशेषणों से विशिष्ट जिनेन्द्र देव को नमस्कार किया है। उन चार विशेषणों का प्रयोजन और सार्थकता जयसेन आचार्य ने युक्तिसहित बतायी है। वहाँ - १) इंदसदवंदियाणं" यह विशेषण पूजा अतिशय बताने के लिए कहा है, अर्थात् जिनेन्द्र ही सौ इन्द्रों के द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं, अन्य नहीं। २) "तिहुअण हिदमधुर विसदवक्काणं " इससे हितोपदेश रूप वचन अतिशय दिखाया है। उनका वचन ही प्रमाण है एकान्त से अपौरुषेय वचन नहीं | ३)" अंतातीदगुणाणं" इस विशेषण से केवलज्ञानरूप ज्ञान अतिशय बताया है। ४) "जिदभवाणं" इस विशेषण से घातिकर्म के नाश से होने वाला अतिशय बताया है। कृतकृत्यपना प्रकट होने से अन्य अकृतकृत्य जीवों को वें ही शरण है, अन्य नहीं, ऐसा प्रतिपादित होता है।

इसी वृत्ति में मंगलाचरण का विस्तार से वर्णन है। नमस्कार तीन प्रकार से कहा है। शब्द उच्चारणरूप द्रव्य नमस्कार, अनन्तज्ञान आदि गुणों के स्मरण रूप भाव नमस्कार, अपने में ही आराध्य, आराधक रूप निश्चय नमस्कार।

मंगलाचरण करने से पाप का विनाश, पुण्य की प्राप्ति, नास्तिकता का परिहार, शिष्टाचार का पालन, ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति, कृतज्ञता का पालन आदि गुण होते हैं। शास्त्र के प्रारम्भ में, व्याख्यान करने योग्य मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्तृत्व रूप छह अधिकारों का व्याख्यान जयसेन आचार्य ने किया है। मल अर्थात् पाप को गलाता है, उसे मंगल कहते हैं, अथवा मंग अर्थात् पुण्य, सुख को लाता है, उसे मंगल कहते हैं।

मंगल दो प्रकार का है। १) मुख्य मंगल २) गौण मंगल | मुख्य मंगल तीन प्रकार का है। १) आदि मंगल २) मध्य मंगल ३) अंत मंगल। आदि मंगल करने से शिष्य शीघ्र विद्या में पारंगत होते हैं। मध्य मंगल करने से निर्विघ्नता से विद्या प्राप्त होती है। अन्त में मंगल करने से विद्या का फल अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है। गौण मंगल आठ प्रकार का है। १) सिद्धार्थ (सरसों), २) पूर्णकुम्भ, ३) वन्दनमाला, ४) श्वेत छत्र ५) श्वेत वर्ण, ६) दर्पण, ७) अश्व, ८) कन्या।

मंगल दो प्रकार का है। १) निबद्ध मंगल २) अनिबद्ध मंगल जो शास्त्र के प्रारम्भ में, ग्रन्थकार के द्वारा स्वयं इष्ट देवता का नमस्कार निबद्ध किया जाता है, वह निबद्ध मंगल है। जो शास्त्र के प्रारम्भ में ग्रन्थकार के द्वारा स्वयं देवता नमस्कार निबद्ध नहीं किया जाता है, दूसरे शास्त्रों से ग्रहण किया जाता है, वह अनिबद्ध मंगल है। शास्त्र स्वयं मंगल है तथापि भक्ति के लिए मंगल का भी मंगल किया जाता है।

कारण निमित्त को कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति में भव्य जीवों का पुण्य उदय ही निमित्त है। प्राभृत ग्रन्थ में शिवकुमार महाराज निमित्त हैं। फल को हेतु कहते हैं। हेतु दो प्रकार का है :-१) प्रत्यक्ष हेतु २) परोक्ष हेतु ; उनमें प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकार का है, साक्षात् और परम्परा। अज्ञान का विनाश, सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति, असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा, साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु हैं। शिष्य, प्रतिशिष्य आदिकों के द्वारा सतत् पूजा, प्रशंसा, शिष्य निष्पत्ति आदि परम्परा प्रत्यक्ष हेतु हैं। परोक्ष हेतु दो प्रकार का है, १. अभ्युदय २. नैश्रेयस; तथा साता आदि प्रशस्त कर्म के तीव्र अनुभाग के उदय से उत्पन्न इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देवों का सुख, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्ध मंडलीक, महामंडलीक, राजाधिराज, महाराजाधिराज परमेश्वर आदि दिव्य मनुष्य सम्बन्धी सुख यह अभ्युदय सुख है। अरिहन्त और सिद्धों का अतीन्द्रिय सुख नैश्रेयस है।

परिमाण, ग्रन्थ और अर्थ के भेद से दो प्रकार का है। जहाँ जितने ग्रन्थ की संख्या हो, वह ग्रन्थ परिमाण है। अर्थ का परिमाण अनन्त है। शिष्यों को हर्ष उत्पन्न करने के लिए और अति व्याकुलता का नाश करने के लिए परिमाण कहा जाता है।

नाम दो प्रकार का है। १) अन्वर्थ २) यदृच्छ | जिस प्रकार का नाम है, उस प्रकार का अर्थ होना, वह अन्वर्थ नाम है। जिस प्रकार जो तपता है, वह तपन अर्थात् सूर्य है। लकडी को ढोने वाले को ईश्वर कहना, यदृच्छ नाम है।

पञ्चास्तिकाय संग्रह यह अन्वर्थ नाम है, यह पहले ही बताया है।

कर्ता तीन प्रकार का है १. मूलतन्त्रकर्ता २. उत्तरतन्त्र कर्ता ३. उत्तरोत्तर तंत्र कर्ता। मूल तन्त्रकर्ता काल की अपेक्षा से- श्री वर्द्धमान स्वामी। उत्तर तन्त्रकर्ता - श्री गौतम स्वामी। उत्तरोत्तर तन्त्र कर्ता यथा संभव बहुत हैं। इससे जयसेन आचार्य की सूक्ष्म विवेचन पद्धति लक्षित होती है। उन्होंने धवला आदि ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन करके, तदनुसार मंगल आदि छह अधिकारों का विवरण किया है। उसी प्रकार अन्यत्र भी पूर्वग्रन्थों के अनुसार, वस्तु विश्लेषण किया है। उन्होंने द्रव्य गुण पर्यायों की दृष्टान्त पूर्वक सिद्धि की है। काल द्रव्य की भी प्रश्नोत्तर के माध्यम से दृष्टान्त द्वारा सिद्धि की है। आगे चौथे अध्याय में उसका विस्तार से वर्णन करेंगे। इसलिए यहाँ नहीं लिखा जाता है। वहीं से जानना चाहिए।

२६ गाथा के पश्चात् मूलाचार से उद्धृत गाथा को आधार बनाकर बारह प्रकार से छह द्रव्यों का विस्तार से वर्णन किया है, वह गाथा इस प्रकार है :-

"परिणाम जीव मुत्तं सपदेसं एय खेत्त किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदिदरं हि यप्पवेसो ॥"[१]

इस गाथा में आये हुए " इदरं हि यप्पवेसो" इस शब्द का अर्थ मूलाचार टीका में प्राप्त नहीं होता है। मूलाचार के किन्हीं भी अनुवादकों ने इस शब्द का अर्थ नहीं लिखा है, परंतु जयसेन आचार्य ने अपनी रचित वृत्ति में उसका समीचीन अर्थ लिखा है, वह इस प्रकार हैं। "यद्यपि सर्वद्रव्य व्यवहार से एक क्षेत्रावगाही रूप से परस्पर अनुप्रवेश से रहते हैं। तथापि निश्चय से चेतन अचेतन आदि स्वकीय स्वरूप को नहीं छोड़ते।

"भट्टचार्वाक मतानुसारी शिष्य को प्रतिबोधन करने के लिए सर्वज्ञ की सिद्धि की है।" कोई पुरुष सर्वज्ञ है, क्योंकि बाधक प्रमाण का अभाव है | स्वसंवेद्य सुख, दुःख आदि के समान "अथवा दूसरा अनुमान कालान्तरित राम रावण आदि, देश से दूरवर्ती मेरु आदि, भाव से दूरवर्ती भूत आदिक, दूसरे के मन की वृत्तियां और परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थ, किसी पुरुष के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमान के विषय हैं। जो जो अनुमान का विषय है, वह वह किसी के प्रत्यक्ष है, जैसे अग्नि आदि। जो किसी को प्रत्यक्ष नहीं है, वह अनुमान का विषय भी नहीं है। जैसे आकाश पुष्प आदि। ये अनुमान के विषय है, इसलिए प्रत्यक्ष हैं। यदि इस देश में, इस काल में सर्वज्ञ नहीं हैं, तो यह बात सम्मत ही है। यदि सर्व देश और सर्व काल में सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा कहते हो तो तीनों जगत् सर्वज्ञ रहित हैं, यह कैसे जाना ? यदि जान लिया, तो जिसने जाना वही सर्वज्ञ है और यदि नहीं जाना, तो निषेध कैसे किया जाता है ?

जैसे कोई निषेधक, घट के आधारभूत भूतल को चक्षुसे देखकर पश्चात् कहता है कि इस भूतल पर घट नहीं है, परन्तु जो चक्षुरहित है, उसके पुन: यह वचन युक्त नहीं हैं। उसी प्रकार जो तीन लोक और तीनों कालों को सर्वज्ञ रहित जानता है, उसको तीनों जगत् और तीनों कालों में सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा कहना योग्य है। परन्तु जो तीनों जगत् और तीनों कालों को जानता है, वह सर्वज्ञ का निषेध किसी भी प्रकार से नहीं करता, क्योंकि तीन जगत् और तीन काल के परिज्ञान से वह स्वयं ही सर्वज्ञ है। सिद्ध भगवान, कर्मकलंक रहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, लोकाग्र में अव्याबाध, अतीन्द्रिय अनन्तसुख का अनुभव करते हुए रहते हैं।

---

१. मूलाचार, भाग १, गाथा ५४७, पृ. ४१२, ज्ञान पीठ प्रकाशन

उसी प्रकार प्रमाण सप्तभंगी, ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान का फल, सराग वीतराग सम्यग्दृष्टि, स्थूल परसमय और सूक्ष्म परसमय इत्यादि विषयों का विवेचन भी इस वृत्ति में प्राप्त होता है। उनका विवरण चतुर्थ अध्याय में करेंगे, इसलिए उसका विवेचन यहाँ नहीं करते हैं।

ग्रन्थ समाप्ति के पश्चात् परमात्मा के आराधक पुरुषों के छह काल कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं। १. दीक्षा काल २) शिक्षाकाल ३) गणपोषण काल ४) आत्म संस्कार काल ५) सल्लेखना काल ६) उत्तमार्थ काल | जयसेन आचार्य ने उपर्युक्त छह कालों का वर्णन अध्यात्म और आगम दोनों अपेक्षाओं से किया है। अध्यात्म अपेक्षा से इस प्रकार है:-

१) जब कोई आसन्न भव्य जीव भेदाभेद रत्नत्रयात्मक आचार्य को प्राप्त करके, आत्म आराधना के लिए, बाह्य अभ्यंतर परिग्रह का त्याग करके, जिनदीक्षा ग्रहण करता है, वह दीक्षा काल है।

२) दीक्षा के अनन्तर, निश्चय व्यवहार रत्नत्रय और परमात्म तत्त्व का परिज्ञान करने के लिए, उसके प्रतिपादक अध्यात्म शास्त्रों की जब शिक्षा ग्रहण करता है, वह शिक्षा काल है।

३) निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित होकर उसके अर्थी भव्य प्राणियों को परमात्मा के उपदेश से जब पोषण करता है, वह गणपोषण काल है।

४) जब गण को छोड़कर निज परमात्मा में शुद्ध संस्कार करता है, वह आत्म संस्कार काल है।

५) आत्म संस्कार के लिए अनन्त ज्ञान आदि गुण स्वरूप परमात्म पदार्थ में स्थित होकर राग आदि विकल्पों का कृश करना, भाव सल्लेखना है। उसके लिए कायक्लेश का अनुष्ठान, द्रव्य सल्लेखना है। उन दोनों का आचरण जब किया जाता है, वह सल्लेखना काल है।

६) उसके अनन्तर विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव आत्मद्रव्य का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठान, बाह्य द्रव्य की इच्छा का निरोध लक्षण युक्त तपश्चरणरूप जो निश्चय चार प्रकार की आराधना है, वह चरम शरीरी के उसी भव से मोक्ष योग्य, अचरम शरीरी के भवान्तर में मोक्ष योग्य है, उसको जब करता है, वह उत्तमार्थ काल है। इन छहों कालों के बीच में, कोई प्रथम काल में, कोई दूसरे काल में, कोई तीसरे आदि कालों में, केवलज्ञान को उत्पन्न करते हैं। छह काल का नियम नहीं है। इस प्रकार अध्यात्म की अपेक्षा से छह काल जानने योग्य हैं।

आगम भाषासे भी छह काल कहें हैं, वह इस प्रकार हैं :-

१. जब कोई चार प्रकार की आराधना के सम्मुख होकर पाँच आचारों से युक्त आचार्य को प्राप्त होकर दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित होकर जिनदीक्षा ग्रहण करता है, तब दीक्षा काल है।

२. दीक्षा के पश्चात् चार प्रकार की आराधनाओं का परिज्ञान करने के लिए आचार आराधना आदि चरणानुयोग के ग्रन्थों की शिक्षा ग्रहण करता है, तब शिक्षाकाल है।

३. शिक्षाकाल के पश्चात् चरणानुयोग में बताये हुए अर्थानुष्ठान से और व्याख्यान से तप, श्रुत, सत्त्व, एकत्व, संतोष रूप पाँच भावनाओं से सहित होकर शिष्य समूह का पोषण करता है, तब गण पोषण काल है।

४. उसके पश्चात् अपने गण को छोड़कर आत्म भावना का संस्कारार्थी होकर, पर संघ को जाता है, वह आत्म संस्कार काल है।

५. उसके पश्चात् आचार आराधना आदि में कथित मार्ग से क्रमश: द्रव्य और भाव सल्लेखना करता है, तब सल्लेखना काल है।

६. सल्लेखना के पश्चात् चार प्रकार की आराधना की भावना से समाधि विधि के द्वारा मरण करता है, तब वह उत्तमार्थ काल है।

अध्यात्म और आगम में कहे हुए इन कालों में परस्पर विरोध नहीं है, न ही भिन्नता है। केवल व्याख्यान शैली में अन्तर है। अध्यात्म की अपेक्षा से निश्चय व्याख्यान और आगम की अपेक्षा से व्यवहार व्याख्यान किया जाता है। इस प्रकार का वर्णन अन्यतर दिखाई नहीं देता। यह जयसेन आचार्य ने ही विशेष विवरण किया है।

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति

मूल ग्रन्थ का वैशिष्ट्य :-

प्रवचनसार नामक यह ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव ने ही रचा है। श्री जयसेन आचार्य ने अपनी तात्पर्यवृत्ति में १५,७१, १३६ और २१३वीं गाथाओं की वृत्तियों में कुन्दकुन्द आचार्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। इसीलिए कुन्दकुन्द आचार्य इसके रचयिता हैं , यह निश्चित होता है। द्वितीय श्रुतस्कंध के आद्य प्रणेता, अर्वाचीन निर्ग्रन्थ दिगम्बर यतियों में अग्रणी ये अध्यात्म जगत् में सर्वोपरि विराजमान हैं।

कुन्दकुन्द देव के द्वारा विरचित साहित्यरत्नाकर में समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय संग्रह, नियमसार, अष्टपाहुड ये पाँच परमागम, पाँचरत्नों के समान शोभित हैं।

उनमें भी आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा गुम्फित साहित्य मोतीमाला में समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसंग्रह ये तीन ग्रन्थ रत्न अमूल्य रत्नों के समान प्रकाशमान हैं। अतः इन तीनों ग्रन्थों का उल्लेख नाटकत्रय, प्राभृतत्रय, कुन्दकुन्द त्रयी, रत्नत्रयी, कुन्दकुन्द के तीन रत्न इत्यादि नामों से विद्वानों के द्वारा आदर किया जाता है। इन तीन परमागमों में हजारों शास्त्रों का सार समाविष्ट है। भगवान आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् लिखे हुए बहुत ग्रन्थों का भी बीज इस परमागम त्रय में विद्यमान है। इस प्रकार सूक्ष्मदृष्टि से ग्रन्थ सम्पदा के अवलोकन से स्पष्ट जाना जाता है कि द्वितीय श्रुतस्कंध में ये सब ग्रन्थ अन्तर्गर्भित हैं। इन सभी में ज्ञान की प्रधानता से शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का व्याख्यान है। अध्यात्मरीति से यहाँ आत्मा का ही अधिकार है। इन तीन ग्रन्थों के द्वारा पर द्रव्यों से पर निमित्त से उत्पन्न हुए विभावभावों से भिन्न आत्मा को जानकर, निज शुद्ध स्वरूप का अनुभव करके, शुद्धोपयोग में तन्मय जीव, कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करता है।[१]

इस प्रवचनसार नामक शास्त्र में नाम के अनुसार जिन प्रवचन का सार संग्रहित है। प्रमाण प्रमेय की मीमांसा करने वाला, दार्शनिक शैली में लिखा हुआ यह अद्वितीय ग्रन्थ है। समयसार परमागम में श्रद्धा प्रधान निरूपण है। परन्तु इस प्रवचनसार में ज्ञान प्रधान वर्णन है।

तीन श्रुतस्कन्धों में विभक्त यह पवित्र परमागम मुमुक्षुओं को यथार्थ वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए महा निमित्त भूत है। इस परमागम में जिन शासन के प्रमुख सिद्धान्तों का बीज अन्तर्हित है। इस ग्रन्थ में मुख्य गौण रूप से अन्तस्तत्त्व, बहिस्तत्त्व के निरूपण की मुख्यता है। इसमें प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता का उद्घोष तथा दिव्यध्वनि के द्वारा कहे हुए प्रयोजन भूत सिद्धान्तों का दोहन है। भगवान कुन्दकुन्द देव ने वास्तव में स्वरचित शास्त्र भंडार में जिनेन्द्र सर्वज्ञ तीर्थंकर के द्वारा समर्पित सिद्धान्त निधि को सुरक्षित रखकर के मोक्षमार्ग को स्थिर किया है।

इस पवित्र परमागम में तीन अधिकार विलसित होते हैं। प्रथम अधिकार में ज्ञानतत्त्व का प्रज्ञापन है। अनादि कालीन संसार से यह जीव अपनी अनात्मज्ञता के कारण अपने ज्ञानानंद स्वभाव को भूल गया है। अतः निजात्म स्वभावकी प्रसिद्धि के लिए, जीव के ज्ञानानंद स्वभाव को यहाँ प्रसिद्ध किया है। इस अधिकार में इन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रिय सुख में हेयपना दिखाकर, अतीन्द्रिय ज्ञान में उपादेयपना प्रतिपादित किया है।

---

१. प्रवचनसार प्रस्तावना - पं. मनोहरलाल

दूसरे अधिकार में ज्ञेय तत्त्व का अति विशद गंभीर वर्णन है। यह जीव भेद विज्ञान के अभाव के कारण निरन्तर दुःख का अनुभव करता है। इसलिए दुःख के मूल का उन्मूलन करने के लिए, भेद विज्ञान की भावना यहाँ भायी है। द्रव्य, गुण, पर्यायात्मक उत्पाद,व्यय,ध्रौव्यमय पदार्थों का सामान्य विशेष रूप से वर्णन करके सम्पूर्ण परद्रव्यों से भिन्न निजात्म तत्त्व का विवेचन किया है। प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता का उद्घोष यहाँ दिखायी देता है। यह अधिकार जिनशासन का आधार स्तम्भ है।

तृतीय अधिकार में, आत्मसाधक निर्ग्रन्थ यतियों के अन्तर्बाह्य स्वरूप का अतीव रोचक यथार्थ वर्णन दृष्टिगोचर होता है। चरणानुयोग सदृश विषयों का भी अध्यात्म प्रधान शैली में, निश्चय व्यवहार संधि पूर्वक चमत्कार पूर्ण वर्णन सुनकर यह प्रतिभासित होता है कि यह शान्त रस निर्भर अध्यात्म संगीत ही गाया जा रहा है।

ग्रन्थ रचना का निमित्त :-

करुणासागर आचार्य "सर्वजन हिताय स्वान्त सुखाय च' ग्रन्थ रचना का प्रयास करते हैं। इसलिए अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा है, वह इस प्रकार है : -

"परमानन्द सुधारस पिपासितानां हिताय भव्यानाम्।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम्॥

परमानन्द रूपी अमृतरस के पिपासु भव्य जीवों के हित के लिए यह प्रवचनसार की वृत्ति की जाती है। जिसमें तत्त्वों का स्पष्ट वर्णन किया है। तथापि ग्रन्थ रचना के अवसर पर, कहीं कोई आसन्न भव्यजीव विशेष निमित्त होता है। इस ग्रन्थ की रचना का विशेष निमित्त शिवकुमार महाराज थे। ऐसा कुछ प्रमाणों से जाना जाता है। प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में जयसेन आचार्य ने स्पष्ट कहा है:-

१) *कुन्दकुन्दाचार्यदेवा: सम्बोधनं कुर्वन्ति- हे शिवकुमार महाराज ! कोऽप्यासन्न भव्यः संक्षेपरूचिः पीठिका व्याख्यानमेव श्रुत्वात्मकार्यं करोति।* [१]

कुन्दकुन्द आचार्य देव सम्बोधन करते हैं कि, हे शिव कुमार महाराज, कोई आसन्न भव्यजीव संक्षेपरुचि पीठिका व्याख्यान को सुनकर ही आत्मकार्य करता है .....।

२) *कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पुनर्ज्ञानदर्शनाधिकारद्वयरूपग्रन्थसमाप्तिरूपेण समाप्तिं नीता शिवकुमारमहाराजेन तु तद्ग्रन्थश्रवणेन च।* [२]

---

१. प्रवचनसार-तात्पर्यवृत्ति, गा. १५ उत्थानिका

२. वहीं पर, गा. २१३

कुन्दकुन्द आचार्य देव ने ज्ञानाधिकार, दर्शनाधिकार इन दो रूप ग्रन्थ समाप्ति के रूप से समाप्ति को प्राप्त कराया। शिवकुमार महाराज ने तो उस ग्रन्थ को सुनने के द्वारा समाप्ति को कराया।

जयसेन आचार्य ने तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में ही "अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमार नामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्न -------- परम चारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति" ऐसा कहा है। अमृतचन्द्र आचार्य ने भी ग्रन्थ के प्रारम्भ में "कश्चिदासन्न संसार पारावार..... सर्वारम्भेण मोक्षमार्गसम्प्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते"ऐसा कहा है। यहाँ जो कोई आसन्न भव्य जीव शिव कुमार नामक है, वह कुन्दकुन्द आचार्य का शिष्य ही है, स्वयं कुन्दकुन्द आचार्य नहीं।

ग्रन्थ रचना काल :-

पञ्चास्तिकायसंग्रह संक्षेप रुचि शिष्यों को समझाने के लिए रचा गया है। वहाँ छह द्रव्य और सात तत्त्वों का विवेचन है। प्रवचनसार मध्यम रुचि शिष्यों को प्रतिबोधित करने के लिए रचा गया है। इसमें ज्ञान ज्ञेय तत्त्वों का विशद गम्भीर वर्णन है। अतः पञ्चास्तिकाय रचना के पश्चात् प्रवचनसार की रचना की गई है। यह प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थ की रचना विदेह क्षेत्र से आने के पश्चात् की गई है, यह कुछ प्रमाणों से सिद्ध होता है, वह इस प्रकार है :-

१. इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में मनुष्य क्षेत्र में वर्तमान सीमंधर स्वामी आदि विद्यमान बीस तीर्थंकरों का स्मरण किया है। इससे भी जाना जाता है कि कुन्दकुन्द आचार्य के हृदय में सीमंधर स्वामी के प्रति बहुमान उल्लसित था। उनके प्रति कृतज्ञता दिखाने के लिए उनका स्मरण किया है।

२. वहाँ विदेह क्षेत्र में केवली के पास केवलज्ञान की महिमा साक्षात् सुनी, देखी और अनुभव की। इसलिए प्रवचनसार के प्रथम अध्याय में केवलज्ञान का विशद स्वरूप और माहात्म्य विस्तार से कहा है। "अहो हि णाणस्स माहप्पं" ये सहज हृदय उद्‌गार उनके मुख से प्रस्फुटित हुए। केवली के ज्ञानानन्द के लिए आचार्य देव ने ऐसी भाव भरी ध्वनि की है, जिसको सुनकर और पढकर ऐसा प्रतीत होता है कि विदेह स्थित सीमंधर स्वामी के समीप से, केवली भगवन्तों के समूह में से भरत क्षेत्र में आकर तत्काल ही आचार्य देव ने यह अधिकार रचकर अपनी हृदय उर्मियों को व्यक्त किया है।[१]

---

१. प्रवचनसार प्रस्तावना - हिम्मतलाल शहा, पृ.सं. ७, भावनगर प्रकाशन

३. "जिणेहिं णिद्दिट्ठं" इत्यादि पदों से केवली भगवान को अर्थकर्ता बताकर शास्त्र प्रामाण्य का वर्णन करते हैं। अपने मन से यथेच्छ ग्रन्थ रचना का निषेध करते हैं।

४. इस ग्रन्थ का नाम प्रवचनसार रखा है। प्र= प्रकृष्ट; वचन = वाणी; अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि ही प्रवचन है, उसका सार यहाँ संग्रहीत है। इससे भी तर्क किया जा सकता है कि कुन्दकुन्द देव ने विदेह से आने के पश्चात् शीघ्र ही प्रवचनसार की रचना की है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने सदेह, विदेह क्षेत्र जाकर, सीमंधर सर्वज्ञ परमात्मा के मुख कमल से निकले हुए धर्मामृत को साक्षात् स्वकर्णपुटों से सुना था। इस प्रकार का रहस्य कितने ही अन्य प्रमाणों से सिद्ध होता है -

१. श्री देवसेन आचार्यने दर्शनसार नामक ग्रन्थ में उसका उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है:

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति"

यदि पद्मनन्दिनाथ सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि से प्रबोधित नहीं करते तो श्रमण सन्मार्ग को कैसे जानते। [१]

२. श्री जयसेन आचार्य ने भी पञ्चास्तिकायसंग्रह की तात्पर्यवृत्ति में भी इस विषय में उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है :

"श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतराग-सर्वज्ञतीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारित पदार्थच्छुद्धात्म-तत्त्वादिसार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य देवैः।"[२] इति

श्री कुमार नन्दि सिद्धान्त देव के शिष्य प्रसिद्ध कथा न्याय से, पूर्व विदेह जाकर वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर परम देव को देखकर, उनके मुख कमल से निकली हुई दिव्य वाणी के द्वारा सुने हुए और अवधारण किये हुए पदार्थों से शुद्धात्म तत्त्व आदि पदार्थ को ग्रहण करके पुनः आये हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव ने-----।

---

१. देवसेनाचार्य दर्शन सार, श्लोक सं ४३

२. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति प्रारम्भिक - उत्थानिका पृ. १

ग्रन्थ परिमाण :-

यह प्रवचनसार ग्रन्थ तीन अधिकारों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में जयसेन आचार्य विरचित तात्पर्यवृत्ति की अपेक्षा ३११ गाथाएँ हैं। उसमें ज्ञान नामक प्रथम महाधिकार में १०१ गाथा, दर्शन नामक द्वितीय महाधिकार में ११३ गाथा, चारित्र नामक तीसरे महाधिकार में ९७ गाथाएँ हैं।

अमृतचन्द्र आचार्य विरचित तत्त्वदीपिका नामक टीका में २७५ गाथाएँ उपलब्ध हैं। वहाँ ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन नामक प्रथम अधिकार में ९२ गाथाएँ, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन नामक द्वितीय अधिकार में १०८ गाथाएँ, चरणानुयोग सूचक चूलिका नामक तीसरे अधिकार में ७५ गाथाएँ हैं।

पहले ज्ञान नामक महाधिकार में शुद्धोपयोग, ज्ञान कण्डिका चतुष्टय, स्वतन्त्र चार गाथाएँ, ऐसे तीन अन्तराधिकार हैं। उनमें शुद्धोपयोग नामक अन्तराधिकार में १४ गाथाओं में पीठिका व्याख्यान है। सात गाथाओं से सामान्य से सर्वज्ञ की सिद्धि, उसके पश्चात् तैंतीस गाथा पर्यन्त ज्ञान का विस्तार, उसके पश्चात् अठारह गाथा पर्यन्त सुख का विस्तार, इस प्रकार चार अन्तराधिकारों के द्वारा बहत्तर गाथाएँ हैं। ज्ञान कण्डिका चतुष्टय नामक अन्तराधिकार में दस गाथाओं से शुभाशुभ विषय मूढत्व का निराकरण, उसके पश्चात् आप्त और आत्मा के ज्ञान के विषय में मूढत्व का निराकरण सात गाथा पर्यन्त है। छह गाथाओं के द्वारा द्रव्य गुण पर्याय का परिज्ञान विषयक अज्ञान का निराकरण है। दो गाथाओं से स्वपर तत्त्व के परिज्ञान के विषय में मूढता का निराकरण किया है। इस प्रकार ज्ञान कण्डिका चतुष्टय अन्तराधिकार में पच्चीस गाथाएँ हैं।

स्वतन्त्र चार गाथाओं में से सम्यक्त्व कथन रूप से पहली गाथा, रत्नत्रय के आधारभूत पुरुष के धर्म संभव है, इस कथन रूप से दूसरी गाथा, निश्चय धर्म युक्त तपोधन के भक्ति स्वरूप के कथन रूप से दो गाथा, इस प्रकार पृथग्भूत चार गाथाओं सहित दो अधिकारों में एक सौ एक गाथाओं से पहला महाधिकार है।

दूसरे दर्शन महाधिकार में चार अन्तराधिकार हैं। प्रथमतः पैंतीस गाथा पर्यंत सामान्य ज्ञेय व्याख्यान, उसके पश्चात् उन्नीस गाथा पर्यंत विशेष ज्ञेय व्याख्यान , उसके पश्चात् आठ गाथा पर्यन्त सामान्य भेद भावना, उसके पश्चात् इक्यावन गाथा पर्यन्त विशेष भेद भावना। इस प्रकार चार अधिकार के द्वारा और एक सौ तेरह गाथाओं से सम्यग्दर्शन अधिकार नामक, जिसका दूसरा नाम ज्ञेय अधिकार है, द्वितीय महाधिकार है।

तीसरे चारित्र अधिकार में चार अन्तराधिकार हैं। उसमें इक्कीस गाथाओं से उत्सर्ग रूप से चारित्र का संक्षेप व्याख्यान है। उसके पश्चात् तीस गाथाओं के द्वारा अपवाद रूप से चारित्र का विस्तार से व्याख्यान है। उसके पश्चात् चौदह गाथाओं से श्रामण्य अपरनाम मोक्षमार्ग व्याख्यान है। उसके अनन्तर बत्तीस गाथाओं से शुद्धोपयोग व्याख्यान है। इस प्रकार चार अन्तराधिकार के द्वारा सत्तानवे गाथाओं से चारित्र अधिकार नामक तीसरा महाधिकार है।

प्रतिपाद्य विषय :-

सम्पूर्ण विषयों में दो प्रकार का तत्त्व है। ज्ञान तत्त्व और ज्ञेय तत्त्व | ज्ञायक रूप चेतन पदार्थ ज्ञानतत्त्व है। ज्ञायमान चेतन अचेतन द्रव्यों का समूह ज्ञेय तत्त्व है। यह विश्व क्या है, इस विश्व में स्व का स्थान क्या है, ऐसी यह जिज्ञासा ही तत्त्वज्ञान का मूल आधार है। उन ज्ञान ज्ञेय तत्त्वों का निरूपण ही इस परमागम में विस्तार से किया है।

१. सम्यग्ज्ञान अधिकार :-

पाँच परमेष्ठियों के आश्रय से साधक भव्य जीव सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का लाभ होने में पंच परमेष्ठी निमित्तभूत हैं। सम्यग्दर्शन और ज्ञान की सफलता, वीतराग चारित्र के लाभ से ही होती है। निचली भूमिका में सराग चारित्र अवशता से प्राप्त होता है। शुभोपयोग में हेय बुद्धि से प्रवर्त्तमान ज्ञानी, शुद्धोपयोग की इच्छा करता है। दर्शन ज्ञान प्रधान वीतराग चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है। और सराग चारित्र से देवराज, मनुष्यराज की विभूति को उत्पन्न करने वाला विशेष पुण्यबंध होता है। अतः उपादेयभूत अतीन्द्रिय सुख का कारण होने से वीतराग चारित्र ही उपादेय है। हेयभूत इन्द्रिय सुख का कारण होने से सराग चारित्र हेय है।

अपने स्वरूप में चरण, चारित्र है। वही चारित्र, मिथ्यात्व राग आदि में संसरण रूप भावसंसार में गिरने वाले प्राणी को उठाकर निर्विकार शुद्ध चैतन्य में धरता है इसलिए धर्म है। वही धर्म संसार दुःख दाह का उपशमन करने वाला होने से शम है। और शम मोह राग द्वेष रहित आत्मा का निर्विकार परिणाम है। जो द्रव्य, जिस काल में, जिस भाव से परिणमता है, वह उस काल में उसके साथ तन्मय होता है। इसलिए धर्म से परिणत आत्मा ही धर्म है। शुभ भाव से परिणत आत्मा ही शुभ है। अशुभ भाव से परिणत आत्मा अशुभ है। जब उपाधि रहित शुद्ध स्फटिक के समान, शुद्ध भाव से परिणमन करता है, तब शुद्ध होता है। शुद्धोपयोग से निर्वाण सुख और शुभोपयोग से स्वर्ग सुख प्राप्त होता है। अशुभोपयोग से पुनः आत्मा कुमनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी होकर संसार में परिभ्रमण करता है।

शुद्धोपयोग का फल अतीन्द्रिय, अविनाशी, स्वाधीन, अतिशय स्वरूप, अनुपम, अविच्छिन्न सुख होता है। केवल आत्मा का आश्रय करने से ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अत: केवली भगवान सर्वथा भिन्न कारक से निरपेक्ष, स्वयंभू स्वतन्त्र हैं। उनके इन्द्रियों के बिना ज्ञानानन्द उत्पन्न होता है। उसका साधन स्वाश्रय रूप शुद्धोपयोग ही है। शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति के लिए अन्य कारक निमित्तों की अपेक्षा नहीं है। वह सर्वथा स्वाधीन है, क्योंकि वह स्वभाव पर्याय है। किसी भी स्वभाव पर्याय की अभिव्यक्ति में दर्शन – ज्ञान-चारित्र रूप परिणति स्वात्माभिमुख ही होती है। क्योंकि स्वलक्ष्य मात्र से पर निरपेक्ष जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसी की स्वभावपर्याय संज्ञा है। केवलज्ञान पर्याय स्वभावपर्याय स्वाधीन होने से, स्वयमेव प्रगट होने से स्वयंभू कही जाती है। निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकत्व सम्बन्ध नहीं है। इसलिए शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति के लिए बाह्य सामग्री को खोजने की व्यग्रता से परतन्त्र नहीं होना चाहिए।

शुद्धोपयोग की सामर्थ्य से स्वयंभू एक आत्मा को, इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान और आनन्द होते हैं, क्योंकि स्वभाव को पर की अपेक्षा नहीं होती। केवली परमात्मा स्वयं अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख रूप से परिणमते हैं। उनके स्वभाव सापेक्ष निरन्तर सूक्ष्म समयवर्ती परिणमन होता है, तथापि परमात्म पद का कभी भी विनाश नहीं होता। नष्ट हुई संसार पर्याय पुनः उत्पन्न नहीं होती। अतीन्द्रियपना होने से ही उनके शारीरिक सुख दुःख नहीं है।

सहज अतीन्द्रिय ज्ञान रूप से परिणत केवली भगवान, इन्द्रियों का अवलम्बन लेकर अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा पूर्वक क्रम से नहीं जानते। सम्पूर्ण आवरण के क्षय के क्षण ही क्रमप्रवृत्त क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव होने से एक साथ सम्पूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को व्याप्त करने से सभी द्रव्य, गुण, पर्याय इस आत्मा के प्रत्यक्ष हैं। अत: उस भगवान के कुछ भी परोक्ष नहीं है। आत्मा ज्ञान स्वभाव होने से ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञेय निष्ठ होने से ज्ञेय प्रमाण है, और ज्ञेय लोकालोक में विभक्त सम्पूर्ण विश्व है। अतः ज्ञान सर्वगत कहा जाता है। आत्मा और ज्ञान में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि भेद से अथवा गुण गुणी भेद से कथंचित भेद होने पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से अभेद है। इसलिए आत्मा ज्ञान से अधिक अथवा हीन नहीं है। यदि आत्मा ज्ञान से अधिक है, ऐसा मानेंगे तो ज्ञान गुण के अभाव में आत्मा भी अचेतन होगा, और यदि आत्मा हीन है तो स्वाश्रयभूत चेतनात्मक द्रव्य का अभाव होने से ज्ञान अचेतन होता हुआ कुछ भी नहीं जानेगा। इसलिए आत्मा ज्ञान प्रमाण ही स्वीकार करना चाहिए। केवलियों का ज्ञान परिमाण लोक अलोक सहित जो जितना है, उतने ज्ञेयाकार रूप है।

क्षयोपशम का अभाव होने पर क्रमवर्तीपने का अभाव होने से सम्पूर्ण वस्तु का समूह, केवलज्ञान में एक साथ प्रतिबिम्बित होता है। अतः भगवान केवलज्ञान की अपेक्षा से सर्वव्यापी सर्वगत हैं। सर्वगत ज्ञान के विषय होने से सभी पदार्थ ज्ञान गत हैं। ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। परन्तु ज्ञान न ज्ञेयों में प्रवेश करता है और न ज्ञेय ही ज्ञान में प्रवेश करते हैं। जिस प्रकार रूपी द्रव्यों का चक्षु के साथ परस्पर सम्बन्ध का अभाव होने पर भी वे अपने आकार को समर्पण करने में समर्थ हैं, और चक्षु उनके आकारों को ग्रहण करने में समर्थ है, उसी प्रकार सभी पदार्थ तीन काल की पर्यायों से परिणत ज्ञान के साथ, परस्पर प्रदेश संसर्ग का अभाव होने पर भी अपने आकार को समर्पण करने में समर्थ हैं। और केवलज्ञान उनके आकार को ग्रहण करने में समर्थ है। ज्ञानी, ज्ञेय पदार्थों में, निश्चयनय से अप्रविष्ट होने पर भी प्रविष्ट के समान प्रतिभासित होता है।

जिस प्रकार इन्द्रनील रत्न अपनी नील प्रभा से दूध को नीला करके वर्तता है, उसी प्रकार केवलज्ञान स्वपर को जानने की सामर्थ्य से सम्पूर्ण अज्ञान अन्धकार का तिरस्कार करके एक साथ सब पदार्थों में जानने के आकार रूप से रहता है। अतः सर्वगत ज्ञानी का पदार्थों के साथ यद्यपि व्यवहार से ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध है, तथापि केवली निश्चय से परद्रव्य को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं और पररूप से परिणमन नहीं करते। सब ओर से अशेष विश्व को पूर्णरूप से देखते हैं, जानते हैं। उस कारण से ज्ञेय पदार्थों के साथ अत्यन्त भिन्नपना ही है। जिस प्रकार केवलज्ञान से आत्मा का ज्ञान होता है, उसी प्रकार स्वसंवेदन भावश्रुत ज्ञान से भी आत्मा का परिज्ञान होता है। केवलज्ञानी के समान श्रुतकेवली भी ज्ञेय पदार्थों से भिन्न अपनी आत्मा का संचेतन ही करते हैं, इसलिए विशेष आकांक्षा के क्षोभ से बस हो, स्वरूप में निश्चल ही रहना चाहिए।

यद्यपि ज्ञायक आत्मा, अपने ज्ञान परिणामों में व्यापक होने से कर्ता होकर ज्ञान से व्याप्त होता है, इसलिए ज्ञान साधन है। इस प्रकार आत्मा और ज्ञान में संज्ञा, लक्षण, कारकों से भेद होने पर भी दहन क्रिया में समर्थ उष्ण गुण से परिणत अग्नि भी उष्ण कही जाती है, उसी प्रकार अर्थक्रिया परिच्छित्ति में समर्थ ज्ञान गुण से परिणत आत्मा भी ज्ञान कहा जाता है। सर्वथा ही भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञायक नहीं है। आत्मा अपनी अभिन्न कर्तृ कर्म शक्ति से सम्पन्न है। अत: ज्ञान और आत्मा में वस्तुभेद नहीं है।

जीव ही ज्ञान है और तीन काल की पर्याय से परिणत द्रव्य ज्ञेय है। वह ज्ञेय, स्व पर के भेद से दो प्रकार का है। जिस कारण से ज्ञान स्वपर को जानता है इसलिए दीपक के समान

स्व पर प्रकाशक है। ज्ञान स्वयं ही अपने आपको प्रकाशित करता है, उसको प्रकाशित करने के लिए दूसरे ज्ञान को खोजने की आवश्यकता नहीं है। जो स्वरूप को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है, वह पर को कैसे प्रकाशित करेगा ?

स्वभाव भूत केवलज्ञान में वर्तमान के समान भूत और भविष्य की पर्याय एक क्षण में प्रतिभासित होती हैं। भूत भावी पर्यायें अविद्यमान होने से असद्भूत हैं तथापि वर्तमान ज्ञान का विषय होने से सद्भूत कही जाती हैं। जिस प्रकार छद्मस्थ पुरुष के अतीत अनागत पर्यायें मन में चिन्तन करते हुए स्फुरायमान होती हैं, जिस प्रकार चित्र भित्ति में बाहुबली भरत अतीत रूप, श्रेणिक तीर्थंकर आदि भावीरूप, वर्तमान के समान प्रत्यक्ष से दिखायी देते हैं, उसी प्रकार चित्र भित्ति स्थानीय केवलज्ञान में भूत भविष्यत पर्यायें एक साथ प्रत्यक्ष से दिखाई देती हैं। इसमें विरोध नहीं है।

यदि ज्ञान, वर्तमान पर्याय के समान अतीत अनागत पर्यायें क्रमकरण व्यवधान से रहित साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं करता तो उसकी दिव्यता कैसे होगी। इन्द्रिय ज्ञान अतीत, अनागत, सूक्ष्म आदि पदार्थों को जानने में समर्थ नहीं है। इन्द्रियज्ञान मूर्त को ही जानता है, अमूर्त को नहीं। उनमें से स्थूल और वर्तमान को ही जानता है, सूक्ष्म और भूत भावी पर्याय समूह को नहीं जानता। क्रम से प्रवर्त होता है, एक साथ नहीं। उसी प्रकार उपदेश, अन्तःकरण, इन्द्रिय आदिकों की सहायता से अस्पष्ट जानता है, स्पष्ट नहीं। अतीन्द्रिय ज्ञान तो मूर्त-अमूर्त, सप्रदेश-अप्रदेश, अतीत-भावी पर्याय समूह, सबको एक साथ आत्मा के द्वारा ही प्रत्यक्ष स्पष्ट जानता है। उसी से सर्वज्ञ होता है।

जानना जीव का स्वभाव है। जानने की क्रिया में खेद होता है, ऐसा स्वभाव से अनभिज्ञ व्यक्ति कहता है। जिसके इष्ट अनिष्ट विकल्प रूप से ज्ञेय विषय में परिणमन है, उसके अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं है। अनन्त पदार्थों को जानने रूप से परिणमन करने पर भी, ज्ञान बंध का कारण नहीं है। रागादि रहित कर्मोदय भी बंध का कारण नहीं है। कर्मोदय होने पर जीव रागद्वेष रूप से परिणमता है, तब ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया से युक्त होता है।

उसी से ही बंध का अनुभव करता है, अतः रागादि बंध के कारण हैं, ज्ञान नहीं। केवलियों के रागादि का अभाव होने से धर्मोपदेश क्रिया विशेष भी बंध के कारण नहीं हैं।

केवलज्ञान ही सर्वज्ञ स्वरूप है। सब का परिज्ञान होने पर एक का परिज्ञान होता है, और एक का परिज्ञान होने पर सब का परिज्ञान होता है। वह इस प्रकार है :- आकाश द्रव्य जब एक है, धर्म द्रव्य एक है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य एक है। लोकाकाश के प्रदेशों के प्रमाण

असंख्यात काल द्रव्य, उससे अनन्त गुणे जीव द्रव्य, उससे भी अनन्त गुणे पुद्गल द्रव्य हैं। उसी प्रकार सभी की, प्रत्येक की अनन्त पर्यायें हैं, यह सब ज्ञेय है। उनमें एक जीव द्रव्य ज्ञाता है। यह आत्मा सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानता हुआ, सम्पूर्ण ज्ञेयाकार परिणत, अखण्ड एक ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा को जानता है। जिस प्रकार कोई भी अन्धा पुरुष, सूर्य से प्रकाशित करने योग्य पदार्थों को नहीं देखता हुआ, सूर्य को भी नहीं देखता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी केवलज्ञान के द्वारा प्रकाशित करने योग्य पदार्थों को नहीं जानता हुआ, अखण्ड एक केवलज्ञान स्वरूप अपने आत्मा को भी नहीं जानता। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जो सबको नहीं जानता, वह अपने को भी नहीं जानता। इसी प्रकार जो अनन्त ज्ञान विशेषों से व्याप्त प्रतिभासमय महा सामान्य रूप आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं जानता, वह पुरुष महा सामान्य से व्याप्त अनन्त ज्ञान विशेषों के विषय भूत अनन्त द्रव्य पर्यायों को कैसे जानेगा, अर्थात् किसी प्रकार से भी नहीं। इसलिए जो आत्मा को नहीं जानता, वह सबको नहीं जानता। जो ज्ञान क्रम से पदार्थों का आश्रय करके उत्पन्न होता है, उस ज्ञान से कोई जीव सर्वज्ञ नहीं होता है। एक साथ परिच्छित्ति रूप ज्ञान से सर्वज्ञ होता है।

ज्ञान से सौख्य अभिन्न है। वह ज्ञान और सौख्य दो प्रकार का है। १) अतीन्द्रिय २) इन्द्रियज। अतीन्द्रिय ज्ञान और सौख्य स्वभावभूत पर निरपेक्ष और परम उत्कृष्ट है, इसीलिए उपादेय है। अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप पहले कहा ही है। उस ज्ञान को अप्राप्त, अज्ञात, अजिज्ञासित कुछ भी नहीं है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान केवलज्ञान ही है। पर निरपेक्ष होने के कारण स्वयं उत्पन्न हुआ है। सर्व आत्मप्रदेशों से उत्पन्न, सम्पूर्ण अनन्त पदार्थों में विस्तृत, विमल, अवग्रह क्रमरहित है, इसलिए ऐकान्तिक सुख है। ऐसा निश्चय किया जाता है। उस केवलज्ञान को अनन्त पदार्थों को जानने से खेद अर्थात् दुःख नहीं है। उस केवलज्ञान के सुखत्व और दुःख का अभाव सिद्ध करने में चार हेतु हैं - १) जिस कारण से खेद के आयतन (कारण) घाति कर्म हैं, परिज्ञान मात्र नहीं; केवलियों के घाति कर्म का अभाव होने से केवलज्ञान में खेद का उद्भव कहाँ से होगा। २) जिस कारण से प्रत्यक्ष ज्ञान में परिणमन करने वाले उस भगवान के केवलज्ञान ही परिणाम है। केवलज्ञान से भिन्न परिणाम ही नहीं है, जिससे खेद होगा | ३) केवलज्ञान में स्वभाव के प्रतिघात के अभाव के निमित्त से सुख है। केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वभाव हैं। उन दोनों का प्रतिघात आवरण द्वय हैं। उसका अभाव केवलियों को है। उस कारण से उनके अक्षय अनन्त सुख होता है। ४) सर्व अनिष्ट का नाश होने से और सर्व इष्ट की प्राप्ति होने से, केवलज्ञान सौख्य ही है। जिस कारण से केवलियों के सुख के

प्रतिपक्षभूत आकुलता का उत्पादक अनिष्ट, दुःख और अज्ञान नष्ट हुआ है। सुख के अविनाभूत इष्ट ज्ञान प्राप्त हुआ है, इसलिए जाना जाता है कि केवलियों का ज्ञान ही सुख है।

परन्तु इन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय सुख का अर्थात् दुःख का ही साधन है। इन्द्रियों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द ग्रहण योग्य पुद्गल हैं। इन्द्रियाँ उन अपने विषयों को ही युगपत् ग्रहण नहीं करती हैं। इन्द्रिय ज्ञान स्पर्श आदि मूर्त वस्तु को ही जानता है, उसमें भी अपने आवरण क्षयोपशम के योग्य, कुछ स्थूल को जानता है, सूक्ष्म को नहीं जानता है। क्रम, करण व्यवधान से जानता है। एक साथ नहीं जानता। एकसाथ परिज्ञान का अभाव होने से, जितने अंश से नहीं जानता, उतने अंश में चित्त खेद का कारण होता है। खेद दुःख है, उस कारण से दुःख का उत्पादक होने से, इन्द्रिय ज्ञान हेय ही है।

परोक्ष ज्ञानियों को इन्द्रिय जो सुख है, वह परमार्थ से सुख नहीं है। जिस कारण से मनुष्य आदिक जीव, पारमार्थिक सुख का आस्वाद न लेते हुए, मूर्त इन्द्रिय ज्ञान और सुख के निमित्तभूत पाँचों इन्द्रियों में मैत्री करते हैं, उस कारण से विषयों में तीव्र तृष्णा उत्पन्न होती है। उस तृष्णा को सहन न करते हुए, विषयों का अनुभव करते हैं। उससे जाना जाता है कि पाँच इन्द्रियां व्याधि स्थानीय होने से और विषय उसके प्रतीकाररूप औषध के समान होने से संसारी जीवों को पारमार्थिक सुख नहीं है। जिस प्रकार रोगी औषधि को ग्रहण करता है, उसी प्रकार संसारी जीवों का विषयों में व्यापार दिखाई देता है। इसलिए जाना जाता है कि उनके दुःख है। व्याधि के बिना कोई औषधि का सेवन नहीं करता। जहाँ व्याधि है, वहाँ वेदना और आकुलता स्वभाव से है। इसलिए जिनकी विषयों में रति है, उनको दुःख स्वाभाविक है। दुर्निवार इन्द्रिय की वेदना से वशीकृत जीवों का मरण निकट होने पर भी विषयों में पतन देखा जाता है। वे अवश्यंभावी मरण को भी नहीं गिनते हैं।

परमार्थ से ज्ञान ही सुख का साधन है। अज्ञानी जीव शरीर, इन्द्रिय और उनके विषयों को सुख का साधन मानते हैं। परन्तु जीव से भिन्न अचेतन शरीर, चेतनमय सुख परिणति का कारण कैसे होगा। मुक्तात्माओं के शरीर का अभाव होने पर भी सुख है। संसार में देहधारियों को भी, देह सुखका साधन दिखाई नहीं देता। वहाँ पर भी स्वयं आत्मा ही विषयाधीन होने से सुखरूप अथवा दुःखरूप परिणमन करता है, शरीर और विषय नहीं। निश्चय से आत्मा ही सुख स्वभावी है। यदि नक्तञ्चर (रात्रि में जिनको दिखाई देता है) की दृष्टि स्वयं ही अंधकार को दूर करने वाली है, तो उसको दीपक से क्या तात्पर्य ? उसी प्रकार आत्मा स्वयं सौख्य है तो

उसको विषयों से क्या प्रयोजन, अर्थात् कुछ भी नहीं। अतः इस आत्मा के सुख के साधनाभास रूप विषयों से बस हो। अर्थात् सुख के इच्छुकों को विषयों में रति नहीं करनी चाहिए।

इन्द्रिय सुख का कारण शुभोपयोग है। देव शास्त्र गुरुओं की पूजा में, चार प्रकार के दानों में, शील व्रत उपवास आदिकों में उपयुक्त जीव शुभोपयोगी है। शुभोपयोग की सामर्थ्य से यह आत्मा तिर्यञ्च, मनुष्य, देव पर्याय को प्राप्त करके विविध इन्द्रिय सुख को प्राप्त करता है। परन्तु पुण्यजन्य इन्द्रिय सुख पराधीन, बाधा सहित, विच्छिन्न, बंध का कारण और विषम है, उस कारण से दुःख ही है। इन्द्रिय सुख के भागी प्रधान देवेन्द्र आदिकों को भी स्वाभाविक सुख नहीं है, प्रत्युत उनके स्वाभाविक दुःख ही देखा जाता है। क्योंकि वे शरीर की वेदना से पीडित होकर रम्याभास विषयों में रमते हैं। दुष्ट रक्त में जलोका के समान आसक्त सुखाभास से शरीर, परिवार आदि की वृद्धि करते हैं। यदि शुभोपयोग के फल को भोगने वाले देव आदि अशुभोपयोग के फल को भोगने वाले नारकी आदि दोनों भी स्वाभाविक सुख का अभाव होने से शरीर के निमित्त से दुःख का ही अनुभव करते हैं। इसलिए परमार्थ से शुभोपयोग और अशुभोपयोग में भिन्नत्व नहीं है। दुःख कारण की अपेक्षा से समानत्व ही है। देव पर्यन्त के सभी संसारी पुण्य से उत्पन्न होने वाली तृष्णाओं से अत्यन्त दुखित होते हुए मरण पर्यन्त विषयों की इच्छा करते हैं और उनका अनुभव करते हैं, इसलिए तृष्णा का उत्पादक होने से पुण्य दुःख के कारण ही है। इसलिए निश्चय से पुण्य और पाप में विशेष (भेद) नहीं हैं।

इस प्रकार शुभ और अशुभ में समानता जानकर, दुःखक्षय के लिए शुद्धोपयोग का अनुष्ठान करना चाहिए। शुद्धोपयोग के अभाव में मोह आदि का विनाश नहीं होता, मोह आदि के विनाश के अभाव में शुद्धात्मा का लाभ नहीं होता। जो अरिहन्त को द्रव्य, गुण, पर्याय से जानता है, वह निज शुद्धात्मा को जानता है। आत्म परिज्ञान से उसका दर्शन मोहरूपी अन्धकार प्रलय को प्राप्त होता है। इस प्रकार शुद्धात्म चिंतामणि प्राप्त होने पर ही, उसके लूटने वाले, प्रमाद के उत्पादक चारित्रमोह नामक चोर हैं। अतः उनसे रक्षणार्थ रागद्वेष का निषेध करने के लिए अत्यन्त जागरूक होना चाहिए।

द्रव्य गुण पर्यायों में तत्त्व की अप्राप्ति का जो लक्षण है, ऐसा मूढभाव दर्शनमोह है। इष्ट अनिष्ट इन्द्रियों के विषय में हर्ष विषाद रूप रागद्वेष, चारित्र मोह है। राग द्वेष मोहबन्ध के कारण हैं। इसलिए राग आदि रहित शुद्धात्मा के ध्यान से उनका निर्मूल नाश करना चाहिए। शुद्धात्मा के परिज्ञान के बिना शुद्धात्मा का ध्यान नहीं होता और शुद्धात्मा के ज्ञान के लिए प्रथम आगम अभ्यास आवश्यक है। जिनप्रणीत शास्त्रों से शुद्धात्मा आदि पदार्थों को प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों

से जानने वाले जीव का मोह नष्ट होता है। इसलिए मोक्षार्थी भव्य जीवों को आगम का अभ्यास करना चाहिए। दुर्लभ जैन उपदेश को प्राप्त करके, वीतराग चारित्र नामक तीक्ष्ण खड्ग को मोह राग द्वेष शत्रुओं पर जो डालता है, वहीं दुःख क्षय को प्राप्त करता है।

स्व और पर स्वरूप में भेदज्ञान होने से मोह का क्षय होता है। इसलिए सर्व द्रव्यों में चेतन और अचेतन गुणों के द्वारा स्व और पर को जानना चाहिए और वह आगम ज्ञान से जानना चाहिए, इसलिए जिन शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए। जिनोदित अर्थ श्रद्धान के बिना श्रमण नहीं होता। इसलिए शुद्धोपयोग लक्षण धर्म भी संभव नहीं है। आगम कुशल, दृष्टि सम्पन्न, परमवीतराग चारित्र में उद्यत महात्मा ही वस्तुतः धर्म है। इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय परिणत तपोधन की जो भक्ति करता है, वह पुण्य को ग्रहण करता है। उस से अभ्युदय सुख प्राप्त होता है और परम्परा से मोक्ष प्राप्त होता है।

२. सम्यग्दर्शन अधिकार :-

इस अधिकार में ज्ञेयभूत पदार्थों का विस्तार से व्याख्यान है। जो कोई जाना जाने वाला पदार्थ है, वह सर्व ही तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य लक्षणरूप द्रव्य से उत्पन्न होने से द्रव्यमय है। एक काल में एक द्रव्य के विस्तार रूप प्रदेशों में और गुणों में अन्वय रूप एकत्व तिर्यक् सामान्य (विस्तार सामान्य) कहा जाता है। नाना कालों में एक व्यक्तिगत अन्वय ऊर्ध्वता सामान्य (आयत सामान्य) कहा जाता है। जिस प्रकार एक पुरुष में बाल, कुमार आदि अवस्थाओं में "वही यह देवदत्त है" ऐसा प्रत्यय ऊर्ध्वता सामान्य है।

द्रव्य गुणात्मक कहे हैं। जिस प्रकार जीव द्रव्य, ज्ञान, सुख आदि विशेष गुणों से, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि सामान्य गुणों से अभिन्न होने से गुणात्मक हैं। द्रव्यों और गुणों से पर्याय उत्पन्न होती हैं। अतः पर्याय दो प्रकार की हैं; द्रव्यपर्याय और गुण पर्याय | द्रव्य, गुण, और पर्याय का विशेष विवरण आगे चौथे अध्याय में करेंगें, इसलिए यहाँ नहीं लिखा जाता। वहीं से जानना चाहिए।

इस प्रकार के द्रव्य, गुण, पर्याय के परिज्ञान में जो मूढ हैं, वे परसमय हैं। उसी प्रकार जो "मनुष्य आदि पर्यायरूप मै हूँ" "मनुष्य आदि शरीर मेरा है" ऐसी पर्यायों में अहंकार ममकार रूप से निरत हैं, वे परसमय मिथ्यादृष्टि हैं। परन्तु जो शुद्ध चैतन्य रूप आत्मस्वरूप में स्थित हैं, वे स्वसमय हैं।

जिस प्रकार द्रव्य स्वभाव सिद्ध है तथा वह सत् भी स्वभाव से है भिन्न सत्ता के समवाय से नहीं। द्रव्य नित्य स्वभाव में अवस्थित होने से सत् है। उत्पाद,व्यय, ध्रौव्य ऐक्यात्मक

परिणाम द्रव्य का स्वभाव है। उत्तर पर्याय का उत्पाद, पूर्व पर्याय का व्यय, तथा दोनों के आधारभूत अन्वय द्रव्यत्व जिसका लक्षण है, वह ध्रौव्य। इस प्रकार उक्त लक्षण वाले उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों के साथ द्रव्य अस्तित्व भिन्न नहीं है। जिस प्रकार वस्त्र निर्मल पर्याय से उत्पन्न, मलिन पर्याय से विनष्ट, उन दोनों के आधारभूत वस्त्ररूप से ध्रुव अविनश्वर है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यों में परस्पर अविनाभाव है। वास्तव में उत्पाद, संहार के बिना नहीं है और संहार, उत्पाद के बिना नहीं है। उत्पाद और संहार, स्थिति के बिना नहीं हैं। स्थिति, उत्पाद व्यय के बिना नहीं है। जो कुम्भ का उत्पाद है, वही मिट्टी के पिंड का संहार है और जो मिट्टी के पिंड का संहार है, वही कुंभ का उत्पाद है और जो कुंभ और पिंड का उत्पाद व्यय है, वही मिट्टी की स्थिति है। यदि पुन: घट उत्पाद निरपेक्ष, मिट्टी के पिंड का अभाव होता है तो अभाव ही नहीं होगा, क्योंकि अभाव के कारण का अभाव है। उत्तर पर्याय का उत्पाद ही पूर्वपर्याय के विनाश में कारण है। यदि पुनः मृत पिंड का अभाव निरपेक्ष घट का उत्पाद है तो उत्पाद ही नहीं होगा, क्योंकि उत्पादन कारण का अभाव है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों में परस्पर सापेक्षपना है।

उसी प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्यों में क्षणभेद नहीं है, जो उत्तर पर्याय का जन्मक्षण है, वही पूर्वपर्याय का नाशक्षण है, वही मिट्टीपने का स्थितिक्षण है। यदि द्रव्य अपने से उत्पन्न होता है, अपने से ही स्थिर रहता है, अपने से ही नाश को प्राप्त होता है तो क्षणभेद होगा, वह तो स्वीकार नहीं किया है। पर्यायों के ही उत्पाद आदि होते हैं, इसलिए क्षणभेद नहीं है। यदि उत्पाद व्यय ध्रौव्य, द्रव्य के ही माने जाते हैं, तब सब कुछ विप्लव हो जाता है। उत्पाद व्यय, ध्रौव्य पर्यायों का आलम्बन करते हैं, और पुनः वे पर्यायें, द्रव्य का आलम्बन करती हैं। इसलिए द्रव्य का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है, ऐसा कहा जाता है। ये सम्पूर्ण ही एक द्रव्य है, द्रव्यान्तर नहीं।

यदि द्रव्य स्वरूप से सत् नहीं है, तब वह असत् होगा अथवा सत्ता से पृथक् होगा। उनमें असत् होता हुआ द्रव्य ही अस्त को प्राप्त होगा। सत्ता से पृथक् होता हुआ, सत्ता के बिना, अपने को धारण करने वाले सत्ता को ही अस्त को प्राप्त करायेगा। इसलिए स्वयं ही द्रव्य सत् स्वरूप है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। गुण गुणी में विभक्त प्रदेशपने का अभाव होने से सत्ता और द्रव्य में पृथक्त्व संभव नहीं है। भिन्न प्रदेशपना पृथक्त्व का लक्षण है। जो सत्ता गुण के प्रदेश हैं वे ही द्रव्यरूप गुणी के प्रदेश हैं। इस प्रकार उन दोनों में प्रदेश विभाग नहीं है। ऐसा होने पर भी द्रव्य में अन्यपना है ही, क्योंकि गुण और गुणी में तद्भाव का अभाव है।

अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है। जिस प्रकार एक मोतियों के हार में शुक्ल गुण है, वह हार नहीं है, सूत्र नही है, मोती नही है। जो हार, सूत्र और मोती हैं, वह शुक्ल गुण नहीं है। उसी प्रकार एक द्रव्य में, जो सत्ता गुण है, वह द्रव्य नहीं, अन्य गुण नहीं और पर्याय नहीं। जो द्रव्य अन्य गुण अथवा पर्याय है, वह सत्ता गुण नहीं हैं। इस प्रकार परस्पर में जो अभाव है, वह अतद्भाव अन्यत्व का कारणभूत है। जिस प्रकार स्वर्ण से पृथक्भूत पीतत्त्व आदि, कुंडलत्व आदि नहीं हैं, उसी प्रकार द्रव्य से पृथक् गुण अथवा पर्याय कुछ भी नहीं है। इसलिए द्रव्य स्वयं सत्ता हो।

उत्पाद दो प्रकार का है। सत् उत्पाद और असत् उत्पाद। द्रव्य का द्रव्यार्थिक नय से सत् उत्पाद है। पर्यायार्थिक नय से असत् उत्पाद है। जिस प्रकार जिस काल में द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा की जाती है, तब जो कडे की पर्याय में स्वर्ण है, वही कंकण पर्याय में है, अन्य नहीं। उस काल में सद्भाव निबद्ध ही उत्पाद है, क्योंकि द्रव्य का द्रव्यरूप से विनाश नहीं होता। जब पुन: पर्याय की विवक्षा की जाती है, तब कटक पर्याय से भिन्न स्वर्ण सम्बन्धी कंकण पर्याय है, वह कटक पर्याय नहीं है। तब पुनः असत् उत्पाद है क्योंकि पूर्व पर्याय विनष्ट होती है। जीव द्रव्य होता हुआ, नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, सिद्धत्व आदि पर्यायों में से, किसी एक पर्यायरूप से अवश्य होता है। वह होकर द्रव्यत्वभूत अन्वय शक्ति को नहीं छोड़ता। अतः सद्भाव निबद्ध उत्पाद द्रव्य से अभिन्न है, परन्तु मनुष्य, देव नहीं होता अथवा देव मनुष्य नहीं होता, क्योंकि पर्यायों में परस्पर भिन्न कालपना है। इसलिए असत् उत्पाद पूर्व पर्याय से भिन्न है।

द्रव्य दो प्रकार का है। जीव और अजीव द्रव्य | चेतन एक ही जीव द्रव्य है। सब वस्तु, सामान्य विशेषात्मक होने से वस्तु तद्रूप और अतद्रूप है। इस प्रकार उभयात्मकपना होने से द्रव्य का अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होता। नर नारक आदि पर्याय, कर्माधीन होने से जीव स्वरूप नहीं हैं। नरनारकादि संसार कार्य मिथ्यात्व, राग आदि क्रिया का फल है। मनुष्यादि पर्यायें नाम कर्म से रचित हैं। कर्म के स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाने वाली मनुष्यादि पर्यायें कर्म का कार्य है। मनुष्यादि पर्यायों में जीव के स्वभाव का पराभव है, जीव का अभाव नहीं | जीव का द्रव्यत्व रूप से अवस्थितपना, पर्यायों से अनवस्थितपना है। जो परिणमन करने वाले जीव का मनुष्यादि पर्याय स्वरूप क्रिया नाम का परिणाम है, वह संसार का स्वरूप है। संसार का कारण ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं, परन्तु उनका कारण मिथ्यात्व राग आदि परिणाम हैं। परमार्थ से जीव आत्म परिणामों का अर्थात् राग आदि

भावों का ही कर्ता है, द्रव्य कर्मों का नहीं। पुद्गल भी अपने द्रव्यकर्म का ही कर्ता है, भाव कर्म का नहीं।

परिणाम और परिणामी में तन्मयपना होने से आत्म परिणाम आत्मा ही है। चेतना ही आत्मा का स्वरूप है। निश्चय से उस रूप से आत्मा परिणमता है। जो कुछ भी आत्मा का परिणाम है, वह सब भी चेतना का उल्लंघन नहीं करते। चेतना पुनः ज्ञान, कर्म और कर्म फल के भेद से तीन प्रकार की है। अर्थ परिच्छित्ति में समर्थ विकल्प ज्ञानचेतना है। बुद्धिपूर्वक मन, वचन, काय व्यापारों से जीव के द्वारा जो सम्यक् रूप से करने के लिए प्रारम्भ किया गया, वह कर्म है, वही कर्म चेतना है। कर्म फल, सुख अथवा दुःख है। पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य - ये पाँच अजीव द्रव्य हैं। पूर्वोक्त छह द्रव्यों का समूह लोक है। उसके बहिर्भूत अनन्त आकाश अलोक है। षट् द्रव्यों में जीव पुद्गल क्रियावान हैं, शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अक्रियावान हैं। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श मूर्तगुण पुद्गल के हैं। एकसाथ सब द्रव्यों का साधारण अवगाहन हेतुत्व आकाश का विशेष गुण है। जीव पुद्गलों के गमन का कारणपना धर्म द्रव्य का विशेष गुण है। स्थान हेतुत्व अधर्म द्रव्य का विशेष गुण है। वर्तना काल द्रव्य का विशेष गुण है। चैतन्य परिणाम जीव का विशेष गुण है। इस प्रकार अमूर्त द्रव्यों के अमूर्त गुण जानने चाहिए। परमाणु से व्याप्त क्षेत्र प्रदेश है। वह वास्तव में आकाश का एक प्रदेश भी शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेशों को और सूक्ष्म स्कन्धों को अवकाश देने में समर्थ है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, बहु प्रदेशपना होने से प्रदेशवान हैं। कालाणु एक प्रदेश मात्र होने से अप्रदेशी है। जिस कारण से कालाणु पुद्गल परमाणु के एक प्रदेश गमन पर्यन्त सहकारीपना करते हैं, अधिक नहीं, उससे जाना जाता है कि वह भी एक प्रदेशी है।

प्रचय दो प्रकार का है। तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्व प्रचय | प्रदेशों का समूह तिर्यक् प्रचय है, समय विशिष्ट पर्यायों का समूह ऊर्ध्व प्रचय है। वहाँ काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों का तिर्यक् प्रचय है। उसमें आकाश के अनन्त प्रदेश होने से, जीव, धर्म और अधर्म के असंख्यात प्रदेश होने से, पुद्गल के द्रव्य से एक प्रदेशपना होने पर भी पर्याय से द्वि, बहु प्रदेशीपना होने से तिर्यक् प्रचय है। काल का पुनः शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा एक प्रदेशपना होने से तिर्यक् प्रचय नहीं है, ऊर्ध्व प्रचय सब द्रव्यों के हैं। परन्तु यह विशेष है कि समय विशिष्ट पर्यायों का समूह काल को छोड़कर, शेष द्रव्यों का ऊर्ध्व प्रचय है। समयों का समूह ही काल का ऊर्ध्व प्रचय है। समय सन्तानरूप ऊर्ध्व प्रचय के अन्वयी रूप से आधारभूत काल द्रव्य है ही। काल द्रव्य का वर्तमान समयरूप पर्याय से उत्पाद, उसी क्षण उसी काल द्रव्य का पूर्व समयरूप पर्याय से

नाश, उन दोनों के आधारभूत कालाणु द्रव्य रूप से ध्रौव्य ही है। सर्व समयों में उत्पाद, व्यय ध्रौव्यपना होने से काल द्रव्य की सिद्धि होती है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक अस्तित्व प्रदेश के बिना घटित नहीं होता। अत: काल पदार्थ एक प्रदेश सहित है, प्रदेश रहित नहीं है।

जो यह विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी जीव है, वह ज्ञान और ज्ञेय दोनों है, शेष पदार्थ ज्ञेय ही हैं। इस प्रकार ज्ञातृ ज्ञेय विभाग है। यद्यपि जीव, परम चैतन्य स्वभावरूप निश्चय प्राण से जीता है, तथापि व्यवहार से, अनादि कर्मबंध के वश से आयु आदि अशुद्ध प्राण चतुष्क से भी जीता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रिय प्राण, काय, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास और आयु प्राण- इस प्रकार भेद से दश प्राण हैं। ये पुद्गल द्रव्य से निर्मित होने से जीव स्वभाव नहीं है। जिस कारण से मोह आदि पौद्गलिक कर्मों से बद्ध होने से जीव प्राण निबद्ध है और प्राण निबद्ध होने से पौद्गलिक कर्म फल को भोगने वाला वह पुनः अन्य नवीन पौद्गलिक कर्मों से बाँधा जाता है। इसलिए पौद्गलिक कर्म का कार्य होने से और पौद्गलिक कर्म का कारण होने से प्राण पौद्गलिक ही हैं, ऐसा निश्चय किया जाता है। प्राणों से जीव कर्म फल को भोगता है, उसको भोगने वाला राग द्वेष मोह को प्राप्त करता है। उससे वह स्वजीव और परजीव के प्राणों को बाधा करता है। उससे पुनः ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधता है। इससे इन्द्रियाँदि प्राणों की उत्पत्ति होने से देहादि सम्बन्धी ममत्व ही अन्तरंग कारण है।

जो पुनः अतीन्द्रिय आत्मा से उत्पन्न होने वाले सुखरूपी अमृत के सन्तोष के बल से कषाय, इन्द्रियों को जीत करके, अत्यन्त विशुद्ध उपयोग मात्र निजात्मा का ध्यान करता है, वह कर्मों से रागी नहीं होता है। कर्मबन्ध का अभाव होने पर प्राण उस पुरुष का अनुसरण नहीं करते। इससे जाना जाता है कि कषाय और इन्द्रिय की विजय ही पंचेन्द्रिय आदि प्राणों के विनाश का कारण है। जो नर नारक आदि पर्याय हैं, वे जीव पुद्गल के संयोग से उत्पन्न, अनेक द्रव्यात्मक विभाव व्यञ्जन पर्यायें हैं। उनमें जीव पुद्गलों का संयोग होने पर भी जीव का स्वरूप अस्तित्व और सर्व परमाणुओं का स्वरूप अस्तित्व सर्वथा भिन्न है। स्वलक्षण मात्र स्वरूप अस्तित्व, पदार्थ का निश्चायक है। इसलिए स्वरूप अस्तित्व का परिज्ञान स्वपर विभाग का कारण है। जीव का चेतन द्रव्य गुण पर्यायात्मक और चेतन उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक स्वरूप अस्तित्व है। और पुद्गल का अचेतन द्रव्य गुण पर्यायात्मक और अचेतन उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक स्वरूप अस्तित्व है। इस प्रकार पूर्वोक्त भेद को जो जानता है, वह भेदज्ञानी विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी आत्म तत्त्व को छोड़कर के शरीर और राग आदि पर द्रव्य में मोह को प्राप्त नहीं

होता। आत्मा के, पर द्रव्य संयोग का कारण उपयोग विशेष है, क्योंकि चैतन्य अनुविधायी परिणाम रूप उपयोग आत्मा का स्वभाव है।

यह उपयोग शुद्ध और अशुद्ध रूप से दो प्रकार का है। उसमें उपराग रहित उपयोग शुद्ध है और उपराग सहित उपयोग अशुद्ध है। अशुद्धोपयोग, शुभ अशुभ रूप से दो प्रकार का है। धर्मानुरागरूप शुभ है, विषयानुराग और द्वेष मोहरूप अशुभ है। शुभोपयोग पुण्य बंध का कारण है। अशुभोपयोग पाप बंध का कारण है। शुद्धोपयोग दोनों बंधों का कारण नहीं है। इस प्रकार पर द्रव्य के संयोग का कारण अशुद्धोपयोग है। पुनः शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का अकारण है। शुभाशुभ उपयोग रहित ज्ञानी सम्पूर्ण पर द्रव्यों में मध्यस्थ होकर ज्ञानात्मक, अनन्त गुण स्वरूप, निज आत्मा का ध्यान करता है, वह शुद्धोपयोग का लक्षण है।

शरीर, वचन और मन ये तीनों भी पुद्गलद्रव्यात्मक हैं। इनका व्यवहार से जीव के साथ एकत्व होने पर भी, निश्चय से शुद्धात्मरूप से भिन्नपना है। शरीर आदि अनन्त द्रव्यों का एक पिंडरूप से परिणाम है। आत्मा, पुद्गलमय नहीं है, और न पुद्गल पिंडों का कर्ता है। इसलिए आत्मा, शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं है। उनका कर्ता नहीं, कारयिता नहीं, और अनुमोदक भी नहीं है। स्निग्ध रुक्षत्व गुण से परमाणु द्रव्यों की पिंड पर्यायरूप परिणति उत्पन्न होती है। दो स्निग्ध परमाणुओं में, दो रूक्ष परमाणु में अथवा दो स्निग्ध रूक्ष परमाणु में, सम और विषम में दो गुण अधिक होने पर बंध होता है। पुद्गल परमाणु के जघन्य स्निग्ध रूक्ष शक्ति का सद्भाव होने पर बंध नहीं होता है। द्वि प्रदेश आदि अनन्त अणुपर्यन्त स्कन्ध अनेक प्रकार के संस्थान से युक्त, सूक्ष्म अथवा बादर, अपने स्निग्ध रूक्ष परमाणु से ही पृथिवी, जल, तेज, वायु रूप से उत्पन्न होते हैं। इसलिए अवधारण किया जाता है कि द्वि अणुक आदि पुद्गलों के पिंड का कर्ता जीव नहीं है। जिस शरीर से अवगाहित क्षेत्र में जीव रहता है, बंध योग्य पुद्गल भी वहीं पर रहते हैं। बाहर भाग से जीव नहीं लाता है। इसलिए पुद्गल पिंडों का लाने वाला भी जीव नहीं है। पुद्गल पिण्डों का कर्मत्व परिणमन होने पर भी आत्मा के कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि जीव के परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल कार्माण वर्गणाएँ स्वयं ही कर्म भाव रूप से परिणमती हैं, उन कर्मों के उदय से नोकर्म पुद्गल औदारिक आदि शरीर आकार से स्वयं ही परिणमते हैं, उस कारण से जीव, औदारिक आदि शरीरों का कर्ता नहीं है।

आत्मा रस गुण के अभाव से अरस, रूप गुण के अभाव से अरूप, गंधगुण के अभाव से अगंध, स्पर्शगुण के अभाव से अस्पर्श, शब्द पर्याय के अभाव स्वभाव वाला होने से अशब्द, व्यक्ति का अभाव स्वभाव होने से अव्यक्त, अलिंगग्रहण, सर्व संस्थान का अभाव होने से

अनिर्दिष्ट संस्थान है। समस्त पुद्गल आदि से भिन्न, समस्त अन्य द्रव्यों में असाधारण चेतना गुण, जीव का असाधारण लक्षण जानना चाहिए।

यदि जीव अमूर्त है, तब उसका मूर्त पुद्गल कर्म के साथ बंध कैसे होता है ? ऐसा प्रश्न करने पर समाधान किया जाता है, वह इस प्रकार है :- जिस प्रकार से रूप आदि रहित होने पर भी, रूपी द्रव्यों को और उनके गुणों को देखता है और जानता है, उसी प्रकार से रूपी नहीं होने पर भी, रूपी कर्म पुद्गलों के द्वारा जीव बांधा जाता है। अन्यथा अमूर्त मूर्त को कैसे देखता है, जानता है, ऐसे प्रश्न भी यहाँ पर अनिवार्य होते हैं। यद्यपि यह आत्मा निश्चय से अमूर्त है, तथापि व्यवहार से अनादि कर्मबंध के वश से मूर्त होता हुआ, द्रव्यबंध के निमित्तभूत राग आदि विकल्प रूप भावबंध उपयोग को करता है। उसके होने पर, मूर्त द्रव्यकर्म के साथ संश्लेष सम्बन्ध होता है।

बन्ध तीन प्रकार का है। केवल पुद्गलबन्ध, केवल जीवबन्ध, तदुभय बन्ध | जो पूर्व और नवीन पुद्गल कर्मों का स्निग्ध और रूक्षत्व स्पर्श विशेषों से एकत्व परिणाम है, वह केवल पुद्गलबन्ध है। जो जीव का मोह राग द्वेष पर्यायों के साथ एकत्व परिणाम है, वह केवल जीवबंध है। जो पुन: जीव और कर्म पुद्गलों का परस्पर परिणामों के निमित्त मात्रपना से विशिष्ट परस्पर अवगाहनत्व तदुभय बन्ध है। जिस कारण से राग परिणत ही नवीन द्रव्यकर्म से बांधा जाता है, वैराग्य परिणत नहीं। वैराग्य परिणत ही द्रव्यकर्म से छूटता है, राग परिणत नहीं, उस कारण से अवधारण किया जाता है कि द्रव्यबंध का साधकतम होने से राग परिणाम ही निश्चय से बंध है। अपने स्वरूप में स्थित परद्रव्य में अप्रवृत्त परिणाम ही दु:खक्षय का कारण है। इस प्रकार संसार अवस्था में जीव मिथ्यात्व रागादि रूप परिणाम का ही कर्ता होकर कर्मधूलि से बाँधा जाता है। और कदाचित् निश्चय रत्नत्रय परिणति के काल में मुक्त होता है।

त्रस स्थावर के भेद से पृथिवी आदि छह जीवनिकाय स्वीकार किये जाते हैं, वे वास्तव मे अचेतन होने से जीव से अन्य हैं। जीव भी चेतन होने से उनसे अन्य है। जो इस प्रकार का स्वपर में भेद नहीं जानता "वही मै हूँ, यह मेरा है" इस प्रकार आत्मा आत्मीय भाव से पर द्रव्य का निश्चय करता है। स्वपर भेद विज्ञान के बल से स्व संवेदन ज्ञानी जीव, स्व द्रव्य में रति और पर द्रव्य में निवृत्ति करता है। जो मोहित होकर, पर द्रव्य में ममत्व नहीं छोड़ता, वह वास्तव में शुद्धात्म परिणति रूप श्रामण्य के मार्ग को दूर से छोड़कर के अशुद्ध आत्म परिणति रूप उन्मार्ग को ही प्राप्त होता है।

जो मोह रहित होकर "मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं " इस प्रकार स्व और पर में स्वस्वामी सम्बन्ध को निकाल कर निजशुद्ध आत्मा का ही ध्यान करता है, वह वास्तव में शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है। शुद्धात्मा ही ध्रुव होने से प्राप्त करने योग्य है। आत्मा से पृथग्भूत शरीर आदि अध्रुव होने से प्राप्त करने योग्य नहीं है। शुद्धात्मा की प्राप्ति होने पर मोह दुर्ग्रन्थि का भेद होता है, मोह दुर्ग्रन्थि के भेद से चारित्रमोह नामक राग द्वेष का विनाश होता है, उससे सुख-दुःख आदि में माध्यस्थ लक्षण वाले श्रामण्य में अवस्थान होता है। उससे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। निजशुद्धात्मा में एकाग्र संचेतन लक्षण वाला ध्यान, आत्मा की अत्यन्त विशुद्धि करता है। जिसको शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति हुई है, ऐसा केवलज्ञानी, इन्द्रियाँतीत, सर्व बाधा से रहित, सम्पूर्ण सर्वाक्ष के सौख्य और ज्ञान से परिपूर्ण, अपूर्व, अनाकुलत्व लक्षण परम सौख्य का ध्यान (अनुभव) करता है। उससे जाना जाता है कि केवलियों के अन्य चिंता निरोध लक्षण ध्यान नहीं है, परन्तु यही परम सुख का अनुभव रूप ध्यान कार्यभूत कर्म निर्जरा को देखकर ध्यान शब्द से उपचार किया जाता है। यही, शुद्धात्मा की प्राप्ति जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्ष का मार्ग है। इसी मोक्षमार्ग से सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

३. सम्यक्चारित्र अधिकार :-

इस अधिकार में उत्सर्ग चारित्र और अपवाद चारित्र का विश्लेषण है। दुःखमोक्षार्थी को विशुद्ध ज्ञान दर्शन प्रधान साम्य भाव लक्षण वाला श्रामण्य अंगीकार करना चाहिए। जो श्रमण होना चाहता है, वह प्रथम बन्धुवर्ग को पूछता है, माता पिता, पत्नी और पुत्रों से अपने को छुड़ाता है। अहो ! बन्धुवर्ग, पिता, माता, पत्नी, पुत्र, जिसको परम विवेकज्योति प्रकट हुई है, ऐसा यह मेरा आत्मा वर्तमान में अपने चिदानन्द एक स्वभाव परमात्मा का ही आश्रय करता है, उस कारण से तुम मुझे छोडो, ऐसा क्षमा भाव करता है। उसके पश्चात् ज्ञान दर्शन, चारित्र, तप और वीर्याचार का आश्रय करता है। उसके बाद जिनदीक्षार्थी भव्य पुरुष गुणों से युक्त कुल, रूप, वय से विशिष्ट, सर्वमान्य आचार्य के पास जाकर प्रार्थना करता है -

हे भगवन् ! अनादि काल में अत्यन्त दुर्लभ भाव सहित जिनदीक्षा देकर मुझे स्वीकार करें, ऐसा कहकर प्रणाम करता है। उसके पश्चात् उन आचार्य के द्वारा हे भव्य ! निःसार संसार में, दुर्लभ बोधि को प्राप्त करके मनुष्य जन्म सफल कर। इस प्रकार से अनुगृहीत होता है। उससे श्रामण्यार्थी जितेन्द्रिय होकर यथाजातरूप धारण करके निर्ग्रन्थ होता है।

यथाजातरूपपना, केश और मूंछ का उखाडना, सर्व सावद्य योग से रहितपना, हिंसा आदि से रहित, शरीर संस्कार से रहितपना- इस प्रकार पाँच विशेषणों से सहित द्रव्यलिंग को,

उसी प्रकार मूच्छा और आरम्भ से रहितपना, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्तपना, दूसरे की अपेक्षा न होना, अपुनर्भव (मोक्ष) का कारण जिनेन्द्र भगवान ने बताया हुआ - इस प्रकार से पाँच विशेषणों से युक्त भावलिंग जानना चाहिए। पूर्वोक्त उभय लिंगों को ग्रहण करके, गुरु को नमस्कार कर व्रतारोपण सहित, बृहत् प्रतिक्रमणरूप क्रिया को सुनकर स्वस्थ हुआ श्रमण होता है। पांच महाव्रत, पांच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक, आचेलक्य (वस्त्र रहितपना), अस्नान, भूमिशयन, अदन्त धावन, खडे रहकर भोजन, केशलोंच, पाणिपात्र - ये श्रमणों के अट्ठाईस मूलगुण हैं। श्रमण जब निर्विकल्प सामायिक संयम से च्युत होता है, तब अट्ठाईस मूलगुण रूप छेदोपस्थापना चारित्र पर आरूढ होता है। संयम का छेद दो प्रकार का है। शरीर की चेष्टा मात्र के आधार से होने वाला बहिरंग छेद और उपयोग के आधार से होने वाला अन्तरंग छेद।

यदि श्रमण के कथंचित बहिरंग छेद उत्पन्न होता है, तब आलोचना पूर्वक क्रिया से ही प्रायश्चित होता है। परन्तु जब अन्तरंग छेद होता है, तब प्रायश्चित परिज्ञान सहित आचार्य के द्वारा जो बताया गया प्रायश्चित है, वह करना चाहिए। श्रामण्य के छेद का आयतन होने से परद्रव्य के प्रति आसक्ति का निषेध करना चाहिए | श्रामण्य की परिपूर्णता का कारण होने से स्वद्रव्य में ही सम्बन्ध करना चाहिए। श्रामण्य छेद का कारण होने से प्रासुक आहार विहार आदि में भी ममत्व नहीं करना चाहिए। श्रमण के शयन आसन्, खडे होना, भ्रमण आदि में अप्रयत्नशील जो चर्या है, वही वास्तव में सर्वकाल में हिंसा ही है। जीव मरे अथवा जीये, प्रयत्न रहित के निश्चित हिंसा होती है। द्रव्यहिंसा मात्र से बाह्य अभ्यंतर प्रयत्न में तत्पर जीव के बन्ध नहीं होता। शुद्धोपयोग परिणत पुरुष छहकाय के जीवों से भरे हुए लोक में विचरण करता हुआ, बहिरंग हिंसा का सद्भाव होने पर भी निश्चय हिंसा से निवृत्त होता है। बहिरंग जीव का घात होने में बंध होता है अथवा नहीं होता, परन्तु परिग्रह के होने पर नियम से बंध होता है। उस कारण से, सर्वज्ञ ने पहले दीक्षा काल में निजात्मा को ही परिग्रह करके, शेष सर्व बाह्य अभ्यंतर परिग्रह का वमन किया है। इसीलिए शेष तपोधनों के द्वारा भी सर्व ही परिग्रह छोडने योग्य हैं। भावविशुद्धि पूर्वक, बहिरंग परिग्रह का त्याग होने पर, अभ्यंतर परिग्रह का त्याग होता ही है। बहिरंग परिग्रह की इच्छा होने पर निर्मल शुद्धात्मानुभूति रूप चित्त शुद्धि नहीं की जा सकती है। परिग्रह के सद्भाव में मूच्छा, आरम्भ, असंयम आदि अवश्यंभावी होने से, नियम से अन्तरंग छेद होता है, अतः वह नियम से छोडने योग्य है।

काल की अपेक्षा से परम उपेक्षा संयम की शक्ति का अभाव होने से आहार, संयम, शौच, ज्ञानोपकरण आदि थोडा ग्रहण करने योग्य है। जिस उपकरण से शुद्धोपयोग लक्षण संयम का अथवा बहिरंग द्रव्य संयम का छेद नहीं होता, वह ग्रहण करना चाहिए। वह उपकरण भी अनिन्दितकर और असंयत जनों के द्वारा अप्रार्थनीय, मूर्छा आदि की उत्पत्ति से रहित होना चाहिए। सर्व परिग्रह का त्याग ही श्रेष्ठ उत्सर्ग ही वस्तु धर्म है। पुन: अपवाद वस्तु धर्म नहीं। जिनोक्त मोक्षमार्ग में शरीर, गुरूपदेश रूप वचन, परमागम का वाचन, और विनय रूप परिणाम, चार प्रकार के उपकरण निषिद्ध नहीं हैं।

स्त्रियों के प्रमाद की बहुलता से, मोह, द्वेष, भय, दुगुञ्च्छा की बहुलता से, मायाचार का सद्भाव होने से, चित्त की दृढता का अभाव होने से मुक्ति नहीं है। स्त्रियों के इसी भवमें कर्मक्षय के योग्य सम्पूर्ण कर्म निर्जरा नहीं होती। पुरुषों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में से कोई एक जिनदीक्षा ग्रहण करने में योग्य है। सत्शूद्र (स्पर्शशूद्र) भी जिनदीक्षा अंगीकार कर सकता है।

यह लोक, परलोक से निरपेक्ष, कषाय रहित श्रमण युक्ताहारी विहारी है। स्वयं अनशन स्वभावपना होने से, एषणा दोष से शून्य भैक्ष्यपना होने से, युक्ताहारी ही साक्षात् अनाहारी है। उसी प्रकार स्वयं अविहार स्वभाव होने से, समितिशुद्ध विहार होने से, युक्त विहार ही साक्षात् अविहार ही है। जो कोई शरीर से शेष परिग्रह का त्याग करके, शरीर में भी ममत्व रहित होता हुआ, उस शरीरको तप से जोड़ता है, वह नियम से युक्ताहार विहारी होता है। अप्रतिपूर्ण उदर, यथालब्ध भिक्षाचरण से ही प्राप्त हुआ, दिन में, एक काल में ही ग्रहण किया हुआ, रस की अपेक्षा से रहित, मधु मांस से रहित आहार ही युक्ताहार है। शुद्धात्म भावना के निमित्त, सर्व त्याग लक्षण वाले उत्सर्ग रूप दुर्धर अनुष्ठान में प्रवर्तमान तपोधन शुद्धात्म तत्त्व के साधकपना से मूलभूत संयम के अथवा संयम के साधकरूप से मूलभूत शरीर का जैसे छेद न हो, वैसे थोडा बहुत प्रासुक आहार आदि ग्रहण करता है, यह अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग है। जब पुन: अपवाद लक्षण अपहृत संयम में प्रवृत्त होता है, तब भी शुद्धात्म तत्त्व के साधक रूप से मूलभूत संयम का जैसे उच्छेद न हो, वैसे उत्सर्ग सापेक्ष रूप से प्रवृत्त होता है। इस प्रकार उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद है। जब तक शुद्धोपयोग में सर्वथा लीन नहीं होता, तब तक आचरण की सुस्थिति के लिए उत्सर्ग और अपवाद में मैत्री साधनी चाहिए।

निश्चय से श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्रता जिसने अर्थका निश्चय किया है, उसके ही होती है। अर्थ का निश्चय आगम से ही होता है। इसलिए आगम में ही व्यापार करना

ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और प्रशंसनीय है। दूसरी गति नहीं है। वास्तव में आगम के बिना परात्म ज्ञान अथवा परमात्म ज्ञान नहीं होता। परात्म ज्ञान से शून्य साधु के कर्म का क्षय नहीं होता। इसलिए मोक्षार्थी को परमागम का अभ्यास करना चाहिए | मोक्षमार्गी का आगम ही चक्षु है। आगम चक्षु से सब कुछ दिखाई देता है।

अज्ञानी जीव जितने कर्म लाखों करोडों भवों के द्वारा क्षय करता है, उतने कर्म, तीन गुप्ति से गुप्त हुआ ज्ञानी उच्छ्वास मात्र से क्षय करता है। आगम का परिज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और इन दोनों पूर्वक संयतपना- ये तीनों जिसमें होते हैं, उसके मोक्षमार्गपना संभव है। पुन: आत्मज्ञान शून्य के सर्वागमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान, संयतपना युगपत् होने पर भी अकिंचित्कर हैं। संयम सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्र है, चारित्र धर्म है। धर्म समता भाव है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मपरिणाम समता भाव है। इसलिए संयत का लक्षण साम्य है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में एक साथ परिणत संयत के, एकाग्रता लक्षण श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है, ऐसा मोक्षमार्ग सम्पन्न होता है। उसी की श्रमणता परिपूर्ण है। जो स्वशुद्ध आत्मा में एकाग्र नहीं होता, उसके मोक्ष नहीं है। जो निज शुद्धात्मा में एकाग्र है, उसी के मोक्ष होता है। इसलिए मोक्षार्थी को निश्चल चित्त से निजात्मा में भावना करनी चाहिए।

श्रमण दो प्रकार के हैं। शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। जो प्रचुररूप से शुद्धोपयोग में रहते हैं, यद्यपि किसी काल में शुभोपयोग रूप से प्रवर्तते हैं, तथापि शुद्धोपयोगी ही हैं। जो प्रचुर रूप से शुभोपयोग में रहते हैं, वे यद्यपि किसी काल में शुद्धोपयोग की भावना करते हैं, तथापि शुभोपयोगी ही कहे जाते हैं।

शुद्धोपयोगी, निज शुद्ध आत्म भावना के बल से सम्पूर्ण शुभाशुभ संकल्प विकल्प रहित होने से निरास्रव ही है। परन्तु शुभोपयोगी पुण्यास्रव सहित होने से सास्रव ही है। स्वयं शुद्धोपयोग लक्षण, परम सामायिक में स्थिर होने में असमर्थ है और अन्य शुद्धोपयोग के फलभूत केवलज्ञान रूप से परिणत और शुद्धोपयोग के आराधकों में जो भक्ति है, वह शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है। शुद्धोपयोगी श्रमणों में वंदन, नमस्कार, उठकर खडे होना, पीछे चलना रूप प्रवृत्ति है, दर्शन और ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण और उनका पोषण इत्यादि सर्व प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियों के ही होती हैं। परन्तु वैय्यावृत्ति के काल में भी अपने संयम की विराधना नहीं करनी चाहिए। वैय्यावृत्ति आदि शुभोपयोगी तपोधनों के गौण वृत्ति से और गृहस्थों के मुख्य वृत्ति से ही संभव है। यद्यपि परोपकार में अल्प लेप होता है तथापि शुभोपयोगियों के द्वारा

अपनी भावना के विघातक रोग, क्षुधा, तृषा आदि से पीडित श्रमण की वैय्यावृत्ति करनी चाहिए, शेष काल में अपना अनुष्ठान करना चाहिए।

श्रमणों को लौकिक लोगों का संसर्ग दूर करना चाहिए। केवल तपोधन की वैय्यावृत्ति के निमित्त लौकिक जनों के साथ संभाषण करना चाहिए। लौकिक जनों के संसर्ग से स्वयंभावित आत्मा की भावना करने वाला होने पर भी अग्नि से संगत जल के समान विकृतिभाव को प्राप्त होता है। इसलिए तपोधनों को हीन गुणवालों के साथ संगति नहीं करनी चाहिए। समगुण और अधिक गुण वालों के साथ संगति करनी चाहिए।

जिस प्रकार जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भूमि विशेष से, वे ही बीज भिन्न भिन्न फल को देते हैं, उसी प्रकार यही बीज स्थानीय शुभोपयोग पात्रभूत वस्तु विशेष से भिन्न भिन्न फल को देते हैं। कारण की विपरीतता से फल भी विपरीत होता है। सम्यक्त्व और व्रत रहित पात्रों में, वैय्यावृत्ति आदि दान करने से भव्यों को कुदेव, कुमनुष्यपना प्राप्त होता है।

प्रथम तो विषय कषाय ही पाप स्वरूप हैं और विषय कषाय से युक्त पुरुष भी पापी ही हैं। वे अपने भक्तों के और दाताओं के पुण्य का नाश करने वाले होते हैं। पाप से विरक्त, सर्व धार्मिकों में समदर्शी, गुण समूह का सेवन करने वाले पुरुष अपने मोक्ष का कारण होने से, और दूसरों के पुण्य का कारण होने से निश्चय मोक्षमार्ग के पात्र हैं। शुद्धोपयोग से युक्त कदाचित् शुभोपयोग से युक्त स्वयं मोक्ष के आयतन होने से भव्य जीवों को तारते हैं और उन्हीं के भक्त भव्यवर पुण्डरीक प्रशस्त फलभूत स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। आये हुए तपोधन के तीन दिन पर्यन्त अभ्युत्थान आदि क्रिया से सामान्य सम्मान करना चाहिए। उसके पश्चात् गुण विशेष से, विशेष सत्कार करना चाहिए। जो बहुश्रुत होते हुए भी चारित्र से अधिक नहीं हैं, वे भी परमागम के अभ्यास के निमित्त यथायोग्य वंदन करने योग्य हैं। जो श्रमण आगमज्ञ होते हुए भी, संयत एवं तपस्वी होते हुए भी, जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये अर्थ का श्रद्धान नहीं करता, वह श्रमणाभास है। शासन में स्थित श्रमण को देखकर यदि मुनि कथंचित मात्सर्य के वश से दोष ग्रहण करता है, तब चारित्र भ्रष्ट होता है। यदि स्वयं जघन्य गुणयुक्त होता हुआ "मैं श्रमण हूँ" ऐसे गर्व के वश से, दूसरे गुणाधिकों से विनय चाहता है, तब श्रामण्य के अवलेप के वश से कदाचित् अनन्त संसारी भी होता है। स्वयं अधिक गुणवाले होते हुए भी, गुण से हीन वालों के साथ वन्दना आदि क्रियाओं में वर्तते हैं, तब वे चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।

जो निर्ग्रन्थ लिंगधारी होते हुए भी पदार्थ को विपरीत ग्रहण करते हैं, वे अनन्तकाल संसार में परिभ्रमण करते हैं। इस प्रकार के संसार परिभ्रमण से परिणत पुरुष ही अभेदनय से

संसार स्वरूप जानना चाहिए। विपरीत आचार से रहित, यथार्थ पद का निश्चय करने वाला, प्रशान्त आत्मा श्रमण चिरकाल तक संसार में जीवित नहीं रहता परन्तु शीघ्र मोक्ष को प्राप्त होता है। वह श्रमण ही अभेदनय से मोक्ष स्वरूप है।

जिन्होंने पदार्थ को सम्यक् रूप से जाना है, जो बाह्य अभ्यंतर परिग्रह से रहित हैं, विषयों में थोड़ा भी आसक्त नहीं हैं, ऐसे शुद्धोपयोगी श्रमण ही अभेदनय से मोक्षमार्ग हैं। साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य शुद्धोपयोगी को ही होता है। दर्शन और ज्ञान शुद्ध को ही होता है। निर्वाण शुद्ध को ही होता है। इस प्रकार शुद्धोपयोग से सर्व इष्ट मनोरथ प्राप्त होते हैं। ऐसा मानकर शेष मनोरथों को त्याग करके शुद्धात्मा में ही भावना करनी चाहिए।

जयसेन आचार्य की वृत्ति में प्राप्त अधिक (अतिरिक्त) गाथाएँ :-

प्रवचनसार परमागम में अमृतचन्द्र आचार्य कृत तत्त्व प्रदीपिका टीका में दो सौ पचहत्तर गाथाएँ हैं, परन्तु जयसेन आचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति में ३११ गाथाएँ हैं। इसलिए अमृतचन्द्र आचार्य की टीका से, जयसेन आचार्य की वृत्ति में ३६ गाथाएँ अधिक प्राप्त होती हैं। वे जयसेन आचार्य की वृत्ति में क्रमश: १९, ५४, ७१, ७२, ८४, ८५, ८९, १००, १०१,१०२, १४६, १५८, २००, २१४, २३२, २३३, २३७, २३८, २३९, २४४ गाथा से २५४, २५७, २६१,२६२, २६३, २७४, २९१ क्रमांक में प्राप्त होती हैं। उनमें १९नं. की गाथा में, जो सर्वज्ञ को मानते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होते हैं, ऐसा प्रतिपादन किया है। १५वीं गाथा से लेकर सर्वज्ञ सिद्धि का प्रकरण प्रारम्भ हुआ है, इसलिए यहाँ उनको नमस्कार करना और उनका श्रद्धान, प्रकरण के अनुकूल ही प्रतीत होता है।

५४वीं गाथा में सर्वज्ञ देव को नमस्कार किया है। इससे पूर्व ३२ गाथाओं में ज्ञानप्रपंच अधिकार लिखा है। इस अधिकार की समाप्ति में ज्ञान के आधारभूत सर्वज्ञ को नमस्कार किया है, वह उचित प्रतीत होता है, क्योंकि कुन्दकुन्द आचार्य के हृदय में अतीन्द्रिय ज्ञान की परम अतिशय महिमा स्फुरायमान होती थी। उसी प्रकार अतीन्द्रिय सुख का माहात्म्य भी उनके हृदय में विलसित होता था। इसलिए सुख प्रपंच अधिकार की समाप्ति के प्रसंग में ७१वीं गाथा में वस्तु के स्तवन रूप से सर्वज्ञ को नमस्कार किया है। ७२ वीं गाथा में उसी सर्वज्ञ की सिद्ध अवस्था में गुणों के स्तवन रूप से नमस्कार किया है। वह युक्तियुक्त ही प्रतिभासित होता है।

शुद्धोपयोग के अभाव में जिस प्रकार के जिनसिद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं होता है, उन जिनसिद्ध का स्वरूप ८४वीं गाथा में कहा है। उस निर्दोषि परमात्मा का जो श्रद्धान करते हैं,

वे अक्षय सुख को प्राप्त करते हैं, ऐसा ८५वीं गाथा में कहा है। यह भी प्रकरण संगत ही प्रतीत होता है। ८९वीं गाथा में रत्नत्रय के आराधक पुरुष ही दान, पूजा, गुण प्रशंसा और नमस्कार के योग्य हैं, अन्य नहीं। ऐसा व्याख्यान किया है। १००वीं गाथा में निश्चय रत्नत्रय परिणत महातपोधन की जो भक्ति करता है, वह भव्य पुण्य को ग्रहण करता है, ऐसा प्रतिपादन किया है। उस पुण्य से भवान्तर में दैविक, मानुषिक गति को प्राप्त करके जीव सम्पूर्ण मनोरथ वाले होते हैं, ऐसा १०१वीं गाथा में कहा है। अधिकार के अन्त में इस प्रकार के फलों का प्रतिपादन उचित ही प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रथम अधिकार में नौ गाथाएँ अधिक प्राप्त होती हैं।

द्वितीय अधिकार में पाँच गाथाएँ अधिक प्राप्त होती हैं। उनमें १०२ वीं गाथा में सम्यक् चारित्र युक्त पूर्वोक्त तपोधन को नमस्कार करके सम्यक्त्व की प्ररूपणा की प्रतिज्ञा की है।

अधिकार के प्रारम्भ में मंगलाचरण का आचरण और विषय की प्रतिज्ञा प्रकरण संगत ही जानी जाती है। १४६ वीं गाथा में पूर्व गाथा में भाषित पंचद्रव्यों के अस्तिकाय पने को दृढ किया है। १५८वी गाथा में पूर्व गाथा में कहे हुए चार प्राण ही भेदनय से दस प्रकार के होते हैं, ऐसा प्रगट किया है, अतः यह प्रकरण के अनुकूल ही है। २०० वीं गाथा में ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के जघन्य उत्कृष्ट अनुभाग का स्वरूप कहा है। यह गाथा प्रभाचन्द्र आचार्य ने अपनी वृत्ति में ग्रहण नहीं की है। उन्होंने उसका प्रक्षेप रूप से उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है:-

"सुहपयडीणेत्यादि गाथा द्वयमाचार्य्यीयं न भवति प्रक्षेपकत्वादिति प्रत्यपेक्षते " [१]

सुहपयडीण इत्यादि दो गाथाएँ आचार्य की नहीं हैं, प्रक्षेपक होने से उसे छोड़ दिया है। विशेष यह है कि यह गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड के १६३ वे क्रमांक में पायी जाती है। केवल "विवरीदो दु" इस स्थान पर “विवरीदेण" यह पाठ भेद दिखाई देता है। अतः यह गाथा प्रक्षेप रूप ही प्रतीत होती है। प्रतिलिपिकार के प्रमाद से मूल ग्रन्थ में प्रविष्ट हुई है, ऐसा अनुमान किया जाता है। २१४ वीं गाथा दर्शन अधिकार की अन्तिम गाथा है। अतः उसमें दर्शन अधिकार के अन्तिम मंगल के लिए और ग्रन्थ की अपेक्षा से मध्य मंगल के लिए निज शुद्धात्मा की भावना रूप मोक्षमार्ग से सिद्धि को प्राप्त हुए और उनके आराधकों को नमस्कार किया है। आगम में मंगल, आदि, मध्य, अन्त के भेद से तीन प्रकार का कहा है, इसलिए यह मध्य मंगल का करना युक्त ही है।

---

१. प्रवचन सरोज भास्कर गा. १९२ हस्त लिखित प्रति, पृ.सं. ५४-५५ जैन विद्या संस्थान, जयपुर।

तीसरे अधिकार में २२ गाथाएँ अधिक प्राप्त होती हैं। वहाँ दो गाथा में, पूर्व गाथा में कहे हुए अन्तरंग और बहिरंग हिंसा के रूप में दो प्रकार का छेद दृष्टान्त और दार्ष्टान्त रूप से दृढ किया है। जिस प्रकार अध्यात्म की अपेक्षा से मूर्च्छा रूप राग आदि परिणाम के अनुसार परिग्रह होता है, बहिरंग परिग्रह के अनुसार नहीं। उसी प्रकार यहाँ पर, सूक्ष्म जन्तु का घात होने पर, जितने अंश से रागादि परिणति लक्षण रूप भाव हिंसा है, उतने अंश से बंध होता है, केवल पैर के संघटन से नहीं, ऐसा कहा है। २३७,२३८, २३९ क्रमांक गाथाओं में वस्त्र, पात्र आदि परिग्रह के ग्रहण करने में क्या दूषण होता है, इसका विश्लेषण किया है। वह निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की स्थापना के प्रकाश में अनुकूल ही प्रतीत होता है। उसके पश्चात् २४४वीं गाथा से २५४वीं गाथा पर्यन्त ११ गाथाओं में स्त्री निर्वाण का निराकरण किया है। वह भी मोक्षमार्ग के प्रकाश में संगत ही है। क्रोध आदि पन्द्रह प्रमादों से तपोधन प्रमत्त होता है। यह २५७वी गाथा में १५ प्रमादों के नामोल्लेख पूर्वक कहा है। इन प्रमादों से रहित तपोधन के युक्ताहार विहार संभव है, इसलिए युक्ताहार विहार प्रकरण में यह गाथा सार्थक ही है। युक्ताहार, मधु माँस रहित होता है, इसलिए मांस भक्षण में क्या दोष हैं? यह २६१, २६२ वीं गाथाओं में कहा है। २६३वीं गाथा में, हाथ में आया हुआ आहार, प्रासुक होने पर भी, अन्य को देने योग्य नहीं है, इस प्रकार युक्ताहार की विधि दर्शायी है। युक्ताहार के प्रसंग में इस प्रकार का वक्तव्य उपयुक्त ही है। २७४ क्रमांक गाथा में द्रव्य और भाव संयम का स्वरूप कहा है। २९१वीं गाथा में अनुकंपा का लक्षण बताया है। यह गाथा पञ्चास्तिकाय संग्रह ग्रन्थ में १३७ क्रमांक में प्राप्त होती है। वहाँ से यहाँ पर यह गाथा लिपिकार ने उद्धृत की है।

उपर्युक्त गाथा जयसेन आचार्य ने मूलग्रन्थ की ही स्वीकृत की है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार:-"एवं मूलसूत्राभिप्रायेण त्रिंशद्गाथाभिः टीकापेक्षया पुनर्द्वादशगाथाभिः द्वितीयाधिकारे समुदाय पातनिका "। इस प्रकार मूलसूत्र के अभिप्राय से तीस गाथाओं से, टीका की अपेक्षा से, बारह गाथाओं से द्वितीय अधिकार में समुदाय पातनिका है। जयसेन आचार्य ने अमृतचंद्र आचार्य कृत तत्त्वप्रदीपिका का टीका शब्द से उल्लेख किया है। अमृतचन्द्र आचार्य कृत टीका में उपर्युक्त छत्तीस गाथाएँ नहीं हैं। इस विषय में उन्होंने प्रत्येक समुदाय पातनिका में उल्लेख किया है।

तात्पर्यवृत्तिगत विवेचन :-

प्रवचनसार के ऊपर लिखी हुई तात्पर्यवृत्ति आगम और अध्यात्म से भरी हुई, नवीन प्रमेयों से परिपूर्ण, बहुत उद्धरणों से प्रमाणभूत आदर्श टीका विराजमान है। इस वृत्ति में

पारिभाषिक शब्दों का आत्मतत्त्व की मुख्यता से स्पष्टीकरण है। यहाँ पर उत्पाद व्यय ध्रौव्य और गुण पर्याय सिद्ध जीवों के दृष्टान्त से समझाये हैं। प्रायः सर्वत्र मुक्त जीव के उदाहरण से सिद्धान्त का प्रतिपादन करना, इस वृत्ति का महान वैशिष्ट्य लक्षित होता है। तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य का लक्षण सिद्धजीव के दृष्टान्त से दृढ किया है। एक काल में नाना व्यक्तिगत अन्वय तिर्यक् सामान्य है। जिस प्रकार नाना सिद्ध जीवों में, "यह सिद्ध है, यह सिद्ध हैं" ऐसा अनुगताकार सिद्धजाति का प्रत्यय है। नाना कालों में एक व्यक्तिगत अन्वय ऊर्ध्वता सामान्य है। जिस प्रकार जो केवलज्ञान के क्षण में मुक्तात्मा है, द्वितीय आदि क्षणों में भी वहीं है, ऐसी प्रतीति।

उसी प्रकार गुण पर्यायों का लक्षण भी सिद्ध जीवों में घटित किया है। गुण अन्वयी होते हैं अथवा गुण सहभू होते हैं, ऐसा गुण का लक्षण है।

"यथाऽनन्तज्ञानसुखादिविशेषगुणेभ्यस्तथैवागुरुलघुकादि सामान्यगुणेभ्यश्चाभिन्नत्वाद् गुणात्मकं भवति सिद्धजीवद्रव्यं तथैव स्वकीयस्वकीयविशेषसामान्यगुणेभ्य: सकाशा-दभिन्नत्वात् सर्वद्रव्याणि गुणात्मकानि भवन्ति। व्यतिरेकिणः पर्याया अथवा क्रमभुव: पर्याया इति पर्यायलक्षणम्। यथैकस्मिन् मुक्तात्मद्रव्ये किञ्चिदूनचरम-शरीराकारगतिमार्गणाविलक्षणः सिद्धगतिपर्यायः तथाऽगुरुलघुकगुणषड्-वृद्धिहानिरूपा: साधारणस्वभावगुणपर्यायाश्च तथैव सर्वद्रव्येषु स्वभावद्रव्यपर्यायाः स्वजातीयविजातीय-विभावद्रव्यपर्यायाश्च तथैव स्वभावविभाव-गुणपर्यायाश्च ज्ञातव्या:।[1]

जिस प्रकार अनन्त ज्ञान सुखादि विशेष गुणों से, उसी प्रकार अगुरुलघुक आदि सामान्य गुणों से अभिन्न होने से सिद्धजीव गुणात्मक होते हैं, उसी प्रकार अपने अपने विशेष और सामान्य गुणों से अभिन्न होने से सभी द्रव्य गुणात्मक हैं। पर्याय व्यतिरेकी होती है अथवा पर्याय क्रम भावी हैं, ऐसा पर्याय का लक्षण है। जिस प्रकार मुक्त आत्म द्रव्य में कुछ कम चरम शरीर आकार गति मार्गणा से विलक्षण सिद्ध गति पर्याय है। उसी प्रकार अगुरुलघुक गुण षट् गुणी वृद्धि हानिरूप साधारण स्वभाव गुण पर्याय है। उसी प्रकार सब द्रव्यों में स्वभावगुण पर्याय, स्वजातीय विजातीय विभाव द्रव्य पर्याय, उसी प्रकार स्वभाव विभाव गुण पर्याय जानने चाहिए। उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी परमात्म द्रव्य के दृष्टान्त से बताये हैं। जिस प्रकार *"मोक्ष पर्याय रूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे रत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायरूपेण प्रध्वंसस्तदुभयाधार-परमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति।*[2]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १०३

२. वहीं पर ,गा. १५३

मोक्षपर्यायरूप से उत्पाद, उसी क्षण में रत्नत्रयात्मक निश्चय मोक्षमार्ग पर्यायरूप से नाश, उन दोनों में आधार भूत परमात्म द्रव्यत्व से ध्रौव्य है।

यहाँ पर कुछ विषयों का स्पष्टीकरण प्रश्नोत्तर के माध्यम से अच्छा किया है। जैसे छठी गाथा में "देवासुरमणुअरायविहवेहिं" इस पद से चारित्र का फल असुरराज का वैभव कहा है, परन्तु सम्यग्दृष्टि भवनत्रिक में उत्पन्न नहीं होता, ऐसा आगम है, तो असुरराज का वैभव, सम्यग्दृष्टि को कैसे प्राप्त होता है ? ऐसी आशंका का समाधान करते हुए जयसेन आचार्य ने कहा है कि निदान बंध से सम्यक्त्व की विराधना करके वहाँ उत्पन्न होता है, इस प्रकार उसको असुरराज का वैभव प्राप्त होता है। यह पढकर मन निःशंक होता है।

मध्यम प्रतिपत्ति से चौदह गुणस्थानों में विभक्त जीव के असंख्यात लोकमात्र परिणाम संक्षेप से यहाँ पर तीन उपयोग में अन्तर्भूत किये हैं। मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र - इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य रूप से अशुभोपयोग कहा है। असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य रूप से शुभोपयोग कहा है। उसके पश्चात् अप्रमत्त आदि क्षीण कषाय पर्यन्त, छह गुण स्थानों में तारतम्य रूप से शुद्धोपयोग कहा है। इसके सयोगी अयोगी दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल कहा है। इस प्रकार अध्यात्म में भी गुणस्थानों का विवेचन जयसेनाचार्य ने किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि उन्होंने आगम और अध्यात्म में समन्वय स्थापित करने और विरोध को दूर करने के लिए, इस प्रकार का विश्लेषण किया है।

यहाँ पर सिद्ध दशा में उत्पाद व्यय ध्रौव्यों का तीन प्रकार से वर्णन किया है, वह इस प्रकार है :-

१) पूर्ण रत्नत्रय रूप कारण समयसार का विनाश, केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्य समयसार पर्याय का उत्पाद, उभय पर्यायरूप से परिणत आत्मद्रव्य स्वरूप से ध्रौव्य।

२) ज्ञेय पदार्थ प्रति समय भंग त्रय से परिणमन करते हैं, उसके निमित्त से ज्ञान की परिच्छित्ति भी अपेक्षा से तीन भंगरूप से परिणमन करता है।

३) षट्स्थानगत अगुरुलघुक वृद्धि हानि की अपेक्षा से उत्पाद व्यय ध्रौव्य प्रति समय होते हैं। इस प्रकार सिद्ध अवस्था में उत्पाद व्यय ध्रौव्य होते हैं। केवलियों के इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान और सुख सिद्ध करके बहुत तर्क और युक्तियों से और आगम के उद्धरणों से उनके कवलाहार का निराकरण किया है। उसका विस्तार से, आगे के अध्याय में वर्णन करेंगें, वहाँ से जान लेना चाहिए।

५६वीं गाथा में आये हुए प्रच्छन्न शब्द का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अच्छा स्पष्टीकरण किया है, यथा:- *"यथा - कालाणुप्रभृतिद्रव्यरूपेण प्रच्छन्नं व्यवहितम्, अलोकाकाश प्रदेश प्रभृति क्षेत्र प्रच्छन्नं, परमात्मनो वर्तमानसमयगतपरिणामास्तथैव समस्तद्रव्याणां वर्तमानसमयगतपरिणामास्ते कालप्रच्छन्ना: प्रति समय प्रवर्तमानषट्प्रकारवृद्धिहानिरूपा अर्थपर्याया भावप्रच्छन्ना इति।"*

कालाणु इत्यादि द्रव्यरूप से प्रच्छन्न अर्थात् व्यवहित, अलोकाकाश के प्रदेश इत्यादि क्षेत्र प्रच्छन्न, परमात्मा के वर्तमान समयगत परिणाम, उसी प्रकार सब द्रव्यों के वर्तमान समयगत परिणाम काल से प्रच्छन्न, प्रति समय प्रवर्तमान छह प्रकार की वृद्धि हानिरूप अर्थपर्याय भाव प्रच्छन्न हैं।

यहाँ पर ज्ञान, कर्म और कर्म फलचेतना का लक्षण और भेद विलक्षण रूप से प्रस्तुत किये हैं।

१) ज्ञानचेतना का लक्षण :- अर्थ अर्थात् परमात्मा आदि पदार्थ अनन्त ज्ञान सुखादि रूप मैं हूँ, रागादि आस्रवभाव मुझसे भिन्न हैं, इस प्रकार स्व पर आकार के अवभासन् रूप से दर्पण के समान अर्थ परिच्छित्ति में समर्थ विकल्प वही ज्ञान है। वही ज्ञान, ज्ञान चेतना है।

२) कर्मचेतना :- बुद्धि पूर्वक मन, वचन, काय के व्यापार रूप से जीव के द्वारा सम्यक् रूप से जो करना प्रारम्भ किया, वह कर्म कहा जाता है, वही कर्म चेतना है। कर्म शुभ, अशुभ, शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार का कहा है।

३) कर्मफल चेतना :- विषयानुराग रूप जो, अशुभोपयोग लक्षण रूप कर्म, उसका फल आकुलता को उत्पन्न करनेवाला नारकादि दुःख और जो धर्मानुरागरूप शुभोपयोग लक्षणरूप कर्म उसका फल चक्रवर्ती आदि, पांच इन्द्रियों के भोग का अनुभव रूप है, अशुद्ध निश्चय नय से, वह सुख भी आकुलता उत्पादन करने वाला होने से शुद्ध निश्चय नय से दुःख ही है और जो रागादि विकल्प रहित शुद्धोपयोग परिणतिरूप कर्म है, उसका फल, अनाकुलता को उत्पन्न करनेवाला परमानन्द एक रूप सुखामृत है।

अन्य आगम में, कर्मचेतना और कर्मफल चेतना को अशुद्ध ही बताया है, परन्तु यहाँ कर्म चेतना शुभ, अशुभ और शुद्ध के भेद से तीन प्रकार की कही है। शुद्धोपयोग कर्मचेतना कैसे है ? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। परन्तु यहाँ विवक्षा विशेष है। यहाँ पर जो आत्मा के द्वारा किया जाता है, वह कर्म है। इस प्रकार कर्म शब्द का अभिप्राय ग्रहण किया है। वह कर्म, द्रव्यकर्म की उपाधि के सानिध्य के सद्भाव या असद्भाव की अपेक्षा से अनेक प्रकार का है।[१]

---

१. प्रवचनसार तत्त्व प्रदीपिका, गा. १२४

शुद्धोपयोग आत्मा के द्वारा किया जाता है। अतः वह भी आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से कर्म कहा जाता है। उस शुद्धोपयोग कर्म का फल निराकुल सुख को भी कर्मफलचेतना कहा जाता है। विवक्षा के वश से इसमें विरोध नहीं है।

अमूर्तिक जीव का मूर्तिक कर्म के साथ सम्बन्ध कैसे होता है, ऐसा प्रश्न होने पर दृष्टान्तपूर्वक समाधान किया है। वह इस प्रकार है:- कोई संसारी जीव, विशेष भेदज्ञान से रहित होकर काष्ठ पाषाण आदि अचेतन जिन प्रतिमा को देखकर "यह मेरा आराध्य है" ऐसा मानता है। यद्यपि वहाँ सत्तावलोकन दर्शन के साथ प्रतिमा का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, तथापि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। अथवा जिस प्रकार समवशरण में प्रत्यक्ष जिनेश्वर को देखकर "यह मेरा आराध्य है" ऐसा विशेष भेद विज्ञान करता है, वहाँ पर भी यद्यपि अवलोकन ज्ञान का जिनेश्वर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि आराध्य-आराधक सम्बन्ध है। उसी प्रकार यद्यपि यह आत्मा निश्चय से अमूर्त है तथापि अनादि कर्मबंध के वश से व्यवहार से मूर्त होता हुआ, द्रव्यबंध के निमित्त भूत रागादि विकल्प रूप भावबंध के उपयोग का कर्ता है। उसके होने पर मूर्त द्रव्यकर्म के साथ, यद्यपि तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि संश्लेष संबन्ध है, इसमें दोष नहीं है।

नयविवक्षा में, मिथ्यादृष्टि आदि क्षीण कषाय पर्यन्त गुणस्थानों में अशुद्ध निश्चय नय कहा है। तीन उपयोगों के विवेचन के अवसर में प्रमत्त आदि क्षीण कषाय पर्यन्त छह गुणस्थानों में, शुद्धोपयोग कहा है। इसलिए अशुद्ध निश्चय नय में शुद्धोपयोग कैसे होता है ? ऐसा प्रश्न खड़ा रहता है। नय का लक्षण और उपयोग का लक्षण कह कर उसका परिहार किया है, वह इस प्रकार है :- वस्तु की एकदेश परीक्षा नय का लक्षण है। शुभ अशुभ और शुद्ध द्रव्य का आलम्बन, उपयोग का लक्षण है। उस कारण से, अशुद्ध निश्चय नय में भी शुद्धात्मा का अवलम्बन होने से, शुद्धध्येयपना होने से और शुद्धता का साधक होने से शुद्धोपयोगरूप परिणाम प्राप्त होता है। इस प्रकार का वर्णन जयसेन आचार्य की समन्वय दृष्टि का सूचक है।

इस तात्पर्यवृत्ति में ध्यान, ध्यान संतान, ध्यान चिंता, ध्यान अन्वयसूचन, इस प्रकार ध्यान का चार प्रकार से व्याख्यान है। इस प्रकार का स्पष्टीकरण अन्यत्र दिखाई नहीं देता है। इसका सविस्तर वर्णन चौथे अध्याय में ध्यान के विवेचन में करेंगे।

'जिनवर वृषभ ' शब्द का अभिप्राय व्यक्त करते हुए "सासादन आदि क्षीण कषाय पर्यन्त एकदेश जिन संज्ञा कही है और शेष अनगार केवली जिनवर कहे हैं और तीर्थंकर परमदेव जिनवर वृषभ कहें हैं। यहां पर सासादन गुणस्थानवर्ती को जिन संज्ञा कही है, क्योंकि, वे

यद्यपि वर्तमान में सम्यक्त्व से च्युत हैं तथापि उन्होंने अनन्त संसार स्थिति का छेद किया है। उन्होंने एक बार दर्शन मोह के ऊपर विजय प्राप्त की है। पुन: वे आगे दर्शन मोह को मूल से उखाड करके, चारित्र मोह का विनाश करके मोक्ष प्राप्त करेंगें। अतः सासादन सम्यग्दृष्टियों को भूत और भावी नैगम नय की अपेक्षा एकदेश जिन संज्ञा कही है।

यतिवरों के मूलगुण के व्याख्यान के काल में जयसेन आचार्य ने मूलगुण का मौलिक व्याख्यान किया है, वह इस प्रकार है :- निश्चय से मूल आत्मा है, उसके केवलज्ञान आदि अनन्त गुण मूलगुण हैं। वे निर्विकल्प समाधि रूप मोक्ष के बीजभूत, परम सामायिक नामक एक निश्चित व्रत से मोक्ष होने पर सब प्रगट होते हैं। उस कारण से वही सामायिक मूलगुण की व्यक्ति का कारण होने से निश्चय मूलगुण कहा है।

इस वृत्ति में स्त्री निर्वाण का निराकरण विशेष रूप से किया है। उसका विश्लेषण चौथे अध्याय में करेंगें। अतः यहां नहीं लिखा है।

ऋषि, यति, मुनि, अनगार- इस प्रकार मुनियों का चतुर्विध संघ कहा है। उनमें जो ऋद्धि प्राप्त हैं वे राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, परमर्षि के भेदसे चार प्रकार के हैं। उनमें विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण ऋद्धि प्राप्त राजर्षि हैं। बुद्धि और औषध ऋद्धिधारी ब्रह्मर्षि हैं, आकाशगमन ऋद्धि सम्पन्न 'देवर्षि' हैं। केवलज्ञानी परमर्षि कहे जाते हैं। अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानी 'मुनि' कहे जाते हैं। उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरूढ साधु यति कहे जाते हैं। सामान्य साधु अनगार कहे गये हैं।

आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा रूप से तीन अवस्थाओं का प्रतिपादन कर उनमें अन्तरात्मा अवस्था मोक्ष का कारण कही है। व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उनके विषयभूत परमात्मा आदि पदार्थों का प्रतिपादक होने से, इस ग्रन्थ का प्रवचनसार नाम सार्थक है। अन्त में परिशिष्ट में नयों से और प्रमाणों से आत्म द्रव्य की परीक्षा की है। वहाँ नयों के छह भेद बताये हैं। उसका वर्णन नय विवेचन के अवसर में आगे करेंगे। इस प्रकार प्रमेय बहुल यह वृत्ति पाठकों के लिए नवीन-नवीन विषयों का ज्ञान समर्पण करती है।

समयसार तात्पर्यवृत्ति

समयसार का मौलिक सौन्दर्य :-

प्राकृत भाषा में निबद्ध समयसार नामक परमागम, कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा रचित द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट आगम विराजमान है। प्राकृत भाषा के संशोधकों के द्वारा इसकी भाषा जैन शौरसेनी प्राकृत, ऐसा उद्घोषित किया है।[१] यदि कुन्दकुन्ददेव, दिगम्बर जैनाचार्य परम्परा के शिरोमणि हैं तो शुद्धात्मा का प्रतिपादक समयसार ग्रन्थाधिराज सम्पूर्ण जैन साहित्य में शिरोमणि के समान विराजमान है ।[२] इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्"[३] 'नखलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति'[४] इत्यादि सहज उद्गारों से अमृतचन्द्र आचार्य ने अपने हृदय में उछलने वाली समयसार की महिमा प्रदर्शित की है।

यह समयसार जैन साहित्य की अनुपम निधि, जैन दर्शन की अमूल्य धरोहर, मुक्तिपथ प्रदर्शक, सर्वोच्च साहित्य, द्रव्यानुयोग का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ, निज परमात्मतत्त्व का दिग्दर्शक अलौकिक शास्त्र है। समयसार सुधारस का आस्वादन करके बनारसी दास, श्रीमद् रायचन्द्र, कानजी स्वामी इत्यादि अनेक अन्य धर्मानुयायियों ने मिथ्यात्व विष का वमन करके समीचीन धर्म को अंगीकार किया है। उसके फलस्वरूप बनारसीदास महोदय ने नाटक समयसार नामक हिन्दी में पद्यबद्धशास्त्र की रचना की है। कानजी स्वामी ने जनसभा में उन्नीस बार समयसार के ऊपर अध्यात्म रस निर्भर, भावपूर्ण प्रवचन करके समयसार की महती प्रभावना की है। उनके मुखोद्गत सहज हृदयोद्गारों से जाना जाता है कि समयसार के विषय में उनके हृदय में कितनी महिमा थी। उन्होंने कहा है" यह समयसार नामक शास्त्र आगमों का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार इसमें अन्तर्निहित है। यह जैन शासन का स्तम्भ है। साधकों की कामधेनु और कल्पवृक्ष है । इसकी प्रत्येक गाथा छठे सातवें गुणस्थान में दोलायमान महामुनि के आत्मानुभव से निकली है।[५]

---

१. समयसार प्रस्तावना, बलभद्र जैन, पृ.सं. ९ कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् १९७८

२. डॉ. हुकुमचन्द्रभारिल्ल, आ. कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम, पृ.३३

३. समयसार कलश नं. २४५

४. समयसार कलश नं. २४४

५. समयसार प्रस्तावना - पं. हिम्मतलाल जेठालाल शाह पृ. सं. १४ जयपुर प्रकाशन, सप्तम संस्करण, सन् १९८३

शुद्ध आत्म स्वरूप का प्रतिपादक समयसार का समानत्व अन्य कोई भी ग्रन्थ नहीं कर सकता है, अतः यह ग्रन्थराज आत्मधर्म के प्रतिनिधि के रूप और जैन धर्म का प्राणभूत है, ऐसा कहने पर भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। अतः इस विषय में पं. हिम्मतलालजी ने सम्यक् कहा है -

"कुन्द सूत्रों को स्वर्णमय पत्रों के ऊपर मूल्यवान रत्नत्रय अक्षरों से अंकित करने पर भी उनका मूल्य अंकों में कभी भी नहीं हो सकता है।"[१] इस ग्रन्थ के वर्णन में शब्द असमर्थ हैं और शब्दशक्ति शून्य के समान भाषित होती है। समयसार की महिमा तो वस्तुतः शुद्धात्मा के अनुभव से ही हो सकती है।

समयसार इस प्रकार का शास्त्र है जहाँ शब्दों की नव अर्थ प्राप्ति, अध्यात्म की नवोन्नति, प्राणियों को जीवनदायिनी संजीवनी, संसारियों को मोक्ष, संसार अटवी में भ्रमण करने वालों को प्रासाद, दुखियों को सुख, मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्व, दरिद्री को ऐश्वर्य, भक्त को भगवान, दाता को दान, दानव को मनुष्यपना, कीचड को स्वर्ण, नारकी को स्वर्ग, अशिक्षित को सम्यग्ज्ञान, अनाचारियों को आचरण, कषाय कलुषितों को धर्म, पापियों को पावित्र्य, जैनियों को जैनत्व, ज्ञानियों को ज्ञानत्व, अविद्यावालों को विद्या, प्राप्त हुई है।

समयसार के बिना सभी शास्त्रों का अध्ययन अपूर्ण है। समयसार के बिना अध्यात्म निर्जीव है। समयसार के बिना जीवन शून्य है। समयसार के बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं। समयसार के बिना आगम ज्ञान निष्फल है। समयसार के बिना सम्यक्त्व नहीं है। समयसार ही सब शास्त्रों का सार है।

केवल यह आध्यात्मिक ग्रन्थ ही नहीं है किन्तु सर्वोत्कृष्ट दर्शन शास्त्र भी है। इसमें तेईस गाथाओं में परमतों का परिहार किया है।

परम कृपालु कुन्दकुन्द देव ने ग्रन्थ रचना का प्रयोजन स्वयं कहा है कि "कामभोग बंध की कथा सर्व संसारी जीवों ने पहले अनन्त बार सुनी है, पहले अनन्तबार परिचय हुआ है और उनका अनुभव भी हुआ है, अत: वह सुलभ है, परन्तु पर से विभक्त स्वसे एकत्व की प्राप्ति श्रुत, परिचित, अनुभूत न होने से सुलभ नहीं है। अत: मैं उस एकत्व विभक्त आत्मा को स्ववैभव से दिखाता हूँ।"[२] इस प्रकार अज्ञानियों को शुद्धात्म स्वरूप का प्रकाशन ही ग्रन्थ रचना का

---

१. बनावूं पत्र कुन्दननां रत्नोंना अक्षरो लिखी। तथापि कुन्द सूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी॥
पं. हिम्मतलाल कृत- श्री समयसार स्तुति, श्लो. सं. ६

२. समयसार गाथा ४-५

प्रयोजन है। अनादिकाल से आत्मज्योति नौ तत्वों में छिपी हुई हैं। नौ तत्त्वों के निरूपण के द्वारा उसे प्रकट करना ही आचार्य का उद्देश्य है। अन्यत्र तत्त्वार्थसूत्र आदि में भी नौ तत्त्वों का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु इस ग्रन्थ में नौ तत्त्वों की निरूपण शैली भिन्न है। वहाँ भेदरूप से अभूतार्थ नयसे नौ तत्त्वों का विश्लेषण दिखलाई देता है। परन्तु यहाँ भूतार्थनय से नौ तत्त्वों का विश्लेषण किया है।

इस ग्रन्थ में परम शुद्ध निश्चयनय से नौ तत्त्वों में एक आत्मा ही प्रकाशित हुआ है। आत्मतत्त्व के सदृश गूढ विषय का भी अति रोचकता से सुबोध रीति से यहाँ प्रतिपादन किया है। दुरुह दुर्गम विषय को भी दृष्टान्त के द्वारा सुलभ सुगम किया है। वास्तविक मूल ग्रन्थ अतीव सरल, मधुर और रोचक है।

जो इस समय प्राभृतशास्त्र का अध्ययन करके अर्थ से और तत्त्व से जानकर इसी के अर्थभूत पूर्ण विज्ञानघन भगवान आत्मा में सर्वारम्भ से स्थिर रहेगा, वह उत्तम अनाकुलता लक्षण सौख्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार ग्रन्थ अध्ययन का फल स्वयं कुन्दकुन्द आचार्य ने दिखाया है। उससे इस ग्रन्थाध्ययन की महती आवश्यकता प्रतीत होती है।[१]

इस ग्रन्थ में जहाँ तहाँ "सुदकेवली भणिदं" "जिणेहि णिद्दिट्ठं" " जिणवरेहिं पण्णतं" 'भणंति लोयप्पदीवयरा" "णिच्छिदा साहू" इत्यादि प्रयोगों से ग्रन्थ की प्रामाणिकता प्रकाशित की है। अतः ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय कपोल कल्पित नहीं है, न स्वेच्छा से लिखा गया है। टीकाकार अमृतचन्द्र आचार्य ने "अर्हत्प्रवचनावयवस्यास्य समयप्रकाशकस्य" ऐसा उल्लेख करके इसकी सत्यता बताई है।

प्रत्येक अधिकार की प्रत्येक गाथा, उसकी टीका और वृत्ति हमें किसी भी प्रकार से, मरकर के भी स्व और पर में भेद विज्ञान करने के लिए और मिथ्या मान्यता को दूर करने के लिए प्रेरित करती है। शुद्धात्मा में रत सम्यग्ज्ञानियों की हमेशा यही भावना रहती है कि जिस प्रकार मेरे द्वारा निजध्रुवचैतन्य शुद्ध ज्ञायक परमात्मा, परम पारिणामिक भाव स्वरूप शुद्धात्मा स्वसंवेदन ज्ञान से अनुभव में आया है, उसी प्रकार त्रिलोकवर्ती सभी जीव स्व समयसार का अनुभव करें। स्वस्वभाव का अवलम्बन करके अतीन्द्रिय आनन्द रस का आस्वादन करके परिपूर्ण निराकुल सुख के लिए पुरुषार्थ प्रारम्भ करके शीघ्र ही ध्रुव, अचल, अनुपम सिद्ध दशा को प्राप्त करके अनन्त सुखी होवे।

---

१. जो समय पाहुडमिणं पढ़िदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं॥ समयसार गा.सं. ४१५
(जयसेन आ. अपेक्षा ४३९)

नाम करण :-

मंगलाचरण करने वाले कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा "वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं" ऐसी प्रतिज्ञा की है । उसी प्रकार ग्रन्थ की अन्तिम गाथा में भी "जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं" ऐसा कहा है उपर्युक्त दोनों उल्लेखों से ग्रन्थ का नाम समय पाहुड ऐसा जाना जाता है। "समय पाहुड" इस प्राकृत शब्द का 'समय प्राभृतं' ऐसा संस्कृत भाषा में रूपान्तर होता है।

दृष्टिवाद नामक १२ वें अंग में चौदह पूर्व हैं | उन चौदह पूर्वों में 'ज्ञान प्रवाद' नामक पाँचवा पूर्व है। उस पूर्व के बारह वस्तु अधिकार हैं। उनमें प्रत्येक वस्तु के बीस-बीस प्राभृत अधिकार हैं। उसमें दसवीं वस्तु में समय नामक प्राभृत है उसके मूल सूत्रों का ज्ञान पूर्वाचार्य परम्परा से कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा प्राप्त किया गया। "अत: उन्होंने समय प्राभृत के परिभाषा सूत्रों की रचना की।"[१]

"समयते एकत्वेन युगपद् जानाति गच्छतीति समय इति" इस निरुक्ति से समय शब्द के द्वारा आत्मा ग्रहण किया जाता है। १. प्रकृष्ट रूप से तीर्थंकर के द्वारा आभृतं अर्थात् प्रस्थापित है, वह प्राभृत है। २. प्रकृष्ट अर्थात् विद्यावान आचार्यों के द्वारा जो आभृत अर्थात् धारण किया है, व्याख्यात है, लाया गया है, वह प्राभृत है। [२] ऐसी प्राभृत शब्द की उत्पत्ति है, अर्थात् प्राभृत शब्द का अर्थ शास्त्र है। अतः समय अर्थात् आत्मा का जो शास्त्र है, वह समय प्राभृत है, ऐसा समुदाय रूप अर्थ है । जयसेन आचार्य ने" प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः "प्राभृतम्" अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतं, ऐसा समय प्राभृत का समास विग्रह किया है। इसलिए आत्मा की शुद्ध अवस्था ऐसा समय प्राभृत का अर्थ जाना जाता है।

अथवा प्राभृत शब्द का "उपहार वस्तु" ऐसा अन्य अर्थ भी प्राप्त होता है। उसी अर्थ को ग्रहण करके जयसेन आचार्य ने वृत्ति के अन्तिम भाग में कहा है, वह इस प्रकार है:- "यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थं किञ्चित् सारभूतं राज्ञे ददाति तत्प्राभृतं भण्यते । तथा परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतम् । कस्मात् सारभूतत्वात् इति प्राभृतशब्दस्यार्थः ।"[३] जैसे कोई देवदत्त राजा के दर्शन के लिए कुछ सारभूत

---

१. समयसार गा. १, भावार्थ पं. जयचन्द्रजी छाबडा.

२. जयधवला पु. १, पृ.सं. २९७

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, स्याद्वादाधिकार, पृ.सं. ४०७, प्रकाशन द्वितीय संस्करण, सन् २०००

वस्तु राजा को देता है, उसको प्राभृत कहते हैं तथा परमात्मा के आराधक पुरुष को निर्दोषि परमात्मारूपी राजा का दर्शन करने के लिए यह शास्त्र भी प्राभृत (भेंट) है। क्यों ? सारभूत होने से, इस प्रकार प्राभृत शब्द का अर्थ है।

इस ग्रन्थ में कुन्दकुन्द आचार्य ने तीन बार समयसार शब्द का प्रयोग किया है।[१] अमृतचन्द्र आचार्य ने पहले और तीसरे कलश में, उसी प्रकार अन्यत्र भी अनेक बार समयसार शब्द का प्रयोग किया है। जयसेन आचार्य ने भी ग्रन्थ के आदि में मंगलाचरण में " वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम्" इस प्रकार ग्रन्थ का नाम समयसार है, ऐसा प्रकट किया है। उपर्युक्त समास विग्रह के अनुसार समयप्राभृत शब्द का समयसार' ऐसा अर्थ भी जयसेन आचार्य ने किया है।

आत्मख्याति टीका में और तात्पर्यवृत्ति में, अधिकार समाप्ति के अवसर में "समयसारव्याख्यायां " ऐसा उल्लेख दिखाई देता है। अत: "समयसार " ऐसा भी इस ग्रन्थ का नाम प्रचलित है, ऐसा जाना जाता है। इस ग्रन्थ में शुद्धात्म स्वरूप समयसार का प्रतिपादन होने से "समयसार" ऐसा दूसरा नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है।

ग्रन्थ परिमाण :-

इस ग्रन्थ की विविध प्रतियों में ४१५ गाथाओं से लेकर ४४५ तक गाथाएँ प्राप्त होती हैं। अमृतचन्द्र आचार्य विरचित आत्मख्याति टीका में ४१५ गाथाएँ ही हैं। आचार्य जयसेन के अनुसार ४३९ गाथाएँ हैं।[२]

उन्होंने स्वयं वृत्ति की समाप्ति में गाथा का उल्लेख किया है, परन्तु सोलापुर प्रकाशन में ४३७ गाथाएँ प्राप्त होती हैं। उसी प्रति में पृथक् क्रमांक रूप से आठ गाथाएँ समाविष्ट हैं। इस प्रकार सब मिलकर ४४५ गाथाएँ हैं। कर्तृकर्म अधिकार में जयसेन आचार्य ने ७८ गाथाएँ कहीं हैं,[३] परन्तु सोलापुर प्रकाशित प्रति में ७९ गाथाएँ प्राप्त होती हैं, उसमें १४७वीं गाथा के

---

१. समयसार गा. १४२, १४४, ४१४ (जयसेनाचार्यापेक्षया)

२. "इतिश्री कुन्दकुन्ददेवाचार्यरचित समयसार प्राभृताभिधान ग्रन्थस्य सम्बन्धिनी.. दशाधिकारै-रेकोनचत्वारिंशदधिकगाथाशतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्ता:।" समयसार तात्पर्यवृत्ति की समाप्ति में लिखा हुआ वाक्य।

३. व्यवहारनयेन कर्तृकर्मवेषेण शृंगार सहित पात्रवत्प्रविशत इति दण्डकान्विहायाष्टाधिक सप्ततिगाथापर्यन्तं नवभिः स्थलैर्व्याख्यानं करोतीति : ---------- समयसार तात्पर्यवृत्ति-कर्तृकर्माधिकार प्रारम्भ।

ऊपर जयसेन आचार्य की वृत्ति नहीं है। उस कारण से यह गाथा तात्पर्यवृत्ति में समाविष्ट नहीं है। उसी प्रकार ३१३वीं गाथा के अनन्तर दो गाथा जयसेन आचार्य ने अपनी तात्पर्यवृत्ति में गिनाई हैं परन्तु उपरोक्त प्रतिमें, उपरोक्त दो गाथा मूल गाथा रूप से परिगणित नहीं हैं, दण्डक रूप से ग्रहण की हैं। उसी प्रकार ३२०वीं गाथा के अनन्तर जयसेन आचार्य ने तात्पर्यवृत्ति में उल्लेखित की हैं। परन्तु सोलापुर प्रकाशन में मूलरूप से स्वीकृत नहीं है, पृथक् दण्डक रूप से उद्धृत की है। इस प्रकार ४३७ गाथाओं में एक गाथा कम करनी चाहिए और तीन गाथा जोड़नी चाहिए, ऐसा करने पर ४३९ गाथाएँ सिद्ध होती है।

इसमें दस अधिकार हैं। प्रथमत: १४ गाथाओं में समयसार की पीठिका है। कोई आसन्न भव्य जीव पीठिका के व्याख्यान मात्र से ही हेय उपादेय तत्त्व को जानकर निज स्वरूप की भावना करता है। कोई विस्तार रूचि नौ अधिकारों से समयसार को जानकर पश्चात् भावना करता है। अतः विस्तार रूचि शिष्य के लिए १० दस अधिकार बताये हैं, उसमें नौ पदार्थों की अधिकार गाथा एक है। उसके बाद समयसार ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य रूप शुद्ध जीव के विवेचनात्मक २८ अठाईस गाथा पर्यन्त जीवाधिकार है। वहाँ शुद्धात्मा की भावना की मुख्यता से तीन गाथा, भेदाभेद रत्नत्रय की मुख्यता से तीन गाथा, अप्रतिबुद्धत्व आदि के कथन की मुख्यता से तीन स्वतन्त्र गाथा, अप्रतिबुद्धत्व के लक्षण का वर्णन करने के लिए तीन गाथा, अप्रतिबुद्ध को सम्बोधित करने के लिए तीन गाथा। देह ही आत्मा है, ऐसे पूर्व पक्ष रूप से एक गाथा, उसके परिहार पूर्वक चार गाथा, निश्चय स्तुति की मुख्यता से तीन गाथा। ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, इस कथन रूप से चार गाथा, स्वसंवेदन ही भावित आत्मा का स्वरूप है, इस प्रकार एक उपसंहार गाथा है। इस प्रकार अड्डाईस सूत्रों के द्वारा जीवाधिकार पूर्ण हुआ है।

द्वितीय अजीव अधिकार में तीस गाथाएँ हैं। उनमें प्रथमतः शुद्धनय से देह, रागादि परद्रव्य , जीव का स्वरूप नहीं है। ऐसे निषेध की मुख्यता से दस गाथाएँ हैं, उसके पश्चात् वर्ण, रस आदि पुद्गल स्वरूप से रहित और अनन्त ज्ञान आदि गुण स्वरूप शुद्ध जीव ही उपादेय है, ऐसी भावना की मुख्यता से बारह गाथाएँ है।

निश्चयनय से जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य नहीं है, ऐसा दृढीकरण के लिए आठ गाथाएँ हैं। इस प्रकार तीस गाथाओं से अजीव अधिकार हैं।

तीसरे कर्तृकर्म अधिकार में अठहत्तर गाथाएँ हैं। इसी अधिकार का जयसेन आचार्य ने पुण्य पाप आदि सात पदार्थ की पीठिका, ऐसा दूसरा नाम कहा है। इसमें प्रथमतः अज्ञानी और ज्ञानी जीव की संक्षेप से सूचना करने के लिए छह गाथाएँ हैं। अज्ञानी और ज्ञानी जीव की विशेष व्याख्या रूप से ग्यारह गाथाएँ हैं। उसके बाद चेतन और अचेतन दो कार्यों का एक उपादान कर्तृत्व लक्षण वाले द्विक्रियावादी के निराकरण की मुख्यता से पच्चीस गाथाएँ है। उसके बाद प्रत्यय ही कर्म करते हैं, इसके समर्थन द्वार से सात गाथाएँ हैं। जीव पुद्गल के कथञ्चित् परिणामीपना की स्थापना की मुख्यता से आठ गाथाएँ हैं। ज्ञानमय और अज्ञानमय परिणाम की मुख्यता से नौ गाथाएँ हैं। अज्ञानमय भाव के मिथ्यात्व आदि पाँच प्रत्ययों के भेद के प्रतिपादन रूप से पाँच गाथाएँ हैं। जीव और पुद्गल में परस्पर उपादान कर्तृत्व की निषेध की मुख्यता से तीन गाथाएँ हैं। नय पक्षपात रहित शुद्ध समयसार के कथन रूप से चार गाथाएँ हैं। इस प्रकार समुदाय रूप से अठहत्तर गाथाओं और नौ अन्तराधिकारों के द्वारा कर्तृकर्म नामक तीसरा महाधिकार है।

चौथे पुण्य पाप नामक अधिकार में उन्नीस गाथाएँ हैं। उसमें, पुण्य-पाप में व्यवहार से भेद है तथापि निश्चय से नहीं, इस व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथाएँ हैं। सम्यक्त्व के बिना व्रत दान आदि पुण्यबंध के ही कारण है. सम्यक्त्व सहित पुनः परम्परा से मुक्ति के कारण हैं, इस कथन की मुख्यता से चार गाथाएँ हैं। निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग की मुख्यता से नौ गाथाएँ हैं। इस प्रकार उन्नीस गाथाओं से पुण्य पाप नामक चौथा अधिकार है।

आस्रव नामक पाँचवें अधिकार में सतरह गाथाएँ हैं। उसमें प्रथमतः वीतराग सम्यग्दृष्टि के राग द्वेष मोह रूप आस्रव नहीं है। इस प्रकार संवर व्याख्यान रूप से तीन गाथाएँ है। उसके पश्चात् रागद्वेष मोह रूप आस्रवों के विशेष विवरण की मुख्यता से तीन गाथाएँ हैं। सम्यग्ज्ञानी जीव के रागादि भाव प्रत्यय की निषेध की मुख्यता से सात गाथाएँ हैं। उसके पश्चात् नवीन द्रव्य कर्म आस्रव के उदयागत द्रव्य प्रत्यय कारण हैं और रागादि जीव गत उनके भी भाव प्रत्यय कारण हैं। इस प्रकार कारण व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाएँ हैं। इस प्रकार सतरह गाथाओं से आस्रव अधिकार है।

संवर नामक छठे अधिकार में चौदह गाथा पर्यन्त वीतराग सम्यक्त्व रूप संवर का व्याख्यान किया है। उनमें पहले भेदज्ञान से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है, इस व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ है। उसके पश्चात् भेदज्ञान से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कैसे होती है ? ऐसा प्रश्न होने पर परिहार रूप से दो गाथाएँ हैं। उसके बाद शुद्ध भावना से शुद्ध होता है, उसकी

मुख्यता से एक गाथा है। उसके पश्चात् संवर का प्रकार प्रतिपादन करने के लिए तीन गाथाएँ हैं। उसके अनन्तर परोक्ष आत्मा का ध्यान कैसे किया जाता है, उसके प्ररूपण के लिए दो गाथाएँ हैं। उसके बाद संवर के क्रम का कथन करने की मुख्यता से तीन गाथाएँ है। इस प्रकार समुदाय रूप से चौदह गाथाओं से संवर अधिकार है।

निर्जरा नामक सातवें अधिकार में पचास गाथा पर्यंत निर्जरा का व्याख्यान है, उसमें द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा, ज्ञान शक्ति और वैराग्य शक्ति के व्याख्यान से चार गाथाएँ हैं। ज्ञान और वैराग्य शक्ति के सामान्य व्याख्यान के लिए पाँच गाथाएँ हैं, उन्हीं के विशेष विवरण के लिए दस गाथाएँ हैं। स्वसंवेदन ज्ञान गुण से परमात्म पद की प्राप्ति का प्रतिपादन करने के लिए दस गाथाएँ हैं। उसी ज्ञान गुण के विशेष विवरण के लिए चौदह गाथाएँ हैं। निश्चय से निःशंक आदि आठ गुणों के व्याख्यान के लिए नौ सूत्र हैं। इस प्रकार मिलाकर पचास गाथाओं से निर्जरा अधिकार है।

बंध नामक आठवें अधिकार में छप्पन गाथा पर्यंत व्याख्यान है। उनमें प्रथमतः बंध स्वरूप की सूचना की मुख्यता से दस गाथाएँ हैं। निश्चय से हिंसा, अहिंसा, व्रत, अव्रत इन दोनों के लक्षण के कथन रूप से सात गाथाएँ हैं। निश्चय से हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है। इस प्रकार प्रतिपादन रूप से छह गाथाएँ हैं। व्रत अव्रत के व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथाएँ हैं। उसी के भाव पुण्य पाप स्वरूप व्रत अव्रत परिणामों के व्याख्यान की मुख्यता से तेरह गाथाएँ हैं। निश्चय में स्थित होकर व्यवहार का निषेध किया जाता है, इस प्रकार कथन रूप से छह गाथाएँ हैं। पिंड शुद्धि के व्याख्यान रूप से चार गाथाएँ हैं। क्रोधादि कषाय कर्मबंध के निमित्त हैं और उनके चेतन अचेतन बाह्य द्रव्य निमित्त हैं। इस प्रकार प्रतिपादन रूप से पाँच गाथाएँ हैं। उसके पश्चात् अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान बंध के कारण हैं। इस प्रकार व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ हैं। इस प्रकार समुदाय रूप से छप्पन गाथाओं से बंध अधिकार है।

मोक्ष नामक नौवें अधिकार में बाईस गाथा पर्यंत मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान है, उनमें प्रथम मोक्ष पदार्थ के व्याख्यान रूप से सात गाथाएँ हैं। मोक्ष के कारणभूत भेद विज्ञान की संक्षेप से सूचना करने के लिए चार गाथाएँ है। उसी भेदज्ञान के विषय विवरण के लिए पाँच गाथाएँ है। वीतराग चारित्र सहित मुनि के द्रव्य प्रतिक्रमण आदि विषकुंभ है, सराग चारित्र सहित मुनि के अमृत कुम्भ है।

इस प्रकार युक्ति की सूचना की मुख्यता से छह गाथाएँ है। इस प्रकार बाईस गाथाओं से मोक्ष अधिकार है।

दसवें सर्वविशुद्धिनामक अधिकार में प्रथमतः १४ गाथा पर्यन्त मोक्षमार्ग की चूलिका का व्याख्यान है। उसके पश्चात् छियानवे गाथा पर्यन्त समयसार चूलिका का व्याख्यान है। छियानवें गाथाओं में प्रथम, विष्णु के देवादि पर्याय के कर्तृत्व के निराकरण की मुख्यता से सात गाथाएँ है। अन्य कर्ता है और अन्य भोक्ता है, इस प्रकार एकान्त के निषेध की मुख्यता से चार गाथाएँ हैं। सांख्य मतानुसारी शिष्य के प्रति एकान्त से जीव के भाव मिथ्यात्व के अकर्तृत्व के निराकरण के लिए पाँच गाथाएँ हैं। पुनः सांख्य मत का निराकरण रागादि निमित्तों का घात करता है, उसके संबोधन के लिए सात गाथाएँ हैं। जीव व्यवहार से द्रव्यकर्म का कर्त्ता है और भोक्ता है, अशुद्ध निश्चय से भावकर्म का कर्ता है, इस प्रकार व्याख्यान की मुख्यता से सात गाथाएँ हैं। ब्रह्माद्वैत मतानुसारी शिष्य के संबोधन के लिए दस गाथाएँ हैं। निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, चारित्र के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाएँ हैं। रागद्वेष की उत्पत्ति के विषय में अज्ञान रूप अपनी बुद्धिरूप दोष ही कारण है, अचेतन शब्द आदि विषय नहीं। इस प्रकार के कथन के लिए दस गाथाएँ हैं। कर्म चेतना, कर्मफलचेतना के संन्यास भावना की मुख्यता से तीन गाथाएँ हैं। द्रव्यश्रुत, इन्द्रिय विषय, द्रव्यकर्म, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा शुद्ध निश्चय से रागादि भी शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है। इस प्रकार व्याख्यान की मुख्यता से पन्द्रह गाथाएँ हैं। निश्चय से जीव का आहार नहीं हैं, इस कथन रूप से तीन गाथाएँ हैं। शुद्ध आत्मा की भावना रूप भावलिंग निरपेक्ष द्रव्यलिंग मुक्ति का कारण नहीं है। इस प्रकार प्रतिपादन की मुख्यता से सात गाथाएँ हैं। उसके अनन्तर समय प्राभृत के अध्ययन के फल को दिखाने की मुख्यता से एक गाथा है। इस प्रकार समुदाय से छियानवें गाथाओं के द्वारा समयसार चूलिका नामक सर्व विशुद्ध ज्ञान नामक दसवाँ अधिकार है।

प्रतिपाद्य विषय :-

इस समयसार परमागम में शुद्ध अध्यात्म विषय की चर्चा है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है, और इसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? इन दो प्रश्नों के समाधान के लिए आचार्यों का सम्पूर्ण प्रयास है। इस विस्तृत ग्रन्थ में शुद्ध आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय का विस्तार से वर्णन किया है।

'समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति समयस्य निरूक्तेर्यो जीव नामकः पदार्थः स समयः। "

एकत्व पूर्वक एक साथ जानता है और परिणमन करता है, ऐसी समय शब्द की निरुक्ति होने से, जो जीव नामक पदार्थ है, वह समय है। जो स्वयं को एकत्व रूप से एक साथ जानता

और परिणमता है, वह स्व समय है। जो पर को एकत्व रूप से एक साथ जानता और परिणमता है, वह पर समय है। अर्थात् स्व समय सम्यग्दृष्टि है और पर समय मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार पर्याय भेद से समय के द्विविधपना प्राप्त होता है। परन्तु अपनी शुद्ध गुण, पर्याय से परिणत अथवा अभेद रत्नत्रय रूप से परिणत एकत्व गत आत्मा लोक में सर्वत्र सुन्दर है।

एकीभाव से अपनी गुण पर्यायों को प्राप्त होता है, वह समय है, इस निरुक्ति से समय शब्द के द्वारा सभी पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। सर्वत्र लोक में जो जितने कोई भी पदार्थ हैं, वे सभी निश्चित रूप से एकत्व निश्चयगत होने से सुन्दरत्व को प्राप्त होते हैं। इसलिए जीव नामक समय के भी एकत्व निश्चयगतपना होने से सुन्दरता उपादेय है। उस एकत्व में बंध कथा से ही विसंवाद की प्राप्ति होती है। अतः समय के एकत्व ही सिद्ध होता है। परन्तु उस एकत्व विभक्त की प्राप्ति सुलभ नहीं है। क्योंकि एकत्व विभक्त रूप शुद्धात्मा का स्वरूप पहले कभी नहीं सुना है, पहले कभी भी उसका परिचय नहीं हुआ है, पहले कभी भी उसका अनुभव नहीं किया है। अतः दुर्लभ होने से उस एकत्व विभक्त आत्मा को आचार्य कुन्दकुन्द देव आगम, तर्क, परम गुरु का उपदेश और स्वसंवेदन रूप स्ववैभव से यहाँ दिखाते हैं।

शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे, शुभ अशुभ परिणमन का अभाव होने से आत्मा अप्रमत्त और प्रमत्त नहीं है, अर्थात् सम्पूर्ण शुद्ध अशुद्ध पर्यायों से भिन्न ज्ञायक एक शुद्धभाव है। ज्ञायक भाव भी ज्ञेय निरपेक्ष स्वभाव से ही ज्ञायक है, परन्तु शुद्ध निश्चयनय से शुद्धात्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण भेद भी नहीं है। आत्मा सम्बन्धी अज्ञात प्राथमिक शिष्यों को प्रतिबोधन के लिए, व्यवहार नय से भेद को उत्पन्न करके आत्मा के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, ऐसा उपदेश किया जाता है। जिस प्रकार अनार्य को, अनार्य भाषा के बिना सम्बोधन करना अशक्य है, उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना व्यवहारी लोगों को परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है। परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहार नय प्रतिपादन करने योग्य है तथापि व्यवहार नय अनुसरण करने योग्य नहीं है। व्यवहार नय अभूत, अविद्यमान अर्थ को प्रकाशित करता है, इसलिए अभूतार्थ है।

शुद्धनय भूत (सत्य) अर्थ को प्रकाशित करता है, इसलिए भूतार्थ है। जो भूतार्थ का आश्रय करते हैं, वे ही तत्त्व को सम्यक् देखते हुए सम्यग्दृष्टि होते हैं, दूसरे नहीं। इसलिए आत्मदर्शियों के द्वारा व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है, तथापि जिस प्रकार षोडशवर्णिका रूप स्वर्ण के लाभ के अभाव में तो नीचे की वर्णिका वाले स्वर्ण का लाभ प्रयोजनवान है, उस प्रकार कुछ प्राथमिक सविकल्प अवस्था में, मिथ्यात्व, विषय कषाय और

दुर्ध्यान से बचने के लिए व्यवहार नय भी प्रयोजनवान है । व्यवहार नय पहली भूमिका में हस्तावलम्बन रूप है ।

भूतार्थ रूप से जाने हुए नौ पदार्थ अभेद उपचार से सम्यक्त्व का विषय होने से सम्यक्त्व है। यद्यपि नौ पदार्थ प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से भूतार्थ कहे जाते हैं तथापि अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में अभूतार्थ हैं। उस परम समाधिकाल में नौ पदार्थ में शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही प्रकाशित होता है। परम समाधि के काल में प्रमाण नय निक्षेप अभूतार्थ हैं। उनमें भूतार्थ नय से एक शुद्ध जीव ही प्रतीत होता है।

१. जीव अधिकार :-

जो शुद्धात्मा को द्रव्यकर्म, नोकर्म से अस्पृष्ट, नर नारक पर्यायों में अनन्य, नियत, ज्ञान दर्शन आदि भेद रहित अविशेष, भावकर्म रहित असंयुक्त जानता है, वह पुरुष ही अभेदनय से शुद्ध कहा गया है। जो पूर्वोक्त पाँच विशेषणों से विशिष्ट शुद्धात्मा को जानता है, वह सर्व द्वादशांग परिपूर्ण जिन शासन को जानता है । शुद्धात्मा का ध्यान करने पर सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक प्राप्त होते हैं। साधु को व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र सेवनीय हैं। निश्चयनय से पुनः वे तीनों भी शुद्धात्मा ही हैं। मोक्षार्थी पुरुष को शुद्ध जीव राजा को, निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानसे जानना चाहिए, श्रद्धान करना चाहिए और अनुभव करना चाहिए | जितने काल तक ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म और शरीर आदि नोकर्म, "मैं हूँ" ऐसी प्रतीति है, और कर्म, नोकर्म मेरे हैं, ऐसी प्रतीति है, तब तक जीव अप्रतिबुद्ध है। शुद्ध जीव में जब रागादि रहित परिणाम हैं, तब मोक्ष है। अजीव देहादि में जब रागादि परिणाम है, तब बंध है। अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा रागादिभाव कर्मों का, शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध भावों का कर्ता है, और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य कर्मों का कर्ता है। सचित्त, अचित्त, मिश्र परद्रव्य मैं हूँ, पहले मेरे थे, आगे मेरे होंगे, ऐसा जो कहता है, वह अज्ञानी है, बहिरात्मा है । उससे विपरीत, ज्ञानी अन्तरात्मा है। सर्वज्ञ के द्वारा जीव को ज्ञान दर्शनोपयोग लक्षण वाला कहा है, वह पुद्गल द्रव्य कैसे हो सकता है ? किसी भी प्रकार नहीं। यदि चैतन्य को छोड़कर जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य के स्वरूप से परिणमन करेगा और पुद्गल द्रव्य अचेतनपने को छोड़कर चैतन्य रूप होगा, तब यह पुद्गल द्रव्य मेरा है, ऐसा अज्ञानी का वचन सत्य होगा। वैसा तो नहीं है। यदि जीव और शरीर में एकत्व नहीं है, तब " द्वौ कुन्देन्दुतुषारहार धवलौ "आदि तीर्थंकर और आचार्य की स्तुति व्यर्थ होती है। ऐसा अप्रतिबुद्ध शिष्य का पूर्व पक्ष है। उसका परिहार :-

जो अज्ञानी ने कहा, वह घटित नहीं होता, क्योंकि शिष्य निश्चयनय और व्यवहार नय में परस्पर साध्य साधक भाव को नहीं जानता है। व्यवहार नय से जीव और शरीर एक है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु निश्चयनय से जीव और शरीर कभी भी, किसी काल में भी एक पदार्थ नहीं हैं।

उस कारण से व्यवहारनय से, शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन युक्त है, निश्चयनय से नहीं। निश्चय से अनन्त ज्ञानादि केवली के गुणों के स्तवन से वास्तव में केवली की स्तुति होती है। शुक्ल आदि शरीर के गुणों की स्तुति करने पर भी अनन्त ज्ञानादि केवली के गुणों की स्तुति नहीं होती। यदि शरीर के गुणों के स्तवन से निश्चय स्तुति नहीं होती हैं, तो कैसे होती है ? ऐसा पूछने पर द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय, पाँच इन्द्रियों के विषयों को स्वसंवेदन लक्षण भेदविज्ञान से जीतकर जो शुद्धात्मा का अनुभव करता है, वह जितेन्द्रिय जिन है। इस प्रकार ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष के परिहार से निश्चय स्तुति कही है। रागादि परिणत, आत्मा "भाव्य" और उदयागत मोह" भावक" है। उन भाव्य और भावक का शुद्ध जीव के साथ संकर और संयोग दोष है। उस दोष को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से जो दूर करता है, वह जितमोह जिन है। इस प्रकार भाव्य भावक संकर दोष के परिहार से दूसरी निश्चयस्तुति है। भाव्य भावक भाव के अभावरूप से क्षीण मोह जिन हैं, ऐसी तीसरी निश्चयस्तुति है। जीव और देह में एकत्व नहीं कर सकते हैं, ऐसा जानकर और श्रद्धान करके "त्याग" क्या है, ऐसा शिष्य के द्वारा पूछने पर आचार्य प्रत्युत्तर देते हैं :- सर्व राग आदि पर भावों को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से पर स्वरूप जान करके छोड़ा जाता है, उस कारण से स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। सम्यग्ज्ञानी के अन्तर्भावना और मोह आदि के त्याग का प्रकार इस प्रकार होता है, "मोह मेरा कोई भी नहीं है, मैं एक विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोग ही हूँ" धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थ मेरा स्वरूप नहीं है, मैं विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोग हूँ, मैं चिन्मात्र ज्योति एक शुद्ध केवलज्ञान दर्शनमय सदैव अरूपी ज्ञायक भाव हूँ। अन्य परमाणु मात्र भी परद्रव्य , मेरा कुछ भी नहीं है।

२. अजीव अधिकार :-

आत्मा को न जानने वाले और पर को आत्मा कहने वालों की विविध मान्यताएं हैं। कुछ लोग रागादि अध्यवसान को, कोई कर्म को, कोई रागादि अध्यवसानों में तीव्र मन्द अनुभाग को, दूसरे शरीर आदि नोकर्म को, अन्य लोग कर्मों के उदय को, और दूसरे कर्म के अनुभाग को, कोई जीव और कर्म दोनों को, कोई आठ कर्म के संयोग से भी जीव को मानते हैं, परन्तु ये

सब जीव नहीं हैं, क्योंकि, ये सभी देह, रागादिक पुद्गल द्रव्यकर्म के उदय से उत्पन्न हुए परिणाम हैं। आठ प्रकार के कर्म पुद्गल का कार्य, आकुलता को उत्पन्न करने वाला दुःख है।

रागादिभाव पुद्गल कर्म के कार्य होने से दुःख लक्षण वाले पौद्गलिक कहे जाते हैं। व्यवहार नय से ही अध्यवसान आदि भाव जीवत्व रूप से दूसरे ग्रन्थों में कहे हैं। यदि व्यवहार नहीं होता, तब शुद्ध निश्चयनय से त्रस, स्थावर जीव नहीं है, ऐसा मानकर के लोग उनका निःशंक उपमर्दन करते। उसी प्रकार शुद्ध निश्चयनय से जीव पहले ही राग, द्वेष रहित मुक्त है, ऐसा मानकर कोई भी मोक्ष के लिए अनुष्ठान नहीं करता। इसलिए व्यवहार नय का व्याख्यान करना उचित है। जिस प्रकार सैन्य समूह के निकलने पर, राजा निकल गया, ऐसा व्यवहार है, उसी प्रकार रागादि भाव व्यवहार नय से जीव हैं, ऐसा दूसरे शास्त्र में कहा है। शुद्ध निश्चय से शरीर रागादि परद्रव्य जीव का स्वरूप नहीं है। शुद्ध निश्चयनय से जीव, चेतना गुण लक्षण वाला, रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द रहित, अव्यक्त, स्वसंवेदन ज्ञान का विषय होने से अलिंगग्रहण, समचतुरस्र आदि छह संस्थान से रहित, शुद्ध उपादेय जानना चाहिए। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मूर्तिकत्व, पाँच शरीर, छह संस्थान, छह संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्म स्थान, अनुभाग स्थान, योग स्थान, बंध स्थान, उदय स्थान, मार्गणा स्थान, स्थितिबंध स्थान, संक्लेश स्थान, विशुद्धि स्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान जीव के नहीं हैं। क्योंकि पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने पर शुद्धात्मानुभूति से भिन्न हैं। सिद्धान्त आदि शास्त्रों में अशुद्ध पर्यायार्थिक नय से, अभ्यन्तर में रागादिक और बहिरंग में वर्ण आदि भी जीव हैं, ऐसा कहा है। यहाँ पुनः अध्यात्म शास्त्र में शुद्ध निश्चयनय से निषिद्ध हैं। जीव का, वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त की पर्यायों के साथ, दूध और पानी में संश्लेष के समान सम्बन्ध है। अग्नि और ऊष्णता के समान तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार मार्ग में लूटने वाले समूह को देखकर, "यह मार्ग लूटा जाता है, ऐसा व्यवहार है। उसी प्रकार अधिकरण भूत जीव में कर्म, नोकर्मों के शुक्लादि वर्ण को देखकर जीव का यह वर्ण है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।" जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। जीव के वर्णादि के साथ तादात्म्य है, ऐसा दुराग्रह करने पर, जीव और अजीव में भेद नहीं रहेगा। उससे जीव के अभावरूप दूषण का प्रसंग आयेगा। संसार अवस्था में एकान्त से जीव के साथ वर्णादि का तादात्म्य होने से जीव को पुद्गलपना प्राप्त होता है, उससे मोक्ष के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। एकेन्द्रिय आदि चौदह जीवस्थान भी, नाम कर्म से निष्पन्न होने से पुद्गल स्वरूप ही हैं, जीव स्वरूप नहीं हैं। मिथ्यात्व आदि गुणस्थान अशुद्ध निश्चयनय से

चेतन होने पर भी मोह कर्म के उदय से उत्पन्न होने से शुद्ध निश्चय से पुद्गल स्वरूप अचेतन ही हैं।

३. कर्तृकर्म अधिकार :-

अब रंगभूमि में जीव अजीव ही व्यवहार नय से कर्तृकर्म के वेश लेकर प्रवेश करते हैं। जीव जब तक क्रोधादि आस्रव से भिन्न शुद्धात्म स्वरूप को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से नहीं जानता, तब तक अज्ञानी होता हुआ, अज्ञान जनित कर्तृकर्म प्रवृत्ति को नहीं छोडता, उस कारण से बंध होता है। जब श्री धर्म की लब्धि के काल में क्रोधादि आस्रव और आत्मा में भेदज्ञान उत्पन्न होता है, तब सम्यग्ज्ञानी होता है। जिस कारण से क्रोधादि आस्रवों की अशुचिता, जड स्वरूप, स्वभाव से विपरीतपना, दुःख का कारणपना, उसी प्रकार निज आत्मा का शुचिपना, ज्ञातृत्व, अनाकुलत्व लक्षण अनन्त सुखपना जान कर के क्रोधादि आस्रवों से जीव निवृत्त होता है उस कारण से ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध होता है। जिस क्षण में आत्मा, शुद्ध चिन्मात्र ज्योतिमय एक, शुद्ध, ममत्व रहित, ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण है, ऐसा स्वस्वरूप का अनुभव करता है, उसी क्षण में अनित्य, अशरण रूप आस्रवों को दुःख रूप, दुःख के कारण जानकर उनसे निवृत्त होता है।

जो जीव कर्म, नोकर्म रूप परिणामों का कर्ता नहीं होता, केवल स्वसंवेदन ज्ञान से जानता है, वह ज्ञानी है। पुण्य पाप आदि परिणामों को जो जानता है, वह ज्ञानी है। पुद्गल कर्म को जानने वाले जीव के पुद्गल के साथ कर्तृकर्म भाव नहीं है। अपने परिणाम को जानने वाले जीव के, उस परिणाम के निमित्तभूत उदयागत कर्म के साथ कर्तृकर्म भाव नहीं है। पुद्गल कर्म के फल को जानने वाले जीव के, पुद्गल कर्म के फल के निमित्तभूत द्रव्यकर्म के साथ कर्तृकर्म भाव नहीं है। उसके साथ तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव होने से, आत्मा पुद्गल द्रव्य को जानता हुआ भी पुद्गल द्रव्य की पर्याय रूप से नहीं परिणमता, न तन्मय रूप से ग्रहण करता है, न उस पर्याय रूप से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य भी जीव स्वरूप से नहीं परिणमता और न उसे ग्रहण करता और न जीव पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। अपने परिणामों रूप से ही परिणमता है। यद्यपि जीव परिणाम और पुद्गल के परिणाम में परस्पर निमित्तमात्रपना है, तथापि निश्चय से उन दोनों में कर्तृकर्म भाव नहीं है।

उस कारण से यह सिद्ध होता है कि जीव का अपने परिणामों के साथ ही कर्तृकर्म भाव और भोक्तृ भोग्य भाव है, आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता है और भोक्ता है, इस प्रकार लोगों का अनादि रूढ व्यवहार है। उसमें चेतन और अचेतन दोनों का एक उपादान कर्ता मानना

द्विक्रियावादीपना कहा जाता है। यदि आत्मा पुद्गल कर्म के उदय को उपादान रूप से करता है और अनुभव करता है, तब द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होता है, वह जिनेन्द्र के मत से बाहर है। आत्मा उदयागत द्रव्यकर्म को निमित्त करके, अपने सुख, दुःख आदि परिणाम को करता है और भोक्ता है।

मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और क्रोधादि भाव जीवरूप और अजीवरूप हैं। उसमें जीव, मिथ्यात्व आदि भावकर्मों का कर्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं। मिथ्यात्वादि विकारी परिणाम का कर्तृत्व होने पर कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य स्वतः ही उपादान रूप से कर्मत्व रूप से परिणमन करता है। अज्ञान से यह जीव, परद्रव्य और आत्मा में भेद न जानता हुआ कर्मों का कर्ता होता है। अज्ञान से यह जीव, "मैं क्रोध हूँ" "मैं धर्मास्तिकाय रूप हूँ" इस प्रकार असत् विकल्प करता है। वह उस आत्म विकल्प का अशुद्ध निश्चय से कर्ता है और उससे द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। परन्तु जब सम्यक् ज्ञानी होकर अज्ञान भाव का कर्ता नहीं होता, तब द्रव्यकर्मबंध भी नहीं होता। इस प्रकार अज्ञान से कर्म उत्पन्न होता है, सम्यग्ज्ञान से नष्ट होता है, यह सिद्ध हुआ।

आत्मा परभावों का कर्ता है, ऐसा व्यवहारी लोगों का व्यामोह है। यदि आत्मा परद्रव्यों का नियम से कर्ता है, तो परद्रव्य के साथ तन्मय होता। तन्मय नहीं है, इसलिए आत्मा परद्रव्यों का कर्ता नहीं है। केवल उपादानरूप से नहीं, निमित्तरूप से भी घट पट आदि परद्रव्यों का कर्ता नहीं है। यदि निमित्त कर्ता मानते हैं, तो जीव में नित्यपना होने से नित्य कर्म के कर्तृत्व का प्रसंग आता है, उससे मोक्ष का अभाव होता है। वहाँ पर घट पट आदि कार्यों का निमित्त रूप से योग और उपयोग कर्ता है। अज्ञानी जीव उन योग और उपयोग का कदाचित् कर्ता होता है, परन्तु कर्मादि परद्रव्य के भावों का नहीं | ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है, परभाव का नहीं, अज्ञानी भी रागादिरूप अज्ञान भाव का ही कर्ता है, ज्ञानावरणादि परद्रव्य का नहीं, क्योंकि परभाव किसी भी दूसरे के द्वारा, उपादान रूप से किया नहीं जा सकता। इसलिए सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गल कर्म का अकर्ता है। इसी कारण से आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता है, यह जो कहा जाता है, वह उपचार है, परमार्थ नहीं। उसी प्रकार आत्मा पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करता है, प्रकृतिबंध करता है, बाँधता है, परिणमाता है, ग्रहण करता है, ये व्यवहार नय का वक्तव्य है। निश्चयनय से अभेद विवक्षा में, पुद्गल ही पुद्गल कर्म का कर्ता है। भेद विवक्षा से, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग- चार बंध के कर्ता हैं। उन्हीं में, गुणस्थान के भेद से तेरह प्रकार के कर्ता कहे गये हैं, क्योंकि पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न होने से मिथ्यात्वादि अचेतन हैं। जीव, पुद्गल

के संयोग से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व रागादि भाव प्रत्यय अशुद्ध निश्चय से अशुद्ध उपादान रूप से, चेतन जीव से सम्बद्ध है। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध उपादान रूप से अचेतन पौद्गलिक है परमार्थ से, एकान्त से, चूना और हल्दी के संयोग परिणाम के समान पुनः सर्वथा न जीवरूप है, न पुद्गलरूप है। सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से उनका अस्तित्व ही नहीं है।

जीव और क्रोध में एकान्त से अभिन्नपना मानने पर जीव और अजीव में एकत्व प्राप्त होगा, अतः क्रोध भिन्न है और उपयोगमय जीव भिन्न है। प्रत्यय, कर्म, नोकर्म भी जीव से भिन्न ही हैं। इसके पश्चात् सांख्य मतानुयायी शिष्य के प्रति जीव और पुद्गल में एकान्त से अपरिणामीपने को निषेध करते हुए कथञ्चित् परिणामीपना सिद्ध किया है। यदि पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म भावरूप से परिणमन नहीं करता, तब स्वयं परिणमन न करने वाले पुद्गल द्रव्य को आत्मा कैसे परिणमायेगा, क्योंकि "जो शक्ति स्वत: नहीं होती, वह अन्य के द्वारा नहीं की जा सकती।" यदि पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म भावरूप से परिणमता है, तब जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप से परिणमाता है, यह कथन मिथ्या है, क्योंकि, "वस्तु की शक्तियां पर की अपेक्षा नहीं करती।" इसलिए यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलों की कथञ्चित् परिणामी शक्ति स्वभावभूत है। इसी प्रकार जीव के कथञ्चित् परिणाम स्वभावपना भी सिद्ध होता है। जीव रूप कर्ता, जिस अपने परिणाम को करता है, उसका वही कर्ता होता है, परन्तु द्रव्यकर्म का उदय निमित्त मात्र ही है। कथञ्चित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ज्ञानी जीव ज्ञानमय भाव का कर्ता होता है। कथञ्चित् परिणामीपना होने पर जीव शुद्धोपयोग रूप से परिणमन करता है, पश्चात् मोक्ष को सिद्ध करता है। परिणामित्व का अभाव मानने पर बद्ध, बद्ध ही रहता है। शुद्धोपयोग रूप परिणामान्तर स्वरूप घटित नहीं होता। उससे मोक्ष का अभाव होता है, ऐसा अभिप्राय है।

जिस प्रकार स्वर्णमय पदार्थ से कुण्डल आदिक स्वर्णमय भाव ही होते हैं, लोहमय पदार्थ से लोहमयी भाव ही होते हैं, उसी प्रकार, अज्ञानमय भाव से मिथ्यात्व रागादिरूप अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं। ज्ञानी के सर्वभाव ज्ञानरूप ही होते हैं। अज्ञानमय भाव, द्रव्यगत और भावगत पाँच प्रत्यय रूप से पाँच प्रकार का है। मिथ्यात्व, असंयम, अज्ञान, कषाय, योग रूप कारणभूत होने पर कार्मण वर्गणागत पुद्गल द्रव्य, ज्ञानावरणादि रूप से आठ प्रकार का परिणमन करता है। उदयागत द्रव्य प्रत्यय के निमित्त से मिथ्यात्व रागादिभाव प्रत्यय रूप से पीरणमन करके जीव नवीन कर्मबंध का कारण होता है, केवल उदय मात्र से बन्ध नहीं होता। वैसा होने पर, सर्वदा ही संसार रहेगा, क्योंकि संसारियों के सर्वदा ही कर्म उदय विद्यमान

रहता है। जीव के रागादि परिणामों का उपादान कारण जीव ही है, पुद्गल कर्म नहीं। उसी प्रकार द्रव्यकर्म का, पुद्गल द्रव्य ही उपादान कारण है, जीव नहीं।

जीव में कर्म बद्ध और स्पृष्ट है, ऐसा व्यवहार नय का अभिप्राय है। शुद्धनय के अभिप्राय से जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है। व्यवहार नय से जीवबद्ध है, ऐसा नय विकल्प, शुद्ध जीव स्वरूप नहीं है। जिस कारण से बद्ध, अबद्ध विकल्प रूप नय का स्वरूप कहा है, उस कारण से शुद्ध पारिणमिक परम भावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से बद्ध अबद्ध विकल्प नय स्वरूप जीव नहीं है। शुद्धात्मा नयपक्ष अतिक्रान्त है। सहज परमानन्द एक स्वभावी समय के साथ प्रतिबुद्ध ज्ञानी, दोनों नयों में बताये हुए वस्तु स्वरूप को जानता है, तथापि नय पक्षपात रूपी विकल्प को शुद्धात्म स्वरूप से ग्रहण नहीं करता। जो सर्व नयपक्ष रहित है, वह समयसार है। वही सम्यग्दर्शन ज्ञान रूप व्यपदेश को प्राप्त होता है।

४. पुण्य-पाप अधिकार :-

एक ही पुद्गल कर्म व्यवहार से दो रूप होकर पुण्यपाप रूप से उत्पन्न होता है। अशुभ कर्म कुशील और हेय है, शुभकर्म सुशील और उपादेय है, ऐसा किन्हीं व्यवहारियों का पक्ष है, वह असत्य है।

जो जीव को संसार में प्रवेश कराता है, वह पुण्य कर्म सुशील कैसे होगा ? जिस प्रकार स्वर्ण की बेडी और लोहे की बेडी, बन्धन के प्रति समान हैं, उसी प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म समान रूप से जीव को बाँधता है, इसलिए दोनों कर्म मोक्षमार्ग में निषिध्य हैं। जिस प्रकार कुत्सितशील वाले को जानकर उसके साथ संसर्ग छोडने योग्य है, उसी प्रकार कर्म के स्वभाव को कुत्सित हेय जानकर उससे संसर्ग छोडना चाहिए। जिस कारण से रागी कर्म को बाँधता है, विराग सम्पन्न जीव मुक्त होता है, ऐसा आगम भी है, उस कारण से शुभाशुभ कर्मों में राग नहीं करना चाहिए। विशुद्ध ज्ञान शब्द से वाच्य परमात्मा ही मोक्ष का कारण कहा है। अज्ञान पूर्वक किये गये व्रत तपश्चरण आदि बाल व्रत कहे जाते हैं। स्वसंवेदन ज्ञान मोक्ष का कारण है और अज्ञान बंध का कारण है। जो परमार्थ से बाह्य हैं, वे संसार के गमन का कारण होने से बन्ध का कारण होने पर भी अज्ञानभाव से पुण्य को ही मुक्तिका कारण मानते हैं। वीतराग सम्यक्त्व रूप शुद्धात्मा की उपादेय भावना के बिना व्रत तपश्चरण आदि पुण्य के कारण हैं। उसकी भावना सहित बहिरंग साधक होने से परम्परा से मुक्ति का कारण है। जीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उन्हीं का परिज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उन्हीं के सम्बन्ध से रागादि का त्याग चारित्र है, ऐसा व्यवहार मोक्षमार्ग है। परमार्थ के आश्रित यतियों के कर्म का क्षय होता है। उस कारण

ज्ञानी निश्चय अर्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते। मोक्ष के हेतुभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन जीवगुणों का मिथ्यात्व, अज्ञान, कषाय रूप प्रतिपक्ष के द्वारा प्रच्छादन होता है। शुभ अशुभ कर्म स्वयं बंध रूप हैं, वे मोक्ष के कारण कैसे होंगे ? यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण होने से पवित्र है, तथापि बाह्य द्रव्य का आलम्बन होने के कारण पराधीन होने से पतति अर्थात् नष्ट होता है, इसलिए पाप है। निर्विकल्प समाधि में रत पुरुषों का व्यवहार विकल्प के अवलम्बन से, स्वरूप से पतन होता है, इस प्रकार निश्चयनय की अपेक्षा से पाप ही है। इस प्रकार व्यवहार नय से पुण्य पाप रूप से दो भेदवाला भी कर्म पुद्गल रूप से एक ही है।

५. आस्रव अधिकार :-

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये भाव प्रत्यय और द्रव्य प्रत्यय रूप से चेतन और अचेतन हैं। उनमें उदयागत द्रव्य प्रत्यय ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के द्रव्य कर्मास्रव के कारणभूत हैं। उन द्रव्य प्रत्ययों का, राग द्वेष आदि भाव से परिणत जीव कारण है। द्रव्य प्रत्यय का उदय होने पर जब जीव रागादिभाव से परिणमन करता है, तब बंध होता है, उदय मात्र से नहीं। वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के रागद्वेष मोह रूप भावास्रवों का अभाव है। वह पूर्वबद्ध मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों को वस्तु स्वरूप से जानता ही है। रागादि अज्ञानज भाव बंधक हैं और रागादि अज्ञान भाव से मुक्त भाव अबंधक हैं। तत्त्वज्ञानी जीव के कर्म पर्याय निर्जीर्ण होने पर, राग द्वेष मोह का अभाव होने से पुन: वह कर्म बंध को प्राप्त नहीं होता। वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्व निबद्ध मिथ्यात्व आदि द्रव्यप्रत्यय पृथिवीपिंड के समान अकिञ्चित्कर हैं। उससे नवीन द्रव्यकर्म का बन्ध नहीं होता। जिस कारण से प्रत्यय ज्ञान दर्शन गुण को रागादि अज्ञानभाव से परिणत करके नवीन कर्मों को करते हैं उस कारण से भेदज्ञानी बंधक नहीं है, प्रत्यय ही बंधक हैं। सविकल्प कषाय भाव से सहित जघन्य ज्ञानगुण बंधक है। ज्ञानी ईहा पूर्वक रागादि विकल्पों को करने का अभाव होने से निरास्रव ही है। परन्तु वह भी जब तक निर्विकल्प समाधि में स्थिर नहीं रह सकता, तब तक उसके भी दर्शन ज्ञान चारित्र सकषाय भाव रूप से परिणमते हैं।

उस कारण से वह ज्ञानी पुद्गल कर्म से बाँधा जाता है। उदय से पूर्व निरुपभोग्य होकर कर्म अपने गुणस्थान के अनुसार उदयकाल को प्राप्त करके जैसे जैसे भोग्य होते हैं, वैसे वैसे रागादिभाव से नवीन कर्म बाँधते हैं, अस्तित्व मात्र से नहीं | रागादि भावास्रव का अभाव होने पर द्रव्यप्रत्यय अस्तित्व मात्र से बंध के कारण नहीं हैं। इस कारण से सम्यग्दृष्टि अबंधक कहा

जाता है। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि तैंतालीस (४३) प्रकृतियों का अबन्धक है। जिस कारण से कर्मबंध के हेतुभूत राग द्वेष मोह ज्ञानी के नहीं हैं, उस कारण से उसके कर्मबंध नहीं है। नवीन द्रव्य कर्मास्रव के उदयागत द्रव्यप्रत्यय कारण हैं और उनके जीवगत रागादिभाव प्रत्यय कारण हैं। रागादि भाव प्रत्ययों का अभाव होने पर द्रव्यप्रत्यय उदयागत होने पर भी कर्म के द्वारा जीव बाँधे नहीं जाते। जिस प्रकार पुरुष के द्वारा ग्रहण किया गया आहार, उदराग्नि से संयुक्त होता हुआ, मांस, वसा, रूधिर आदि अनेक प्रकार से परिणमता है, उसी प्रकार शुद्धनय से भ्रष्ट जीवों के पूर्वबद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय, जीवगत रागादि परिणामों को प्राप्त करके बहुत प्रकार के कर्मों को बाँधते हैं।

६. संवर अधिकार :-

शुभाशुभ कर्मसंवर का परम उपाय निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण भेदज्ञान है। उपयोग (शुद्धात्मा) उपयोग में रहता है, क्रोधादि में कोई भी उपयोग नहीं है। उसी प्रकार द्रव्यकर्म और नोकर्म में उपयोग नहीं है। इस प्रकार के भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। स्वर्ण अग्नि में तप्त होने पर भी स्वस्वभाव को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार ज्ञानी तीव्र परिषह और उपसर्ग के द्वारा, कर्म के उदय से संतप्त होते हुए भी ज्ञान स्वभाव को नहीं छोड़ता। शुद्धात्मा की प्राप्ति से संवर होता है। ज्ञानी जिस प्रकार के शुद्धात्मा का ध्यान करता है, उसी प्रकार के शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। अज्ञानी अशुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ, अशुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है। पुण्य और पाप में वर्तमान आत्मा को आत्मा के द्वारा स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा व्यावृत्त करके दर्शन ज्ञान में स्थिर होकर इच्छा रहित, बाह्य अभ्यंतर सर्व संग से मुक्त ज्ञानी निज शुद्धात्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है। आत्मा को ध्याता हुआ शीघ्र ही कर्म विमुक्त आत्मा को प्राप्त करता है। परोक्ष आत्मा का ध्यान कैसे होता है ? ऐसा पूछा जाने पर प्रत्युत्तर देते हैं :- जिस प्रकार लोक में परोक्ष भी देवता रूप को परोपदेश से जाना जाता है, उसी प्रकार जीव को भी जाना जाता है। चतुर्थ काल में केवलज्ञानी के समान, आत्म स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। यद्यपि आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष होता है। केवलज्ञानी की अपेक्षा से पुन: परोक्ष होता है, सर्वथा परोक्ष होता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। उदयागत द्रव्य प्रत्ययों का अभाव होने पर रागादि भावास्रव का निरोध होता है। आस्रव भाव के बिना नवीन द्रव्यकर्म का निरोध और उसका निरोध होने पर, शरीर आदि नोकर्मों का निरोध होता है। नोकर्म के निरोध से संसार का निरोध हो जाता है। इस प्रकार संवर का क्रम जानना चाहिए।

७. निर्जरा अधिकार :-

वीतराग निर्विकल्प समाधि रूप शुद्धोपयोग लक्षण वाली संवर पूर्वक निर्जरा ही वस्तुतः निर्जरा है। सम्यग्दृष्टि जीव का उपयोग, राग द्वेष मोह का अभाव होने से, निर्जरा का निमित्त है। सम्यग्दृष्टि के संवर पूर्वक निर्जरा होती है, परन्तु मिथ्यादृष्टि के गजस्नानवत् बन्धपूर्वक निर्जरा होती है। उस कारण से, मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अबंधक है। उदयागत द्रव्यकर्म भोगे जाने पर नियम से उत्पन्न होने वाले सुख दुःख को, सम्यग्दृष्टि राग द्वेष न करता हुआ, हेय बुद्धि से वेदन करता है, उस कारण से वह निर्जरा का निमित्त है। मिथ्यादृष्टि के पुन: उपादेयबुद्धि से"मै सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" इस प्रकार के वेदन से बंध का कारण है।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य का यह सामर्थ्य है। जिस प्रकार विष को भोगता हुआ भी वैद्य अमोघ मन्त्र की सामर्थ्य से मरण को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी शुभ अशुभ कर्मफल को भोगता हुआ भी भेदज्ञान रूपी अमोघ मंत्र के बल से कर्म से बाँधा नहीं जाता। जिस प्रकार कोई पुरुष व्याधि प्रतिकार के निमित्त मद्य में, मद्य के प्रतिपक्षभूत औषधि को डालकर, उसको पीता हुआ भी रति का अभाव होने से, उन्मत्त नहीं होता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पाँच इन्द्रियों के विषयों का उपयोग होने पर भी, जितने जितने अंश में राग भाव नहीं करता, उतने उतने अंश से बाँधा नहीं जाता। ज्ञानी, पञ्चेन्द्रिय भोग का सेवन करता हुआ भी सेवक नहीं है। अज्ञानी पुन: रागादि का सद्भाव होने से सेवन नहीं करता हुआ भी सेवक होता है। सम्यग्दृष्टि स्वपर के स्वरूप को ही भेदरूप से जानता है।

सम्यग्दृष्टि स्वस्वरूप को जानता हुआ, फिर रागादिकों को छोड़ता हुआ, नियम से ज्ञान वैराग्य से सम्पन्न है। जिसके हृदय में अज्ञानमय रागादिकों का परमाणु मात्र भी सद्भाव है, वह सिद्धान्त सिंधु में पारंगत होने पर भी परमात्मा को नहीं जानता अर्थात् अनुभव नहीं करता। इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी भावी भोगों की इच्छा नहीं करता। उसी प्रकार परमात्म तत्त्ववेदी अपध्यान रूप निष्प्रयोजन बंध के निमित्त और शरीर के विषय में भोग के निमित्त, रागादि अध्यवसान को नहीं चाहता। तन्दुल मत्स्य के समान, यह जीव भोग के निमित्तभूत पाप को थोडा ही करता है। निष्प्रयोजन अपध्यान से बहुत पाप करता है। ज्ञानी रागादि परिग्रहों और शरीर आदि से भेद भावना करता है। देह रागादि परद्रव्य छेद को प्राप्त होवें, विनाश को प्राप्त होवें तथापि शरीर मेरा परिग्रह नहीं है। जिस कारण से मैं एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी हूँ। आत्म सुख में संतोष और रति करनी चाहिए, क्योंकि आत्मसुख के अनुभव से उत्तम मोक्षसुख होता है। मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान भेदरूप, परमार्थ नामक मोक्ष का

कारणभूत जो परमार्थ पद है, उसको परम योग के अभ्यास से ही आत्मा अनुभवता है। जो परमात्म पद है, वह स्व संवेदन ज्ञान गुण के बिना प्राप्त नहीं होता।

उसके परिग्रह नहीं है, जिसकी बाह्य द्रव्य में इच्छा नहीं है। ज्ञानी धर्म, अधर्म, अशन, पान आदि कुछ भी नहीं चाहता। अतः ज्ञानी अपरिग्रही ही कहा है। वह तीन जगत् और तीन काल में मन, वचन, काय से और कृत कारित, अनुमोदना से चेतन और अचेतन परद्रव्य में सर्वत्र निरालम्ब होता हुआ, अनन्त ज्ञानादि गुण स्वरूप स्वस्वभाव में पूर्ण कलश के समान सालम्बी रहता है। ज्ञानी की उत्पन्न उदय भोग में वियोग बुद्धि होती है। वह अनागत निदान बंध रूप भावी भोग की आकांक्षा नहीं करता। ज्ञानी सर्व द्रव्यों में वीतरागपना होने से, कीचड के बीच में पडे हुए स्वर्ण के समान, कर्म धूलि से लिप्त नहीं होता। पुन: अज्ञानी राग सहित होने से कीचड के बीच में गिरे हुए लोहे के समान, कर्म धूलि से लिप्त होता है। जिस प्रकार नागफणी का मूल, हस्तिनी का मूत्र, सिंदूर द्रव्य सीसक को भस्त्र (धौंकनी) से फूंकने पर, पुण्य का उदय होने पर, स्वर्ण होता है, उसी प्रकार आसन्न भव्य जीव को सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप औषधि का ध्यानाग्नि से संयोग करके, बारह प्रकार के तपश्चरण रूप धौंकनी से धमाने पर मोक्ष होता है। जिस प्रकार सजीव शंख के, विविध द्रव्य भोगते हुए भी सफेद भाव काला करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानी के भेदज्ञान को रागत्व और अज्ञानत्व के प्रति प्राप्त कराना शक्य नहीं है। जिस प्रकार जब वही शंख स्वयं कृष्ण परद्रव्य के लेप के वश से सफेद स्वभाव को छोड़कर कृष्णभाव को प्राप्त होता है, तब शुक्लत्व को छोड़ता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी अपनी प्रज्ञा के अपराध से, वीतराग ज्ञान स्वभाव को छोड़कर मिथ्यात्व रागादि अज्ञान भाव से परिणमता है, तब अज्ञानभाव को प्राप्त होता है।

सराग परिणाम से बन्ध है तथा वीतराग परिणाम से मोक्ष होता है। निज परमात्म पदार्थ की भावना से उत्पन्न सुखामृत के रसास्वाद में तृप्त होते हुए सम्यग्दृष्टि घोर उपसर्ग होने पर सप्त भय से रहित होने से निर्विकार स्वानुभव स्वरूप स्वस्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। उस कारण से वे निशंक, निर्भय होते हैं। वीतराग सम्यग्दृष्टि के शंकाकृत, विषयसुख की आकांक्षाकृत, परद्रव्य के द्वेष निमित्त, परसमयमूढताकृत, अनुपगूहनकृत, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना कृत बंध नहीं है। पूर्व संचित कर्म की निश्चित संवर पूर्वक निर्जरा ही है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना - इस प्रकार आठ गुणों से सम्पन्न है। संवरपूर्वक निर्जरा सम्यग्दृष्टि जीव के निश्चय

रत्नत्रय होने पर होती है। और वह निश्चय रत्नत्रय का लाभ वीतराग धर्मध्यान शुक्लध्यान रूप निर्विकल्प समाधि होने पर होता है और वह समाधि अतीव दुर्लभ है।

८. बन्ध अधिकार :-

जिस प्रकार तेल से लिप्त पुरुष के धूलि का बन्ध होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व रागादि से परिणत जीव के कर्म बंध होता है। इस प्रकार बंध का कारण मिथ्यात्व रागादि ही जानना चाहिए। तेल के लेप के अभाव में जिस प्रकार धूलि बंध नहीं होता, उसी प्रकार वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि का अभाव होने से बंध नहीं होता। इस प्रकार बंध के अभाव का कारण वीतराग परिणाम जानना चाहिए। मैं जीवों को मारता हूँ और जिलाता हूँ, दूसरे प्राणियों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ या जिलाया जाता हूँ" इस प्रकार जो मानता है, वह अज्ञानी है। इसके विपरीत जो भेदज्ञान में रत है, वह ज्ञानी है। जिस कारण से आयु के क्षय से जीवों का मरण होता है और आयु के उदय से जीवन होता है, इसलिए परजीवों को मैं मारता हूँ और जिलाता हूँ यह अध्यवसाय अज्ञान है। सुख दुःख भी निश्चय से स्वकर्म के उदय के वश से होता है, इसलिए पर को मैं सुखी दुःखी करता हूँ, ऐसा अध्यवसाय अज्ञान है। यह ही मिथ्याज्ञानरूप भाव मिथ्यादृष्टि के बंध का कारण है।

पर जीवों का जीवित,मरण, सुख, दुःख मैं करता हूँ ऐसा अध्यवसाय ही बंध का कारण है। दूसरों के प्राण व्यपरोपण आदि का व्यापार हो अथवा न हो, हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार असत्य चोरी, अब्रह्म, परिग्रह सम्बन्धी जो अध्यवसान किया जाता है, उससे पाप बंध होता है। सत्य आदि के सम्बन्ध में जो अध्यवसान किया जाता है, उससे पुण्य बंध होता है। बाह्य वस्तु के होने पर अज्ञान भाव से रागादि अध्यवसान होता है, उस अध्यवसान से बंध होता है। इस प्रकार परम्परा से वस्तु बंध का कारण है, साक्षात् नहीं। पुन: अध्यवसान निश्चय से बंध का कारण है। मैं जीवों को बाँधता हूँ, छुडाता हूँ, ऐसा अध्यवसान पुनः स्वार्थ क्रियाकारी नहीं है, इसलिए मिथ्या है। क्योंकि अपने मिथ्यात्व रागादि को निमित्त करके जीव कर्म से बाँधे जाते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित मुक्त होते हैं। इसलिए अध्यवसान स्वार्थ क्रियाकारी नहीं है। रागादिक अध्यवसान से मोहित होकर यह जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, पाप, पुण्य रूप-कर्म जनित भावों को, उसी प्रकार: धर्म, अधर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थों को अपना करता है। जिनके शुभ अशुभ अध्यवसान नहीं है, वे ही तपोधन, कर्म से लिप्त नहीं होते। जब तक आत्मा हृदय में स्फुरायमान नहीं होता, तब तक परभावों को अपने में जोड़ता है। बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसाय, मति, विज्ञान, चित्त, भाव परिणाम- ये एकार्थवाची

शब्द हैं | निश्चयनय से पर द्रव्याश्रित होने से व्यवहार नय प्रतिषिद्ध है जिस कारण से, निश्चयनय के आश्रित मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपश्चरण आदि करते हुए भी अभव्य जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। उसके ग्यारह अंग का श्रुतज्ञान भी शुद्धात्म परिज्ञानरूप गुण को नहीं करता। व्यवहार नय से आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप शास्त्र, ज्ञान है, जीवादि नौ पदार्थ सम्यक्त्व है, षट् जीव निकाय की रक्षा चारित्र है, इस प्रकार पराश्रित रूप से व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। निश्चयनय से पुनः ज्ञान, दर्शन, चारित्र आत्मा ही है। निश्चय मोक्षमार्ग आत्माश्रित रूप से कहा गया है। निश्चय प्रतिषेधक है और व्यवहार प्रतिषेद्य है।

आहार विषयक राग द्वेष रूप कारण का अभाव होने से, आहार के ग्रहण से ज्ञानी को बंध नहीं है। ज्ञानी स्वयं शुद्ध होता हुआ, स्वयं रागादि विभावों से परिणमित नहीं होता, कर्मोदय के निमित्त से अन्य रागादि दोषों से रागी होता है उससे जाना जाता है कि रागादि भाव कर्मोदय जनित है, परन्तु ज्ञानी जीव से उत्पन्न नहीं है, अत: ज्ञानी रागादि भावों का कर्ता नहीं है, अज्ञानी रागादि भावों का कर्ता है। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान कर्मों के कर्ता हैं, ज्ञानी जीव नहीं। अप्रतिक्रमण और अप्रव्याख्यान पुनः अनित्य रागादि विकल्प रूप हैं। वे स्वस्थ भाव से च्युत जीवों को होता है, सर्वदा नहीं। जब स्वस्थ भावों से च्युत होकर अप्रतिक्रमण, अप्रत्याख्यान से परिणमता है, तब कर्मों का कारक होता है, स्वस्थ भाव में पुन: अकारक है।

९. मोक्ष अधिकार :-

विशिष्ट भेदज्ञान के अवलम्बन से, बंध और आत्मा का पृथक्करण ही मोक्ष है। कोई बंध के परिज्ञान मात्र से मोक्ष मानते हैं। वह उचित नहीं है। जिस प्रकार बंधन से बद्ध जीव का बंध के स्वरूप का ज्ञान मात्र मुक्ति का कारण नहीं है, उसी प्रकार कर्मबंधन से बद्ध जीव के प्रकृति आदि कर्मबंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र कर्मबंधन से मुक्ति का कारण नहीं होता। उसी प्रकार बंध विस्तार की चिंता भी मोक्ष का कारण नही है। जिस कारण से बंध स्वरूप का चिंतन शुभोपयोग रूप धर्म ध्यान है और शुभोपयोग से पुण्य बंध होता है, मोक्ष नहीं। मोक्ष का कारण एक मात्र बंध का छेदना ही है। जीव वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप आयुध से बंध को छेदकर मोक्ष को प्राप्त करता है। शुद्धात्मानुभूति लक्षण वाली भेदज्ञान रूप प्रज्ञा छैनी से, अपने अपने लक्षणों के द्वारा जीव और बंध पृथक् किये जाते हैं। इस प्रकार जीव और बन्धको अपने लक्षणों से पृथक् करके मिथ्यात्व रागादि रूप बंध का छेदन करना चाहिए, और शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा और बंध पृथक् करने का और शुद्धात्मा को ग्रहण करने का प्रज्ञा

ही एक साधन है। प्रथमतः चेतकपने के षट्कारक विकल्पों का चिंतन करके, पश्चात् षट्कारक विकल्पों को भी छोड़कर, सर्व विशुद्ध चिन्मात्र भाव का अनुभव करना चाहिए। इसी प्रकार, द्रष्टापना और ज्ञातापना के षट्कारकों को भेदरूप से स्थापित करके पश्चात् निर्विकल्प होकर, सर्व विशुद्ध दृग् मात्र और ज्ञप्तिमात्र भाव का अनुभव करना चाहिए। चेतना तो प्रतिभास स्वरूप है। वह द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि सभी वस्तुएँ सामान्य विशेषात्मक हैं। उसके दो रूप हैं - दर्शन और ज्ञान। अभेद नय से चेतना एकरूप है, तथापि सामान्य विशेष रूप विषय भेद से चेतना दर्शन ज्ञानरूप है, ऐसा अभिप्राय है। शुद्धबुद्ध एक स्वभावी परमात्मा के एक शुद्ध चिद्रूप भाव ही है। इस कारण से, सभी रागादि भाव पर हैं, ऐसा जानना चाहिए।

मिथ्यात्व रागादि परभाव के स्वीकार से बांधा जाता है। वीतराग परम चैतन्य लक्षण स्व स्वभाव के स्वीकार से जीव मुक्त होता है। जो रागादि परद्रव्यों को ग्रहण करता है, वह अपराधी है। सापराधी "मैं बाँधा जाता हूँ" ऐसा शंकित होता है, निरपराधी पुनः मैं नहीं बाँधा जाता हूँ, ऐसा निशंक होता है। निज शुद्धात्मा की आराधना को राध कहते हैं। निकल गया है राध अर्थात् शुद्धात्मा की आराधना जिसके, वह अपराध है। अज्ञानी के अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरन, अप्रतिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा, अशुद्धि - ये आठ प्रकार के विष कुंभ हैं। इसी प्रकार व्यवहार से द्रव्य प्रतिक्रमण आदि आठ प्रकार का अमृत कुंभ है तथापि ज्ञानी जन के आश्रित निश्चय अप्रतिक्रमण आदि रूप जो तृतीय भूमि है, उसकी अपेक्षा से विष कुंभ ही है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है। ज्ञानी जन आश्रित और अज्ञानी जन आश्रित | अज्ञानी जन आश्रित जो अप्रतिक्रमण है, वह विषय कषाय की परिणति रूप है। जो ज्ञानी जीव आश्रित अप्रतिक्रमण है, वह तीन गुप्ति रूप है। वह सराग चारित्र लक्षण वाला शुभोपयोग की अपेक्षा यद्यपि अप्रतिक्रमण कहा जाता है, तथापि वीतराग चारित्र की अपेक्षा से वही निश्चय प्रतिक्रमण है, क्योंकि वह समस्त शुभाशुभ आस्रव दोषों का निराकरण रूप है।

१०. सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार :-

संसार पर्याय का आश्रय करके अशुद्ध उपादान रूप से, अशुद्ध निश्चयनय से यद्यपि कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष आदि सहित जीव है, तथापि सर्व विशुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध उपादान रूप शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष आदि कारणभूत परिणामों से शून्य ही है। अपने अपने गुणों के साथ वह द्रव्य अभिन्न है। अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा नर नारक आदि विभाव पर्याय स्वरूप कभी भी उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए कार्य नहीं

है। जिस कारण से कर्मों का कर्ता और मोचक नहीं है, उस कारण से बंध मोक्ष का शुद्ध निश्चयनय से कर्ता नहीं है।

शुद्ध आत्मा का ज्ञानावरणी आदि प्रकृतियों के साथ जो बंध है, वह अज्ञान का माहात्म्य है। आत्मा कर्मोदय को निमित्त करके विभाव परिणामों से उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। प्रकृति भी जीव सम्बन्धी रागादि परिणामों को निमित्त करके कर्म पर्याय रूप से उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। इस प्रकार रागादि अज्ञान से बंध होता है और उससे संसार होता है, स्वस्वरूप से नहीं। जितने काल शुद्धात्मा की संवित्ति से च्युत होकर प्रकृति के उदय रूप रागादि को नहीं छोड़ता, उतने काल तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयत है। उसके अभाव में ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि और संयत होता है। शुद्ध निश्चयनय से कर्तृत्व के समान कर्मफल का भोक्तृत्व भी जीव का स्वभाव नहीं है। अज्ञानी, हर्ष विषाद के साथ तन्मय होकर कर्मफल को भोगता है। ज्ञानी पुनः उदय में आये हुए कर्मफल को वस्तु स्वरूप से जानता ही है, तन्मय होकर वेदन नहीं करता। अज्ञानी अभव्य शास्त्रों को अच्छी तरह से पढकर के भी वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव के कारण मिथ्यात्व, रागादि रूप कर्म प्रकृति के उदय स्वभाव को नहीं छोडता। वैराग्य संपन्न ज्ञानी उदयागत शुभ अशुभ कर्मफल को शुद्धात्मा से भिन्न रूप से जानता है। इस प्रकार अज्ञानी कर्मों का वेदक है, ज्ञानी पुनः अवेदक है।

निरूपराग शुद्धात्म अनुभूति लक्षण भेदज्ञानी कर्म को नहीं करता और न वेदन करता है, वस्तु स्वरूप से जानता ही है। जिस प्रकार दृष्टि दृश्य अग्नि के रूप को देखती है, करती नहीं है और अनुभव नहीं करती है, उसी प्रकार शुद्ध ज्ञान भी स्वयं शुद्ध उपादान रूप से कर्मों का अकारक और अवेदक है। शुद्ध पारिणामिक भाव के विषय में जो भावना है उस रूप जो औपशमिक आदि तीन भाव हैं, वे सम्पूर्ण रागादि से रहित होने से शुद्ध उपादान कारण होने से मोक्ष के कारण है। अध्यात्म भाषा से पुनः शुद्धात्माभिमुख परिणाम शुद्धोपयोग कहा जाता है और वह पर्याय भावना रूप होने से शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण शुद्धात्म द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है। शुद्ध पारिणामिक भाव भावना रूप नहीं है। वह निष्क्रिय ध्येयरूप है, ध्यान रूप नहीं है।

लोक के मत में विष्णु, देव नारक तिर्यञ्च मनुष्यों का कर्ता है। श्रमणों के मत में षट्जीव निकायों को आत्मा करता है। इस प्रकार कर्तृत्व के विषय में लोक और श्रमणों के मत में कोई भेद दिखाई नहीं देता। इसलिए लौकिकों के समान श्रमणों को भी मोक्ष नहीं होता। निश्चय से आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ कर्तृकर्म सम्बन्ध नहीं है। व्यवहारनय से, परद्रव्य का सम्बन्ध

कहा जाता है, परमार्थ से नहीं। ज्ञानी व्यवहार मूढ होकर जब परद्रव्यों को अपना कहता है, तब मिथ्यादृष्टि होता है। निश्चय दृष्टि से रहित जीवों का परद्रव्य कर्तृत्व व्यवसाय उत्पन्न होता है। कोई जीव पहले मनुष्य भव में जिनरूप ग्रहण करके भोगाकांक्षा के निदान बंध से पापानुबन्धी पुण्य करके, स्वर्ग में उत्पन्न होकर, वहाँ से आकर मनुष्य भव में त्रिखंडाधिपति अर्धचक्रवर्ती होता है, उसकी विष्णुसंज्ञा है, दूसरा कोई लोक का कर्ता विष्णु नहीं है।

द्रव्यार्थिक नय से जो कर्म करता है, वही भोक्ता है। पर्यायार्थिक नय से पुन: अन्य कर्ता है, और अन्य भोक्ता है, जो यह मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है। जो कर्ता है, वही भोक्ता है अथवा अन्य कर्ता है, अन्य भोक्ता है, ऐसा जो एकान्तसे कहता है, वह मिथ्यादृष्टि है। यद्यपि शुद्धनय से जीव कर्मों का अकर्ता है, तथापि अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावकर्मों का वही कर्ता है, पुद्गल नहीं। यदि द्रव्य मिथ्यात्व प्रकृति एकान्त से भाव मिथ्यात्व को करती है, तब जीव भाव मिथ्यात्व का कर्ता नहीं होगा। भाव मिथ्यात्व के अभाव में कर्म के बंध का अभाव होता है, उससे संसार का अभाव होता है। ज्ञान, अज्ञान, सुख, दु:ख आदि एकान्त से कर्म ही करता है, आत्मा नहीं, ऐसा सांख्य मतानुयायी कहते हैं। उस कारण से, एकान्त से सभी जीव अकारक होतें हैं, कर्म ही एकान्त से कर्ता है, ऐसा सांख्यों का आगम भी उपलब्ध होता है। जिस कारण से वह वेद नामक कर्म स्त्रीवेद नामक कर्म की इच्छा करता है, जीव नहीं, उस कारण से सभी जीव ब्रह्मचारी होंगे। जिस कारण से प्रकृति दूसरे को मारती है, दूसरे कर्म के द्वारा वह प्रकृति मारी जाती है, जीव नहीं, उस कारण से कोई भी जीव हिंसक नहीं है, प्रकृति ही कर्ता होती है। सभी आत्मा अकारण ही हैं, इसलिए कर्तृत्व के अभाव में कर्म का अभाव, कर्म के अभाव में संसार का अभाव, इस प्रकार दूषण प्राप्त होता है। अकर्तृत्व के दूषण के भय से आत्मा, आत्मा को कर्ता है, ऐसा सांख्य मानता है, तो वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि उस आत्मा के शुद्ध चेतन अन्वय लक्षण द्रव्यत्व, उसी प्रकार असंख्यात प्रदेशत्व पहले ही है। उस द्रव्य और प्रदेशत्व को उसके प्रमाण से अधिक अथवा हीन कर नहीं सकते। इस कारण से आत्मा आत्मा को करता है, यह वचन मिथ्या है।

कोई प्राथमिक शिष्य शब्दादिक पाँच इन्द्रियों के विषयों का नाश करना चाहता है, परन्तु मन में स्थित विषयानुराग का घात करता हूँ ऐसा विशेष विवेक नहीं जानता। शब्दादिक पाँच इन्द्रियों के विषयों में, द्रव्यकर्मों में और पाँच कायों में दर्शन, ज्ञान, चारित्र कुछ भी नहीं है। इसलिए आत्मा उनमें कुछ भी घात नहीं करता। जिस प्रकार घट के आधारभूत प्रदीप का घात

होने पर घट का घात नहीं होता, उसी प्रकार रागादि निमित्तभूत शब्दादि विषयों के घात होने पर मन में प्राप्त हुए रागादि का घात नहीं होता।

जीव के सम्यक्त्व आदि गुण शब्दादिक विषयों में नहीं है। इसलिए सम्यग्दृष्टि का विषयों में राग नहीं है। राग, द्वेष, मोह अज्ञानी जीव के अभिन्न परिणाम हैं, उस कारण से शब्दादिकों में रागादि नहीं है। शब्दादि इन्द्रियों के विषय अचेतन हैं। वे चेतन रागादि की उत्पत्ति में निश्चय से कारण नहीं है। जिस प्रकार स्वर्णकार आदि शिल्पी कुंडल आदि कर्म, हाथ, हथौडी आदि उपकरणों से करता है, उसके फलभूत मूल्यादिकों को भोगता है, तथापि उसके साथ तन्मय नहीं होता। उसी प्रकार जीव भी द्रव्य कर्मों को करता है और भोगता है, तथापि उसमें तन्मय नहीं होता है। अशुद्ध निश्चय से जीव पुनः मिथ्यात्व रागादि रूप भावकर्म को करता है, उसके फल को भोगता है, उस भावकर्म के साथ तन्मय होता है। यद्यपि सफेद मिट्टी व्यवहार से दीवार आदिको सफेद करती है तथापि निश्चय से तन्मय नहीं होती। उसी प्रकार जीव भी व्यवहार नय से ज्ञेयभूत द्रव्य को जानता है, देखता है, परिहार करता है, श्रद्धान करता है तथापि निश्चय से तन्मय नहीं होता।

निश्चय से ज्ञायक अपने ज्ञायक स्वरूप में रहता है। इस प्रकार निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना रूप परिणत तपोधन ही अभेदनय से निश्चय चारित्र है। जिस प्रकार चुम्बक पाषाण से आकृष्ट सुई स्वस्थान से च्युत होकर के चुम्बक पाषाण के पास आती है, उसी प्रकार शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्शरूप मनोज्ञ और अमनोज्ञ पाँच इन्द्रियों के विषय चित्त क्षोभ रूप विकृति करने के लिए जीव के पास नहीं जाते, जीव भी उनके पास नहीं जाता, निश्चय से अपने स्थान में ही अपने स्वरूप से ही रहता है। तथापि अज्ञानी जीव उदासीन भाव को छोड़कर अपनी बुद्धि के दोष से रागद्वेष करता है, वह अज्ञान है। दूसरे शब्दादिकों का दोष नहीं है। इसके बाद उदयागत कर्म का वेदन करने वाला "यह मेरा है, मेरे द्वारा किया गया है, ऐसा जो मानता है और स्वभाव से शून्य होकर सुखी दुःखी होता है, दुःख के बीजभूत आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है। इस प्रकार कर्मचेतना, कर्मफलचेतना अज्ञानी को होती है। यह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना बंध का कारण होने से दोनों भी छोडने योग्य हैं। अतः ज्ञानी शुद्ध ज्ञानचेतना के बल से कर्मचेतना के त्याग की भावना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना नचाता है।

आचारांग और सूत्रकृतांग इत्यादि द्रव्यश्रुत, इन्द्रिय विषय, द्रव्यकर्म, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, शुद्ध निश्चय से रागादिक भी शुद्ध जीव के स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि वे अचेतन हैं।

जिस कारण से अचेतन है उस कारण से ज्ञान अन्य है और ये अन्य हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। जिस कारण से ज्ञान, ज्ञान और ज्ञेय वस्तु को नित्य जानता है, उस कारण से ज्ञायक है। शुद्ध बुद्ध एक स्वभावी परमात्मतत्त्व के देह ही नहीं है, उस कारण से कर्म और नोकर्म आहार भी नहीं है। आत्मा परद्रव्य को किञ्चित् ग्रहण नहीं करता और छोड़ता नहीं। शरीर के अभाव में शरीर रूप द्रव्यलिंग भी जीव स्वरूप नहीं है। भावलिंग रहित द्रव्य लिंग केवल मोक्षमार्ग नहीं है। अर्हन्त भगवन्त भी देह से निर्मम होकर लिंग को छोड़कर दर्शन ज्ञान चारित्र का सेवन करते हैं। भावलिंग से निरपेक्ष द्रव्य लिंग मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्षमार्ग है, इसलिए मोक्षमार्ग में आत्मा को स्थापित करना चाहिए। निश्चय रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग, मोक्षार्थी पुरुष के द्वारा सेवन करने योग्य, ध्याने योग्य और अनुभव करने योग्य है। भावलिंग रहित जो द्रव्यलिंग में ममत्व करते हैं, वे यद्यपि समयसार को नहीं जानते। भावलिंग सहित निर्ग्रन्थ यतिलिंग, कौपीन करण आदि अनेक भेदों से सहित गृहस्थलिंग-ये दोनों भी मोक्षमार्ग में व्यवहार नय मानता है। परन्तु निश्चयनय सर्व द्रव्यलिंगों को नहीं मानता।

भावलिंग रहित द्रव्य लिंग निषिद्ध है, भावलिंग सहित नहीं। जिस कारण से द्रव्य लिंग के आधारभूत शरीर के ममत्व का निषेध किया है, द्रव्यलिंग का निषेध नहीं किया। सर्व संग परित्याग रूप बहिरंग द्रव्यलिंग के होने पर भावलिंग होता है अथवा नहीं होता, नियम नहीं है। परन्तु अभ्यंतर स्वरूप भावलिंग होने पर द्रव्यलिंग होता ही है। यह शुद्धात्म तत्त्व निर्विकल्प स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से निज शुद्धात्मा की भावना करता हुआ आत्मा परम अक्षय सुख को प्राप्त करता है। यह शास्त्र अध्ययन का फल बताया है।

स्याद्वाद अधिकार :-

ग्रन्थ की समाप्ति के पश्चात् जयसेन आचार्य ने यह अधिकार रचा है। इसमें स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तु तत्त्व की व्यवस्था और उपाय उपेय भाव का चिंतन किया है। 'स्यात्' अर्थात् कथञ्चित् विवक्षित प्रकार से अनेकान्त रूप से 'वाद' अर्थात् कहना स्याद्वाद है। वह स्याद्वाद भगवान अरिहन्त का शासन है। वह "सर्व वस्तु अनेकान्तात्मक है" ऐसा कहता है। अनेकान्त शब्द का अर्थ कहते हुए कहा है :- एक वस्तु में वस्तुत्व का निष्पादक अस्तित्व नास्तित्व द्वय आदि स्वरूप परस्पर विरुद्ध सापेक्ष दो शक्तियों का प्रतिपादन करना अनेकान्त कहा जाता है। जो यह ज्ञानमात्र भाव जीव पदार्थ शुद्ध आत्मा है , वह तद् अतद् रूप, एक अनेकात्मक, सत् असतात्मक, नित्य अनित्य आदि स्वभावात्मक है।

ज्ञानमात्र भाव का निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग रूप से उपायभूत साधक रूप है। पुनः मोक्षरूप से उपेयभूत साध्यरूप से घटित होता है। प्राभृत शास्त्र को जानकर मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द एक स्वभावी हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ, मैं उदासीन हूँ इत्यादि आत्म विषयक निरन्तर भावना करनी चाहिए।

तात्पर्यवृत्तिगत अतिरिक्त गाथाएँ :-

समयसार परमागम में अमृतचन्द्र आचार्य की टीका अनुसार ४१५ गाथाएँ हैं। जयसेन आचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति में ४३९ गाथाएँ हैं। इस प्रकार अमृतचन्द्र आचार्य की टीका से जयसेन आचार्य की वृत्ति में २४ गाथाएँ अधिक प्राप्त होती हैं। वे तात्पर्यवृत्ति में क्रम से ११, १२, १८, २३, २४, ८१, ९३ १३१, १३२, १३३, १९८,१९९, २०९,२२५, २३२, २३३, २३४, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८९, २९८, ३००, ३५४ तक क्रमांक में विराजमान है। इस प्रकार छब्बीस गाथाएँ अधिक प्राप्त होती हैं। परन्तु अमृतचन्द्र आचार्य कृत आत्मख्याति में उपलब्ध ११९वीं और १२० वीं दो गाथाएँ जयसेन आचार्य वृत्ति में दिखाई नहीं देती। इसलिए २६ गाथाओं में से दो गाथाएँ कम करके २४ गाथा अधिक शेष रहती हैं।

उसमें ११ वीं गाथा में भेदाभेद रत्नत्रय की भावना, १२वीं गाथा में भेदाभेद रत्नत्रय की भावना का फल बताया है। १८ वीं गाथा में सम्यग्ज्ञानादि सर्व शुद्धात्मा की भावना में उपलब्ध होते हैं, ऐसा निरूपण किया है। यही गाथा २९६ नं. क्रमांक में विभक्ति के परिवर्तन द्वारा देखी जाती है। २३ वीं गाथा में शुद्ध जीव में जब रागादि रहित परिणाम होता है, तब मोक्ष है, और जब अजीव देह आदि में रागादि परिणाम हैं, तब बंध है। इस प्रकार वर्तमान काल में ही बंध मोक्ष की अनुभवन की कला दिखाई है। पूर्व गाथाओं में, यह जीव कितने काल तक अज्ञानी रहता है, ऐसा प्रतिपादन किया है, उसके अनुसार ही यहाँ बन्ध मोक्ष कब होता है, यह कहा है। इसलिए यहाँ पर यह गाथा प्रकरण संगत प्रतीत होती है। २४ वीं गाथा में आत्मा अशुद्ध निश्चय से अशुद्ध भावों का, शुद्ध निश्चय से शुद्ध भावों का, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्यकर्मादिकों का कर्ता है, ऐसा कहा है।

८१ वीं गाथा में, जो आत्मा को पुण्यपाप आदि परिणामों का व्यवहार नय से कर्ता और निश्चय से अकर्ता जानता है, वह ज्ञानी होता है। ऐसा ज्ञानी का लक्षण कहा है। पूर्व सूत्र में आत्मा ज्ञानी हुआ कैसा लक्षित होता है, ऐसा प्रश्न किया है, उसके अनुसार यह गाथा यहाँ पर प्रसंग संगत प्रतीत होती है। ९३ वीं गाथा में जयसेन आचार्य, आत्मा, पुद्गल कर्म को निमित्त

करके अपने भावों को कर्ता है, उसी प्रकार उदयागत द्रव्यकर्म को निमित्त करके अपने रागादि भावों का वेदन कर्ता है, इस प्रकार प्रकरण में आये हुए विषय का ही व्याख्यान किया है।

१३०, १३१, १३२ इन तीन गाथाओं में समान विवरण दिखाई देता है। तीनों गाथाओं में क्रमश: निस्संग साधु, जितमोह और धर्म संग से मुक्त जीव का लक्षण कहा है। उनमें दूसरी (१३१ वीं) गाथा ३७वीं गाथा के समान है, केवल "जिणित्ता" इस शब्द के स्थान पर "मुइत्ता" ऐसा पाठ भेद दिखाई देता है। १९८ व १९९वीं गाथा में परोक्ष आत्मा का कैसे ध्यान होता है? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर रूप से दो गाथाएँ कहीं हैं। २०९ वीं गाथा में कर्म के उदय के फल का विपाक, परद्रव्य का उपभोग और शरीर जड स्वरूप होनेसे आत्मा का स्वरूप नहीं है, ऐसा कहा है। निर्जरा अधिकार में भेद विज्ञान के प्रकरण में यह गाथा प्रकरण के अनुकूल प्रतीत होती है।

२२५वीं गाथा में विशेष परिग्रह के त्याग के प्रकरण में धर्म, अधर्म, आकाश, अंगपूर्वगतश्रुत परिग्रह, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक आदि विभाव पर्यायों को ज्ञानी नहीं चाहता, ऐसा कहा है। सम्पूर्ण कर्म निर्जरा नहीं है तो मोक्ष कैसे होगा ? ऐसा प्रश्न करने पर परिहार रूप से २३२, २३३, २३४ तीन गाथाएँ कहीं हैं। २३२वीं गाथा में स्वर्ण की उत्पत्ति का विधान दृष्टान्त रूप से कहा है। २३३, २३४ वीं गाथा में मोक्ष प्राप्ति का उपायभूत दार्ष्टान्त कहा है।

२८१ से २८४ तक चार गाथाओं में, अपने पाप के उदय से जीव दु:खी है, अपने परिणाम से नहीं। इस प्रकार मन, वचन, काय से और शस्त्रों से मैं जीवों को दु:खी करता हूँ ऐसी बुद्धि मिथ्या है, ऐसा व्याख्यान किया है। उसी प्रकार २८५वीं गाथा में, जीव सुखी भी अपने कर्मों के उदय से होते हैं, अपने परिणाम से नहीं। इसलिए मन, वचन, काय से, मैं जीवों को सुखी करता हूँ ऐसी बुद्धि मिथ्या है, ऐसा प्रतिपादन किया है। ये पाँच गाथाएँ प्रकरण के अनुसार ही प्रतिभासित होती हैं।

जितने काल तक जीव बाह्य विषयों में संकल्प विकल्प करता है और हृदय में आत्मा स्फुरायमान नहीं होता, उतने काल तक शुभाशुभ को उत्पन्न करने वाले कर्मों को करता है। इस प्रकार २८९ वी गाथा में कहा है। अध:कर्म आदि आहार रूप पुद्गल द्रव्य के गुण, ज्ञानी जीव कैसे करता है, ऐसा पूर्व गाथा (२९७) में कहा है, उसके अनन्तर २९८ वीं गाथा में पुन: अनुमोदन करता है, कैसे कहा है ? इस प्रकार दो गाथाएँ हैं। इसलिए यह (२९८) गाथा यहाँ युक्त प्रतीत होती हैं। आहार ग्रहण के पूर्व इस पात्र के निमित्त जो कुछ भी अशनपान आदिक क्रिया है, वह औपदेशिक कहा जाता है। उस औपदेशिक के साथ वही अध:कर्म दो गाथा

(२९९-३००) के द्वारा कहा है। उसमें ३००वी गाथा (दूसरी गाथा) जयसेन आचार्य की वृत्ति में अधिक है। पूर्व गाथा के साथ सम्बन्ध होने से वह यहाँ उपयुक्त प्रतीत होती है।

३५४ वीं गाथा में सम्यक्त्व प्रकृति, यदि स्वयं अपरिणामी आत्मा को सम्यग्दृष्टि करती है, तब अचेतन प्रकृति को कारकपना प्राप्त होता है, ऐसा निरूपण किया है। यहाँ पर सांख्य मतानुसारी शिष्य के प्रति परिणामीपना सिद्ध करके आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध किया है। अतः यह गाथा मूल सूत्र रूप से प्रतिभासित होती है।

तात्पर्यवृत्ति का नवनीत :-

जयसेन आचार्य की तात्पर्यवृत्ति में यह ग्रन्थाधिराज सरल संस्कृत भाषा में जनजन के प्रति प्राप्त कराने का सफल और सार्थक प्रयास किया गया है। यहां पर अध्यात्म सदृश गूढ अर्थ, गम्भीर विषय को दृष्टान्तों के द्वारा और नय विवक्षाओं से तथा प्रश्नोत्तर के माध्यम से सहज बोधगम्य किया है। इसमें करणानुयोग और चरणानुयोग के साथ अध्यात्म का सामञ्जस्य स्थापित किया है। अध्यात्म सुधारस से रसित यह तात्पर्यवृत्ति अध्येताओं के मन को संतुष्ट करती है और शुद्धात्मा की भावना भाने के लिए प्रेरित करती है।

इस वृत्ति में कितने ही नवीन प्रमेयों का सारगर्भित व्याख्यान है। कर्तृकर्म अधिकार में जीव और अजीव में कथञ्चित् अपरिणामीपना और कथञ्चित् परिणामीपना, एकान्त मत के निराकरण पूर्वक सिद्ध किया है। जीव और अजीव यदि सदैव एकान्त से अपरिणामी है, तब जीव और अजीव दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं। पुण्य पाप आदि सात पदार्थ संभव नहीं हैं। यदि एकान्त से परिणामी तन्मय होते हैं, तब एक ही पदार्थ है। परन्तु कथञ्चित् परिणामी हैं, ऐसा होने पर पुण्य पाप आदि सात पदार्थ संभव हैं। यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से स्वरूप को नहीं छोड़ता तथापि व्यवहार नय से कर्मोदय के वश से रागादिक उपाधि परिणामों को ग्रहण करता है। यद्यपि रागादिक उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है, तथापि स्वरूप को नहीं छोड़ता। इस प्रकार कथञ्चित् परिणामीपना सिद्ध होने पर पुण्यपाप आदि सात पदार्थों का जीव अशुद्ध निश्चय से कर्ता सिद्ध होता है। वहाँ अज्ञानी, बहिरात्मा, मिथ्यादृष्टि जीव विषय कषाय रूप अशुभोपयोग परिणाम को कर्ता है। तब पाप, आस्रव, बंध इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है, परन्तु जब मिथ्यात्व कषायों का मन्द उदय होने पर शुद्धात्मा को त्यागकर भोगाकांक्षा रूप निदान बंध आदि रूप से दान पूजा आदि शुभोपयोग परिणाम को करता है, तब पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है।

पुनः जो सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा शुद्धोपयोग भाव से परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षण भेदज्ञान से जब परिणमता है तब निश्चय चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर, संवर-

निर्जरा-मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है। कदाचित् पुनः निर्विकल्प समाधि परिणाम का अभाव होने पर, विषय कषाय से बचने के लिए शुद्धात्म भावना की साधना के लिए, ख्याति पूजा, लाभ, भोगाकांक्षा निदान बंध से रहित होकर पंच परमेष्ठियों के गुण स्मरण आदिरूप शुभोपयोग रूप परिणाम का कर्ता है, तब तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है।[1] यहाँ पर परिणामों का परिणमन ही कर्तृत्व जानना चाहिए।

मिथ्यात्वादि भाव प्रत्यय शुद्ध निश्चय से अचेतन हैं क्योंकि पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। स्त्री पुरुष से उत्पन्न हुआ पुत्र विवक्षा के वश से देवदत्ता का यह पुत्र है, ऐसा कोई कहते हैं, और देवदत्त का यह पुत्र है, ऐसा कोई कहता है तो दोष नहीं है। उसी प्रकार जीव पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व रागादि भाव प्रत्यय अशुद्ध निश्चय से अशुद्ध उपादान रूप से चेतन जीव सम्बद्ध है। शुद्ध निश्चय से पुनः पौद्गलिक हैं। चूना और हल्दी के संयोग रूप परिणाम के समान, परमार्थ से पुनः एकान्त से न जीवरूप हैं, न पुद्गलरूप हैं। वस्तुतः सूक्ष्म शुद्ध निश्चय से ये हैं ही नहीं, अज्ञान से उत्पन्न कल्पित हैं। यहां पर शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राही शुद्धनय को ही सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय संज्ञा कही है।

इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से जीव के अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व और क्रोधादि से भिन्नत्व है। व्यवहार से (अशुद्ध निश्चयनय से) कर्तृत्व, भोक्तृत्व और क्रोधादि से अभिन्नत्व है। निश्चय व्यवहार में परस्पर सापेक्षपना है। जिस प्रकार यह देवदत्त दायीं आँख से देखता है, ऐसा कहने पर, बायीं आँख से नहीं देखता, यह बिना कहे सिद्ध होता है। उसी प्रकार निश्चय से अकर्तृत्व कहने पर व्यवहार से कर्तृत्व बिना कहे सिद्ध होता है। जो सांख्य सदाशिव मतानुसारी, पुन: इस प्रकार के परस्पर सापेक्ष नयविभाग को नहीं मानते हैं, उनके मत में, जिस प्रकार शुद्ध निश्चय से कर्ता नहीं है और क्रोधादि से भिन्न है, उसी प्रकार व्यवहार नय से भी कर्ता नहीं है। और उससे क्रोधादि परिणाम का अभाव होने पर सिद्धों के समान कर्मबंध का अभाव, कर्मबंध का अभाव होने पर संसार का अभाव, संसार का अभाव होने पर सर्वदा मुक्तपना प्राप्त होता है और वह प्रत्यक्ष से विरोध है। संसार तो प्रत्यक्ष देखा जाता है। इस प्रकार कर्तृकर्म अधिकार में जयसेन आचार्य ने निश्चय और व्यवहार में सुमेल स्थापित करके सर्वथा एकान्त का निराकरण किया है।

इस वृत्ति में सराग वीतराग सम्यग्दृष्टि का अनेक बार उल्लेख किया है। अध्यात्म विवक्षा में सम्यग्दृष्टि अबंधक कहा है। उसमें करणानुयोग में कहे हुए गुणस्थानों को बंध व्युच्छित्ति के प्रकरण के साथ सामञ्जस्य दिखाने के लिए चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आदि कैसे

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा, ७९, १२६-१३०

अबंधक है और कैसे बंधक है इसका गोम्मटसार कर्मकाण्ड का आश्रय करके अच्छा विवेचन किया है। उसका विस्तार से विश्लेषण चौथे अध्याय में करेंगे, वहाँ से जान लेना चाहिए।

इस वृत्ति में आचार्य ने दो बार मोक्ष कारण की मीमांसा की है। प्रथमतः पाँच भावों में किस भाव से मोक्ष होता है, इस विषय में मौलिक रूप से विवेचन किया है।[१] उसी प्रकार आगे पाँच ज्ञानों में किस ज्ञान से मोक्ष होता है उसका भी सम्यक् चिंतन किया है।[२] औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इस प्रकार जीव के पाँच असाधारण भाव हैं। उनमें औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये चार भाव पर्याय रूप ही हैं । पारिणामिक भाव तीन प्रकार का है, जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व। उसमें जीवत्व निश्चय व्यवहार की अपेक्षा दो प्रकार का है। उनमें निश्चय जीवत्व शुद्ध पारिणामिक भाव है।

दश प्राण रूप व्यवहार जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व अशुद्ध पारिणमिक भाव हैं, ये पर्याय रूप हैं। क्योंकि शुद्धनय से संसारी जीवों के नहीं होते हैं। सिद्धों के तो सर्वथा ही नहीं होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र आदिक में मोक्ष में भव्यत्व आदि भावों का विनाश होता है, ऐसा कहा है।[३] भव्यत्व और अभव्यत्व का कारण किसी भी कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि नहीं है, इसलिए वे दोनों पारिणामिक भाव में अन्तर्भूत हैं। परन्तु वे दोनों पर्यायार्थिक नय के आश्रित होने से अशुद्ध पारिणामिक हैं। औदयिक भाव और अज्ञानादि कितने ही क्षायोपशमिक भाव बंध पर्याय रूप हैं। इस प्रकार जीव के त्रेपन असाधारण भावों में बावन भाव पर्याय रूप हैं। बावन भावों में व्यापक शुद्ध जीवत्व रूप शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है और वह त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक भावरूप है।

अभव्यत्व भाव स्वरूप की अप्राप्ति स्वरूप है। भव्यत्व भाव की व्यक्तता का प्रच्छादक सम्यक्त्व, चारित्र आदिक जीव गुण का घातक देशघाति और सर्वघाति नामक मोहादि कर्म सामान्य है। उसमें जब कालादि लब्धि के वश से भव्यत्व शक्ति की व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण निज परमात्म द्रव्य का सम्यक् श्रद्धान करता है, जानता है और आचरण करता है। इस प्रकार अभेद रत्नत्रय रूप से परिणमित होता है और वह परिणमन आगम भाषा से औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भावरूप कहा जाता है। अध्यात्म भाषा से पुनः वही शुद्धात्माभिमुख परिणमन शुद्धोपयोग, ऐसा कहा जाता है और वह

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.स. ३४१

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. ४१२-४२६

३. औपशमिकादिभव्यत्वानां च, तत्त्वार्थसूत्र, अ.१०, सूत्र ३

पर्याय भावना रूप होने से शुद्ध पारिणामिक लक्षण शुद्धात्म द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है। शुद्ध पारिणामिक भाव भावना रूप नहीं है। शुद्ध पारिणामिक निष्क्रिय अर्थात् बन्ध की कारणभूत जो रागादि परिणति रूप क्रिया, उस रूप नहीं है, और मोक्ष की कारणभूत जो शुद्ध भावना परिणति रूप क्रिया, उस रूप भी नहीं हैं। इसलिए जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येय रूप है, ध्यानरूप नही है, क्योंकि ध्यान विनश्वर है।

इसलिए सिद्ध हुआ कि शुद्ध पारिणामिक भाव विषयक जो भावना तद्रूप जो औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीन भाव हैं, वे समस्त रागादि रहित होने से उपादान कारण होने से मोक्ष के कारण हैं। शुद्ध पारिणामिक भाव नहीं। [१]

किस ज्ञान से मोक्ष होता है ? इस विषय में विचार करते हैं। ज्ञान पाँच प्रकार का है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान। उनमें केवलज्ञान फलभूत है, वह आगे मोक्ष होने पर होगा। अवधि, मनःपर्ययज्ञान "रूपिष्ववधेः। तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य" ऐसा वचन होने से, मूर्त को विषय करने से मूर्त को ही जानते हैं और वे अमूर्त आत्मा को जान नहीं सकते। आत्मज्ञान का अभाव होने से उससे मोक्ष कैसे होगा। इसलिए अवधि, मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान मुक्ति के कारण नहीं है। पारिशेष न्याय से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान शेष रहते हैं। ये भी दोनों ज्ञान जब इन्द्रिय और मन से प्रवर्तित होते हैं, तब बाह्य विषय में संकल्प विकल्प रूप से परिणमते हैं। परन्तु इन्द्रियाँ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रूप मूर्तिक को ग्रहण करती है, इसलिए इन्द्रिय और मानस विकल्प से उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञान, श्रुतज्ञान मुक्ति के कारण नहीं हो सकते। जो शुद्धात्माभिमुख परिच्छित्ति जिसका लक्षण है, ऐसे रागादि विकल्प रहित अतीन्द्रिय निर्विकल्प भावरूप मानस मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, वह मुक्ति का कारण है।

वही निर्विकार स्वसंवेदन जिसका नाम है, ऐसा क्षायोपशामिक भी विशिष्ट भेदज्ञान मोक्ष का शुद्ध उपादान कारण होने से निर्वाण का कारण है।[२] वही कहा है :-

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥" [३]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.स. ३४१

२. वहीं पर, गा. १९८-१९९

३. समयसार कलश नं.१३१

जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेद विज्ञान से सिद्ध हुए हैं। जो कोई बद्ध हैं, उसके अभाव से ही बद्ध हैं। छद्मस्थों के सम्बन्धी भेदज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है। उस कारण से उस एकदेश व्यक्तिरूप से भी सकल व्यक्तिरूप केवलज्ञान उत्पन्न होता है, इसमें दोष नहीं है।

परोक्ष आत्मा का कैसे ध्यान किया जाता है ? इस प्रकार लौकिकजनों का प्रश्न है। उसका समाधान जयसेन आचार्य ने दृष्टान्त पूर्वक किया है। वह इस प्रकार है। जैसे उपदेश में परोक्ष भी देवता का स्वरूप कहे जाने पर कोई देवदत्त उस देवता को मन से प्रत्यक्ष जानता है। उसी प्रकार शास्त्र में लिखे हुए आत्मा का स्वरूप पढकर कोई जीव उसको मन में प्रत्यक्ष जानता है। वही इष्टोपदेश में कहा है :-

जो कोई गुरु के उपदेश से, शास्त्र के अभ्यास से और स्वसंवेदन से स्वपर में अन्तर को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, वह निरन्तर मोक्ष सौख्य का अनुभव करता है।

कोई ज्ञानी ही वर्तमान काल में परोक्ष ज्ञान में वर्तता हुआ "मेरे द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष देखा गया है" ऐसा कहता है। आत्मा प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देता, ऐसा कोई ज्ञानी नहीं कहता। परन्तु इस प्रकार भी नहीं कहता कि यह आत्म स्वरूप मेरे द्वारा चतुर्थ कालवर्ती, केवल ज्ञानी सदृश प्रत्यक्ष देखा गया है। केवलज्ञानी की अपेक्षा से परोक्ष श्रुतज्ञान में प्रवर्तमान आत्मस्वरूप प्रत्यक्ष देखा जाता है।

यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा से रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदनरूप भावश्रुतज्ञान शुद्ध निश्चयनय से परोक्ष कहा जाता है तथापि इन्द्रिय मनोजनित सविकल्प ज्ञान के समान परोक्ष नहीं है। परन्तु उसकी अपेक्षा से प्रत्यक्ष है। उस कारण से आत्मा स्वसंवेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान की अपेक्षा से पुन: परोक्ष कहा जाता है, सर्वथा परोक्ष ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। चतुर्थ काल के भी केवली क्या आत्मा को हाथ में ग्रहण करके दिखाते थे? वे भी दिव्यध्वनि से कहकर जाते थे। उस समय श्रवण काल में श्रोताओं को परोक्ष ही है, पश्चात् परम समाधि काल में प्रत्यक्ष ही है। उसी प्रकार इस काल में गुरु उपदेश के श्रवण के काल में अथवा ग्रन्थ पठन काल में आत्मा परोक्ष होता है। पश्चात् परम निर्विकल्प समाधि के काल में प्रत्यक्ष है। इसलिए परोक्ष आत्मा का कैसे ध्यान किया जाता है, ऐसा विचार करके स्वात्मानुभव से उत्पन्न परमानंद के लाभ से चूकना नहीं चाहिए।

निष्कर्ष :-

१) वृत्ति रचना का प्रारम्भ ई. सन् प्रथम और द्वितीय शताब्दी से हुआ है। परंतु आज पंचम शताब्दी से लिखी हुई वृत्तियां प्राप्त होती हैं। उपलब्ध वृत्ति ग्रन्थों में पूज्यपाद आचार्य के

द्वारा रची गई "सर्वार्थ सिद्धि" प्राचीनतम वृत्ति है। ई.सन् ग्यारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी पर्यन्त वृत्ति रचना का उत्कर्ष काल कह सकते हैं।

२) पञ्चास्तिकाय संग्रह ग्रन्थ, मोक्षमार्ग में प्रथम पैर रखने वालों के लिए प्रवेश द्वार रूप है। पञ्चास्तिकाय संग्रह के ऊपर लिखी हुई तात्पर्यवृत्ति अमृतचन्द्र आचार्य की समय व्याख्या की अपेक्षा से अधिक विस्तृत, प्रमेय बहुल, दृष्टान्त बहुल, सशक्त, अध्यात्म रस से रसित दृष्टि गोचर होती है। प्रत्येक गाथा की वृत्ति में तात्पर्य अर्थरूप से शुद्धात्मा ही उपादेय कहा है।

३) प्रवचनसार मध्यम रुचि के शिष्यों को प्रतिबोधन करने के लिए दार्शनिक शैली में रचा गया है। यह ज्ञान ज्ञेय तत्त्व का तात्त्विक विवेचन करता है। इसमें केवलज्ञान की सर्वोत्कृष्ट महिमा दर्शायी है। उसी प्रकार मुनिचर्या का यथार्थ चित्रण चित्रित है। इसकी तात्पर्यवृत्ति भी गम्भीर, तार्किक, अध्यात्म प्रचुर गूढार्थ को बताने वाली है। इसमें द्रव्य, गुण, पर्यायों का और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यादिकों का विवरण मुक्त जीव के दृष्टान्त से समर्थन किया है। यह इसका वैशिष्ट्य है।

४) समयसार परमागम सर्वोत्कृष्ट सम्यक् दृष्टि प्रदायक अलौकिक ग्रन्थराज विराजमान है। इसमें शुद्धात्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बताया है। नौ तत्त्वों का निरूपण शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से किया है। इसकी तात्पर्यवृत्ति में सम्यक् रीति से, आगम और अध्यात्म की अपेक्षा से विवेचन करके दोनों में विरोध दूर किया है।

****

चतुर्थ अध्याय
जयसेन आचार्य की वृत्ति ग्रन्थों का विविध प्रतिपाद्य की दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन

दृशि धातु से दर्शन शब्द निष्पन्न हुआ है। "देखता है,इसके द्वारा देखा जाता है अथवा दर्शन मात्र" दर्शन है। दर्शन शब्द का अर्थ अवलोकन है। वह दो प्रकार का है। १) स्व का दर्शन, २) पर का दर्शन। पहला आत्मदर्शन है, दूसरा परदर्शन (विश्व दर्शन) है। इन स्व-पर का यथार्थ दर्शन सम्यग्दर्शन है और इन दोनों का अयथार्थ दर्शन, मिथ्यादर्शन कहा जाता है। दर्शन, चिन्तन मूलक होने से हेतुपूर्वक यथार्थ वस्तु स्वरूप का दिग्दर्शन उसका कार्य है।

भारतवर्ष में जीवन समस्या के समाधान के लिए दर्शन का उद्गम हुआ है। भारतीयों ने दुःख दूर करने के लिए दर्शन को आत्मसात् किया है। यही तथ्य प्रो. हिरियाना महोदय ने व्यक्त किया है। वह इस प्रकार है - " पाश्चात्य दर्शन के समान भारतीय दर्शन का प्रारम्भ विस्मय और कौतूहल से न होकर जीवन के नैतिक दुराचारों को, भौतिक दुष्टताओं के शमन के लिए हुआ है। जीवन में उत्पन्न हुए दुःखों की समाप्ति की खोज और तात्त्विक प्रश्नों का समाधान ही दार्शनिक प्रयासों का मूल उद्देश्य है।"[१]

इससे जाना जाता है कि भारत देश में ज्ञान की चर्चा ज्ञान के लिए नहीं उत्पन्न हुई, मोक्ष की अनुभूति के लिए हुई। अत्यन्त दुःख निवृत्ति ही मोक्ष है।

सम्पूर्ण जिनागम मोक्ष और मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करने के लिए समर्पित है। दार्शनिक विचारों में उन सब सिद्धान्तों का परिज्ञान अपेक्षित है, जिनका मोक्षमार्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान है, अथवा जिनके यथार्थ परिज्ञान के बिना तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए द्रव्य, गुण, पर्याय, षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ, अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि अनिवार्य रूप से जानने योग्य हैं।

---

1. Philosophy in India did not take its rise in wonder or curiosity as it seems to have done in the west, rather it originated under the pressure of practical need arising from the presence of moral and physical evil in life philosophic endeavor was directed primarily to find a remedy for the ills of life and the consideration of metaphysical questions came in as a matter of course. प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूप रेखा पृ.२ उद्धृत, outlines of Indian philosophy P-18,19

परमागम परम्परा के पुनरूद्धारक प्रकृष्ट दार्शनिक आचार्य कुन्दकुन्ददेव के द्वारा विरचित परमागमो में उपर्युक्त सम्पूर्ण विषयों का प्रतिपादन समाविष्ट है । उनकी दार्शनिक विचारधारा का पुनर्जीवन का महत् कार्य जयसेन आचार्य ने किया है। उन्होंने स्वरचित वृत्तियों में परमागम विषयक दार्शनिक विचार स्पष्ट रूप से प्रगट किये हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित दार्शनिक विचार यहाँ पर विविध प्रकरणों से स्पष्ट किये जाते हैं।

द्रव्य गुण पर्याय का विवेचन

द्रव्य गुण पर्याय के परिज्ञान की आवश्यकता :-

अनादि काल से मोह के वश से यह जीव चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करता है। संसार में संसरण करता हुआ यह जीव अतिशय दुःख का अनुभव करता है। संसार का मूल कारण मोह है। पर वस्तुओं में ममत्व बुद्धि मोह कहा जाता है। इस मोह से जीव को जो जो संयोग प्राप्त होता है, उस उस को अपना मानता है, उससे ही अपना कल्याण जानता है। यह भी सत्य है कि मोह के बिना संसार का कोई भी कार्य संभव नहीं है। यह संसारी जीव जहाँ ममत्व स्थापित करता है, वहाँ एकाग्र मन से संसार का कार्य सम्पन्न करता है। इस संसार में मोह सेना का साम्राज्य सब जगह छाया हुआ है। यह प्राणी संसार में मोह पिशाच से ग्रस्त होकर महा दुःखी है। सहसा उससे आत्मा को छुडाना शक्य नहीं है। किसी बाह्य कारण से मोह को दूर करना शक्य नहीं है। इस सत्य को लक्ष्य करके जैन दर्शन में मोह सेना पर विजय का उपाय तत्त्वज्ञान कहा है। जैन तत्त्वज्ञान को जानने के लिए सर्व प्रथम द्रव्य, गुण, पर्याय का परिज्ञान आवश्यक है। प्रवचनसार परमागम में कुन्दकुन्द देव के द्वारा मोह विनाश के इस उपाय का विचार किया है। वह इस प्रकार है :-

"जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।"[१]

जो अरहंत को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानता है, वह निश्चय से आत्मा को जानता है और उस आत्म परिज्ञान से उसके मोह का नाश होता है। इस प्रकार द्रव्य गुण पर्याय के परिज्ञान के बिना मोह का क्षय नहीं होता। इसलिए द्रव्य गुण पर्याय अवश्य जानने चाहिए।

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार गाथा सं. ८०

द्रव्य गुण पर्यायों को जानने के लिए उनका लक्षण स्वरूप, भेद, प्रभेद और प्रयोजन अवश्य जानना चाहिए। जब तक द्रव्य का लक्षण, द्रव्य की सिद्धि का कारणभूत गुण का स्वरूप और पर्याय का स्वभाव नहीं जाना जाता, तब तक एकान्तवाद का परिहार नहीं होता।[१]

द्रव्य के यथार्थ स्वरूप को न जानते हुए कोई उसे नित्य ही, कोई अनित्य ही, कोई एक ही, कोई अनेक ही मानते हैं। इसलिए एकान्त के विनाश के लिए द्रव्य गुण पर्यायों का सम्यक् स्वरूप जानना चाहिए। उन द्रव्य गुण पर्यायों का स्वरूप जयसेन आचार्य ने पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में विस्तार से स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति :-

जयसेन आचार्य ने द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि :-

"अदुद्रवत् गतं भूतकाले तांस्तान् स्वकीय पर्यायान् तद् द्रव्यम्।"[२]

"गुणैर्दोष्ये गुणान् द्रोष्यतीति वा द्रव्यमिति" सर्वार्थसिद्धौ द्रव्यस्य व्युत्पत्तिःकृता।[३]

१) भूतकाल में उन उन अपनी पर्यायों को जो प्राप्त हुआ है, वह द्रव्य है।

२) गुणों के द्वारा जो प्राप्त किया जायेगा और जो गुणों को प्राप्त होगा, वह द्रव्य है। इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि में द्रव्य की व्युत्पत्ति की है।

जयसेन आचार्य ने जो जो पर्यायों को प्राप्त होता है, वह द्रव्य है, ऐसा कहा है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में, जो गुणों को प्राप्त होता है, वह द्रव्य है, ऐसा कहा है। दोनों अर्थों में भेद नहीं है। यहाँ द्रवण शब्द से "अन्विति" अनुसरण करना ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

द्रव्य का लक्षण और स्वरूप :-

द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार से कहा है - १) सद् द्रव्य लक्षणम् २) उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तं द्रव्यम्, ३) गुणपर्ययवद् द्रव्यम्। वह इस प्रकार है :-

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्त संजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥ [४]

---

१. णायव्वं दवियाणं लक्खणसंसिद्धिहेउगुणणियरं। तह पज्जायसहावं एयंत विणासहणट्ठावि॥
माइल्ल धवलकृत द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गा.सं. १०

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. १०

३. आचार्य पूज्यपाद कृत, सर्वार्थ सिद्धि, अ.१, सू.५

४. पञ्चास्तिकाय संग्रह, गा.सं. १०

सत्ता से अविरोध होने से द्रव्य का सत् स्वरूप ही लक्षण है। सत् अर्थात् अस्तित्व। कोई भी द्रव्य अस्तित्व के बिना नहीं है। वह अस्तित्व तीन प्रकार से भेदा जाता है। उत्पाद रूप से, व्यय रूप से, ध्रौव्य रूप से इसलिए कहा है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्॥"[१] द्रव्य का सत् यह लक्षण द्रव्यार्थिक नय से और उत्पाद व्यय ध्रौव्य संयुक्त, यह लक्षण पर्यायार्थिक नय से किया है। इस प्रकार जयसेन आचार्य ने नय विभाग से दोनों लक्षणों की सार्थकता बताई है।

जहाँ गुण और पर्याय रहते हैं, वह द्रव्य है। द्रव्य, गुण और पर्यायों का समुदाय है। उत्पाद, व्यय-पर्याय का स्वरूप है। ध्रौव्य गुण का वाचक है। इसलिए उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभाव द्रव्य अथवा गुण पर्यायवत् द्रव्य कहो तो दोनों का एक ही अभिप्राय है। उन तीनों लक्षणों का परस्पर विरोध नहीं है। एक लक्षण के कहने पर, अन्य दो लक्षण अपने आप प्राप्त होते हैं। वही जयसेन आचार्य ने स्पष्ट किया है, वह इस प्रकार है :-

"सत्ता लक्षणमित्युक्ते सत्युत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं गुणपर्यायित्वलक्षणं च नियमेन लभ्यते उत्पादव्ययधौव्ययुक्तमित्युक्ते सत्तालक्षणं गुणपर्यायत्वलक्षणं च नियमेन लभ्यते गुणपर्यायवदित्युक्ते सत्युत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणत्वं सत्तालक्षणं च नियमेन लभ्यते। त्रयानां लक्षणानां परस्पराविनाभावित्वादिति।"[२]

सत्ता लक्षण ऐसा कहने पर उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण और गुण पर्यायत्व लक्षण नियम से प्राप्त होता है। 'उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त' ऐसा लक्षण कहने पर सत्ता लक्षण और गुण पर्यायत्व लक्षण नियम से प्राप्त होता है। गुण पर्यायवत् ऐसा कहने पर उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणपना और सत्ता लक्षण नियम से प्राप्त होता है। क्योंकि तीनों में परस्पर अविनाभावपना है।

द्रव्य का विवेचन :-

उपर्युक्त द्रव्य के तीन लक्षण समीचीन युक्तियुक्त प्रतिभासित होते हैं। वैशेषिक मतानुयायियों के द्वारा द्रव्यत्व को सामान्य नामक पृथक् पदार्थ माना है। उस सामान्य द्रव्यत्व के समवाय सम्बन्ध से इसमें पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन - को नौ द्रव्य रूप से स्वीकार किया है। उनके मत में *"द्रव्यत्व जातिमत्त्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्य सामान्यलक्षणम्।"*[३]

---

१. आचार्य गृद्धपिच्छ कृत, तत्त्वार्थसूत्र अ.५, सू.सं.३०

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. १०

३. अन्नभट्ट कृत तर्कसंग्रह पदकृत्य टीका, पृ.सं. ३, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, नवम संस्करण, सन् १९९०

द्रव्यत्व जातिमानपना अथवा समवाय कारणपना द्रव्य सामान्य का लक्षण है, परन्तु द्रव्यत्व और पृथिवी आदिक द्रव्य भिन्न भिन्न सिद्ध नहीं होते हैं। सांख्यवादी "पुरूष" को कूटस्थ नित्य और "प्रकृति" को परिणामी नित्य स्वीकार करते हैं। बौद्ध परम्परा में केवल संतान को स्वीकार किया है, परन्तु सन्तानी के बिना सन्तान नहीं हो सकती है। उपर्युक्त सभी मान्यताऐं एक-एक दृष्टिकोण की प्रधानता से स्वीकार की हैं। उनके द्वारा द्रव्य का परिपूर्ण स्वरूप नहीं जाना जाता। इसलिए जैन दर्शन द्रव्य को परिणामी नित्य स्वीकार करता है। अन्य दर्शनों में द्रव्य को सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य माना है। परन्तु जैन दर्शन द्रव्य को परिवर्तन शील कह करके अनादिनिधन मानते हैं। जिस कारण से पदार्थ न केवल पर्यायरूप है और न केवल अनादिनिधन नित्य है। परन्तु वह परिवर्तनशील होकर भी अनादिनिधन है। द्रव्य अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायों में व्याप्त होकर रहता है। यही द्रव्य का ध्रौव्यत्व है।

गुण की व्युत्पत्ति :-

"गुण्यते पृथक् क्रियते द्रव्यं द्रव्यान्तराद्यैस्ते गुणा इति गुणशब्दस्य व्युत्पत्तिः।"[१]

एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य से जिनके द्वारा पृथक् किया जाता है, वे गुण हैं, ऐसे गुण शब्द की व्युत्पत्ति है।

गुण का लक्षण और स्वरूप :-

गुण अन्वयी होते हैं और गुण सहभू होते हैं, ऐसा गुण का लक्षण है।[२]

पुनः अन्यत्र "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।"[३] द्रव्य जिनका आश्रय है, वे द्रव्याश्रय हैं, जो गुण से रहित हैं, वे निर्गुण हैं अर्थात् गुण द्रव्य का आश्रय करके रहते हैं और गुणों में पुनः गुण नहीं होते।

गुण अन्वयी होते हैं अर्थात् शक्ति के मूल स्वभाव का कभी भी नाश नहीं होता। जिस प्रकार ज्ञान, ज्ञान रूप से सदैव रहता है। द्रव्य के सामान्य गुण भी परिवर्तन शील होते हुए भी अनादिनिधन और नित्य हैं। सभी गुणों का अस्तित्व एक साथ होता है, इसलिए उन्हें सहभू

---

१. आचार्य देवसेन : आलापपद्धति, सू.सं. ९३, पृ.सं. ६४, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १९८९, तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागर भट्टारक, अ.५, सू.३८

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.५

३. तत्त्वार्थसूत्र, अ.५, सू.४१

कहते हैं। गुणों के द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अलग किया जाता है। जिस प्रकार जीव ज्ञानादि गुणों से पुद्गल आदि से अलग किया जाता है। उसीप्रकार पुद्गल आदि रूप गुणों के द्वारा अलग किये जाते हैं। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय ये गुण के पर्यायवाची नाम हैं। [१]

गुण के भेद :-

गुण दो प्रकार के हैं। १) सामान्य गुण, २) विशेष गुण। उनमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरूलघुत्व आदि सर्व द्रव्यों में साधारण सामान्य गुण हैं। [२] अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्त्व, असर्वगतत्त्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरूलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण कहे हैं। [३]

विशेष गुण :-

अवगाहन हेतुत्व, गति निमित्तता, स्थिति कारणत्व, वर्तना हेतुत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं। [४] यहाँ पर चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व सामान्य गुण भी हैं और विशेष गुण भी हैं। स्वजाति की अपेक्षा सामान्य गुण हैं और विजाति की अपेक्षा वे ही विशेष गुण हैं। [५]

पर्याय की व्युत्पत्ति :-

"परि समन्तादायः पर्यायः।" [६] चारों ओर से आना पर्याय है।

"परिभेदमेति गच्छतीति पर्याय।" [७] भेद को जो प्राप्त होती है, वह पर्याय है।

"स्वभाव विभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्यायः" [८]

स्वभाव विभावरूप से जो प्राप्त होती है, परिणमती है, वह पर्याय है।

"पर्येति उत्पादमुत्पत्तिं विपत्तिं च प्राप्नोतीति पर्यायः" [९]

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ.५, सू.३८

२. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा.५

३. आचार्य अमृतचन्द्र, प्रवचनसार - तत्त्व प्रदीपिका, गा.सं. ९५

४. वहीं पर, गा. ९५

५. चेदणमचेदणा तह मुत्तममुत्तावि चरिम जे भणिया। सामण्ण सजाईणं ते वि विसेसा विजाईणं ॥१६॥
माइल्ल धवलः द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गा.सं. १६

६. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. १, सूत्र २९, वा. ४

७. धवला पु. १, पृ.सं. ८४

८. आलाप पद्धति सू. १०५, सोलापुर प्रकाशन, पृ. ७२

९. उ.यशोविजयकृत नय प्रदीप, पृ. ९९, भावनगर, वि.सं. १९६५

उत्पाद और विनाश को प्राप्त होती हैं, वे पर्याय हैं। इस प्रकार बहुत प्रकार से पर्याय की उत्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं, उन सबके अर्थ में भेद नहीं है।

पर्याय का लक्षण और स्वरूप :-

एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना पर्याय कहा जाता है। व्यतिरेकी और क्रमभावी, यह पर्याय का लक्षण है। [१] पूर्व पर्याय से उत्तर पर्याय अन्य है, इसलिए पर्याय व्यतिरेकी कही जाती हैं। एक समय में एक ही पर्याय उत्पन्न होती है। उसके नष्ट होने पर अन्य पर्याय उत्पन्न होती है। इस प्रकार सब पर्यायें क्रम से उत्पन्न होती हैं, इसलिए पर्यायें क्रमभावी कहीं जाती हैं। उत्पाद विनाश यह पर्याय का लक्षण है। [२] पर्यायें प्रति समय उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। इसलिए एक समय मात्र परिमाणवाली क्षणक्षयी होती हैं। पर्यायें आयत विशेषात्मक होती हैं। द्रव्यों से भी और गुणों से भी रचित होने से, द्रव्यात्मक भी होती हैं और गुणात्मक भी होती हैं। [३]

पर्यायों के भेद :-

पर्यायें दो प्रकार की है, १) द्रव्य पर्याय, २) गुण पर्याय। उसी प्रकार अर्थ और व्यंजन पर्याय रूप से भी पर्यायें दो प्रकार की कही गई हैं। पुनः प्रत्येक पर्याय-स्वभाव, विभावरूप से दो प्रकार की हैं, वह इस प्रकार हैं :-

स्वभाव द्रव्य पर्याय :-

जीव की सिद्ध पर्याय, स्वभाव द्रव्य पर्याय है। पुद्गल का शुद्ध परमाणु रूप से अवस्थान, स्वभाव द्रव्य पर्याय है। [४] परमात्मा की प्राप्ति रूप स्वभाव द्रव्य पर्याय कही जाती है। जो लोक में द्रव्यों के स्व स्वभाव में स्थित प्रदेश हैं, वे ही स्वभाव द्रव्य पर्याय जाननी चाहिए। [५]

---

१. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गा. १०३

२. तत्त्वार्थ भाष्यवृत्ति, अ. ५, सू. ३०, वि.सं. १९८२

३. प्रवचनसार, तत्त्व प्रदीपिका, गा.सं. ९३

४. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. ५

५. दव्वाणं खु पएसा जे जे ससहावसंढिया लोए। ते ते पुण पज्जाया जाण तुमं दविणसब्भावं ॥
द्रव्य स्वभाव प्रकाशक, नयचक्र गा.सं. २०

विभाव द्रव्य पर्याय :-

अनेक द्रव्यात्मक एक यान के समान, अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति के कारणभूत द्रव्य पर्यायें हैं। वे द्रव्य पर्यायें दो प्रकार की है। समानजातीय और असमानजातीय।

समान जातीय विभाव द्रव्य पर्याय :-

दो, तीन अथवा चार इत्यादि परमाणु पुद्गल द्रव्य मिलकर स्कंध होते हैं। इस प्रकार अचेतन का दूसरे अचेतन के सम्बन्ध से समानजातीय द्रव्यपर्याय कही जाती है।

असमानजातीय विभाव द्रव्यपर्याय :-

भवान्तर को प्राप्त जीव के शरीर नोकर्म पुद्गल के साथ मनुष्य, देव आदि पर्यायों की उत्पत्ति होती है, वह चेतन का अचेतन पुद्गल द्रव्य के साथ मिलाप होने से असमानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है। ये समानजातीय और असमानजातीय द्रव्य पर्यायें जीव और पुद्गल में ही होती हैं और अशुद्ध ही होती हैं, क्योंकि अनेक द्रव्यों के परस्पर संश्लेष रूप से सम्बन्ध होने से धर्म आदि अन्य द्रव्यों की परस्पर संश्लेष सम्बन्ध रूप से पर्याय घटित नहीं होती। परद्रव्य के सम्बन्ध से अशुद्ध पर्याय भी घटित नहीं होती।[१]

सम्पूर्ण पर्याय के आलोचन से यह कह सकते हैं कि स्वभाव द्रव्य पर्याय सभी द्रव्यों में होती हैं। विभाव द्रव्य पर्याय जीव और पुद्गल में ही होती हैं।

गुण पर्याय :-

गुण के द्वारा अन्वय रूप से एकत्व प्रतिपत्ति का जो कारणभूत है वह गुण पर्याय है।[२] स्वभाव-विभाव भेद से यह दो प्रकार की है।

१. स्वभाव गुणपर्याय :-

"अगुरूलघुक गुण षड्ढानिवृद्धिरूपाः सर्वद्रव्यसाधारणाः स्वभावगुणपर्यायाः।"[३]

अगुरूलघुगुण की षट्हानिवृद्धिरूप से सर्व द्रव्यों में साधारण स्वभाव गुणपर्याय है। समस्त द्रव्यों की अपने अपने अगुरूलघुगुण के द्वारा प्रति समय उत्पन्न होनेवाली षट्स्थान पतित वृद्धि हानि के नानात्व की अनुभूति स्वभावगुण पर्याय है।[४] जिस प्रकार जीव के केवलज्ञान आदि। परमाणु में विवक्षित वर्णादिकों से अन्य वर्णादि रूप परिणमन स्वभाव गुणपर्याय है।

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. १६

२. वहीं पर गा.सं. १६

३. वहीं पर गा.सं. १६

४. प्रवचनसार तत्त्व प्रदीपिका, गा.सं. ९३

२. विभाव गुणपर्याय :-

स्व-पर निमित्त से वर्तमान पूर्व और उत्तर अवस्था में अवतीर्ण तारतम्य को दिखाने वाली स्वभाव विशेष के अनेकत्व की प्राप्ति, वह विभाव गुणपर्याय है। [१] जिस प्रकार जीव के मतिज्ञान आदि और पुद्गल के द्वयणुक आदि स्कन्धों का वर्णान्तरादि परिणमन। ये जीव, पुद्गल में ही होती हैं।

अर्थ और व्यंजन रूप से पर्याय दो प्रकार की होती हैं। वह इस प्रकार है -

अर्थ पर्याय :-

अर्थ पर्यायें सूक्ष्म, क्षणक्षयी, उसी प्रकार वाणी के अगोचर, छद्मस्थ का विषय नहीं होती हैं। [२]

व्यंजन पर्याय :-

व्यंजन पर्यायें स्थूल, चिरकाल स्थायी, वाणी के गोचर और छद्मस्थों की दृष्टि का विषय होती हैं। [३] अर्थ और व्यंजन पर्याय भी स्वभाव विभावरूप से दो प्रकार की हैं।

स्वभाव अर्थ पर्याय (शुद्ध अर्थ पर्याय) :-

अगुरूलघु गुण की षट्गुणहानिवृद्धि रूप। [४]

विभाव अर्थ पर्याय (अशुद्ध अर्थ पर्याय) :-

जीव के षट्स्थान गत कषाय की हानि वृद्धि रूप विशुद्धि संक्लेश रूप शुभ-अशुभ लेश्या स्थानों में जाननी चाहिए। [५]

स्वभाव व्यंजन पर्याय :-

जीव की सिद्धरूप। परम औदारिक शरीर आकार रूप से जो आत्मप्रदेशों का अवस्थान रूप है, वह स्वभाव व्यंजन पर्याय है। [६]

---

१. प्रवचनसार तत्त्व प्रदीपिका, गा.सं. ९३
२. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा. सं. १६
३. वहीं पर, गा. सं. १६
४. वहीं पर गा. सं. १६
५. वहीं पर गा.सं. १६
६. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. ८६

विभाव व्यंजन पर्याय :-

जीव की नर, नारक आदि। जब जीव इस शरीर के साथ भेद करके दूसरे भव के शरीर के साथ संघात (मिलाप) करता है, तब वहाँ व्यंजन पर्याय होती है। [१] धर्म, अधर्म, आकाश, काल के मुख्य वृत्ति से एक समयवर्ती अर्थ पर्याय ही होती है। जीव पुद्गलों की अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय होती हैं। [२]

सर्व पर्यायों के भेदों का समालोचन करने से जाना जाता है कि द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय ही अर्थ व्यंजन पर्याय रूप से वर्णित हैं। अर्थ पर्याय की परिभाषा, गुण पर्याय की परिभाषा के समान है। व्यंजन पर्याय का स्वरूप द्रव्य पर्याय के स्वरूप के सदृश है।

जयसेन आचार्य ने भी यही कहा है, वह इस प्रकार है -

"एते चार्थव्यञ्जनपर्यायाः पूर्वं जीवपुद्गलयोः स्वभावविभावद्रव्यपर्यायाः स्वभावविभावगुण पर्यायाश्च ये भणितास्तेषु मध्ये तिष्ठन्ति। अत्र गाथायां च ये द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च भणितास्तेषु च मध्ये तिष्ठन्ति। तर्हि किमर्थं पृथक्कथिता इति चेदेकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यन्ते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भण्यन्ते इति कालकृतभेदज्ञापनार्थम्।"[३]

ये अर्थ व्यंजन पर्यायें पहले जीव पुद्गल में जो स्वभाव विभाव द्रव्य पर्यायें और स्वभाव विभाव गुण पर्यायें कहीं हैं, उनमें रहती है, और इस गाथा में जो द्रव्य पर्यायें और गुण पर्यायें कही हैं, उनमें रहती हैं। तो इनको पृथक् रूप से क्यों कहा गया है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि एक समयवर्ती अर्थ पर्याय कही जाती है, चिरकाल स्थायी व्यंजन पर्याय कही जाती है। इस कालकृत भेद को बताने के लिए अलग कही हैं।

द्रव्य गुण पर्यायों का विवेचन :-

द्रव्य, गुण और पर्याय - तीनों की भी अर्थ संज्ञा आगम में कही है।

"तत्र गुणपर्यायान् इयति गुणपर्यायैर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याश्रयत्वेनेयति द्रव्यैराश्रयभूतैर्यन्त इति वा अर्था गुणा, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थाः पर्यायाः।"[४]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. १३९
२. वहीं पर, गा.सं. १३९
३. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. १६
४. प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, गा.सं. ८७

उनमें गुण पर्यायों को जो प्राप्त होते हैं और गुण पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, वे अर्थ अर्थात् द्रव्य हैं। द्रव्य के आश्रय रूप से प्राप्त होते हैं और आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, वे अर्थ हैं अर्थात् गुण। द्रव्यों को क्रम परिणाम से प्राप्त होती हैं और द्रव्यों के द्वारा क्रम परिणाम से प्राप्त की जाती हैं, वे अर्थ अर्थात् पर्याय हैं।

द्रव्य से गुण और पर्याय सर्वथा भिन्न नहीं हैं और सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं। कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के भेद से भिन्न हैं। प्रदेश रूप से अथवा सत्ता रूप से अभिन्न हैं। दही, दूध आदि पर्याय रहित गो रस के समान, पर्याय रहित द्रव्य नहीं है। गो रस रहित दूध दही आदि पर्याय के समान द्रव्य रहित पर्याय नहीं है। उसी प्रकार द्रव्य के बिना गुण नही हैं और गुणों के बिना द्रव्य नही है। जिस कारण से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से अभेद है, उसी कारण से अभिन्न है। [१]

प्रवचनसार ग्रन्थ में पृथक्त्व और अन्यत्व- इस प्रकार दो प्रकार का भिन्नत्व कहा है। उसमें प्रथम भिन्नप्रदेशपना पृथक्त्व का लक्षण है, वह द्रव्य और गुणों में संभव नहीं है। जिस कारण से जो गुण के प्रदेश हैं, वे ही द्रव्य (गुणी) के प्रदेश हैं, उन दोनों में प्रदेश विभाग नहीं है। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि भेद जिसका स्वभाव है, ऐसा अतद् स्वभाव अन्यत्व का लक्षण है। वह गुण और गुणी में रहता ही है, क्योंकि जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नही है। द्रव्य का गुण रूप से और गुण का द्रव्य रूप से न होना, वह अतद्भाव है, और वह ही अन्यत्व का लक्षण है। गुणों से द्रव्य का एकान्त से भेद मानने पर एक द्रव्य के भी अनन्तपना प्राप्त होता है। अथवा, द्रव्य से यदि गुण अन्य हैं, तब वे द्रव्य का अभाव करते हैं। [२] जयसेन आचार्य ने इस दूषण की सिद्धि तर्कों के द्वारा दृष्टान्तपूर्वक की है। वह इस प्रकार है :-

"गुणा: साश्रया वा निराश्रया वा। साश्रय पक्षे दूषणं दीयते। अनन्तज्ञानादयो गुणास्तावत् क्वचिच्छुद्धात्मद्रव्ये समाश्रिता यत्रात्मद्रव्ये समाश्रितास्तदन्यद् गुणेभ्यश्चेत् पुनरपि क्वचिज्जीवद्रव्यान्तरे समाश्रितास्तदप्यन्यद् । गुणेभ्यश्चेत् पुनरपि क्वचिदात्मद्रव्यान्तरे समाश्रिताः । एवं शुद्धात्मद्रव्यादनन्तज्ञानादिगुणानां भेदे सति भवति शुद्धात्मद्रव्यानन्त्यम् । अथवा गुणगुणिभेदैकान्ते सति विवक्षितावविक्षितैकैकगुणस्य विवक्षितावविक्षितैकैकद्रव्याधारे सति भवति द्रव्यानन्त्यम् | द्रव्यात्सकाशान्निराश्रयभिन्नगुणानां भेदे द्रव्याभाव: कथ्यते । गुणानां समुदायो द्रव्यं भण्यते गुणसमुदायस्वरूपद्रव्याद् गुणानां भेदैकान्ते सति गुण समुदायरूपं द्रव्यं क्वास्ति न क्वापीति।"[३]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. सं. १२-१३

२. प्रवचनसार, गा.सं. १०६-१०८

३. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. ५०

गुण साश्रय अथवा निराश्रय होते हैं। साश्रय पक्ष में दूषण देते हैं। अनन्तज्ञान आदि गुण कहीं शुद्धात्म द्रव्य में समाश्रित हैं, जिस आत्म द्रव्य में समाश्रित हैं, वह गुणों से भिन्न है तो पुनः किसी दूसरे जीव द्रव्य में समाश्रित होंगे। वह भी गुणों से अन्य है तो पुनः किसी अन्य आत्मद्रव्य में समाश्रित होंगे। इस प्रकार शुद्धात्म द्रव्य से अनन्त ज्ञानादि गुणों का भेद होने पर शुद्धात्म द्रव्य को अनन्तपना प्राप्त होता है, अथवा गुण और गुणी में एकान्त से भेद होने पर विवक्षित और अविवक्षित एक एक गुण का विवक्षित और अविवक्षित एक-एक द्रव्य आधार होने पर द्रव्य में अनन्तपना होता है। द्रव्य से निराश्रय भिन्न गुणों का भेद होने पर द्रव्य का अभाव कहा गया है। गुणों का समुदाय ही द्रव्य कहा जाता है। गुणों के समुदाय स्वरूप द्रव्य से गुणों का सर्वथा भेद होने पर गुण समुदाय रूप द्रव्य कहाँ पर है ? कहीं पर भी नहीं। इस प्रकार इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्य और गुणों का सर्वथा भेद नहीं है अभिन्न प्रदेश रूप अनन्यत्व है।

जीव द्रव्य का स्वरूप :-

जो जी रहा है, जिया था और जीयेगा, वह जीव है। जीव का उपयोग लक्षण है। [१] यह जीव चेतयिता, उपयोग, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, स्वदेह परिमाण, अमूर्तिक, कर्म से युक्त, ऊर्ध्वगामी स्वभाव है। [२] इस प्रकार नौ द्वारों से आगम में जीव का विवेचन किया है।

जीव :-

शुद्ध निश्चय से चैतन्य बोध आदि शुद्ध प्राणों से जी रहा है। उसी प्रकार अशुद्ध निश्चय से क्षायोपशमिक, औदयिक भाव प्राणों से जीता है, उसी प्रकार व्यवहार नय से इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास रूप चार द्रव्य प्राणों से यथासंभव जी रहा है, आगे जीयेगा और पहले जीया था, वह जीव है।[३]

चेतयिता :-

शुद्ध निश्चय से शुद्ध ज्ञानचेतना से और अशुद्ध निश्चय से कर्म, कर्मफल रूप अशुद्ध चेतना से युक्त होने से चेतयिता है। [४]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ.२, सू. ८
२. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. २७
३. वहीं पर, गा.सं. २७
४. वहीं पर, गा.सं. २७

उपयोग :-

आत्मा का चैतन्य के अनुसार होनेवाला परिणाम, उपयोग कहा जाता है। वह दो प्रकार का है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। [१] ज्ञान सविकल्प है और दर्शन निर्विकल्प है। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है :- मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान, कुमति, कुश्रुति, विभंग ज्ञानोपयोग। निश्चय से जीव केवलज्ञान, दर्शन रूप शुद्धोपयोग से युक्त होने से उपयोग से विशेषित है। [२]

प्रभु :-

निश्चय से मोक्ष और मोक्ष के कारणभूत शुद्ध परिणमन में समर्थ होने से, उसी प्रकार अशुद्धनय से संसार और संसार का कारणभूत अशुद्ध परिणाम रूप से परिणमन करने में समर्थ होने से प्रभु है। [३]

कर्ता :-

शुद्ध परिणाम की सामर्थ्य से और अशुद्ध परिणाम की सामर्थ्य से कर्तृत्व कहा जाता है। शुद्ध निश्चय से शुद्ध भावों का और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से द्रव्यकर्म और नोकर्म आदि भावों का कर्तृत्व होने से कर्ता है।[४] आत्मा के यदि कर्तृत्व अंगीकार नहीं किया जाता तो उसके भोक्तृत्व भी नहीं होगा। कर्तृत्व और भोक्तृत्व में कोई विरोध नहीं है। अन्य का कर्तृत्व और अन्य का भोक्तृत्व नहीं है। नहीं तो किये हुए का नाश और न किये हुए की प्राप्ति का प्रसंग आयेगा। आत्मा का कर्तृत्व तर्क सिद्ध है। [५]

भोक्ता :-

शुद्ध निश्चय से शुद्धात्मा से उत्पन्न हुए परम आनन्द सुख का, इसी प्रकार अशुद्ध निश्चय से इन्द्रिय जनित सुख दुःखों का और व्यवहार से इष्ट अनिष्ट भोजन पान आदि बहिरंग विषयों का भोक्तृत्व होने से भोक्ता है। [६] यदि अन्य कर्ता है और अन्य भोक्ता है, तब स्वयंकृत कर्म निरर्थक होगा और सभी प्रयत्न निष्फल होंगे। [७]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ. २, सूत्र. ९

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २७

३. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. २७

४. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २७

५. जैन दर्शनसार, पृ.सं. ८

६. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. २७

७. भावना द्वात्रिंशतिका श्लोक सं. २१

स्वदेह परिमाण :-

निश्चय से लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी होने पर भी व्यवहार से शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए छोटे बडे शरीर प्रमाण होने से स्वदेह मात्र है। जिस प्रकार पद्मराग प्रभा का समूह दूध में गिरा हुआ दूध को व्याप्त करता है उसी प्रकार स्वदेह में स्थित जीव भी वर्तमान काल में उस शरीर को व्याप्त करता है। जिस प्रकार विशिष्ट अग्नि के संयोग से दूध के बढ जाने पर पद्मराग प्रभा का समूह बढता है और घट जाने पर घट जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट आहार के वश से देह के बढ जाने पर जीव के प्रदेश विस्तार को प्राप्त होते हैं और घटने पर संकोच को प्राप्त होते हैं। [१]

अमूर्तिक :-

व्यवहार से कर्मों के साथ एकत्व परिणाम होने से मूर्त होने पर भी निश्चय से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का अभाव होने से अमूर्तिक है।[२]

कर्म संयुक्त :-

व्यवहार से अनादिकाल से कर्मबंध सहित होने से कर्म संयुक्त है। [३]

ऊर्ध्वगति स्वभाव :-

वस्तुतः यह आत्मा ऊर्ध्वगति स्वभाववाला है, किन्तु कर्मबंध की पराधीनता से, जहाँ गमन करने के लिए कर्म प्रेरित करता है, वहीं पर जाता है। जब सर्व रूप से कर्मबंधन से मुक्त होता है, तब स्वभाव से अग्निशिखा के समान ऊपर ही जाता है। मरण के अन्त में विदिशाओं को छोड़कर छह प्रकार से अपक्रम लक्षण अणुश्रेणी गति को प्राप्त करता है। [४]

जीव दो प्रकार के हैं, संसारी और मुक्त। जो मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा नाना योनियों में संसरण करते हैं, वे संसारी हैं। संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें पृथिवी, जल, तेजो, वायु और वनस्पति स्थावर हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय त्रस हैं। पंचेन्द्रिय भी समनस्क और अमनस्क के भेद से दो प्रकार के हैं। [५]

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ३३
२. पञ्चास्तिकाय संग्रह समय व्याख्या, गा. २७
३. वहीं पर, गा. २७
४. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ७७
५. तत्त्वार्थसूत्र, अ. २, सू. ११

पुद्गल द्रव्य का स्वरूप :-

पाँच अचेतन द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य एक है। जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाला है, वह पुद्गल है। [१] परमाणु, स्कन्ध के भेद से पुद्गल दो प्रकार का है। जो अविभागी एक प्रदेश मात्र और एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला है, वह परमाणु है। दो अथवा बहुत परमाणुओं से निष्पन्न समानजातीय द्रव्य पर्याय स्कन्ध कही जाती है। स्कंध, स्कंध देश और स्कंध प्रदेश इस प्रकार स्कंध तीन प्रकार का है। घट पट आदि अखंड रूप सम्पूर्ण अनन्त परमाणु पिंड की स्कंध संज्ञा है। स्कंध का अर्धभाग स्कंध देश है, उसका भी अर्धभाग स्कंध प्रदेश है। यही जयसेन आचार्य ने दृष्टान्तपूर्वक कहा है। वह इस प्रकार है :-

"षोडशपरमाणुपिण्डस्य स्कन्धकल्पनाकृता तावदैकैकपरमाणोरपनयेन नवपर-माणुपिण्डे स्थिते ये पूर्व विकल्पागतास्तेऽपि सर्वे स्कन्धा भण्यन्तेऽष्टपरमाणुपिण्डे जाते देशो भवति तत्राप्येकैकापनयेन पञ्चपरमाणु पिण्डपर्यन्तं ये विकल्पागतास्तेषामपि देशसंज्ञा भवति, परमाणुचतुष्टयपिण्डे प्रदेशसंज्ञा भण्यते पुनरप्येकैकापनयेन द्वयणुकस्कन्धे स्थिते ये विकल्पा गतास्तेषामपि प्रदेश-संज्ञा भवति।" [२]

सोलह (१६) परमाणुपिण्ड की स्कन्ध कल्पना की। उनमें एक एक परमाणु के कम करने पर नौ परमाणुओं का पिण्ड स्थित होने पर जो पूर्व विकल्प गये, वे सभी स्कन्ध कहे जाते हैं। आठ परमाणुओं का पिण्ड होने पर देश होता है। उनमें भी एक एक के कम करने से पाँच परमाणु पिण्ड पर्यन्त जो विकल्प गये, उन सभी की देश संज्ञा है। चार परमाणु का पिण्ड होने पर प्रदेश संज्ञा कही जाती है। पुन: एक एक के कम करने से द्वयणुक स्कन्ध होने पर जो विकल्प गये, उनकी भी प्रदेश संज्ञा है। अन्य प्रकार से भी पुद्गल स्कन्ध के छह भेदों का निरूपण किया है, वह इस प्रकार है :-

१. स्थूल स्थूल २. स्थूल ३. स्थूल सूक्ष्म ४. सूक्ष्म स्थूल ५. सूक्ष्म ६. सूक्ष्म-सूक्ष्म

१. स्थूल स्थूल :- जो छेदे जाने पर स्वयं ही जुड़ने के लिए असमर्थ हैं, भूमि, पर्वत आदि।

२. स्थूल :- जो छेदे जाने पर उसी क्षण से जुड़ने में स्वयं ही समर्थ होते हैं, वे स्थूल है, जैसे:- घी, तेल, जल आदि।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ५, सू. २३

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. ८१

३. स्थूल सूक्ष्म :- जो हाथ से ग्रहण करने में और दूसरे देश में ले जाने में अशक्य हैं वे स्थूल सूक्ष्म हैं। जैसे:- छाया, आतप आदि।

४. सूक्ष्म स्थूल :- जो पुन: आँखों के विषय नहीं हैं, वे सूक्ष्म स्थूल हैं जैसे:चक्षु रहित चारों इन्द्रियों के विषय |

५. सूक्ष्मः- पुनः जो इन्द्रिय ज्ञान के विषय नहीं है, ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणा योग्य, वे सूक्ष्म हैं।

६. सूक्ष्म सूक्ष्म :- जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से कर्म वर्गणा से अतीत हैं, वे सूक्ष्म सूक्ष्म हैं। जैसे:- द्वयणुक स्कन्धपर्यन्त। [१]

शब्द पुद्गल की पर्याय है।[२] स्कन्धों के परस्पर संगठित होने पर, भाषा वर्गणा के स्कन्धों से शब्द उत्पन्न होता है। इसलिए शब्द स्कन्ध प्रभव है। वह आकाश द्रव्य रूप नहीं है, अथवा वह आकाश का गुण नहीं है। यदि वह आकाश का गुण होता तो श्रवणेन्द्रिय का विषय नहीं होता, क्योंकि आकाश का गुण अमूर्त है।[३]

परमाणु एक प्रदेशगत निस्नेह भाव से परिणत होकर स्कन्धों का भेत्ता है। वही परमाणु एक प्रदेशगत स्निग्ध भाव से परिणत होकर द्वयणुक आदि स्कन्धों का कर्ता है।

स्कन्धों को भेद करने वाला परमाणु कार्य परमाणु है और स्कन्धों का करने वाला परमाणु, कारण परमाणु है। इस प्रकार कारण कार्य के भेद से परमाणु दो प्रकार का है। परमाणु, शब्द का कारण होकर भी स्वयं अशब्द है। एक भी परमाणु पृथिवी आदि चार धातुरूप से कालान्तर में परिणमन करता है, इसलिए चार धातुओंका कारण है।

पुद्गल द्रव्य, अणु और स्कंध, इस प्रकार दो भागों में विभक्त है। अणु पुद्गल का शुद्ध रूप है। स्कंध, दो आदि अनेक परमाणुओं की बंध रूप पर्याय है। पुद्गल की अणु और स्कन्ध भेदों के अवान्तर जातियां तेईस हैं। स्कन्ध रूप पुद्गल की विविध अवस्थाएँ होती हैं। जैसे :- शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत, स्थूल। ये दश पुद्गल स्कन्ध की अवस्थाऐं हैं।

रसायन शास्त्र में रासायनिक बंध माना गया है। भौतिक विज्ञान में इलेक्ट्रॉनिक बंध स्वीकार किया है। व्यावहारिक जीवन में एक धातु का दूसरी धातु के साथ बंध होता है। जैसे

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. ८३

२. द्रव्यसंग्रह, गा. १६

३. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ८६

स्वर्णकार सोने और चांदी के मिलाप से आभूषण अथवा पात्र बनाता है। चेतन का चेतन के साथ भाव बंध कहा गया है। बंध तीन प्रकार का कहा गया है। द्रव्य बंध, भाव बंध, उभय बंध। इनका वर्णन आगे करेंगे।

धर्म द्रव्य का स्वरूप :-

धर्म द्रव्य अरूपी द्रव्यों में एक है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द रहित, लोक व्याप्त, परस्पर प्रदेश के व्यवधान से रहित होने से निरन्तर, स्वभाव से विस्तीर्ण, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी, प्रतिसमय होनेवाली षट्स्थानपतित वृद्धि हानिरूप अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों से परिणत है, तथापि द्रव्यार्थिक नय से नित्य गति क्रिया युक्त जीव पुद्गलों का कारणभूत है। [१]

मछलियों को जल के समान, गति परिणत जीव पुद्गलों को धर्मद्रव्य गमन में सहकारी है। नहीं गमन करनेवालों को नहीं ले जाता। [२]

निष्क्रिय, अमूर्त, निष्प्रेरक होने पर भी, धर्मास्तिकाय अपने उपादान कारण से गमन करने वाले जीव पुद्गलों की गति का सहकारी कारण है। [३]

धर्मद्रव्य गति का उदासीन निमित्त है। परन्तु उपादान कारण स्वयं जीव और पुद्गल हैं। धर्मद्रव्य गति के उदासीन निमित्तपने का जयसेन आचार्य ने चार दृष्टान्तों से समर्थन किया है, वह इस प्रकार है :-

१. जिस प्रकार सिद्ध भगवान उदासीन होने पर भी सिद्ध गुणों में अनुराग से परिणत भव्यों की सिद्धगति का सहकारी कारण हैं, उसी प्रकार धर्म द्रव्य भी स्वभाव से ही गति परिणत जीव पुद्गलों का उदासीन कारण होने पर भी गति का सहकारी कारण है। [४]

---

१. धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोकागाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादिय पदेसं ॥९०॥
अगुरूलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरिया जुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥९१॥
पञ्चास्तिकायसंग्रह, गा. ९०,९१

२. द्रव्यसंग्रह, गा. १७

३. बृहद् द्रव्यसंग्रह, वृत्ति, गा. १७

४. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ९१

२. जिस प्रकार स्वयं गमन न करनेवाला जल, मछलियों को प्रेरित नहीं करता हुआ भी, स्वयं गमन करने वाले उनकी गति का सहकारी कारण है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य भी स्वयं गमन न करता हुआ, दूसरों को प्रेरित नहीं करता हुआ, स्वयं ही गति रूप से परिणत जीव पुद्गलों की गति का सहकारी कारण है।

३. जिस प्रकार रागादि द्वेष रहित, शुद्धात्मानुभूति सहित निश्चय धर्म, यद्यपि भव्य जीवों को सिद्ध गति का उपादान कारण, उसी प्रकार निदान रहित परिणामों से उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम संहनन आदि विशिष्ट पुण्य रूप धर्म भी सहकारी कारण है, उसी प्रकार .....।

४. जिस प्रकार चार गति के गमन के काल में यद्यपि अभ्यंतर शुभ परिणाम उपादान कारण हैं, तथापि द्रव्यलिंग आदि बहिरंग शुभ अनुष्ठान बहिरंग सहकारी कारण है, उसी प्रकार .....।

जिस प्रकार घोडा स्वयं गमन करता हुआ अपने पर सवारी करने वाले का गमन का कारण है , उस प्रकार धर्मास्तिकाय नहीं। यदि धर्म और अधर्म, गति और स्थिति के मुख्य कारण होते तब गति और स्थिति काल में परस्पर मत्सर होता। जिनकी गति है, उनकी सर्वदा गति ही होती, स्थिति नहीं होती, और जिनकी पुनः स्थिति है, उनकी सर्वदा स्थिति ही होती, गति नहीं। उस प्रकार तो दिखायी नहीं देता। परन्तु जो गति करते हैं, वे ही पुनः स्थिति करते हैं। जो स्थिति करते हैं, वे ही पुनः गति करते हैं। इसलिए जाना जाता है कि वे धर्म और अधर्म गति और स्थिति का मुख्य कारण नहीं है ।[१]

'स्वयं क्रिया परिणामी जीव पुदगलों के, जिस कारण से, सचिवपने को धारण करता है, उस कारण से धर्म ऐसा कहा जाता है।[२]

गति परिणत सर्व जीव पुद्गलों के एक साथ गति का कारण धर्म द्रव्य का ही वैशिष्ट्य है। यह अन्य द्रव्य में संभव नहीं है, वही जयसेन आचार्य ने कहा है :-

"गतिपरिणतसर्वजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं गमनहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्य-द्रव्याणामसंभवत्सद् धर्मद्रव्यं निश्चिनोति।" [३]

१.पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ९६

२. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ. ५, सू. १९

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. १४३, १४४

गति से परिणत सर्व जीव पुद्गलों का एक समय में साधारण गमन हेतुत्व विशेष गुणपना होने से, अन्य द्रव्यों में असंभव, धर्म द्रव्य को निश्चित करता है। एक साथ सम्पूर्ण गति परिणामी के सान्निध्य को धारण करने से धर्म है, ऐसा तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में कहा है।[१]

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी ईथर रूप से धर्म द्रव्य की सिद्धि की है। उनके मत में तेजोवाही ईथर सम्पूर्ण जगत में व्याप्त रहता है, और यह विद्युत चुम्बकीय तरंगों की गति का माध्यम है।

प्रोफेसर एडिंग्टन महोदय ने "Nature of Physical World" नामक पुस्तक में लिखा है कि ईथर कोई Matter (प्रकृति) नहीं है। प्रकृति से भिन्न होने से उसके गुण भी विशिष्ट होने चाहिए। प्रोफेसर मैक्सवान महाभाग ने भी "Restless Universe" नामक पुस्तक में पृष्ठ ११५ में लिखा है कि "माईकेल्सन" प्रयोग के माध्यम से और सापेक्षवाद सिद्धान्त से यह स्पष्ट जाना जाता है कि ईथर साधारण पार्थिव वस्तुओं से भिन्न पदार्थ होना चाहिए।[२]

अधर्म द्रव्य का स्वरूप :-

धर्म द्रव्य के समान अधर्म द्रव्य भी अमूर्तिक, लोक व्यापक, लोकाकाश प्रमित असंख्यात प्रदेशी, स्वभाव से विस्तीर्ण है, परन्तु यह विशेष है कि यह स्थिति क्रिया युक्त जीव पुद्गलों का सहकारी कारण है। जिस प्रकार पृथिवी स्वयं पहले स्थित रहती हुई, दूसरों को स्थिर करती हुई घोडा इत्यादिकों की स्थिति का बहिरंग सहकारी कारण है, उसी प्रकार जीव पुद्गलों को स्थिर न करते हुए, स्वयं पूर्व स्थिर रहता हुआ उनकी स्थिति का कारण है। जिस प्रकार पथिकों को छाया, स्थिति का कारण है।

स्थिति परिणत सम्पूर्ण जीव पुद्गलों के एक साथ स्थिति का सहकारी कारणपना अधर्म द्रव्य का वैशिष्ट्य है। यह किसी अन्य द्रव्य में सामर्थ्य नहीं है। वही प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है। "स्थिति परिणत सब जीव पुद्गलों का एक समय में साधारण स्थिति हेतुत्व विशेष गुणपना होने से अन्य द्रव्यों में असंभव होता हुआ अधर्म द्रव्य का निश्चय करता है।"[३]

विशेष गुण प्रत्येक द्रव्य में पृथक् पृथक् प्राप्त होते हैं। विशेष गुण द्वारा ही अन्य द्रव्यों से विवक्षित द्रव्य का भिन्नत्व निश्चित किया जाता है। इसी कारण से अधर्म द्रव्य का स्थितिहेतुत्व लक्षण अन्य द्रव्यों में प्राप्त नहीं होता। अतः अधर्म द्रव्य का भिन्न द्रव्यपना स्वयं ही सिद्ध होता है।

---

१. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक अ.५, सू. १

२. तत्त्वार्थसूत्र अनुवादक, पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पृ.सं. १३९ द्वितीय संस्करण, १९९१

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १४३, १४९

आकाश द्रव्य का स्वरूप :-

निरुक्ति - *"आकाशन्ते (प्रकाशन्ते) अस्मिन् द्रव्याणि स्वयं चाकाशते इत्याकाशम् । सर्वेषां द्रव्याणाम् अवकाशदानादाकाशम्"* [१] । इसमें द्रव्य प्रकाशित होते हैं और जो स्वयं प्रकाशित होता है, उसे आकाश कहते हैं। सभी द्रव्यों को अवकाश देने से आकाश है।

"आकाशन्ते दीप्यन्ते स्वधर्मोपेता आत्मादयो यत्र तदाकाशम्। "[२]

जिसमें अपने धर्मों से युक्त आत्मा आदिक प्रकाशित होते हैं, वह आकाश द्रव्य है।

"जीवादीनां सकलद्रव्याणां यदवकाशदाने क्षमं तद् द्रव्यमाकाशम्।" जीवादि सभी द्रव्यों को जो अवकाश देने में समर्थ है, वह आकाश द्रव्य है। आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेशी, सर्वगत, अवगाहन लक्षण वाला है। [३]

अवगाहन क्रिया से युक्त जीवादि सभी द्रव्यों की अवगाहन क्रिया का जो साधनभूत है, वह आकाश द्रव्य है। [४] आकाश द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहित, अमूर्तिक, व्यापक और निष्क्रिय है। सभी द्रव्यों को साधारण अवगाहन हेतुत्व विशेष गुण होने से, अन्य द्रव्यों में असंभव होता हुआ आकाश का निश्चय करता है। [५]

आकाश, लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार का कहा है। वास्तव में तो वह एक है, उपाधि के भेद से, दो भेद को प्राप्त होता है। जितने आकाश में धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव हैं, वह लोक है, वही कहा है :-

"लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक:" इति । लोकाकाशात्परतो बहिर्भागे पुनरनन्ताकाशमलोक इति ।" [६] जहाँ जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक है। लोकाकाश से बाह्य भाग में अनन्त आकाश अलोक है।

लोक असंख्यात प्रदेशी है, इस लोक में अनन्तानन्त जीव, उनसे अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण कालाणु, धर्म, अधर्म इस प्रकार सभी कैसे अवकाश को प्राप्त होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर जयसेन आचार्य ने चार दृष्टान्तों से उसका समाधान किया है, वह इस प्रकार है:-

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ. ५, सू. १ वार्तिक

२. दशवैकालिक वृत्ति, हरिभद्रसूरि, १-११८, सन् १९१८

३. "णवरि आगासदव्वमणंतपदेसियं सव्वगयं ओगाहणलक्खणं", धवला पु. ३, पृ.सं.३

४. गोम्मटसार जीवकाण्ड - जीव प्रबोधिनी टीका, गा. ६०५

५. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १५३-१५४

६. द्रव्यसंग्रह, गा. २०

"एकापवरके अनेकप्रदीपप्रकाशवदेकगूढनागरसगद्याणके बहुसुवर्णवदेकस्मिन्नुष्ट्री-क्षीरघटे मधुघटवदेकस्मिन् भूमिगृहे जयघण्टादिशब्दवद्विशिष्टावगाहगुणेनासंख्येयप्रदेशेऽपि लोकेऽनन्तसंख्या अपि जीवादयोऽवकाशं लभन्ते इति "।[1]

एक कमरे में अनेक प्रदीपों के प्रकाश के समान एक गुड, नागरस में बहुत स्वर्ण के समान, एक ऊँटनी के दूध से भरे हुए घट में मधु घट के समान, एक भूमिगृह में जयघंटा आदि शब्दों के समान विशिष्ट अवगाहन गुण के द्वारा असंख्यात प्रदेशी भी लोक में अनन्त संख्या युक्त जीवादि अवकाश को प्राप्त होते हैं।

आकाश जैसे जीवादिकों को अवकाश देता है, वैसे गति और स्थिति भी देता है ऐसा मानते है, तो दोष का प्रसंग आता है। वह इस प्रकार है:-

१) स्वाभाविक ऊर्ध्वगति वाले सिद्ध हैं, वे लोकाग्र में कैसे स्थित रहते हैं। लोक के बाह्यभाग में भी आकाश स्थित है, वहाँ क्यों नहीं जाते ? सिद्धों का लोकाग्र में अवस्थान जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, उसी से जाना जाता है कि आकाश में गति स्थिति का कारणपना नहीं है।

२) यदि आकाश गति स्थिति का कारण है, तब उस आकाश के बाह्यभाग में भी सद्भाव होने से वहाँ पर भी जीव पुद्गलों का गमन होगा। उससे अलोक की हानि होती है, लोक के अन्त की वृद्धि होती है। वैसा नहीं है। उस कारण से जाना जाता है कि आकाश गति और स्थिति का कारण नहीं है। परन्तु धर्म अधर्म ही गति और स्थिति के कारण हैं, ऐसा अभिप्राय है। [2]

काल द्रव्य का स्वरूप :-

पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्शों से रहित, अमूर्त, षट् हानि वृद्धि रूप अगुरुलघु गुण से सहित, वर्तना लक्षण युक्त काल द्रव्य है। निश्चय से स्वयं ही परिणाम को प्राप्त होने वाले सर्व द्रव्यों के परिणमन में बाह्य निमित्तपना प्राप्त होने से वर्तना लक्षणवाला काल द्रव्य है।[3] सर्व द्रव्यों की साधारण परिणति का सहकारी कारणपना काल का ही गुण है। वही प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति में कहा है :-

---

१. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा. ९०

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. ९२, ९३, ९४

३. वहीं पर, गा. २४

"सर्वद्रव्याणां युगपत्पर्यायपरिणतिहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सत् कालद्रव्यं निश्चिनोति।" [१]

सब द्रव्यों की एक साथ पर्याय की परिणति में कारणपना विशेष गुणपना होनेसे अनेक द्रव्यों में असंभव होता हुआ काल द्रव्य का निश्चय करता है।

पाँच द्रव्यों सम्बन्धी पूर्वापर पर्याय संतान रूप जो ऊर्ध्वता प्रचय है, उसका अपना-अपना द्रव्य ही उपादान कारण है। काल तो प्रत्येक समय में सहकारी कारण है।

काल का समय संतान रूप ऊर्ध्वता प्रचय, उसका काल ही उपादान कारण और सहकारी कारण है।[२]

कालाणु अप्रदेशी है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा से एक प्रदेशपना है। जिस कारण से पुद्गल परमाणु के एक प्रदेश गमन पर्यन्त सहकारीपना करता है अधिक नहीं, उसी कारण से जाना जाता है कि वह भी एक प्रदेशी है। [३] अत: कालाणु का अस्तित्व है, परन्तु कायपना नहीं है। पाँच ही अस्तिकाय हैं। लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु रत्नों की राशि के समान स्थित है। इसलिए लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण असंख्यात द्रव्य हैं। [४]

काल द्रव्य दो प्रकार का है। निश्चय काल और व्यवहार काल। अनादिनिधन समय आदि कल्पना के भेद से रहित कालाणु द्रव्यरूप से व्यवस्थित, वर्णादि मूर्तिक रहित निश्चय काल है। उसकी पर्याय भूत सादि निधन समय, निमिष, घटिका आदि विवक्षित कल्पना भेदरूप व्यवहार काल है। [५]

समयरूप व्यवहार काल क्षणभंगुर है। द्रव्यकाल नित्य है। व्यवहार काल, निश्चय काल की पर्याय होने पर भी जीव पुद्गल की नवजीर्ण परिणति से व्यक्त रूप होने से कथञ्चित् पराधीन है।

समय :- मन्दगति परिणत पुद्गल परमाणु के निमित्तभूत से प्रकट किया जाने वाला समय है।
निमिष :- नेत्र की पलक के झपकने से प्रकट होने वाला असंख्यात समयों का निमिष होता है।

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १४३, १४४
२. वहीं पर, गा. १५२
३. वहीं पर, गा. १४९
४. द्रव्यसंग्रह, गा. २२
५. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १०१

काष्ठा :- पंद्रह निमिष की एक काष्ठा होती है।
कला :- तीस काष्ठा की एक कला होती है।
घटिका :- जलपात्र आदि के द्वारा प्रकट की जानेवाली साधिक बीस कलाओं की घटिका होती है।

दो घटिकाओं का मुहूर्त है। तीस मुहूर्त का रात दिन। तीस दिवसों का मास होता है। दो मास की एक ऋतु। तीन ऋतुओं का एक अयन। दो अयन का एक वर्ष। इस प्रकार व्यवहार काल पराधीन कहा जाता है। [१] पुद्गल द्रव्य के परिणाम से व्यक्त होने के कारण व्यवहार से 'पुद्गल परिणाम भव' ऐसा कहा जाता है। परन्तु परमार्थ से कालाणु द्रव्य रूप निश्चय काल की पर्याय है। कर्म, भव, काय, आयु, स्थिति, इसके द्वारा गिने जाते हैं। यह काल शब्द की व्युत्पत्ति है - [२] कल्यते, क्षिप्यते प्रेर्यते येन क्रियावद् द्रव्यं स काल:। [३] जिसके द्वारा क्रियावान् द्रव्य प्रेरित किया जाता हैं, फेंका जाता है, वह काल द्रव्य है।

कोई समय आदि व्यवहार काल को ही परमार्थ रूप से स्वीकार करते हैं। उससे अन्य कालाणु द्रव्यरूप निश्चय काल नहीं मानते हैं, उनके मत का निराकरण करके विविध युक्तियों से काल द्रव्य की सिद्धि की गई है। जयसेन आचार्य की तात्पर्यवृत्ति में आई हुई युक्तियाँ निम्नलिखित हैं। वह इस प्रकार है :-

१) समय पर्याय है, द्रव्य नहीं है, क्योंकि पर्याय उत्पन्न ध्वंसी होती है। "समओ उप्पण्णपद्धंसीति" वचनात्। ऐसा वचन होने से। परन्तु पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती और द्रव्य निश्चय से अविनाशी है। वह काल पर्याय का उपादान कारणभूत कालाणु रूप काल द्रव्य ही है। पुद्गल आदि नहीं, क्योंकि कार्य, उपादान कारण के सदृश होता है।

२) परमार्थ काल का वाचकभूत काल शब्द ही अपने वाच्यभूत परमार्थ काल के स्वरूप को सिद्ध करता है। जैसे सिंह शब्द सिंह पदार्थ को सिद्ध करता है। [४]

३) काल पदार्थ का उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक अस्तित्व है, और वह अस्तित्व प्रदेश के बिना घटित नहीं होता।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २५
२. धवला पु. ४, पृ. ३१७-३१८
३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. ४, सू. १४, वा. ४
४. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २६

जो प्रदेशवान है, वह काल पदार्थ है। काल द्रव्य के अभाव में वर्तमान समय का उत्पाद, भूत समय का विनाश और उन दोनों का आधारभूत द्रव्य किसका होगा ? किसी का भी नहीं। अन्य का नाश, अन्य का उत्पाद और अन्य का धौव्य मानना पडेगा। इस प्रकार सर्व वस्तु स्वरूप का नाश होता है। इसलिए वस्तु के विप्लव के भय से उत्पाद व्यय धौव्यों का कोई एक आधारभूत है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए और वह एक प्रदेश रूप कालाणु पदार्थ ही है।[१]

तत्त्व पदार्थ प्ररूपणा

तत्त्व परिज्ञान की आवश्यकता :-

इस सम्पूर्ण संसार में संसरण करने वाले जीव सुख की इच्छा करते हैं और दुःख से डरते हैं और वे प्राणी सुख की प्राप्ति के लिए रात दिन बहुत प्रयत्न करते हैं परन्तु उनको सुख की प्राप्ति नहीं होती। उसमें क्या कारण है ? यहाँ पर यही कारण जाना जाता है कि वे सुख की प्राप्ति के लिए जिस मार्ग का आश्रय करते हैं, वह मिथ्यामार्ग है। विरूद्ध दिशा में गमन करने से अभिप्रेत स्थान की प्राप्ति कैसे होगी ? सच्चे मार्ग पर गमन करने से ही इच्छित स्थान की प्राप्ति होती है । सुख प्राप्ति का सम्यक् मार्ग तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में ही कहा है । "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः इति।"[२] सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्ष का अर्थात् सुख का साक्षात् मार्ग हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र सभी जीवों के विद्यमान है परन्तु जब वे स्वसन्मुख होते हैं, तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र कहे जाते हैं और जब पर विषयक होते हैं, तब मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र कहे जाते हैं।

उस रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन सार है, मोक्ष महल की प्रथम सीढी है, उसे भाव से धारण करना चाहिए।[३] सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नियम से नहीं होते।[४] यह सम्यग्दर्शन सुख का कारण, मोक्ष वृक्ष का बीज और सम्पूर्ण दोष रहित है। सम्यग्दर्शन के

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १५५

२. तत्त्वार्थसूत्र, अ. १, सू. १

३. एवं जिणपण्णतं दंसण रयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ दर्शनपाहुड गा. २१

४. सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्रं ण होइ णियमेण।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणक्किट्ठमिदि जिणुदिट्ठं ॥ रयणसार गा. ४७

बिना ग्यारह अंग का श्रुतज्ञान भी मिथ्याज्ञान है और महाव्रतों का धारण भी मिथ्याचारित्र है। [१] जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती। [२]

सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ श्रद्धान से प्राप्त होता है। वही कहा है "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।"[३] पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। "सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं।"[४] "तच्चरुई सम्मत्तं इति।" तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है। पञ्चास्तिकायसंग्रह की तात्पर्यवृत्ति में जयसेन आचार्य ने स्पष्ट किया है, वह इस प्रकार है :-

"मिथ्यात्वोदयजनितविपरीताभिनिवेशरहितं श्रद्धानं केषां सम्बन्धि ? पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यविकल्परूपं जीवाजीवद्रव्यं जीवपुद्गलसंयोग परिणामोत्पन्नास्रवा-दिपदार्थ सप्तकं चेत्युक्त लक्षणानां जीवादिनवपदार्थानाम्। इदं तु नवपदार्थ विषयभूतं व्यवहार सम्यक्त्वम्।"[५]

मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान किस सम्बन्धी होता है ? पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्यों के भेदरूप जीव अजीव द्रव्य, जीव पुद्गल के संयोग से उत्पन्न आस्रव आदि सात पदार्थ, इस प्रकार उक्त लक्षण वाले जीव आदि नव पदार्थ सम्बन्धी होता है। यह नौ पदार्थ का विषयभूत श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है।

इसलिए सात तत्त्व, नौ पदार्थ के परिज्ञान के बिना उस सम्बन्धी श्रद्धान उत्पन्न नहीं होता। अतः सम्यग्दर्शन को आत्मसात् करने के लिए नौ तत्त्वार्थों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। उसी प्रकार हेय उपादेय के ज्ञान के लिए भी नौ तत्त्वार्थों के परिज्ञान की महती आवश्यकता है।

---

१. जयति सुखनिधानं मोक्षवृक्षैकबीजं सकलमलविमुक्तं दर्शनं यद्विना स्यात्।
मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्रं भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव॥
पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका अ. १, श्लोक ७७

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ३२

३. तत्त्वार्थसूत्र, अ. १, सू. २

४. पञ्चास्तिकायसंग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. ११५

५. वहीं पर, गा. ११५

तत्त्वार्थ शब्द का अर्थ :- (तत् + त्व) = तत्त्वम्

तत्त्व शब्द भाव सामान्यवाची है। तद् यह सर्वनाम पद है। सर्वनाम सामान्य में प्रवृत्त होता है। उस तद् का भाव तत्त्व है। उसका किसका ? जो पदार्थ जैसा अवस्थित है, वैसा उसका होना ऐसा अर्थ है।[१] तत्त्व, परम अर्थ, द्रव्य, स्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध, परम इस प्रकार एकार्थवाचक शब्द हैं। वही कहा है :-

तच्चं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं।
धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा॥ [२]

तत्त्वार्थ शब्द का अर्थ :- तत्त्व + अर्थ = तत्त्वार्थ। जिस भाव से पदार्थ अवस्थित है, उस भाव से पदार्थ का ग्रहण तत्त्वार्थ है।[३] अथवा भाव के द्वारा भाववान् का ज्ञान होता है क्योंकि वह अभिन्न है। इसलिए तत्त्व ही अर्थ है, उसे तत्त्वार्थ कहते हैं।[४]

पदार्थ शब्द का अर्थ:- पद्यते अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है, वह पद है। अर्थ अर्थात् अभिधेय। पद का अर्थ पदार्थ है।[५] सुबन्त और तिङ्गन्त को पद कहते हैं।[६] परस्पर सापेक्ष वर्णों का निरपेक्ष समुदाय पद है। [७]

तत्त्व और पदार्थ का संख्या निर्देश (भेद निर्देश) :-

तत्त्व सात होते हैं। वे इस प्रकार हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। [८] उनमें सामान्य से दो ही तत्त्व हैं। जीव और अजीव। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, उन दोनों के ही विशेष अर्थात् पर्याय हैं। उनमें चैतन्य भावरूप जीव के विशेष हैं और चेतन के अभावरूप अजीव के विशेष हैं। इसी प्रकार श्लोकवार्तिक में कहा है, वह इस प्रकार है: -

---

१. सर्वार्थसिद्धि, अ. १, सू. २
२. नयचक्र, गा. ४
३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. १, सू. २/६
४. सर्वार्थसिद्धि अ. १, सू. २
५. न्यायविनिश्चय टीका - १/७/१४०,
६. जैनेन्द्र व्याकरण - १/२/१०३
७. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ७३७
८. "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।" तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सू. ४

"जीवाजीवौ हि धर्मिणौ तद्धर्मास्त्वास्रवादयः ।
इति धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तविधमुक्तम् ॥"[१]

जीव और अजीव धर्मी हैं। आस्रव आदि उनके धर्म हैं। इस प्रकार धर्मी धर्मात्मक सात प्रकार के तत्त्व कहे हैं। उपर्युक्त जीव आदि सात तत्त्व ही पुण्य पाप सहित नौ पदार्थ हैं। [२] उनमें भी जीव अजीव मूल पदार्थ हैं। पुण्य आदि सात पदार्थ, जीव और पुद्गल के संयोग और वियोग रूप परिणाम से बने हैं। [३] आस्रव बंध पुण्य पाप पदार्थ जीव पुद्गल के संयोग परिणाम रूप विभाव पर्याय से उत्पन्न होते हैं। संवर, निर्जरा, मोक्ष पदार्थ पुनः जीव पुद्गल के संयोग रूप परिणाम के नाश से उत्पन्न होने से विवक्षित स्वभाव पर्याय रूप से उत्पन्न होते हैं। [४] ये नौ पदार्थ ही नौ तत्त्व कहे जाते हैं। समयसार परमागम में अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा है :-

"अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि ..... जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवर-निर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना ..... ।" [५]

ये जीवादि नौ तत्त्व ..... जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष लक्षण वाले हैं। उन नौ तत्त्वों में एकत्व को प्रकाशित करनेवाले शुद्धनय से ..... ।

सप्त तत्त्व और नौ पदार्थों का प्रयोजन :-

जीव अजीव ही मूल पदार्थ हैं, शेष तो उनकी पर्याय हैं। अतः जीव अजीव के द्वारा ही प्रयोजन पूरा होता है। शेष पाँच तत्त्वों का, सात पदार्थों का ग्रहण निष्प्रयोजन है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सब जीव सुख की इच्छा करते हैं और सुख मोक्ष में है। अतः मोक्ष अवश्य कहने योग्य है और वह संसार पूर्वक होता है, क्योंकि संसार मोक्ष का प्रतिपक्षी है। प्रतिपक्षी के बिना पक्ष की सिद्धि नहीं होती। संसार का मुख्य कारण आस्रव और बन्ध है, मोक्ष का मुख्य कारण संवर और निर्जरा है। इसलिए प्रधान हेतु और हेतुमान रूप फल को दिखाने के लिए ही भिन्न रूप से उपदेश किया है। [६] पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में जयसेन आचार्य ने नौ पदार्थों के प्रयोजन का वर्णन किया है, वह इस प्रकार है :-

---

१. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, अ. १, सू. ४/१८
२. जीवाइ सत्त तच्चं पण्णत्तं जे जहत्थरूपेण।
   तं चेव णव पयत्था सपुण्णपावा पुणो होंति ॥ द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गा. १५९
३. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १२८-१३०
४. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गा. २८, पूर्वोत्थानिका
५. समयसार आत्मख्याति, गा. १३
६. सर्वार्थसिद्धि, अ. १, सू. ४

"भव्यानां हेयोपादेयतत्त्वदर्शनार्थं तेषां कथनं तदेव कथ्यते। दुःखं हेयतत्त्वं तस्य कारणं संसारकारणमास्रवबन्धपदार्थौ तयोश्च कारणं मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति । सुखमुपादेयतत्त्वं तस्य कारणं मोक्षो, मोक्षस्य कारणं संवरनिर्जरापदार्थद्वयं तयोश्च कारणं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति । एवं पूर्वोक्तं जीवाजीवपदार्थद्वयं पुण्यादिसप्तपदार्थसप्तकं चेत्युभयसमुदायो नवपदार्था युज्यन्ते इति।" [१]

भव्य जीवों को हेय उपादेय तत्त्व दिखाने के लिए उनका कथन है। वही कहा जाता है। दुःख हेय तत्त्व है, उसका कारण अर्थात् संसार का कारण आस्रव बन्ध पदार्थ है और उनका कारण मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र है। सुख उपादेय तत्त्व है। उसका कारण मोक्ष है। मोक्ष का कारण संवर निर्जरा ये दो पदार्थ हैं। उन दोनों का कारण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र है। इस प्रकार पूर्वोक्त जीव अजीव दो पदार्थ, पुण्य आदि सात पदार्थ - इस प्रकार दोनों का समूह नौ पदार्थ हैं।

नौ पदार्थों के परिज्ञान के बिना शुद्धात्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। सर्वथा हेय वस्तु में वाच्यपना सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार अंधकार में अप्रविष्ट के प्रकाश का अनुभव थोडा भी नहीं होता। उसी प्रकार जो नौ पदार्थों को नहीं जानता, वह शुद्धात्मा का अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि शुद्धात्मा नौ तत्वों में ही प्राप्त है। [२]

सप्त तत्त्व और नौ पदार्थों का क्रम निर्देश :-

प्रथम क्रम निर्देश :- विविध शास्त्रों में सप्त तत्त्व नौ पदार्थों का दो प्रकार का क्रम निर्देश देखा जाता है। "जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।"[३]

द्वितीय क्रम निर्देश :- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष।[४]

प्रथम क्रम निर्देश तत्त्वार्थसूत्र आदि आगम ग्रन्थों में दिखाई देता है। दूसरा क्रम समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों में दिखाई देता है। कुन्दकुन्द आचार्य ने स्वरचित सब ग्रन्थों में दूसरा क्रम ही प्रयुक्त किया है। सर्वार्थसिद्धि आदि वृत्ति ग्रन्थों में प्रथम क्रम का हेतुपूर्वक समर्थन किया है। वह इस प्रकार है :-

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १२८-१३० उत्था.

२. पञ्चाध्यायी अ. २, श्लोक १७५-१७६

३. तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सू. ४

४. समयसार गा. १३, पञ्चास्तिकाय संग्रह गा. सं. १०८

सभी फल आत्मा के आधीन होने से पहले जीव का ग्रहण किया है। | उसका उपकार करने वाला होने से उसके अनन्तर अजीव का कथन किया है। उन दोनों विषयक होने से, उसके अनन्तर आस्रव का ग्रहण किया है। आस्रवपूर्वक बंध होने से उसके अनन्तर बंध का कथन किया है। संवृत के बंध का अभाव होने से उसके प्रत्यनीक का ज्ञान कराने के लिए संवर को ग्रहण किया है। संवर होने पर निर्जरा की उत्पत्ति होती है, इसलिए उसके पास निर्जरा को रखा है। अन्त में प्राप्त होने से मोक्ष का अन्त में कथन किया है। [१]

दूसरे क्रम का कारण निर्देश कहीं पर भी शास्त्र में दिखाई नहीं देता है। यहाँ द्वितीय क्रम के कारण विषयक मीमांसा की जाती है :-

परस्पर विरोधी तत्त्वों का समीप में कथन करना कुन्दकुन्द आचार्य को अभिप्रेत है। जीव अजीव मूल पदार्थ हैं, इसलिए उन दोनों का प्रथम ग्रहण किया है। शेष तत्त्व जीव पुद्गल के संयोग और वियोग परिणामों से निर्वृत्त होने से जीव अजीव के ही विशेष हैं। आस्रव में पुण्य और पाप का अन्तर्भाव होता है। तथापि आस्रव से पहले उन दोनों का ग्रहण किया है। उसका कारण यह जाना जाता है कि अज्ञानी जीव अनादि मोह के वश से एक ही कर्म को पुण्य और पाप ऐसे दो भेदरूप से स्वीकार करते हैं। पाप को कुशील और पुण्य को सुशील मानते हैं। उनके अज्ञान को दूर करने के लिए पुण्य और पाप का पहले कथन किया है। उसके अनन्तर आस्रव का कथन किया है। आस्रव का निरोध होने पर संवर होता है। प्रतिपक्ष का ज्ञान कराने के लिए उसके पश्चात् संवर को रखा है। संवर पूर्वक निर्जरा होती है। संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्षमार्ग में उपयुक्त है, अत: उसके अनन्तर निर्जरा का वर्णन है। निर्जरा और मोक्ष का प्रतिपक्षी बन्ध है। इसलिए उन दोनों के बीच में बंध का कथन है। अन्तिम साध्य होने से मोक्ष का अन्त में निरूपण किया है।

जीव तत्त्व:-

संसार और मोक्ष में जीव प्रधान तत्त्व है, वह अनन्त गुणों का स्वामी चैतन्य प्रकाशात्मक अमूर्तिक एक, सत् रूप स्वतन्त्र पदार्थ है। कल्पना का विषय नहीं है। न पंचमहाभूत से उत्पन्न संयोगी पदार्थ है। संसार अवस्था में शरीर में स्थित होने पर भी शरीर से भिन्न है। व्यवहार से लौकिक विषयों का कर्ता और भोक्ता कहे जाने पर भी उनका केवल ज्ञाता ही है। जैन दर्शन में

---

१. सर्वार्थसिद्धि अ.१ सू.४

कोई एक सर्व व्यापक जीव नहीं माना है, वे अनन्तानन्त हैं। उनमें से जो कोई साधना विशेष से कर्मों पर संस्कारों को निर्मूल्य करके सदैव अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है, वह परमात्मा होता है। तब वह विकल्प शून्य होकर केवल ज्ञाता द्रष्टा होता है। जैन दर्शन में वही ईश्वर भगवान है। उससे अलग कोई एक जगत् कर्त्ता ईश्वर स्वीकृत नहीं है।

पहले जीव द्रव्य का स्वरूप विस्तार से कहा है। आगम में जीव शब्द चार प्रकार से प्रयुक्त किया है, जीवास्तिकाय जीवद्रव्य, जीवपदार्थ और जीवतत्त्व। सामान्य से सभी का वाच्यार्थ एक ही प्रतीत होता है। सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर इनमें किञ्चित् अन्तर दिखाई देता है। वह इस प्रकार है :-

बहु प्रदेशों का समूह होने से "अस्तिकाय" ऐसी संज्ञा है। 'द्रवणात्' अर्थात् प्रत्येक समय में परिणमन होने से द्रव्य कहा जाता है। परिच्छेद्यपना (ज्ञेयपना) होने से अर्थ कहा जाता है। वस्तु का स्वरूपपना होने से तत्त्व कहा जाता है।[१] इस पर से यह अर्थ सिद्ध होता है कि पदार्थ शब्द से द्रव्य की मुख्यता है। अस्तिकाय शब्द से क्षेत्र की मुख्यता है। द्रव्य शब्द से काल की मुख्यता है और तत्त्व शब्द से भाव की प्रधानता प्रतीत होती है।[२]

यहाँ जीव तत्त्व के वर्णन में जीव का भावात्मक स्वरूप विवक्षित है। जीव का तत्त्व स्वरूप चेतना है। जीव ज्ञान दर्शन स्वभावी है। ज्ञान और दर्शन चेतना के ही दो रूप हैं।

जीव स्वतः सिद्ध, बहिरंग कारण से निरपेक्ष, बहिरंग और अन्तरंग में प्रकाशमान नित्य रूप, निश्चय से परम शुद्ध चेतना से युक्त होने से चेतन है। अखंड एक प्रतिभासमय सर्वशुद्ध केवलज्ञान दर्शन लक्षण, अर्थग्रहण के व्यापार रूप, निश्चयनय से इस प्रकार के शुद्धोपयोग से, और व्यवहार से मतिज्ञानादि अशुद्धोपयोग से निर्वृत्त होने से अर्थात् निष्पन्न होने से उपयोगमय है।[३]

जीवत्व पारिणामिक भावरूप जीव तत्त्व है। वह शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है। शुद्ध जीवत्व शक्ति लक्षण पारिणामिकपना शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के आश्रित होने से

---

१. प्रदेशप्रचयात्काया द्रवणाद् द्रव्यनामकाः। परिच्छेद्यत्वतस्तेऽर्थास्तत्त्वंवस्तुस्वरूपतः॥
गोम्मटसार जीवकाण्ड जीव प्रबोधिनी टीका, गा. ५६१/१००६

२. एस.एस. कासलीवाल, कुछ अभ्यास की पंक्तियां, प्रथम खण्ड, पृ. ११

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १३७

निरावरण शुद्ध पारिणामिक भाव जानना चाहिए। वह बन्ध मोक्ष रूप पर्याय की परिणति से रहित है। जो पुनः दस प्राण रूप जीवत्व है, वह पर्यायार्थिक नय के आश्रित होने से अशुद्ध पारिणामिक भाव संज्ञक है। संसारियों के शुद्धनय से और सिद्धों के सर्वथा ही दस प्राणरूप जीवत्व का अभाव होने से शुद्ध जीवत्व है। [१]

अजीव तत्त्व का स्वरूप :-

आत्म तत्त्व के अतिरिक्त जो कुछ दृश्य और अदृश्य है, वह सब अजीव तत्त्व कहा जाता है। जहाँ पुनः उपयोग सहचरित चेतना का अभाव होने से बाहर भीतर अचेतनपना प्रतिभासित होता है, वह अजीव है। [२] सुख, दुःख का ज्ञातापना, हित का परिकर्म और अहित से भीरूपना, जिस पदार्थ के नहीं हैं, वह अजीव है। [३] आकाश, काल, पुद्गल, धर्म, अधर्म में अनन्तज्ञान आदिक जीव गुण नहीं हैं और उसी प्रकार हित अहित आदि की परीक्षारूप चैतन्य विशेषों का अभाव होने से आकाश आदि पाँच अचेतन हैं। अजीव दो प्रकार है। जीव सम्बन्धी और अजीव सम्बन्धी। देह रागादिरूप जीव सम्बन्धी है और पुद्गल आदि पाँच द्रव्यरूप अजीव सम्बन्धी अजीव का लक्षण है। [४]

समयसार परमागम के अजीव अधिकार में भी बहिरंग वर्णादि, अभ्यंतर रागादि भाव पौद्गलिक हैं, शुद्ध निश्चयनय से जीव का स्वरूप नहीं हैं, ऐसा प्रतिपादन किया है। [५] वर्णादि से गुणस्थान पर्यंत उनतीस प्रकार के भाव अजीव रूप से कहे गये हैं। यद्यपि सिद्धान्त ग्रन्थों में व्यवहार नय से ये भाव जीव के कहे गये हैं तथापि अध्यात्म ग्रन्थों में शुद्ध निश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं। इसलिए उनमें अजीवपना कहा है। [६] उनके अजीवपना साध्य में अनेक हेतु प्रयुक्त किये हैं, वे इस प्रकार है :-

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३४
२. प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका गा. १२७
३. पञ्चास्तिकायसंग्रह, गा. १३३
४. परमात्मप्रकाशवृत्ति, अ. १, गा. ३०
५. समयसार, गा. ५०-५५
६. वहीं पर, गा. ५०-५५

१) वर्णादि और रागादिकों में चैतन्य रूप जीव लक्षण का अभाव दिखाई देता है।

२) उनके साथ जीव का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। जिस कारण से उनके बिना भी मोक्ष में जीव का अस्तित्व प्राप्त होता है। [१]

३) पुद्गल कर्म से निष्पन्न होने से उनमें पौद्गलिकपना है। चौदह जीवस्थान मोह कर्म के उदय से होते हैं, इसलिए जीव का स्वरूप नहीं हैं।

४) परम समाधि रूप पुरूषों के द्वारा शरीर, रागादिकों से भिन्न चिदानन्द एक स्वभावी शुद्ध जीव की उपलब्धि होने से रागादि जीव के स्वरूप नहीं हैं।

आस्रव तत्त्व का स्वरूप :-

जिसके द्वारा आस्रव होता है या आस्रव होना मात्र आस्रव है। [२] योगके द्वारा कर्म का आस्रव होता है, इसलिए योग आस्रव कहा जाता है। [३] जिस प्रकार सरोवर जल आने का द्वार, वह आस्रव का कारणपना होने से आस्रव है, ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार योग रूप प्रणालिका से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है, इस प्रकार योग आस्रव, इस व्यपदेश को प्राप्त होता है। [४]

आस्रव दो प्रकार का है। भावास्रव और द्रव्यास्रव।

भावास्रव :- निरास्रव शुद्धात्म पदार्थ से विपरीत राग, द्वेष, मोह रूप जीव परिणाम भावास्रव है।

द्रव्यास्रव :- भाव निमित्त से कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलों का योग द्वार से आना द्रव्यास्रव है। [५]

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आस्रव के कारण हैं। वे भाव प्रत्यय, द्रव्य प्रत्यय रूप से चेतन रूप और अचेतनरूप हैं। मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्यय उदयागत होते हुए ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के द्रव्य कर्मास्रव के कारणभूत हैं। और उन द्रव्य प्रत्ययों के आस्रव के कारणपना का कारण रागद्वेष आदि भाव परिणत जीव है। [६]

---

१. वहीं पर, गा. ६१
२. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. १, सू. ४ व ९
३. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. १-२
४. सर्वार्थसिद्धि, अ. ६, सू. २
५. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १०८
६. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १७२-१७३

द्रव्य प्रत्यय का उदय होने पर शुद्धात्म स्वरूप की भावना को छोडकर जब रागादि भावों से परिणमन करता है, तब बंध होता है, उदय मात्र से नहीं। यदि उदय मात्र से बन्ध होता है तब सर्वदा संसार ही रहेगा, क्योंकि संसारियों के सदा ही कर्म का उदय विद्यमान है। [१]

ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक राग द्वेष मोह रूप भावास्रव का अभाव होने से तथा द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय अचेतन पुद्गल का परिणाम होने से स्वभाव से ही कार्माण शरीर से ही बद्ध हैं, इसलिए द्रव्यास्रवों से भिन्न होने से ज्ञानी निरास्रव ही है। परन्तु उसके भी ज्ञान दर्शन और चारित्र जब तक जघन्य भावरूप से अर्थात् कषाय सहित भाव से अनिहित वृत्ति (हेयभावरूप से) से परिणमन करता है, तब तक अपने गुणस्थान के अनुसार विविध पुण्य कर्मों से बाँधा जाता है।[२]

आस्रव संसार का कारण है, इसलिए हेय तत्त्व है। क्रोधादि आस्रव भाव कलुषता रूप से प्राप्त होने से अपवित्र हैं। जड स्वभाव वाले होने से विपरीत स्वभावी हैं। आकुलता के उत्पन्न करने वाले होने से दुःख के कारण हैं। वध्य घातक स्वभावपना होने से जीव निबद्ध औपाधिक हैं। वर्धमान, हीयमान होने से अध्रुव हैं। क्रम से प्रगट होने से अनित्य हैं। तीव्र काम के उद्रेक के समान रक्षण करना अशक्य होने से अशरण हैं। नित्य ही आकुल स्वभाव होने से दुःख रूप हैं। आगामी नारकादि दुःख रूप फल के कारण होने से दुःख फलवाले हैं। इस प्रकार आस्रव का वास्तविक स्वरूप जानना चाहिए। [३]

पुण्य पाप का स्वरूप :-

"पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्" [४]। जो आत्मा की शुभ से रक्षा करता है, वह पाप है और जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा जिसके द्वारा आत्मा पवित्र किया जाता है, वह पुण्य है। जिस जीव के भाव में मोह, राग, द्वेष, चित्त प्रसाद विद्यमान है, उसके शुभ अथवा अशुभ परिणाम होता है। यहाँ विषय आदि अप्रशस्त राग

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १७२-१७३
२. वहीं पर, गा. १८०
३. समयसार आत्मख्याति, गा. १७२-१७४
४. सर्वार्थसिद्धि अ. ६, सू. ३

मोह और द्वेष अशुभ हैं। दान, पूजा, व्रत, शील आदि रूप शुभराग और चित्त प्रसाद रूप परिणाम शुभ हैं। [१] उपादान कारणभूत जीव के द्वारा उत्पन्न हुए शुभ अशुभ परिणाम जिस कारण से नवीन द्रव्य पुण्य पाप दोनों के कारणभूत हैं, उस कारण से भाव पुण्य पाप पदार्थ कहे जाते हैं।[२]

पंचपरमेष्ठी के अतिशय गुणों के अनुराग रूप प्रशस्त धर्मानुराग, दया सहित मन, वचन, काय का व्यापार रूप शुभ परिणाम, मन में क्रोधादि कलुष परिणाम का अभाव ये तीन शुभ परिणाम द्रव्य पुण्यास्रव के कारणभूत भाव पुण्यास्रव हैं। [३]

प्रमाद बहुल परिणति, कलुषता, विषय आसक्तता, पर परिताप परिणति, संज्ञा, कृष्ण, नील, कापोत लेश्या, आर्त रौद्र ध्यान, दुष्टभाव में प्रवृत्त ज्ञान - ये द्रव्य पापास्रव के कारणभूत भाव पापास्रव हैं। [४]

निश्चय से एक ही पुद्गल कर्म शुभ अशुभ जीव परिणाम का निमित्त होने से दो प्रकार का है। वास्तविक दोनों के कारण, स्वभाव, अनुभव और बंध रूप आश्रय में अभेद होने से कर्म भेद नहीं है। शुभ अशुभ परिणाम कारण हैं। वह शुद्ध निश्चयनय से अशुभत्व की अपेक्षा से एक ही है। पुण्यपाप रूप पुद्गल का स्वभाव है। वह भी निश्चय से पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से एक ही है। उसका फल सुख दुःख स्वरूप वह भी आत्मा से उत्पन्न सुख की अपेक्षा से दुःखरूप से एक ही है। आश्रय शुभ अशुभ बंधरूप वह भी बंध की अपेक्षा एक ही है।

जो पुण्य कर्म जीव को संसार में प्रवेश कराता है, वह सुशील कैसे है ? [५] जिस प्रकार सोने की बेडी अविशेष रूप से पुरूष को बाँधती है, उसी प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म अविशेष रूप से जीव को बाँधता है। [६]

यहाँ पर जयसेन आचार्य ने नय विभाग से सुमेल बिठाया है, वह इस प्रकार है :-

"अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापयोर्भेदोऽस्ति भावपुण्यपापयोस्तत्फलभूत सुखदुःखयोश्चाशुद्धनिश्चयेन भेदः, शुद्धनिश्चयेन तु शुद्धात्मनो भिन्नत्वाद् भेदो नास्ति।"[७]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १३९

२. वहीं पर, गा. १४०

३. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १४३

४. वहीं पर, गा. १४७-१४८

५. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १५३

६. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १५४

७. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गा. ८१

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से द्रव्य पुण्य और द्रव्य पाप में भेद है। भाव पुण्य और भाव पाप में और उसके फलभूत सुख दुःख में अशुद्ध निश्चय से भेद है, परन्तु शुद्ध निश्चय से शुद्धात्मा से भिन्न होने से भेद नहीं है। दोनों कर्म केवल बंध के ही कारण नहीं है, अपितु निषेध करने योग्य और हेय हैं। व्यवहार और परमार्थ से रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है, शुभाशुभ परिणाम नहीं, क्योंकि उन दोनों के साथ नियम से बंध ही है। [१] प्रवचनसार परमागम में भी प्रतिपादन किया है :-

"ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥"[२]

पुण्य पाप में निश्चय से विशेष नहीं है, ऐसा जो नहीं मानता, वह मोह से प्रच्छादित होकर अपार संसार में भ्रमण करता है। सम्यक्त्वादि जीव के गुण मुक्ति के कारण हैं अथवा उन गुणों से परिणत जीव मुक्ति का कारण है, इसलिए शुद्ध जीव से भिन्न शुभ अशुभ मन, वचन, काय व्यापार रूप अथवा उस व्यापार से उपार्जित शुभ अशुभ कर्म मोक्ष का कारण नहीं है, ऐसा मानकर छोड़ देना चाहिए। [३]

समयसार की तात्पर्यवृत्ति में व्यवहार रत्नत्रय के व्याख्यान को पाप का व्याख्यान कहा। वहीं प्रश्नोत्तर रूप से उसका समाधान किया है, वह इस प्रकार है :-

"जीवादीसद्दहणमित्यादि व्यवहाररत्नत्रयव्याख्यानं कृतं तिष्ठति कथं पापाधिकार इति। तत्र परिहारः यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेय-परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेन पराधीन-त्वात्पतति नश्यतीत्येकं कारणम् । निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पालम्बनेन स्वरूपात्पतनं भवतीति द्वितीयकारणम् ।" [४]

"जीवादी सद्दहणं" इत्यादि व्यवहार रत्नत्रय का व्याख्यान किया, वह पाप अधिकार कैसे है ? उसका परिहार करते हैं:- यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग उपादेयभूत निश्चय रत्नत्रय का

---

१. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, श्लोक २८५
२. प्रवचनसार, गाथा ७७
३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १६९-१७०
४. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १६९-१७० गाथा के बाद

कारणभूत होने से उपादेय है, परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण होने से पवित्र है तथापि बाह्य द्रव्य के आलम्बन से पराधीनपना होने से नष्ट होता है, यह एक कारण है। निर्विकल्प समाधि में रत पुरुषों को व्यवहार विकल्प के आलम्बन से स्वरूप से पतन होता है इसलिए इसे पाप अधिकार कहा है, यह दूसरा कारण है।

संवर तत्त्व का स्वरूप :-

जिसके द्वारा संवर किया जाता है अथवा संवरण मात्र संवर है।[१] मिथ्यात्व आदि परिणाम सम्यग्दर्शन आदि अथवा गुप्ति आदि दूसरे परिणामों से रोके जाते हैं।[२] वह संवर है। आस्रव का निरोध संवर है। जिस प्रकार जलयान के छिद्रों को बन्द कर देने पर उनसे जल का आस्रव नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्यात्व आदि के अभाव में जीव में कर्म का आस्रव नहीं होता, संवर होता है।[३]

संवर दो प्रकार का है। १. भाव संवर, २. द्रव्य संवर। कर्म का निरोध होने पर निर्विकल्प आत्मा की उपलब्धि रूप परिणाम भाव संवर है। उस भाव निमित्त से नवीन द्रव्यकर्म के आने का निरोध होना रूप द्रव्य संवर है। [४] संवर के कारण रत्नत्रय लक्षण मोक्षमार्ग में स्थित होकर इन्द्रिय, कषाय, संज्ञा जितने अंश में और जितने काल तक निग्रह किये जाते हैं, उतने अंश से उतने काल तक पापास्रव का द्वार बन्द होता है। इस प्रकार भाव पापसंवर, द्रव्यपापसंवर का कारण है, ऐसा निर्धारित करना चाहिए। [५]

जिसके राग द्वेष मोह रूप भाव सर्व शुभ अशुभ द्रव्यों में नहीं है, उस, समस्त सुख दुःख में समता भाव रखने वाले तपोधन के रागादि रहित शुद्धोपयोग से शुभ और अशुभ कर्म का आस्रव नहीं होता। यहाँ मोह राग द्वेष रूप परिणाम का निरोध, भाव संवर है और उसके निमित्त से शुभ अशुभ कर्म के परिणाम का निरोध योग द्वार से प्रवेश करने वाले पुद्गलों का द्रव्यसंवर है।[६] इस प्रकार संवर के लिए राग द्वेष मोह परिणामों का निरोध आवश्यक है। शुभ अशुभ कर्म

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. १, सू. ४
२. भगवती आराधना, श्लोक ३८
३. द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गा. १५५
४. पञ्चास्तिकायसंग्रह, ता.वृत्ति, गा. १०८
५. वहीं पर, गा. १४९
६. पञ्चास्तिकायसंग्रह, गा. १४०

के संवर का परम उपायभूत भेद विज्ञान है। भेद विज्ञान से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है। शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होने पर मिथ्यात्व रागादि भाव नहीं करता, उससे नवीन कर्म का संवर होता है।[१] इससे जाना जाता है कि संवर का कारण शुद्धोपयोग ही है, शुभोपयोग नहीं | परन्तु शुभोपयोग पुण्यास्रव का कारणभूत है, वही तत्त्वार्थसूत्र में कहा है।"शुभ, पुण्य का आस्रव है और अशुभ पाप का आस्रव है।[२] उसी के सातवें अध्याय में व्रत आदि अनुष्ठान को पुण्यास्रव का कारण कहा है। जयसेन आचार्य ने शुद्धोपयोग संवर रूप है, ऐसा स्पष्ट कहा है। वह इस प्रकार है :

"शुद्धोपयोगो भावसंवरो निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिर्भावसंवरः" [३] इत्यादि। शुद्धोपयोग भाव संवर है, निर्विकार शुद्धात्मानुभूति भाव संवर है।

संवर का क्रम :-

उदयागत द्रव्य प्रत्ययों का अभाव होने पर नियम से रागादि रूप भावास्रवों का संवर होता है। भावास्रवों का निरोध होने पर नवीन द्रव्यकर्म का संवर होता है। नवीन द्रव्यकर्म के अभाव में शरीर आदि नोकर्मों का निरोध होता है। नोकर्म के निरोध से संसार का निरोध होता है। यह संवर का क्रम दिखलाया है। [४]

निर्जरा तत्त्व का स्वरूप :-

"निर्जीर्यते निरस्यते यया निरसन्मात्रं वा निर्जरा। निर्जरैव निर्जरा। यथा मन्त्रौषधबलान्निर्जीर्णवीर्यविपाकं विषं न दोषप्रदं तथा तपोविशेषेण निर्जीर्णरसं कर्म न संसारफलप्रदम्।" [५]

जिसके द्वारा निर्जरा की जाती है अथवा निर्जरा मात्र निर्जरा है। जिस प्रकार मंत्र और औषध के बल से जिसकी शक्ति निर्जीर्ण हुई है, ऐसा विष दोषप्रद नहीं है। उसी प्रकार तप विशेष से जिसका रस निर्जीण हुआ है, वह कर्म संसार का फल देने वाला नहीं है। आत्म प्रदेशों से कर्म प्रदेशों का गलना निर्जरा है। [६] एक देश रूप से कर्मों का क्षय होना, निर्जरा कही जाती है।

निर्जरा दो प्रकार की है। भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। कर्मशक्ति को नष्ट करने में समर्थ बारह प्रकार के तपों से बढा हुआ शुद्धोपयोग संवरपूर्वक भाव निर्जरा है। उस शुद्धोपयोग से नीरस हुए चिरंतन कर्मों का एक देश गलना द्रव्य निर्जरा है। [७]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १८१-१८३
२. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. ३
३. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १५१
४. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १९०-१९२
५. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ.१, सू. ४
६. वारसाणुवेक्खा, श्लोक ६६
७. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ११५

द्वितीय अपेक्षा से निर्जरा दो प्रकार की है। सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। अपने काल में पकने वाले आम्रफल के समान अपने उदय काल को प्राप्त करके जिसका रस भोगा गया है, ऐसे कर्म पुद्गल द्रव्य गलता है, वह सविपाक निर्जरा है। अकाल में पकने वाले आम्र आदि फल के समान बारह प्रकार के तप से कर्म का गलना अविपाक निर्जरा है।[१]

आत्मध्यान, मुख्य वृत्ति से निर्जरा का कारण है। जो शुभ अशुभ आदि आस्रव का निरोध रूप संवर से युक्त है, शुद्धात्मानुभूति लक्षण स्वकार्य का प्रसाधक पुरुष आत्मा का निर्विकल्प ध्यान से ध्यान करता है, वह कर्मरज की निर्जरा करता है। जिस प्रकार थोडी भी अग्नि प्रचुर तृण और काष्ठ राशि को थोडे काल के द्वारा ही जलाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व कषाय आदि विभाव का परित्याग रूप महावायु से प्रज्वलित, उसी प्रकार परम आल्हाद एक सुख लक्षणरूप घृत से सिंचित निश्चल, आत्म संवित्ति जिसका लक्षण है, ऐसी ध्यान अग्नि मूल उत्तर प्रकृति के भेद से भिन्न कर्मरूपी ईंधन राशि को क्षण मात्र से जलाती है। [२]

संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्ष का कारण है। जो पुनः अज्ञानी की निर्जरा है वह हाथी के स्नान के समान निष्फल है क्योंकि थोडे रसको निर्जरित करती है और बहुत को बाँधती है, उस कारण से वह ग्राह्य नहीं है। सम्यग्दृष्टि की संवर पूर्वक निर्जरा है। पाँच इन्द्रियों के विषयों से जो वस्तु उपभोग्य है, वह वस्तु मिथ्यादृष्टि जीव के राग द्वेष मोह का सद्भाव होने से बंध का कारण होने पर भी, सम्यग्दृष्टि जीव के राग द्वेष मोह का अभाव होने से समस्त ही निर्जरा का निमित्त है। साता असाता के उदय के निमित्त से प्राप्त सुख अथवा दुःख को सम्यग्दृष्टि जीव रागद्वेष न करता हुआ हेय बुद्धि से भोगता है, तन्मय होकर नहीं। "तन्मय होकर मैं सुखी दुःखी हूँ" इत्यादि प्रत्यय से अनुभव नहीं करता। उस कारण से निर्जरा का निमित्त है। मिथ्यादृष्टि के पुन: उपादेय बुद्धि से " मैं सुखी, मैं दुःखी" इत्यादि ऐसा वेदन करने से बन्ध का कारण है। [३] वही प्रवचनसार परमागम में कहा है :-

"जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥"

---

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गा. ३६

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. १५३-१५४

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०३-२०४

विशिष्ट स्वसंवेदन ज्ञान का अभाव होने से अज्ञानी जीव बहुत करोडों भवों के द्वारा जिस कर्म का क्षय करता है, वह कर्म ज्ञानी जीव स्वसंवेदन ज्ञानगुण के सद्भाव से त्रिगुप्ति से गुप्त होकर उच्छ्वास मात्र से सहजता से ही क्षय करता है। [१] वीतराग सम्यग्दृष्टि के निशंकित आदि आठ गुण नवीन बंध का निवारण करते हैं, उस कारण से बंध नही है, परन्तु संवर पूर्वक निर्जरा ही है। [२]

निर्जरा शुद्धोपयोगरूप ही है। शुभ अशुभ उपयोगरूप नहीं। वही निर्जरा अधिकार के प्रारम्भ में कहा है:- *"अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा शुद्धोपयोगलक्षणा संवरपूर्विका निर्जरा प्रविशति।"*[३] *इति।* अब वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोग लक्षण वाली संवर पूर्वक निर्जरा प्रवेश करती है।

बंध तत्त्व का स्वरूप :-

इसके द्वारा बाँधा जाता है अथवा बंधन मात्र बंध है। बंध के समान बंध है। इच्छित देश में गमन करने के प्रति उत्सुक पुरुष के उसके प्रतिबंध का कारण कलई आदि में रस्सी आदि से बाँधना बंध है, ऐसा कहा जाता है । [४]

मिथ्यात्व आदि परिणामों से जो पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि रूप से परिणमता है, वह ज्ञानादि का आवरण करता है, इत्यादि रूप सम्बन्ध बंध है। [५] कषाय सहितपना होने से जीव, कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बंध है। [६] वह बंध दो प्रकार का है। भावबंध और द्रव्यबंध। मिथ्यात्व रागादि परिणाम भावबंध हैं। भावबंध के निमित्त से तैल से लिप्त शरीर में धूलि बंध के समान, जीव और कर्म प्रदेशों का परस्पर संश्लेष द्रव्यबंध है।[७]

दूसरी अपेक्षा से बंध तीन प्रकार हैं। पुद्गल बंध, जीव बंध, जीव पुद्गल बंध (उभय बंध)। पुराने और नवीन पुद्गल द्रव्य कर्मों का जीवगत रागादि भाव के निमित्त से और अपने स्निग्ध रूक्ष उपादान कारण से परस्पर स्पर्श के संयोग से जो यह बंध है, वह पुद्गल बंध है। निरूपराग

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २७३
२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २४५
३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, निर्जराधिकार प्रारम्भ
४. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ.१, सू. ४
५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड जीव प्रबोधिनी टीका गा. ४३८
६. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ८, सू. २
७. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ११५

परम चैतन्य रूप निजात्म तत्त्व की भावना से च्युत जीव के जो रागादि रूप भाव के साथ परिणमन है, वह जीव बंध है।

स्निग्ध रूक्ष स्थानीय राग द्वेष रूप से परिणत जीव के और बंध योग्य स्निग्ध रूक्ष रूप से परिणत पुद्गल के जो यह परस्पर अवगाहन लक्षण बंध है, वह जीव पुद्गल बंध है।[1]

द्रव्य बंध चार प्रकार का है। १. प्रकृति बंध, २. प्रदेश बंध, ३. स्थिति बंध और ४. अनुभाग बंध। प्रकृति अर्थात् स्वभाव जिस प्रकार ज्ञानावरण के ज्ञान प्रच्छादनता। जीव प्रदेशों में जितनेकाल कर्म संबन्ध से स्थिति है, उतने काल स्थिति बंध जानना चाहिए। जीव प्रदेशों में स्थित कर्म स्कन्धों के सुख दुःख देने मे समर्थ शक्ति विशेष अनुभाग बंध जानना। जयसेन आचार्य ने अनुभाग बंध का वर्णन किया है। वह इस प्रकार है :-

लता, दारू, अस्थि और पाषाण शक्तिरूप से घाति कर्मों के अनुभाग स्थान कहे जाते हैं। गुड, खांड, शर्करा और अमृत के समान शुभ अघाति कर्म के अनुभाग स्थान हैं। आचार्यों ने अनुभाग बंध के कारणभूत परिणामों का वर्णन किया है। किस प्रकार के परिणाम से किस प्रकार का बंध होता है, वह जयसेन आचार्य ने दिखाया है, वह इस प्रकार है -

"अनुभाग: फलदानशक्ति विशेषो भवति तीव्रः परमामृतसमानः सद्वेद्यादि शुभप्रकृतीनां तीव्रसंक्लेशे सति तीव्रो हलाहलविषसदृशो भवति विपरीतस्तु जघन्यो गुडनिम्बरूपो भवति जघन्यविशुद्ध्या जघन्यसंक्लेशेन च मध्यमविशुद्ध्या मध्यसंक्लेशेन तु शुभाशुभप्रकृतीनां खण्डशर्करारूपो विषकांजीररूपश्चेति।"[2]

अनुभाग फलदानशक्ति विशेष है। सातावेदनीय आदि शुभप्रकृतियों का तीव्र अनुभाग परम अमृत समान है। तीव्र संक्लेश होने पर तीव्र हालाहल विष सदृश होता है, उसके विपरीत जघन्य विशुद्धि से जघन्य गुड रूप और जघन्य संक्लेश से जघन्य नींब रूप होता है। मध्यम विशुद्धि और मध्यम संक्लेश से शुभ प्रकृतियों का खांड शर्करा रूप और अशुभ प्रकृतियों का विष कांजीर रूप होता है। इससे जाना जाता है कि अशुभ प्रकृतियों का तीव्र संक्लेश परिणाम से तीव्र अनुभाग बन्ध, मध्यम संक्लेश से मध्यम अनुभागबंध और जघन्य संक्लेश से जघन्य अनुभाग बन्ध होता है। शुभप्रकृतियों का तीव्र विशुद्ध परिणाम से तीव्र अनुभाग बन्ध, मध्यम विशुद्धि से मध्यम अनुभाग बन्ध और जघन्य विशुद्धि से जघन्य अनुभागबन्ध होता है। एक एक आत्मा के प्रदेश में सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि के अनन्त गुणे, अनन्तानन्त परमाणु प्रतिक्षण बन्ध को प्राप्त होते हैं। यही प्रदेश बन्ध है।[3]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १८९ २. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २००

३. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा.३३

बन्ध कारण का विवेचन :-

पञ्चास्तिकाय संग्रह में बहिरंग और अन्तरंग बन्ध का कारण कहा है, वह इस प्रकार है :-

"जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो |
भावणिमित्तो बन्धो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥

मन वचन काय के योग के निमित्त से कर्म पुद्गलों का ग्रहण होता है। भाव के निमित्त से स्थिति और अनुभाग बंध होता है। भाव पुनः रति, राग, द्वेष, मोहयुक्त मोहनीय के विपाक से उत्पन्न हुआ विकार है। यहाँ पर रति शब्द से हास्य के अविनाभावी नोकषाय के अन्तर्भूत रति ग्रहण करनी चाहिए। परन्तु राग शब्द से माया लोभ रूप राग परिणाम, द्वेष शब्द से क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा रूप द्वेष परिणाम और मोह शब्द से दर्शनमोह ग्रहण किया जाता है।[१] पुद्गलों के ग्रहण का कारण होने से बहिरंग कारण योग है। विशिष्ट शक्ति और स्थिति का कारण होने से अन्तरंग कारण जीवभाव ही है।

मिथ्यात्व आदि द्रव्यप्रत्यय भी बहिरंग निमित्त हैं, जिस कारण से जीवगत रागादिभावों का अभाव होने पर द्रव्यप्रत्यय विद्यमान होने पर भी जीव नहीं बाँधे जाते हैं। इससे जाना जाता है कि नवीन द्रव्यबंध के उदयागत द्रव्यप्रत्यय कारण हैं और उनके जीवगत रागादि कारण हैं। इसलिए रागादिकों को अन्तरंगपना होने से निश्चय से बंध हेतुपना जानना चाहिए। [२]

समयसार परमागम में भी यही कहा है कि मिथ्यादृष्टि अपने में रागादिकों को करता हुआ स्वभाव से ही कर्म योग्य पुद्गल बहुल लोक में काय, वचन, मन से कर्म को करता हुआ अनेक प्रकार के कर्मों से सचित्त अचित्त वस्तुओं का घात करते हुए कर्म धूलि से बाँधा जाता है।

उसके स्वभाव से ही कर्म योग्य पुद्गल से भरा हुआ लोक बंध का कारण नहीं है, क्योंकि उस लोक में स्थित सिद्धों के भी बंध का प्रसंग आता है। काय, वचन, मन की क्रिया भी बंध का कारण नहीं है, क्योंकि यथाख्यात संयतों के भी बंध का प्रसंग आता है। अनेक प्रकार के करण अर्थात् इन्द्रियाँ बंध के कारण नहीं हैं, क्योंकि केवल ज्ञानियों के भी उसका प्रसंग आता है। सचित्त अचित्त वस्तुओं का घात भी कारण नहीं है, क्योंकि समिति में तत्पर यतियों के भी उसका प्रसंग आता है। इसलिए जो उपयोग में रागादि करना है, वह बन्ध का कारण है।[३]

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १५६ २. वहीं पर, गा. १५७
३.समयसार-आत्मख्याति, गा. २४२-२४६

औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं, परन्तु मोह उदय सहित। द्रव्य मोह के उदय होने पर भी यदि शुद्धात्म भावना के बल से भावमोह रूप से परिणमित नहीं होता, तब बंध नहीं होता। यदि पुन: कर्म उदय मात्र से बंध होता तो संसारियों के सर्वदा ही कर्म उदय विद्यमान होने से सर्वदा ही बंध होता, मोक्ष नहीं होता। इसलिए सिद्ध होता है कि रागादि परिणाम कर्म बंध के कारण हैं।

मोक्ष तत्त्व का स्वरूप :-

जिसके द्वारा छोड़ा जाता है, अथवा छोडना मात्र मोक्ष है। मोक्ष के समान मोक्ष है। जिस प्रकार बेडी आदि द्रव्यों के छूटने से स्वतन्त्रता होने पर इच्छित देश में गमन करने से पुरुष सुखी होता है, वैसे सम्पूर्ण कर्म का वियोग होने से स्वाधीन आत्यन्तिक ज्ञान, दर्शन, अनुपम आत्म स्वरूप आत्मा होता है।[१] आत्मा और बंध का द्विधाकरण मोक्ष है। बंध के कारणों का अभाव और निर्जरा के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का विप्रमोक्ष मोक्ष कहा जाता है।[२] स्वरूप में अवस्थान मोक्ष है।[३]

वह दो प्रकार का है। १. भावमोक्ष, २. द्रव्यमोक्ष | कर्म को निर्मूलन करने में समर्थ शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप जीव परिणाम भावमोक्ष है। भावमोक्ष के निमित्त से जीव और कर्म प्रदेशों का पूर्ण रूप से पृथक् होना द्रव्यमोक्ष है।[४] भावमोक्ष, केवलज्ञान की उत्पत्ति, जीवनमुक्त, अर्हत्पद ये एकार्थवाची शब्द हैं।[५]

मोक्ष कारण विचार: -

समयसार परमागम के मोक्ष अधिकार में मोक्ष के कारण की मीमांसा की है। वह इस प्रकार है:- जिस प्रकार कोई पुरुष बंधन में चिरकाल बद्ध रहता है। वह उस बंध के तीव्र मंद स्वभाव को जानता हुआ भी यदि बन्ध का छेद नहीं करता, तब मुक्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्म बंधन में बद्ध जीव बंध का चिंतन करता है,

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ.१, सू.४
२. तत्त्वार्थसूत्र, अ.१०, सू. २
३. स्याद्वाद मञ्जरी - ८/८६
४. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा.११५
५. वहीं पर, गा. १५८ उत्थानिका

तथापि वह यदि बंध का छेद नहीं करता तो विमुक्त नहीं होता। इससे बंध का परिज्ञान अथवा बंध का चिंतन मोक्ष का कारण नहीं है, ऐसा कहा है। बंध चिंतन रूप सराग धर्मध्यान रूप शुभोपयोग से पुण्यबंध होता है, मोक्ष नहीं। रागादि विकल्प बंध का कारण हैं, मोक्ष का नहीं। जिस प्रकार बंधन बद्ध पुरुष अपने विज्ञान और पौरुष के बल से रस्सी के बंध को छेद करके मोक्ष को प्राप्त करता है, उसी प्रकार जीव भी वीतराग निर्विकल्प ज्ञान शस्त्र से बंध को छेद करके मुक्त होता है। आत्मा और बंध के द्विधाकरण में भेद विज्ञान रूप प्रज्ञा ही छैनी है।[1] तत्त्वार्थसूत्र में प्रथमत: ही मोक्ष के कारण का प्रतिपादन किया है, वह इस प्रकार है:-

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः "

व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र लक्षण रत्नत्रय ही मोक्ष का कारण है। निश्चयनय से रत्नत्रयमय निज आत्मा ही मोक्ष का कारण है। जिस कारण से आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में रत्नत्रय नहीं है, उस कारण से रत्नत्रयमय आत्मा ही मोक्ष का कारण जानना चाहिए।

निमित्त उपादान मीमांसा :-

सम्पूर्ण विश्व में सभी पदार्थ परिणमनशील हैं। प्रत्येक समय में वे परिवर्तन करते हैं। उनका परिणमन ही पर्याय अथवा कार्य कहा जाता है। कार्य कारण की अपेक्षा करता है। कारण के बिना कार्य संभव नहीं। कार्य की उत्पादक सामग्री ही कारण कही जाती है। कार्य की उत्पादक सामग्री निमित्त और उपादान रूप से दो प्रकार की है। इसलिए जिनागम में निमित्त और उपादान का उल्लेख, कारण रूप से दिखाई देता है। इसलिए निमित्त और उपादान का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। उसके ज्ञान बिना पराश्रित दृष्टि का त्याग और स्वाश्रित दृष्टि का ग्रहण नहीं होता। स्वाश्रित दृष्टि के बिना निजात्म श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता। इसलिए निमित्त उपादान का यथार्थ परिज्ञान मोक्षार्थी के द्वारा परम कर्तव्य है।

जयसेन आचार्य ने अनेक प्रकार से अपनी रचित वृत्तियों में निमित्त उपादान का स्पष्टीकरण किया है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं.३०९-३१९

कारण का स्वरूप :-

जिसके सद्भाव में कार्य उत्पन्न होता है और जिसके अभाव में कार्य उत्पन्न नहीं होता, वह उसका कारण कहा जाता है। वही कहा है :-

"यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत् तस्य कारणमिति" [१]

जो जिसके होने पर होता है, नहीं होने पर नहीं होता, वह उसका कारण है। कार्य की उत्पादक सामग्री ही कारण है। कारण दो प्रकार का है। उपादान कारण और निमित्त कारण। जो स्वयं कार्य रूप से परिणमता है, वह उपादान कारण है। जो स्वयं कार्य रूप से नहीं परिणमता परन्तु कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है, वह निमित्त कारण है। जिस प्रकार घट रूप कार्य का, मिट्टी का पिण्ड उपादान कारण है, क्योंकि स्वयं मृत् पिण्ड घटरूप से परिणमता है। कुम्भकार, चक्र,चीवर आदि निमित्त कारण हैं वे स्वयं घट रूप से नहीं परिणमते। घट की उत्पत्ति में अनुकूल रूप से सहायक होते हैं।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए जयसेन आचार्य ने अनेक प्रकार के दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं :-

१) पट कार्य का तन्तु समूह उपादान कारण है, जुलाहा, तुरी, वेम, सलाका आदि निमित्त हैं।

२) शालि ओदन कार्य का शालि आदि तन्दुल उपादान कारण है, ईंधन, अग्नि आदि बहिरंग निमित्त हैं।

३) नर नारक आदि पर्याय का जीव उपादान कारण है, कर्म का उदय निमित्त है। [२]

निमित्त के भेद :-

निमित्त कारण भी दो प्रकार का है। १) प्रेरक निमित्त, २) उदासीन निमित्त। इच्छावान और क्रियावान द्रव्य प्रेरक निमित्त कहा जाता है। इच्छा शक्ति रहित निष्क्रिय द्रव्य उदासीन निमित्त कहा जाता है। [३] जो निमित्त स्वयं अपने में सक्रिय होकर पर वस्तु के परिणमन में अनुकूल होता है, वह प्रेरक निमित्त है और जो स्वयं निष्क्रिय होकर पर वस्तु के परिणमन में अनुकूल होता है, वह उदासीन निमित्त है। [४]

---

१. धवला पु.१२, पृ. सं. २८९

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. सं. २३

३. डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, निमित्तोपादान - एक अनुशीलन, पृ.सं. १८ प्रथम संस्करण

४. डॉ. उत्तमचंद जैन, आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पृ.सं. ४७३

जयसेन आचार्य ने प्रेरक और उदासीन निमित्त का स्पष्टीकरण दृष्टान्त के द्वारा किया है, वह इस प्रकार है:-

"यथा तुरङ्गम: स्वयं गच्छन् स्वकीयारोहकस्य गमनहेतुर्भवति न तथा धर्मास्तिकायो निष्क्रियत्वात्, किन्तु यथा जलं स्वयं तिष्ठति सति वा तिष्ठत्सत्स्वयं गच्छतां मत्स्यानामौदासीन्येन गतेर्निमित्तं भवति तथा धर्मोऽपि स्वयं तिष्ठन् सन् स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीवपुद्गलानामप्रेरकत्वेन बहिरंगनिमित्तं भवति।"[१]

जिस प्रकार घोडा स्वयं गमन करता हुआ अपने ऊपर आरूढ सवार के गमन का कारण है, उस प्रकार धर्मास्तिकाय नहीं, क्योंकि निष्क्रियपना है। परन्तु जिस प्रकार जल स्वयं स्थित होने पर अथवा स्थिर रहता हुआ, स्वयं गमन करनेवाली मछलियों का उदासीन रूप से गति का निमित्त होता है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य भी स्वयं स्थित रहता हुआ अपने उपादान कारण से गमन करनेवाले जीव पुद्गलों का अप्रेरक रूप से बहिरंग निमित्त है। धर्म द्रव्य स्वयं गमन करनेवाले जीव पुद्गलों की गति का निमित्त है। अधर्म द्रव्य स्वयं गमन पूर्वक स्थिर रहनेवाले जीव पुद्गलों की स्थिति का कारण है। आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों का अवगाहन हेतु, काल द्रव्य सभी के परिणमन का निमित्त है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल इच्छा शक्ति रहित और निष्क्रिय हैं, इसलिए उदासीन निमित्त कहे जाते हैं।

पाठक और अध्यापक इच्छाशक्ति सहित होने से छात्रों का प्रेरक निमित्त है। ध्वजा के कंपन में वायु सक्रिय होने से प्रेरक निमित्त कहा जाता है, तथापि कार्य की उत्पत्ति में सर्व निमित्त, धर्मास्तिकाय के समान उदासीन ही हैं। इस प्रकार निमित्तों के मुख्य रूप से दो भेद किये हैं।

निमित्त कारण कार्य का अकर्ता :-

निमित्त कारण कार्य का कभी भी नियामक अथवा कर्ता नहीं है। जो परिणमता है वह कर्ता है, इस सिद्धान्त के अनुसार उपादान कारण स्वयं कार्य रूप से परिणमता है, इसलिए उपादान कारण ही कर्ता है। परन्तु निमित्त कारण परद्रव्य पर्याय रूप से परिणमन नहीं करता। कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्य का परिणमन नहीं कराता। जिस वस्तु में विवक्षित कार्यरूप

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ९५

परिणमन की शक्ति और योग्यता नहीं है, उसमें वह शक्ति और योग्यता उत्पन्न कराना शक्य नहीं हैं, वही कहा है -

"न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। [१]

न हि स्वतोऽसमर्थोऽन्यतः समर्थो भवत्यतिप्रसङ्गात्।"[२]

जो शक्ति स्वतः नहीं है, वह अन्य के द्वारा नहीं की जा सकती। जो स्वतः असमर्थ है, वह अन्य से समर्थ नहीं होता, क्योंकि अतिप्रसंग आता है।

कार्य की नियामक द्रव्य की स्वशक्ति और स्वयोग्यता है। प्रत्येक द्रव्य में अपनी योग्यता से ही परिणमन होता है, निमित्त का वहाँ कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। निमित्त स्व परिणाम का ही कर्ता है। जीवकृत रागादि परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल स्कन्ध स्वयं ही कर्म रूप से परिणमते हैं। जिस प्रकार लोक में चन्द्रप्रभा और सूर्य की प्रभा की प्राप्ति होने पर अभ्र, संध्याराग, इन्द्रधनुष, परिवेष इत्यादि बहु प्रकारों से पर के द्वारा न किये जाने पर भी, स्वयं ही पुद्गल परिणमते हैं। पुद्गल स्कन्धों में जो कर्मरूप कार्य उत्पन्न होता है उसका उपादान कारण तद्रूप परिणमन शक्ति से सम्पन्न पुद्गल प्रदेश ही हैं, और जीव के रागादि परिणाम वहाँ निमित्त मात्र हैं। [३]

पुद्गल स्कंध ज्ञानावरणादि आठ प्रकार से परिणमन करते हैं। उसकी विचित्रता का कारण भी पुद्गल स्कन्धों की स्वयं परिणमन शक्ति ही है। जिस प्रकार द्रव्यकर्म निश्चय से स्वयं ही उत्पन्न होते हैं, उसी कारण ज्ञानावरणादि विचित्र भेद रूप से भी स्वयं ही परिणमते हैं। भूमि का मेघ जल से संयोग होने पर जिस प्रकार अन्य पुद्गल स्वयं ही हरित पल्लव आदि भावों से परिणमते हैं, उसी प्रकार स्वयं ही पुद्गल स्कन्ध नाना भेद रूप परिणति के द्वारा मूल उत्तर प्रकृति रूप ज्ञानावरणादि भावों से परिणमते हैं। इसलिए जाना जाता है कि जिस प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्पत्ति स्वयंकृत है, उसी प्रकार मूल उत्तर प्रकृति रूप विचित्रता भी स्वयंकृत ही है, जीवकृत नहीं है। [४] जीव तो अपने भाव से निमित्त मात्र है।

---

१. समयसार, तात्पर्यवृत्ति, गा. ११८-११९

२. धवला पु. १/१/१६३

३. जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥
ण वि कुव्वदी कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीव गुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि॥ समयसार गा. ८६-८७

४. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०१

उपादान और निमित्त का सम्यग्ज्ञान न होने से कोई मूढजीव निमित्त को ही कर्तारूप से स्वीकार करके भ्रान्ति के वश से अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हैं। कुछ लोग उदासीन निमित्त को कार्य के कर्तृत्व का निषेध करके भी प्रेरक निमित्त को कार्य के कर्ता रूप से मानते हैं, यह भी उनकी भ्रान्ति ही है। प्रेरक निमित्त वास्तविक परद्रव्य का प्रेरक नहीं है, परन्तु स्वयं अपने में क्रियाशील होकर पर परिणमन में अनुकूल रूप से रहता है। वह परद्रव्य में कुछ भी नहीं करता। प्रेरकपना और उदासीनपना स्वसापेक्ष ही है, पर की अपेक्षा नहीं। निष्क्रिय उदासीन और सक्रिय प्रेरक कहा जाता है। इससे उदासीन और प्रेरक में परस्पर अन्तर जाना जाता है। परन्तु कार्य की उत्पत्ति में दोनों में भी अकर्तापना ही है। उक्त तथ्य को ही पूज्यपाद आचार्य ने "इष्टोपदेश" में व्यक्त किया है -

" नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥"[१]

अज्ञ विज्ञपने को प्राप्त नहीं होता, विज्ञ अज्ञपने को प्राप्त नहीं होता। गति में धर्मास्तिकाय के समान अन्य निमित्त मात्र हैं। जहाँ पर भी निमित्त का कर्तृत्व रूप से उल्लेख दिखाई देता है, वह उपचार मात्र जानना चाहिए। निमित्त नैमित्तिक में समकालपना और परस्पर अनुकूलता देखकर वैसा उपचार प्रवृत्त होता है। जयसेन आचार्य ने इस विषयक विश्लेषण किया है, वह इस प्रकार है :-

"मिथ्यात्वरागादिपरिणतिनिमित्तहेतुभूते जीवे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां ज्ञानावरणादिरूपेण द्रव्यकर्मबन्धस्य परिणामं दृष्ट्वा जीवेन कृतं कर्मेति भण्यते उपचारमात्रेणेति।"[२]

मिथ्यात्व रागादि परिणति निमित्त हेतुभूत जीव के होने पर कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलों का ज्ञानावरणादि रूप से द्रव्यकर्म बंध का परिणाम देखकर जीव ने कर्म किया, ऐसा उपचार मात्र किया जाता है।

निमित्त की अपेक्षा करके कार्य को नैमित्तिक कहा जाता है। निमित्त नैमित्तिक में कर्तृकर्म सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उनमें तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध नहीं है। जीव और पुद्गल के परिणाम में निमित्त मात्रपना है। वह भी निश्चयनय से उन दोनों में कर्तृकर्म भाव नहीं है। जिस प्रकार कुंभकार के निमित्त से मिट्टी घट रूप परिणमती है। घट के निमित्त से इस प्रकार "मैं घट

---

१. इष्टोपदेश श्लोक नं. ३५

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ११२

करता हूँ" ऐसा कुंभकार अपने परिणाम रूप से परिणमता है, उसी प्रकार जीव सम्बन्धी मिथ्यात्व रागादि परिणाम रूप हेतु को प्राप्त करके कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यकर्मत्व रूप से परिणमते हैं। उदयागत पुद्गल कर्म रूप हेतु को प्राप्त करके जीव भी मिथ्यात्व रागादि विभाव रूप से परिणमता है, यद्यपि परस्पर निमित्त से परिणमता है तथापि निश्चयनय से जीव वर्णादि पुद्गल कर्म के गुणों को नहीं करता और कर्म अनन्त ज्ञानादि जीव गुणों को नहीं करता।[1] जीव का अपने परिणामों के साथ कर्तृकर्म भाव है। समुद्र की तरंगरूप पर्याय की उत्पत्ति में हवा निमित्त है, तथापि निश्चय से समुद्र ही तरंगों को करता है और उस रूप परिणमता है।

यदि निमित्त परद्रव्य में उपादान के समान कार्य करता है, ऐसा मानते हैं तो चेतन और अचेतन दोनों क्रियाओं का एक उपादान कर्तृत्व रूप से द्विक्रियावादीपने का प्रसंग आता है। द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है। जयसेन आचार्य ने द्विक्रियावादिपना में दोष परम्परा का प्रसंग दिखाया है। वह इस प्रकार है:

"यथा कुम्भकार: स्वकीयपरिणाममुपादानरूपेण करोति तथा घटमपि यद्युपादानरूपेण करोति तदा कुम्भकारस्याचेतनत्वं घटरूपत्वं प्राप्नोति। घटस्य वा चेतनत्वं कुम्भकाररूपत्वं च प्राप्नोतीति। जीवोऽपि यद्युपादानरूपेण पुद्गलद्रव्यकर्म करोति तदा जीवस्याचेतनपुद्गल-द्रव्यत्वं प्राप्नोति। पुद्गल कर्मणो वा चिद्रूपं जीवत्वं प्राप्नोति"[2]

जिस प्रकार कुम्भकार अपने परिणाम को उपादान रूप से करता है, उसी प्रकार यदि घट भी उपादान रूप से करता है, तब कुम्भकार को अचेतनपना और घटरूपपना प्राप्त होता है। अथवा घट को चेतनपना और कुम्भकारपना प्राप्त होता है। जीव भी यदि उपादान रूप से पुद्गल द्रव्यकर्मों को करता है, तब जीव को अचेतन पुद्गल द्रव्यपना प्राप्त होता है अथवा पुद्गल कर्म को चिद्रूप जीवपना प्राप्त होता है।

इस प्रकार यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता होता है तो दोनों में एकपना तन्मयत्व प्राप्त होता है। कर्तृकर्म भाव और परिणाम परिणामी भाव एक द्रव्य में ही हो सकता है। यदि एक द्रव्य परद्रव्य रूप से तन्मय हो तो द्रव्य का उच्छेद होगा, यह महान दोष संभव है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ८६-८८

२. वहीं पर, गा. ९२

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध दो द्रव्यों में नहीं रहता है, क्योंकि द्रव्य के नित्यपना होने से सदैव कर्तृत्व का प्रसंग आता है। द्रव्य सदैव है, इसलिए सदैव कर्तृत्व होगा। इसलिए जाना जाता है कि दो द्रव्यों की समान समयवर्ती दो पर्याय में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होता है। घट की उत्पत्ति में अनित्य योग उपयोग ही निमित्त रूप से कर्ता हैं, कुम्भकार नहीं।[१]

यद्यपि समस्त कार्य उपादान की योग्यता से ही उत्पन्न होते हैं। निमित्तों को कर्तृत्व नहीं है तथापि निमित्तों के सान्निध्य का निषेध नहीं किया जा सकता है। कार्य की उत्पत्ति में निमित्त नियम से होता है, परन्तु वह उपादान के समान कर्ता नहीं है। यदि एकान्त से निमित्त मात्र का निषेध किया जाता है तो द्वैत एकान्त मत का प्रसंग आता है। जीवगत रागादिभाव की उत्पत्ति में निमित्त का निषेध करने पर रागादि आत्मा के स्वभाव होंगे और स्वभाव में नित्यपना होने से रागादि का अभाव कभी भी नहीं होगा | इसलिए रागादिकों की उत्पत्ति में कर्मोदय का निमित्तपना स्वीकार किया है। निमित्त के सम्यक् परिज्ञान से पराधीन दृष्टि का विनाश और स्वाश्रित दृष्टि का लाभ होता है। जो कारण स्वयं कार्यरूप से परिणमता है, वह उपादान कारण है। जिस प्रकार मिट्टी स्वयं घटरूप से परिणमती है, इसलिए घट की उत्पत्ति में मिट्टी उपादान कारण है।

उपादान कारण के भेद :-

वह उपादान कारण दो प्रकार का है। १) त्रैकालिक उपादान, २) क्षणिक उपादान। १. **१. त्रैकालिक उपादान :-** जिस द्रव्य में और गुण में कार्य होता है, वह द्रव्य और गुण त्रैकालिक उपादान कहा जाता है। द्रव्य स्वभाव और गुण स्वभाव त्रिकाली उपादान है।

२. क्षणिक उपादान :- पर्याय स्वभाव क्षणिक उपादान है, वह भी दो प्रकार का है। १) अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय रूप क्षणिक उपादान और २) तत्समय की योग्यता रूप क्षणिक उपादान।

१) अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय रूप क्षणिक उपादान :- द्रव्य और गुणों में अनादि अनन्त पर्याय प्रवाह क्रम प्रवर्तता है। उनमें अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय क्षणिक उपादान कारण है और अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य है।

उसे ऐसा कहना चाहिए। अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय युक्त द्रव्य कारण है, अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय युक्त द्रव्य कार्य है।[२]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १०७

२. पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तर परिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा। कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा.२३०

नियत पूर्व क्षणवर्तीपना कारण का लक्षण है। नियत उत्तर क्षणवर्तीपना कार्य का लक्षण है।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि १) अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय का व्यय ही उत्तर क्षणवर्ती पर्याय रूप कार्य की उत्पत्ति का उपादान कारण है।

२) तत्समय की योग्यता रूप क्षणिक उपादान कारण :-

वस्तुतः पर्याय की तत्समय योग्यता ही उपादान कारण है तथा उस समयवर्ती पर्याय ही कार्य है। यह उपादान कारण, कारण और कार्य में अभेद दिखाता है, वही कहा है :-

"स एवैक: कार्यकारणव्यपदेशमार्गात् पर्यायार्थिकः।"

वही एक कार्यकारण के व्यपदेश के मार्ग से पर्यायार्थिक है। इससे जाना जाता है कि कार्य कारणभाव एक द्रव्य में, एक ही समय में, एक ही पर्याय में घटित होता है। क्षणिक उपादान कारण ही नियामक है। त्रिकाली उपादान कारण नियामक नहीं है। यदि त्रिकाली उपादान कारण समर्थ कारण माना जाता है तो त्रिकाली उपादान सदैव विद्यमान होने से सदैव ही कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग आयेगा | वैसा तो नहीं होता। जब उस कार्य की पर्यायगत योग्यता होती है, तब कार्य स्वयं ही सम्पन्न होता है।

शक्ति दो प्रकार की है। १) द्रव्यशक्ति, २) पर्यायशक्ति। दो शक्ति ही उपादान नाम से कही जाती है। केवल द्रव्यशक्ति कार्यकारी नहीं है। पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारिणी है। द्रव्यशक्ति नित्य है और पर्यायशक्ति अनित्य है। यह कार्य इसी द्रव्य में होता है, अन्य द्रव्य में नहीं, इस प्रकार त्रिकाली उपादान से निश्चय किया जाता है। और विवक्षित कार्य विवक्षित समय में ही होता है, यह क्षणिक उपादान कारण नियमित करता है।[2]

अतः दोनों उपादान महत्त्वपूर्ण हैं। यही तथ्य "प्रमेय कमल मार्तण्ड" में स्पष्ट किया है।

"यच्चोच्यते शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्यादि। तत्र किमयं द्रव्यशक्तौ पर्याये वा प्रश्न:स्यात्, भावानां द्रव्यपर्यायशक्त्यात्मकत्वात् तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव अनादिनिधनस्वभावत्वाद् द्रव्यस्य | पर्यायशक्तिस्त्वनित्यैव सादिपर्यवसानत्वात् पर्यायाणाम्।"

---

१. अष्टसहस्री, पृ. २११

२. डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, निमित्तोपादान एक अनुशीलन, पृ.सं. ११

शक्ति नित्य है और अनित्य है,ऐसा जो कहा जाता है, उसमें क्या यह द्रव्यशक्ति में है अथवा पर्याय में है, ऐसा प्रश्न होता है। क्योंकि भाव द्रव्य और पर्यायशक्ति स्वरूप हैं। उसमें द्रव्यशक्ति नित्य ही है, क्योंकि द्रव्य में अनादिनिधन स्वभावपना है। परन्तु पर्यायशक्ति अनित्य ही है क्योंकि पर्याय सादि सान्त होते है।

पर्यायशक्ति समन्वित द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी है। विशिष्ट पर्याय परिणत ही द्रव्य के कार्यकारीपना प्रतीति में आता है। वह परिणति इसकी सहकारी कारण की अपेक्षा से है। इस प्रकार पर्यायशक्ति उसी समय होने से सर्वदा कार्य उत्पत्ति का प्रसंग नहीं आता। सहकारी कारणों की अपेक्षा भी व्यर्थ नहीं है।[१]

इसलिए यह निश्चित किया जाता है कि सहकारी कारण की अपेक्षा सहित विशिष्ट पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी है। कार्य की उत्पत्ति कारण के अनुसार होती है। जैसा कारण वैसा कार्य होता है। अमृतचन्द्र आचार्य ने भी कहा है :-

"कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति।"[२] कारण के अनुसार कार्य होते हैं। इसलिए जौं पूर्वक जौं जौं ही होते हैं।

जिस प्रकार स्वर्णमय पदार्थ से स्वर्णमय कुंडल आदि भाव ही होते हैं, लोहमय भाव से लोहमय ही कटक आदि भाव होते हैं। उपादान कारण के सदृश कार्य होता है, ऐसा वचन है। जौं के बीज के बौने पर राजान्न - शालि फल नहीं होता। मिट्टी ही घट रूप होती है, कुम्भकार नहीं। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामों का कर्ता है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य की पर्याय का कर्ता नहीं है। यह वस्तुस्थिति है। इसलिए कहा है कि: -

"न हि वस्तुशक्तय: परमपेक्षन्ते।" [३]

वस्तु शक्तियां पर की अपेक्षा नहीं करती। षट्कारक रूप से भी स्वयं उपादान ही परिणमता है, भिन्न कारक की अपेक्षा नहीं करता। जयसेन आचार्य ने भी अभेद षट्कारक को दिखाया है, वह इस प्रकार है:- कर्म पुद्गल कर्ता कर्मपने को प्राप्त कर्म पुद्गल को कारणभूत

---

१. प्रमेय कमल मार्तण्ड, भा. २ परिच्छेद २, सू. २, पृ.सं. ५३८-५३९

२. समयसार - आत्मख्याति, गा. ६८

३. समयसार, तात्पर्यवृत्ति, गा. १२३-१२५

कर्म पुद्गल के द्वारा पुद्गल कर्म के निमित्त कर्म पुद्गल से अधिकरणभूत कर्म पुद्गल में कर्ता है। अभेद षट्कारक रूप से परिणमने वाला दूसरे कारक की अपेक्षा नहीं रखता। उसी प्रकार जीव भी आत्मा कर्ता, कर्मता को प्राप्त आत्मा की करणभूत आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा से, अधिकरणभूत आत्मा में कर्ता है। इस प्रकार अभेद षट्कारक रूप से अवस्थित रहनेवाला दूसरे कारक की अपेक्षा नहीं रखता। [१]

इसी से निश्चित होता है कि पर के साथ आत्मा का कारकत्व सम्बन्ध नहीं है। इसलिए शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री को खोजने की व्यग्रता से परतन्त्र नहीं होना चाहिए।

जयसेन आचार्य ने उपादान कारण के शुद्ध अशुद्ध रूप से दो भेद किये हैं। अशुद्ध पर्याय सहित जीव अशुद्ध उपादान कारण है। शुद्ध परिणाम परिणत जीव शुद्ध उपादान कारण है। आत्मा शुद्ध उपादान कारण के द्वारा शुद्ध भावों का कर्ता है, अशुद्ध उपादान के द्वारा रागादि अशुद्ध भावों का कर्ता है। शुद्ध अशुद्ध उपादान का लक्षण स्वयं जयसेन आचार्य ने कहा है, वह इस प्रकार है :-

"औपाधिकमुपादानमशुद्धं तप्तायःपिण्डवत् निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् अनन्तज्ञानादि गुणानां सिद्धजीववत् उष्णत्वादिगुणानामग्निवत्।"[२]

औपाधिक उपादान अशुद्ध उपादान है, तपे हुए लोहे के गोले के समान। निरुपाधि रूप उपादान शुद्ध है पीतत्त्व आदि गुणों का स्वर्ण के समान। अनन्त ज्ञान आदि गुणों का सिद्ध जीव के समान | उष्णत्व आदि गुणों का अग्नि के समान। वस्तुत: सर्व कार्य की उत्पत्ति में दोनों अन्तरंग कारण का सद्भाव रहता ही है। जब उपादान की कार्यरूप परिणमन की योग्यता होती है, तब वह स्वयं कार्यरूप से परिणमता है। तब वहाँ निमित्त उपस्थित होता है क्योंकि निमित्त और उपादान की नियम से काल प्रत्यासत्ति है।

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ६२

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १०१

नयनिरूपण

नय ज्ञान की आवश्यकता :-

सम्पूर्ण जिनागम नय भाषा में निबद्ध है। अत: जिनागम का हृदय जानने के लिए नय ज्ञान की महती आवश्यकता है। प्रमाण, नयों के द्वारा वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है। वस्तु का स्वरूप अनेकांतमय है। अनेकान्त स्वरूप का प्रकाशन स्याद्वाद के द्वारा ही संभव है, परन्तु स्याद्वाद का निरूपण नय का आश्रय करके होता है। नयज्ञान के बिना एकान्त आग्रह का नाश नहीं होता। एकान्त आग्रह के अभाव के बिना अनेकान्तमय वस्तु स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती | वस्तुस्वरूप के परिज्ञान के बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। वही द्रव्य स्वभाव प्रकाशन नयचक्र में कहा है :-

"जे णयदिट्ठी विहिणा ताण ण वत्थूसहाव उवलद्धि।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति ॥"[1]

जो नय दृष्टि से रहित हैं, उनको वस्तु स्वभाव की उपलब्धि नहीं होती। वस्तु स्वभाव से अनभिज्ञ जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ? किसी भी प्रकार से नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग का लाभ नहीं होता।

अनादिकालीन मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेदन आत्मानुभव के बिना नहीं होता। आत्मानुभव आत्म परिज्ञानपूर्वक होता है। अनन्त धर्मात्मक आत्मा का सम्यग्ज्ञान शुद्ध नय से ही होता है। इसलिए कहा है "णयमूलो अणेयंतो" [2]। नय का मूल अनेकान्त है। आत्मा स्वभाव से नय पक्षातीत है, तथापि नय ज्ञान के बिना पर्याय में उस प्रकार नहीं हो सकता है। विकल्पात्मक नय ज्ञान के बिना निर्विकल्पक आत्म अनुभूति नहीं हो सकती।[3] नयस्वरूप जानने के लिए नयचक्रकार माइल्ल धवल प्रेरित करते हैं :-

---

१. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गा.सं. १८१

२. द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गा.सं. १७५

३. श्रुतभवन दीपक नयचक्र, पृ. २९

"यदि लीलामात्रेणाज्ञानमहोदधिमुत्तरितुमिच्छेत् तर्हि दुर्णयतिमिरमार्तण्डं नयचक्रं ज्ञातुं मतिं कुर्यात्। यथा लवणं सकलव्यंजनशुद्धिकरं सुस्वादुकरं च तथा समस्त शास्त्राणां शुद्धिकरं नयचक्रं विलसति। सुनयज्ञानरहितानां जीवानां सम्यक्श्रुतज्ञानमपि मिथ्याभवति।"[1]

यदि लीलामात्र से अज्ञानसागर को पार उतरने की इच्छा है तो दुर्नय रूपी अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य समान नयचक्र को जानने की मति करे। जिस प्रकार नमक सर्व व्यंजनों की शुद्धि एवं सुस्वादु करने वाला है, उसी प्रकार सम्पूर्ण शास्त्रों की शुद्धि करने वाला नयचक्र है। सुनय ज्ञान से रहित जीवों का सम्यक् श्रुतज्ञान भी मिथ्या है।

नय का सामान्य स्वरूप :-

वस्तु अनन्त धर्मात्मक हैं। उन अनन्त धर्मों का एक साथ निरूपण अशक्य है। उसमें, प्रमाण, वस्तु में अंश भेद न करके सम्पूर्ण वस्तु को सम्पूर्ण रूप से यथार्थ ग्रहण करता है, परन्तु नय, प्रमाण के द्वारा ग्रहीत वस्तु में गुण, धर्म और पर्यायों के द्वारा अंश भेद करके उसके एक अंश को ग्रहण करता है। नाना स्वभाव से संयुक्त वस्तु को ग्रहण करके पश्चात् एकान्तवाद का निराकरण करने के लिए नय योजना करनी चाहिए। जयसेन आचार्य ने भी पञ्चास्तिकाय संग्रह की तात्पर्यवृत्ति में इस विषय में कहा है : -

वस्तु ग्राहक प्रमाण कहा जाता है, परन्तु नय शब्द से वस्तु के एकदेश को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय रूप विकल्प कहा जाता है।[2]

प्रमाण सकलादेशी है, परन्तु नय विकलादेशी है। यद्यपि प्रमाण के सकलादेशपना होने से पूज्यपना कहा है, तथापि उससे वस्तु का मूल स्वरूप जानना शक्य नहीं है। इसलिए परमागम में शुद्ध नयों का कथन विशेष रूप से कहा है।

---

१. जइ इच्छह उत्तरिदुं अण्णाणमहोवहिं सुलीलाए।
ता णादुं कुणह मइं णयचक्के दुणयतिमिरमत्तण्डे ॥४१९॥
लवणं व इणं भणियं णयचक्कं सयल सत्थसुद्धियरं।
सम्मा वि य सुअ मिच्छा जीवाणं सुणयमग्गरहियाणं ॥४१७॥
द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गा. ४१९, ४१७

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. ४५

"नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नयः । इति नयशब्दस्य निरूक्त्यर्थः ।"[१]

नाना स्वभावों से व्यावृत्त होकर एक स्वभाव में वस्तु को ले जाता है अथवा प्राप्त कराता है, वह नय है। इस प्रकार नय शब्द का निरूक्ति अर्थ है।

नय अनन्त धर्मात्मक पदार्थ के एक धर्म को एक समय में विषय करता है। नय कथन में विवक्षित धर्म की प्रधानता और अविवक्षित धर्म की अप्रधानता होती है। ज्ञानी वक्ता जब अपने अभिप्राय के अनुसार एक धर्म का प्ररूपण करता है तब विवक्षा के वश से वह धर्म मुख्य तथा अन्य धर्म गौण रूप से रहते हैं। अविवक्षित धर्मों का वह निषेध नहीं करता। अविवक्षित धर्मों का निषेध करने पर वह नय नहीं है, दुर्नय है। प्रमेय कमल मार्तण्ड में नय की परिभाषा कही है :-

"अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः इति "[२]

जिसमें प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं किया है, वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है। नय गौण धर्मों का निराकरण नहीं करता, उनके विषय में मौन धारण करता है।

यहाँ जयसेन आचार्य के निश्चय व्यवहार सम्बन्धी विचार और भेद प्रभेदों को प्रस्तुत करते हैं :-

आचार्य जयसेन नयविज्ञ, नयमर्मज्ञ और नयस्वरूप के अच्छे विवेचक थे। उनके द्वारा विरचित वृत्ति ग्रन्थों में सर्वत्र नय सापेक्ष स्पष्टीकरण दिखाई देता है। स्थान स्थान पर निश्चय और व्यवहार का यथायोग्य प्रयोग किया है। जिनमार्ग का वक्ता और श्रोता उभय नयज्ञ होना चाहिए। नय ज्ञान के बिना, कहाँ पर किस अभिप्राय से वर्णन किया है, वह नहीं जाना जाता। अमृतचन्द्र आचार्य ने वही कहा है :-

"व्यवहारनिश्चयज्ञा: प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ।"[३]

व्यवहार निश्चय को जानने वाले इस लोक में धर्म का प्रवर्तन कर सकते हैं।

---

१. आलाप पद्धति, सू.सं. १८१

२. प्रमेय कमल मार्तण्ड, परिच्छेद ६, सू. ७४, पृ. ६७६, मुम्बई प्रकाशन

३. पुरूषार्थ सिद्धयुपाय, श्लोक सं. ४

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का विवेचन :-

वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। वस्तु के सामान्य अंश को द्रव्य और विशेष अंश को पर्याय कहते हैं। वहाँ सामान्य अंश का ग्राहक ज्ञान विकल्प द्रव्यार्थिक नय है। विशेष अंश का ग्राहक ज्ञान विकल्प पर्यायार्थिक नय कहा जाता है।

द्रव्य स्वभाव प्रकाशन नयचक्र में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की परिभाषा इस प्रकार की है :-

"पज्जयगउणं किच्चा दव्वं पि य जोउ गिह्णइ लोए ॥
सो दव्वत्थिय भणिओ विवरीओ पज्जयत्थिणओ।"[१]

जो पर्याय को गौण करके द्रव्य को मुख्य रूप से ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है। जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। वस्तु स्वरूप के अवलोकन में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो चक्षु हैं, उसमें जब पर्यायार्थिक दृष्टि को बन्द करके द्रव्यार्थिक दृष्टि से वस्तु देखी जाती है, तब नारक, तिर्यञ्च मनुष्य, देव, सिद्धत्व पर्यायों में स्थित रहनेवाला जीव सामान्य ही प्रतिभासित होता है। जब पुनः द्रव्यार्थिक दृष्टि को बंद करके पर्यायार्थिक दृष्टि से देखा जाता है, तब जीवद्रव्य में अवस्थित नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, सिद्धत्व आदि पर्यायें भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होती हैं।[२] इसी प्रकार का अभिमत जयसेन आचार्य ने स्पष्ट किया है, वह इस प्रकार है।

"द्रव्यार्थिकनयेन यदा वस्तुपरीक्षा क्रियते तदा द्रव्यमपि पर्यायसन्तानरूपेण सर्वं पर्यायकदम्बकं द्रव्यमेव प्रतिभाति। यदा तु पर्यायनय विवक्षा क्रियते तदा द्रव्यमपि पर्यायरूपेण भिन्नं भिन्नं प्रतिभाति। यदा च परस्परसापेक्षया नयद्वयेन युगपत्समीक्ष्यते तदैकत्वमन्यत्वं च युगपत्प्रतिभातीति।"[३]

द्रव्यार्थिक नय से जब वस्तु की परीक्षा की जाती है तब द्रव्य भी पर्याय सन्तान रूप से सर्व पर्यायों का समूह द्रव्य प्रतिभासित होता है। परन्तु जब पर्यायार्थिक नय की विवक्षा की जाती है तब द्रव्य भी पर्यायरूप से भिन्न प्रतिभासित होता है। जब परस्पर सापेक्ष नय द्वय से एक साथ देखा जाता है, तब एकत्व और अन्यत्व एक साथ प्रतिभासित होता है।

---

१. द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गा.सं. १८९
२. प्रवचनसार - तत्त्वप्रदीपिका, गा. ११४
३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. १२४

द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य का लक्षण सत्ता है। पर्यायार्थिक नय से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण द्रव्य कहा है। पर्यायार्थिक नय से द्रव्य क्षणिक, अनित्य, विनश्वर है। द्रव्यार्थिक नय से नित्य, अविनश्वर है। उत्पाद दो प्रकार का कहा है -

१. सद्भाव निबद्ध, २. असद्भाव निबद्ध

द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से सद्भाव निबद्ध उत्पाद है, क्योंकि जो पूर्व में गृहस्थ है, वही जिनदीक्षा ग्रहण करके निश्चय रत्नत्रय रूप परमात्म ध्यान से केवली हो गया, अन्य नहीं। इस प्रकार पुरुषत्व से अविनष्ट होने से सद्भाव निबद्ध उत्पाद कहा जाता है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से असद्भाव निबद्ध उत्पाद है क्योंकि सराग अवस्था से भिन्न ही निरूपराग, परमात्म पर्याय है, वही नहीं है। पूर्वपर्याय से अन्यत्व होने से असद्भाव निबद्ध उत्पाद कहा जाता है।[१] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का निर्देश बाहुल्य रूप से नहीं किया है इसलिए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का प्रयोग सिद्धान्त ग्रन्थों में किया जाता है। अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार का प्रयोग विपुलता से किया जाता है। किसी स्थान पर पर्यायार्थिक नय का व्यवहार रूप से और द्रव्यार्थिक नय का निश्चय रूप से उल्लेख दिखाई देता है। वह इस प्रकार है :-

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति। ऐकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन निर्णयो भवति"[२]

निश्चय व्यवहार का स्वरूप और भेद-प्रभेद : -

आगम में नयों के विविधप्रकार से भेद प्रभेद कहे हैं। कहीं पर तीन प्रकार का, कहीं पर सात प्रकार का, अन्यत्र सैंतालीस प्रकार का प्राप्त होता है। उसमें अध्यात्म पद्धति में दो मूल नय कहे हैं, निश्चय और व्यवहार। आलाप पद्धति में उसी प्रकार कहा है :-

"पुनरध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च।"[३]

अध्यात्म भाषा से नय कहे जाते हैं। उनमें मूलनय दो हैं। निश्चय और व्यवहार। उसमें एक वस्तु के धर्मों में जो कथञ्चित् भेद और उपचार करता है, वह व्यवहार नय है। उससे

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १२१

२. वहीं पर, गा. २७७

३. आलाप पद्धति, सू. २१२-२१३

विपरीत एक वस्तु में जो भेद नहीं करता, वह निश्चयनय है। उसी प्रकार कहा है :- अभेद अनुपचार रूप से वस्तु का निश्चय किया जाता है, वह निश्चय है। भेदोपचार रूप से वस्तु का व्यवहार किया जाता है, वह व्यवहार है।[१]

जिस प्रकार निश्चयनय से भेदरूप से अग्नि एक ही है। पश्चात् भेदरूप व्यवहार से जलाती है इसलिए दाहक, पकाती है इसलिए पाचक, प्रकाश करती है इसलिए प्रकाशक | इस प्रकार विषयभेद से तीन प्रकार से भेदी जाती है, उसी प्रकार जीव भी निश्चयरूप अभेदनय से शुद्ध चैतन्य रूप होने पर भी भेदरूप व्यवहारनय से जानता है इसलिए ज्ञान; देखता है इसलिए दर्शन; आचरण करता है इसलिए चारित्र। इस प्रकार विषय भेद से तीन प्रकार से भेदा जाता है।

निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा है। समयसार परमागम में कुन्दकुन्द आचार्य ने भी स्पष्ट कहा है :-

"ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।"[२]

व्यवहार नय अभूतार्थ असत्यार्थ कहा गया है। शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय भूतार्थ सत्यार्थ कहा गया है। व्यवहार नय अभूत अर्थात् अविद्यमान अर्थ को विषय करता है। इस प्रकार अमृतचन्द्र आचार्य ने व्यक्त किया है। जयसेन आचार्य ने पूर्वोक्त अर्थ को स्वीकार करके भी दूसरे प्रकार से व्याख्यान किया है, वह इस प्रकार है।

"व्यवहारनय: अभूतार्थ: भूतार्थश्च न केवलं व्यवहारो देशितः शुद्धनिश्चयनयोऽपि। दुशब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोऽपीति व्याख्यानेन भूताभूतार्थ भेदेन व्यवहारोऽपि द्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति नयचतुष्टयम्।"[३]

व्यवहार नय अभूतार्थ है और भूतार्थ है। न केवल व्यवहार नय, शुद्ध निश्चयनय भी कहा है। 'दु' शब्द से यह शुद्ध निश्चयनय भी" इस प्रकार व्याख्यान से भूत अभूतार्थ भेद से व्यवहार भी दो प्रकार का है। और शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय के भेद से निश्चयनय भी दो

---

१. आलाप पद्धति, सू. २०४-२०५

२. समयसार, गा. ११

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १३

प्रकार का है। इस प्रकार चार नय हैं। इससे जयसेन आचार्य का सूक्ष्म विवेचन, पटुपना और दूरदृष्टि परिलक्षित होती है। यदि व्यवहार सर्वथा अभूतार्थ मानते हैं तो महान अनर्थ होगा और स्वैराचार फैलेगा। इसलिए उन्होंने व्यवहार कथञ्चित् भूतार्थ और कथञ्चित् अभूतार्थ माना है। इस मत को लक्ष्य करके ही व्यवहार के सद्भूत और असद्भूत ऐसे दो भेद किये हैं। असद्भूत व्यवहार के समान गुण गुणी भेद रूप सद्भूत व्यवहार भी अभूतार्थ है ऐसा मानेंगे तो गुणों का अभाव होगा। गुण के अभाव में गुणी का भी अभाव होगा। इसलिए व्यवहार कथञ्चित् भूतार्थ कहा है।

निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार अभूतार्थ है परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार भूतार्थ है, वही जयसेन आचार्य ने कहा है :

"सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा तथा व्यवहारूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति, जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति तथा सत्यतिप्रसंग:। एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति।"[1]

सौगत आदि मत में जैसे निश्चय अपेक्षा से व्यवहार असत्य है, उसी प्रकार व्यवहार रूप से भी व्यवहार सत्य नहीं है। जैन मत में पुनः व्यवहार नय यद्यपि निश्चय की अपेक्षा से असत्य है, तथापि व्यवहार रूप से सत्य है। यदि पुनः लोक व्यवहार रूप से भी सत्य नहीं होगा तो सभी लोक व्यवहार मिथ्या होता है और वैसा होने पर अतिप्रसंग दोष आता है। इस प्रकार आत्मा व्यवहार से परद्रव्य को जानता है, देखता है। निश्चय से पुनः स्वद्रव्य को ही जानता, देखता है।

समयसार परमागम में भी शिष्य ने शंका की है कि यदि व्यवहार असत्य है तो परमार्थ ही एक कहना चाहिए, व्यवहार नहीं। आगम में उसका उपदेश किसलिए किया है ? उसके समाधान के लिए आचार्य ने कहा है कि अज्ञानी जन को प्रतिबोध कराने के लिए व्यवहार नय की स्थापना की है। जिस प्रकार म्लेच्छ, म्लेच्छ भाषा के बिना अर्थ ग्रहण रूप से संबोधन

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३८४-३९४

करने के लिए शक्य नहीं है उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना परमार्थ का उपदेश करना अशक्य है। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जयसेन आचार्य ने दृष्टान्त के द्वारा कहा है। जिस प्रकार कोई ब्राह्मण अथवा यति ने "स्वस्ति" ऐसा कहने पर "स्वस्ति" का अर्थ अविनश्वरपना है, यह न जानते हुए मेंढे की भांति देखता है।

परन्तु जब उभय भाषा को जानने वाले उसी ब्राह्मण के द्वारा अथवा अन्य के द्वारा म्लेच्छ भाषा का अवलम्बन करके "तुम्हारा अविनाशी कल्याण हो" इस स्वस्ति अर्थ को कहा, तब संतुष्ट होकर जानता है। उसी प्रकार यह अज्ञानीजन भी "आत्मा है" ऐसा कहने पर आत्मा शब्द के अर्थ को न जानता हुआ भ्रान्ति से देखता ही है। जब पुन: व्यवहार निश्चय को जानने वाले पुरुष के द्वारा 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र' जीव शब्द का अर्थ है, इस प्रकार कहा जाता है, तब संतुष्ट होकर जानता है। [१]

इस प्रकार निश्चय को समझाने के लिए व्यवहार नय कहना चाहिए। उसी के लिए आगम में व्यवहार नय की व्यवस्था की है। व्यवहार नय निश्चय का प्रतिपादक होने से प्रतिपादनीय है परन्तु अनुसरण करने योग्य नहीं है। क्योंकि जो व्यवहारनय का आश्रय करते हैं वे अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हुए मिथ्यादृष्टि होते हैं और जो निश्चयनय का आश्रय करते हैं, वे ही शुद्धात्मा का अनुभव करते हुए सम्यग्दृष्टि होते हैं। जिस प्रकार कोई ग्रामीण पुरुष कीचड सहित पानी को पीता है, पुन: नागरिक विवेकी जन कतकफल को डालकर निर्मल पानी को पीता है, उसी प्रकार स्वसंवेदनरूप भेद भावना से शून्यजन मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणामों सहित आत्मा का अनुभव करता है। पुनः सद्दृष्टिजन अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के बल से कतक फल स्थानीय निश्चयनय का आश्रय करके शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।[२]

निर्विकल्प समाधि में रत पुरुषों को भूतार्थ निश्चयनय प्रयोजनवान है। परन्तु निर्विकल्प समाधि रहित पुरुषों को षोडश वर्णिका स्वर्ण के लाभ के अभाव में अध:स्तन वर्णिका के स्वर्ण के लाभ के समान किन्हीं प्राथमिक लोगों को कदाचित् सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय, कषाय रूप दुर्ध्यान से बचने के लिए व्यवहार नय भी प्रयोजनवान है।

व्यवहार नय की सार्थकता और निरर्थकता प्रतिपादन करते हुए जयसेन आचार्य ने कहा है :-

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.८

२. वहींपर, गा. ११

"यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारम्भप्रस्तावे सविकल्पावस्थायां निश्चयसाधकत्वाद्व्यवहारनयः सप्रयोजनस्तथापिविशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थितानां निष्प्रयोजनः कस्मात् कर्मभिरमुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रियमाणत्वात्।" [1]

यद्यपि प्राथमिक अपेक्षा से प्रारम्भ प्रस्ताव में सविकल्प अवस्था में निश्चय का साधक होने से व्यवहार नय सप्रयोजन है, तथापि विशुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षण शुद्धात्मा में स्थित जीवों को निष्प्रयोजन है, क्योंकि कर्म से नहीं छूटने वाले अभव्य के द्वारा भी इसका आश्रय किया जाता है।

अभव्य जीव व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपश्चरण आदि का आचरण करता है, ग्यारह अंग के श्रुत का अध्ययन भी करता है, परन्तु उसके शुद्धात्मा का परिज्ञान नहीं है। इसलिए उसके शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धान ज्ञान अनुभव रूप निश्चय का अभाव होने से व्यवहारनय का आश्रय करके भी मोक्ष नहीं होता।

व्यवहार नय निषेध्य है और निश्चय निषेधक है। निश्चय मोक्षमार्ग में स्थित जीवों को नियम से मोक्ष होता है। व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित जीवों को मोक्ष होता है, अथवा नहीं होता। कैसे, होता है अथवा नहीं होता है? ऐसा पूछने पर कहते हैं:- यदि मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से शुद्धात्मा को उपादेय करके प्रवृत्त नहीं होता है, तब मोक्ष नहीं होता।[2] निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय में स्थित होकर व्यवहार छोडने योग्य है, परन्तु उस त्रिगुप्त अवस्था में व्यवहार स्वयमेव नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित होता है कि निश्चयनय का विषय अभेद, व्यवहार नय का विषय भेद, निश्चयनय प्रतिपाद्य, व्यवहार नय प्रतिपादक, निश्चयनय निषेधक, व्यवहारनय निषेध्य, निश्चयनय भूतार्थ, व्यवहार नय अभूतार्थ है।

निश्चयनय के भेद प्रभेद:-

यद्यपि निश्चयनय अभेद्य होने से एक ही है तथापि जिनागम में विवक्षा के वश से उसके भी भेद प्रभेद किये हैं। जयसेन आचार्य ने भी जिनागम कथित निश्चय प्रभेदों का अनुसरण करके, कहाँ पर कौन सा निश्चय प्रयुक्त किया है, स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया है। मूलतः निश्चय दो प्रकार का कहा है। शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय। इनमें प्रथम जिनागम में शुद्ध निश्चयनय का विविध प्रकार से कथन प्राप्त होता है। विषयानुसार उसके अनेक प्रकार के विशेषण प्रयुक्त करते हैं।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २९१

२. वहीं पर, गा. २९५-२९६

जिस प्रकार परम शुद्धनिश्चय, सूक्ष्म शुद्धनिश्चय, साक्षात् शुद्धनिश्चय, एकदेश शुद्धनिश्चय, इत्यादि। शुद्धनिश्चय मुख्यतः तीन प्रकार का है। १) परम शुद्धनिश्चय, २) शुद्धनिश्चय (साक्षात् शुद्धनिश्चय), ३) एकदेश शुद्धनिश्चय।

१) परम शुद्धनिश्चय : -

यह नय त्रिकाली शुद्ध परम पारिणामिक सामान्य भाव को ग्रहण करता है। समयसार परमागम में मुख्यता से इस नय का ही अधिकार है। तात्पर्यवृत्ति में सर्वत्र भावार्थ में परम शुद्ध निश्चयनय का विषयभूत शुद्धात्मा ही उपादेय कहा है। वह इस प्रकार है:-

१) "शुद्धनिश्चयनयेन आद्यन्तरहितेन चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थं जीवास्तिकायाभिधानं शुद्धात्मद्रव्यं ध्यातव्यमित्यभिप्रायः। "[१]

शुद्ध निश्चयनय से आदि अन्तरहित चिदानन्द एक स्वभाव से भरितावस्थ जीवास्तिकाय नामक शुद्ध आत्मद्रव्य ध्यान करने योग्य है, ऐसा अभिप्राय है। यही निश्चयनय श्रुत द्रव्यार्थिक नाम से सम्बोधित है। वह इस प्रकार है :-

सर्वविशुद्ध पारिणामिक परम भाव ग्राहक शुद्ध उपादान रूप शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष आदि का कारणभूत परिणाम से शून्य ही है।[२] यही नय जयसेन आचार्य ने सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय नाम से उल्लिखित किया है, वह इस प्रकार है :-

"वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन मिथ्यात्वरागादिभावाः न सन्त्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिताः। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति पृच्छामो वयं ? सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनयेन तेषामस्तित्वमेव नास्ति।" [३]

वस्तुतः तो सूक्ष्मशुद्ध निश्चयनय से मिथ्यात्व राग आदि भाव हैं ही नहीं। अज्ञान से उत्पन्न कल्पित हैं। वस्तुतः सूक्ष्म निश्चयनय से किसके हैं ? ऐसा हम पूछते हैं। सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से उनका अस्तित्व ही नहीं है।

२) शुद्धनिश्चय (साक्षात् शुद्धनिश्चय) : -

निरुपाधिक गुण गुणी में अभेद को विषय करने वाला शुद्धनिश्चय है। जैसे केवलज्ञान आदि जीव हैं। [४]

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १५

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३२८-३३१

३. वहीं पर, गा. ११६-११९

४. आलाप पद्धति, सू. २१६

यह नय पूर्ण शुद्ध पर्याय रूप क्षायिकभाव से आत्मा को अभिन्न कहता है। उनके कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन करता है। इस नय के अनेक प्रकार के उदाहरण जयसेन आचार्य की तात्पर्यवृत्ति में प्राप्त होते हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. शुद्धनिश्चय से केवलज्ञान आदि शुद्धभाव स्वभाव कहे जाते हैं। [१]

२. शुद्ध निश्चयनय से तो केवलज्ञानादि शुद्ध भावों का परिणमन रूप कर्तृत्व है।[२]

३. शुद्धनिश्चय से निरुपाधिक स्फटिक के समान समस्त रागादि विकल्प रूप उपाधि से रहित है।[३]

४. निश्चय से क्षायिक शुद्ध पारिणामिक भाव ये दो भाव लक्षण वाला है। [४]

३. एकदेश शुद्ध निश्चयनय :-

यह नय एकदेश निर्मल पर्याय को विषय करता है। एकदेश निर्मल पर्याय से द्रव्य सामान्य को तन्मय बताता है। यह नय क्षायोपशामिक भाव अशुद्ध के अंश को द्रव्य से अभिन्न कहता है। वह इस प्रकार है :-

"विवक्षितैकदेश शुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षण भेदक्षायोपशामिक ज्ञानत्वेन यद्यप्येक देशव्यक्ति रूपा भवति।" [५]

विवक्षित एकदेश शुद्धनय के आश्रित यह भावना निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशामिक ज्ञान होने से यद्यपि एकदेश व्यक्ति रूप है।

परम शुद्ध निश्चयनय का विषयभूत आत्मद्रव्य ध्येय है। उसके आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप एकदेश निर्मल पर्याय मोक्षमार्ग रूप साधन है। उसी ध्रुव आत्मतत्त्व के परिपूर्ण आश्रय से उत्पन्न पूर्ण शुद्ध पर्याय मोक्ष रूप साध्य है। एकदेश शुद्ध निश्चयनय का विषयभूत मोक्षमार्ग रूप पर्याय से परिणत आत्मा है। शुद्ध निश्चयनय का विषय मोक्ष पर्याय से परिणत आत्मा है । परमशुद्ध निश्चयनय का विषय बंध मोक्ष रहित शुद्धात्मा है।

---

१. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति गा.६७

२. वहीं पर गा. १३०

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, परिशिष्ट

४. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा. १०३

५. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३४१

अशुद्ध निश्चयनय :-

सोपाधिक गुण गुणी में अभेद को विषय करनेवाला अशुद्ध निश्चय है ।[१] जिस प्रकार, मति ज्ञानादिक जीव है । यह नय औदयिक भाव और क्षायोपशामिक भाव के अशुद्ध अंश के साथ जीव का अभेद दिखाता है । रागद्वेष आदि विकारी भावों का कर्तृत्व और भोक्तृत्व बताता है। वह इस प्रकार है :-

१) तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत् समस्तरागादि विकल्पोपाधिसहितम् ।[२]

वही अशुद्ध निश्चयनय से सोपाधिक स्फटिक के समान समस्त रागादि विकल्परूप उपाधि से सहित है।

२) अशुद्धनिश्चयनयेन क्षायोपशमिकौदयिकभावप्राणैर्जीवति । [३]

अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिक औदयिक भाव प्राणों से जीता है ।

३) कर्मकर्तृत्व प्रस्तावादशुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि स्वभावा भण्यन्ते । [४]

कर्म, कर्तृत्व के प्रस्ताव से अशुद्ध निश्चय से रागादिक भी स्वभाव कहे जाते हैं ।

अशुद्ध निश्चयनय का अर्थ :-

कर्मोपाधि से उत्पन्न होने से अशुद्ध है । उस काल में तपे हुए लोहे के गोले के समान तन्मय होने से निश्चय है । इस प्रकार दोनों के मिलाप से अशुद्ध निश्चय कहा जाता है । [५]

वस्तुतः शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से अशुद्ध निश्चयनय, व्यवहार नय ही है । इसलिए आगम में कहीं कहीं पर व्यवहार नय से जीव के रागादिभाव कहे हैं । वहाँ अशुद्ध निश्चय की व्यवहार संज्ञा जाननी चाहिए, इसलिए विरोध नहीं है । जयसेन आचार्य ने भी जहाँ तहाँ स्पष्टीकरण किया है, वह इस प्रकार है :-

"अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मण: । स चाशुद्धनिश्चयो यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसञ्ज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव ।"[६]

---

१. आलाप पद्धति. सू. २१७
२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, परिशिष्ट
३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.२
४. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ६१
५. बृहद् द्रव्यसंग्रह गा. ८
६. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १०९

अज्ञानी जीव अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्ध उपादान रूप से मिथ्यात्व रागादि भावों का ही कर्ता है, द्रव्यकर्म का नहीं, और वह अशुद्ध निश्चय यद्यपि द्रव्यकर्म कर्तृत्व रूप अशुद्ध व्यवहार की अपेक्षा से निश्चय संज्ञा को प्राप्त होता है तथापि शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार ही है।

"रागादिभाव कर्मणां योऽसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसंज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभिः सह तारतम्यज्ञापनार्थम्। कथं तारतम्यमितिचेत् द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षयाचेतनान्येव । यतः कारणादशुद्ध निश्चयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।"[1]

रागादि भाव कर्मों का जो यह व्यवहार है, उसकी अशुद्धनिश्चय संज्ञा है। द्रव्य कर्मों का भाव कर्मों के साथ तारतम्य दिखाने के लिए। कैसे तारतम्य ? ऐसा पूछने पर कहते हैं:- द्रव्यकर्म अचेतन हैं और भावकर्म चेतन हैं, तथापि शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से अचेतन ही हैं। जिस कारण से अशुद्धनिश्चय भी शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार ही है।

व्यवहारनय के भेद प्रभेदः -

व्यवहार नय एक अखंड वस्तु में भेद करके तथा दो भिन्न वस्तुओं में अभेद करके वस्तु स्वरूप का विवेचन करता है। उसका यह वैशिष्ट्य लक्षित करके वह दो प्रकार का भेदा जाता है, वह इस प्रकार है :-

१) सद्भूतव्यवहार नय २) असद्भूतव्यवहार नय | उसमें एक वस्तुको विषय करने वाला सद्भूत व्यवहार है और भिन्न वस्तुको विषय करने वाला असद्भूत व्यवहार है।[2]

सद्भूत व्यवहारनय :-

यह नय अनन्त धर्मात्मक एक अखंड वस्तु में गुण, धर्म, स्वभाव, पर्याय के द्वारा भेद करके वस्तु स्वरूप को प्रगट करता है। स्वभाव से वस्तु अखंड, अभेद एक ही है तथापि उसमें भेद उत्पन्न करके निरूपण करना, सद्भूत व्यवहार नय की कथन शैली है। अनन्त धर्मात्मक, अभेद, एक, अखंड वस्तु स्वरूप को न जानने वाले शिष्यों को प्रतिबोधन करने के लिए इस नय का प्रयोग किया जाता है। वही अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा है :

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १२०-१२२

२. आलाप पद्धति सू. २१८, २१९

"अनन्तधर्मण्येकस्मिन्धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरीणां धर्मधर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेश:।"[१]

"अनन्त धर्म स्वरूप एक धर्मी में अनिष्णात शिष्य को उसका ज्ञान कराने वाले कुछ धर्मों के द्वारा उसका उपदेश करने वाले आचार्यों का, धर्मधर्मी में स्वभावका अभेद होने पर भी कथन की अपेक्षा भेद उत्पन्न करके व्यवहार मात्र से ही ज्ञानी के दर्शन ज्ञान चारित्र है, ऐसा उपदेश है।"

यहाँ जिस द्रव्य के जो गुण, धर्म, स्वभाव कहे गये हैं, उसी वस्तु में विद्यमान होने से सद्भूत हैं। अखंड वस्तु में गुण और धर्म के द्वारा भेद करने से व्यवहार है। भेदाभेदात्मक वस्तु के भेद अंश को ग्रहण करने से नय ऐसा कहा जाता है।

असद्भूत व्यवहार नयः

यह नय संयोग सम्बन्ध आदि का आश्रय करके भिन्न द्रव्यों में अभेद करके वस्तु स्वरूप को व्यक्त करता है। वस्तुतः दो भिन्न द्रव्यों में अभेद नहीं है। इसलिए यह असद्भूत व्यवहारनय ऐसा कहा जाता है। कहा भी है :-

"अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणम सद्भूतव्यवहार: ।"[२]

अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र (अन्य वस्तु में) आरोप करना, असद्भूत व्यवहार नय है।

प्रत्येक शब्द की सार्थकता :-

असत्य का आरोप करने से असद्भूत है। भिन्न दो द्रव्यों में अभेद कहने से व्यवहार है। संयोग को बताने वाले सम्यक् श्रुतज्ञान का अंश होने से नय है, ऐसा कहा जाता है।

सद्भूत और असद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित और उपचरित भेद के द्वारा दो प्रकार का है।

१. अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय
२. उपचरित सद्भूत व्यवहारनय
३. अनुपचरितासद्भूत व्यवहार नय
४. उपचरितासद्भूत व्यवहार नय

---

१. समयसार - आत्मख्याति, गा. ७
२. आलाप पद्धति, सू. २०७

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय:-

"निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञानादयः गुणा: ।"[१]

निरुपाधि गुण गुणी में भेद को विषय करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है। जिस प्रकार जीव के केवलज्ञान आदि गुण हैं।

जयसेन आचार्य ने स्वरचित वृत्तियों में कहाँ पर कौन सा व्यवहार विवक्षित है, वह स्पष्ट रूप से लिखा है। उन वृत्तियों में अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय के बहुत उदाहरण प्राप्त होते हैं। वे इस प्रकार हैं:-

१. भेदरूपव्यवहार नय :-

(सद्भूत व्यवहार नय) से जानता है, वह ज्ञान; देखता है, वह दर्शन; आचरण करता है, वह चारित्र; इस प्रकार व्युत्पत्ति से विषय भेद से तीन प्रकार से भेदा जाता है। [२]

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय की शुद्ध असद्भूत व्यवहार नय ऐसी भी संज्ञा देखी जाती है। वह इस प्रकार है। केवलज्ञान, दर्शन के प्रति शुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है।[३] जयसेन आचार्य ने भी शुद्ध सद्भूत व्यवहार रूप से उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है :-

"शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतपुद्गल परमाणुव-त्केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतम्" [४]

शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय से शुद्ध स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णों के आधारभूत पुद्गल परमाणु के समान केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधारभूत है।

---

१. आलाप पद्धति, सू.२२२

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.७

३. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गा. ६ वृत्ति

४. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, परिशिष्ट

२. उपचरित सद्भूत व्यवहार नय :-

सोपाधिक गुणगुणी में भेद को विषय करने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहार है। जिस प्रकार जीव के मति ज्ञानादि गुण हैं। [१] यह नय विकारी पर्याय और पर्यायी में भेद करता है, इसलिए इसको अशुद्ध सद्भूत व्यवहार संज्ञा है वह इस प्रकार है। अशुद्ध असद्भूत व्यवहार से मति ज्ञानादि विभाव गुणों का आधारभूत होने से अशुद्ध जीव है। [२] जयसेन आचार्य ने भी अशुद्ध सद्भूत व्यवहार शब्द का प्रयोग किया है, वह इस प्रकार है :-

"तदेवाशुद्धसद्भूत व्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतद्वयणुकादिस्कन्ध-वन्मतिज्ञानादि विभावगुणानामाधारभूतम्।"[३]

वही अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय से अशुद्ध स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णो के आधारभूत द्वयणुक आदि स्कन्ध के समान मति ज्ञानादि विभावगुणों का आधारभूत है।

३. अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय :-

संश्लेषसहित वस्तु के सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जिस प्रकार जीव का शरीर है।[४] इस नय से द्रव्यकर्म नोकर्म का जीव के साथ एकत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व कहा जाता है। जयसेन आचार्य ने भी इस नय का प्रयोग प्रचुर रूप से किया है। वह इस प्रकार है :-

१) द्रव्यकर्म का कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से है। [५]

२) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से द्रव्य प्राणों के द्वारा जीता है, जीयेगा, पहले जीया था, वह जीव है।[६]

३) आत्मा कर्म पुद्गलों से संश्लिष्ट होता हुआ भेद होने पर अभेद उपचार लक्षण असद्भूत व्यवहार से बंध है, ऐसा कहा जाता है। किस कारण से ? असद्भूत व्यवहार नय का विषय अशुद्ध द्रव्य का निरूपण करना है।[७]

---

१. आलाप पद्धति, सू. २२१
२.नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गा.९
३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, परिशिष्ट पृ. ४०९ इन्दौर प्रकाशन
४. आलाप पद्धति, सू. २२५
५. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १२०-१२२
६. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. २७
७. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०१

४) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्वयणुक आदि सम्बन्धों में संश्लेष बंध में स्थित पुद्गल परमाणु के समान, परम औदारिक शरीर में वीतराग सर्वज्ञ के समान, विवक्षित एक देह में स्थित है .....। [१]

जब तक जीव का कर्म और नोकर्म के साथ सम्बन्ध है, तब तक उन्हें जीव से अलग नहीं कर सकते, इसलिए अनुपचरित कहा है। उस प्रकार ही कहा है :-

"कायादिप्राणैः सह कथंचिद् भेदाभेदः | तप्तायःपिण्डवद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेद: । निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवन सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेद:। यद्येकान्तेन भेदो भवति तर्हि परकीये काये छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दुःख न भवति तथा स्वकीये कायेऽपि दुःखं न प्राप्नोति, न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् ।[२]"

काय आदि प्राणों के साथ कथञ्चित् भेदाभेद है। तपे हुए लोहे के गोले के समान वर्तमान काल में पृथक् नहीं कर सकते, उस कारण से व्यवहार से अभेद है। निश्चय से पुन: मरणकाल में शरीर आदि प्राण जीव के साथ नहीं जाते, उस कारण से भेद है। यदि एकान्त से भेद है तो दूसरे का शरीर छेदे जाने पर, भेदे जाने पर जैसे दुःख नहीं होता, वैसे अपने शरीर में भी दुःख प्राप्त नहीं होता। वैसा तो नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष विरोध है।

इस नय का यह प्रयोजन है कि लोग शरीर संयोग में रहने वाले जीव को जानें, अन्यथा निर्जीव भस्म के समान शरीर का भी मर्दन करेंगें। द्रव्यहिंसा का रक्षण ही इस नय की उपयुक्तता है। वही जयसेन आचार्य ने कहा है :-

"यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्ति इति मत्वा निःसंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जना: । ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणम् ।"[३]

यदि व्यवहारनय नहीं होता, तब शुद्ध निश्चयनय से त्रस स्थावर जीव नहीं होते, ऐसा मानकर लोग नि:शंक उपमर्दन करते। उससे पुण्यरूप धर्म का अभाव होता, यह एक दूषण है। इसलिए जिनागम में अभूतार्थ होने पर भी व्यवहार नय की उपयोगिता बताई है।

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, परिशिष्ट पृ.सं. ४०९

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३५८, ३७०

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ५१

४) उपचरित असद्भूत व्यवहार नय :-

संश्लेष सम्बन्ध से रहित वस्तु को विषय करने वाला उपचरित असद्भूत व्यवहार है। जैसे देवदत्त का धन | असद्भूत व्यवहार ही उपचार है। उपचार में भी जो उपचार करता है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहार है। [१] इसके उदाहरण भी जयसेन आचार्य की तात्पर्यवृत्ति में प्राप्त होते हैं। वह इस प्रकार है :-

१. उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत् समवसरणस्थित वीतराग सर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम्। [२]

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से काष्ठ के आसन आदि पर बैठे हुए देवदत्त के समान, समवशरण में स्थित वीतराग सर्वज्ञ देव के समान, विवक्षित एक गाँव गृह आदि में स्थित है।

२. धर्माधर्मलोकाकाशद्रव्याण्येकक्षेत्रावगाहेनाभिन्नत्वात्समान परिमाणत्वाच्चोपचरि-तासद्भूतव्यवहारेण परस्परमेकत्वं कुर्वन्ति।[३]

धर्म, अधर्म, लोकाकाश द्रव्य एक क्षेत्रावगाह से अभिन्न होने से और समान परिमाणपना होने से उपचरित असद्भूत व्यवहार से परस्पर एकत्व करते हैं। उक्त नय के आश्रित कथन करते हुए जयसेन आचार्य कहते हैं कि जो कुम्भकार घट करता है और उसके फल जल धारण मूल्य आदि को भोगता है, ऐसा लोगों का अनादि रूढ व्यवहार है।[४]

यदि यह नय नहीं मानते तो सभी लोक व्यवहार मिथ्या होता है। लोक व्यवहार का प्रवर्तन ही इस नय का प्रयोजन है। इस नय से सदाचार की भी सिद्धि होती है। जैसे स्वस्त्री, परस्त्री, स्वगृह, परगृह इत्यादि भेद को उत्पादन करनेवाला व्यवहार इस नय से संभव है।

अनेकान्त और स्याद्वाद का विश्लेषण :-

अनेकान्त जैन दर्शन का आधार स्तम्भ है और स्याद्वाद उसके आधार से सुस्थित भव्य प्रासाद है। अनेकान्त जिनेन्द्र देव का अलंघ्य शासन है, वैसा कहा है :

"स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितंशासनमर्हत्सर्वज्ञस्य।" [५]

---

१. आलाप पद्धति, सू. २२६

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, परिशिष्ट पृ.सं. ४०९

३. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा. १३०

४. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ९०

५. समयसार आत्मख्याति - परिशिष्ट, पृ.सं. ६४८, जयपुर प्रकाशन, सन् १९८३

स्याद्वाद सम्पूर्ण वस्तु तत्त्व का साधक अर्हन्त सर्वज्ञ का एक अस्खलित शासन है। अमृतचन्द्र आचार्य ने परमागम का जीव, सम्पूर्ण नयों के विलास के विरोध का नाश करने वाला अलंघ्य शासन, जिननीति, महामोह रूपी अन्धकार के समूह को सहजता से लोप करने वाला इत्यादि विशेषणों से अनेकान्त की महती महिमा दिखाई है।

जयसेन आचार्य ने भी अपनी रचित वृत्तियों में सर्वत्र अनेकान्त का समर्थन किया है। वस्तु स्वरूप का विवेचन, स्याद्वाद शैली का अनुसरण करके ही कहा है। तीनों वृत्तियों में कहीं पर भी सर्वथा एकान्त को अवकाश नहीं है। वस्तु स्वरूप अनेकान्तात्मक है। उस अनेकान्त स्वरूप का कथन स्याद्वाद है। अनेकान्त और स्याद्वाद शब्द का स्पष्टीकरण निम्नोक्त किया है।

स्याद्वाद शब्द का अर्थ: -

'अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः । स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेणानेकान्तरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वादः। स च स्याद्वादो भगवतोऽर्हतः शासनं तच्च सर्वं वस्तु अनेकान्तात्मकमनुशास्ति।"

अनेकान्त स्वरूप अर्थ का कथन स्याद्वाद है। स्यात् अर्थात् कथञ्चित्। विवक्षित प्रकार से अनेकान्त रूप से कथन " वाद" है। वदन, वाद, जल्प, कथन, प्रतिपादन, ये सब एकार्थवाची हैं। वह स्याद्वाद भगवान अर्हन्त का शासन है, और वह "सर्व वस्तु अनेकान्तात्मक है" ऐसा कहता है।

अनेकान्त :-

'एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकमस्तित्वनास्तित्वद्वयादि स्वरूपं परस्परविरुद्धशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादनं स्यादनेकान्तो भण्यन्ते। स चानेकान्तो ज्ञानमात्रो योऽसौ भावो जीवपदार्थ : शुद्धात्मा स तदतद्रूप एकानेकात्मकः सदसदात्मको नित्यानित्यादिस्वभावात्मको भवतीति कथयति।" [१]

एक वस्तु में वस्तुत्व की निष्पादक अस्तित्व नास्तित्व द्वय आदि स्वरूप परस्पर विरूद्ध दो शक्तियां हैं, उसका प्रतिपादन अनेकान्त कहा जाता है। जो यह ज्ञानमात्र भाव जीव पदार्थ शुद्धात्मा है, वह तद् अतद् रूप, एक अनेकात्मक, सद् असदात्मक, नित्य अनित्य आदि स्वभावात्मक है, ऐसा कहता है।

"अनेके अन्ता धर्माः सामान्यविशेषगुणाख्या यस्य सोऽनेकान्तः।"[२]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, परिशिष्ट, पृ.सं. ४०६, सोलापुर प्रकाशन, तृतीय संस्करण, सन् २०००

२. सप्तभंगी तरंगिणी, पृ. ३०, पं. २

जिसमें अनेक अन्त अर्थात् सामान्य विशेष गुण नामक धर्म हैं, वह अनेकान्त है। दो संख्या से अनन्त पर्यन्त संख्या अनेक शब्द से ग्रहण की जाती है। जब अनेक शब्द का अनन्त अर्थ ग्रहण किया जाता है, तब अन्त शब्द का गुण अर्थ ग्रहण करना चाहिए। उससे अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है। ऐसा सिद्ध होता है। जब अनेक शब्द दो अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब अन्त शब्द का अर्थ धर्म ग्रहण किया जाता है। उससे परस्पर विरूद्ध दो धर्मों का एक वस्तु में अवस्थान अनेकांत है, ऐसा सिद्ध होता है। एक ही घटादि पदार्थ नित्य अनित्यात्मक; भेद अभेदात्मक, एक अनेकात्मक, सामान्य विशेषात्मक प्रतीति में आता है।

कोई एकान्तवादी यहाँ शंका करते हैं कि जो नित्य है, वही अनित्य कैसे होगा ? यदि उत्पाद, विनाश है तो उस पदार्थ का नित्यत्व कैसे ? और नित्यत्व है तो उसी के उत्पाद व्यय दोनों कैसे ?

एकत्र आधार में विरोधी अनेक का अभाव होने से अनेकान्तवाद संशय हेतु है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। जयसेन आचार्य ने उसका सयुक्ति प्रत्युत्तर कहा है, वह इस प्रकार है :-

"जिनके मत में सर्वथा एकान्त से वस्तु नित्य है अथवा क्षणिक है, उनको यह दूषण है। जिस रूप से नित्यत्व है, उसी रूप से अनित्यपना घटित नहीं होता। जिस रूप से अनित्यपना है, उसी रूप से नित्यपना घटित नहीं होता। क्योंकि उनके मत में वस्तु का एक स्वभावपना है। जैनमत में पुन: वस्तु अनेक स्वभावी है। उस कारण से द्रव्यार्थिक नय से द्रव्यरूप से नित्यत्व घटित होता है। पर्यायार्थिक नय से पर्यायरूप से अनित्यपना घटित होता है। वे द्रव्य और पर्याय परस्पर सापेक्ष हैं। पर्याय रहित द्रव्य नहीं है, द्रव्य रहित पर्याय नहीं है। उस कारण से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में परस्पर गौण मुख्य भाव का व्याख्यान होने से एक देवदत्त के जन्य (पुत्र) जनक (पिता) आदि भाव के समान एक ही द्रव्य के नित्य अनित्यपना घटित होता है, विरोध नहीं है।[1]

जिस प्रकार एक देवदत्त के पुत्र विवक्षा काल में पितृ विवक्षा गौण है। पिता की विवक्षा के काल में पुत्र विवक्षा गौण है। उसी प्रकार एक जीव के द्रव्यार्थिक नय से नित्यत्व की विवक्षा काल में पर्याय रूप से अनित्यत्व गौण है, पर्याय रूप से अनित्यत्व की विवक्षा काल में द्रव्य रूप से नित्यत्व गौण है।[2] अपेक्षाभेद से एक वस्तु में विरोधी धर्मों का रहना या अस्तित्व घटित होता है, इसलिए देवागम स्तोत्र में समन्तभद्र स्वामी ने कहा है –

---

१. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा. १८

२. वहीं पर, गा. १९

"सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥[1]

वस्तु स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव से सत् ही है । परद्रव्य क्षेत्र कालभाव से असत् ही है । जीव ज्ञान रूप से तद्रूप है । ज्ञेय रूप से अतद्रूप है । द्रव्यार्थिक नय से एक है, पर्यायार्थिकनय से अनेक है । स्वद्रव्य क्षेत्र कालभाव चतुष्टय से सत् रूप है। परद्रव्य क्षेत्र काल भाव चतुष्टय से असत् रूप है । द्रव्यार्थिकनय से नित्य है, पर्यायार्थिक नय से अनित्य है । पर्यायार्थिक नय से भेदात्मक है, द्रव्यार्थिक नय से अभेदात्मक है, इत्यादि अनेक धर्मात्मक है ।[2] एकान्तवादियों का सर्व कथन मिथ्या है । अनेकान्तवादियों का सर्व कथन सम्यक् है । वस्तु स्वयं अनन्त विरोधी धर्म युगलों का अविरोधी क्रीडास्थल है । उसमें हमारे संशय और विरोध से क्या प्रयोजन ? "यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् । यदि यह (अनेकान्त) स्वयं पदार्थों को अच्छा लगता है, तो उसमें हम क्या करें?

जैन सिद्धान्त में निश्चय से अनेकान्त बलवान है । सर्वथा एकान्त बलवान नहीं है । इसलिए अनेकान्त पूर्वक सर्व अविरुद्ध है, उसके बिना सब विरुद्ध है ।[3] यद्यपि जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है तथापि सर्वथा अनेकान्तवादी नहीं है ।

वैसा होने पर एकान्त दोष का प्रसंग आता है । इसलिए जैन दर्शन में अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक है । जैन दर्शन न सर्वथा एकान्तवादी है और न सर्वथा अनेकान्तवादी है । कथञ्चित् एकान्तवादी है, कथञ्चित् अनेकान्तवादी है । वही समन्तभद्र स्वामी ने कहा है :

"अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनय साधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥"[4]

---

१. देवागम स्तोत्र, श्लोक सं. १५
२. समयसार, तात्पर्यवृत्ति, परिशिष्ट, पृ.सं. ४०६, सोलापुर प्रकाशन, सन् २०००
३. तत्र यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः ।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥ पञ्चाध्यायी - पूर्वार्ध, गा. २२७
४. स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक १०३

नयकी अपेक्षा से एकान्त है, प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त है। नय एक समय में एक धर्म को विषय करता है। प्रमाण एक साथ सभी धर्मों को विषय करता है। जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञान से अनेकान्त रूप है और नय विवक्षा से एकान्त रूप है।[१]

एकान्त एक नय रूप है, अनेकान्त नयों का समूह रूप है। [२] सर्व नयात्मकपना होने से अनेकान्तवाद का जिस प्रकार एक सूत्र में अनुस्यूत अलग अलग मोतियों को हार व्यपदेश है, इसी प्रकार पृथक् पृथक् सम्बन्धी नय स्याद्वादरूपी धागे में पिरोये हुए श्रुतनामक प्रमाण व्यपदेश को प्राप्त होते हैं।[३]

यदि अनेकान्त, अनेकान्त ही है, एकान्त नहीं है, तो एकान्त का अभाव होने से उसके समूहात्मक अनेकान्त का भी अभाव होगा। शाखा आदि के अभाव में वृक्ष आदि के अभाव के समान और यदि एकान्त ही है तो उसके अविनाभावी शेष का निराकरण होने से अपना लोप होने पर सर्व का लोप होता है।[४]

इस प्रकार सर्व अर्थों में विरोध दोष को दूर करने वाली अनेकान्त प्रक्रिया फैलती है। लोक में इस प्रकार का कोई पदार्थ नहीं है, जो अनेकान्त का उल्लंघन करता है। अतः वस्तु का अनेकान्तात्मकपना सिद्ध है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म युगल हैं। उन सब धर्मों का कथन एक साथ संभव नहीं है, क्योंकि शब्दों की शक्ति सीमित है। जिस प्रकार सत् शब्द द्रव्य के अस्तित्व धर्म को ही सूचित करता है, नास्तित्व आदि को नहीं। जब जिस धर्म की कथन विवक्षा होती है, उस समय वह धर्म मुख्य है और इतर धर्म गौण हैं।

"विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।"[५]

---

१. जं वत्थु अणेयंतं एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णएहि य णिरवेक्खं दीसदे णेव॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २६१

२. एयंतो एयणयो होइ अणेयंतमस्स सम्मूहो। द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र गाथा १८१

३. स्याद्वाद मञ्जरी, श्लो. सं.३०, पृ.सं. ३३६, पंक्ति ११

४. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ.१, सू.६, वा.७

५. स्वयम्भूस्तोत्र, श्लो.५३

इसलिए स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जो वस्तुतत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन करती है।

'स्यात्' शब्द वाक्य के सापेक्षपने को सूचित करता है, वही कहा है :-

'स्याद्वाद : सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि: । "[१]

"स्यात् अस्ति" इस वाक्य में अस्ति पद वस्तु के अस्तित्व धर्म को मुख्य रूप से प्रतिपादन करता है और स्यात् पद शेष नास्तित्व आदि धर्मों का सद्भाव बताता है। इसलिए दृष्टि के अहंकार विष को दूर करने के लिए अनेकान्त दृष्टि रूपी संजीवनी आवश्यक है और भाषा के अहंकार विष को निर्मूलन करने के लिए स्याद्वाद अमृत अपेक्षनीय है।

अनेकान्त दृष्टि ज्ञानरूप है और स्याद्वाद शैली भाषात्मक है। सुनिश्चित दृष्टिकोण का वाचक स्यात् शब्द इस प्रकार का सजग प्रहरी है, जो अविवक्षित धर्मों का संरक्षक है। स्यात् शब्द इस प्रकार की अंजनशलाका है जो दृष्टि विकार को दूर करके दृष्टि को निर्मल और परिपूर्ण करती है। इसलिए अविवक्षित का संरक्षक, दृष्टि विषापहारी, सचेतक प्रहरी, अहिंसा सत्य का प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप शब्दों का सुधामयी कर्ता, सुनिश्चित अपेक्षा का द्योतक स्यात् शब्द अन्य दार्शनिकों ने सम्यक् रीति से नहीं जाना। यहाँ पर सर्वथापने का निषेधक अनेकान्त द्योतक कथञ्चित् अर्थ में स्यात् शब्द निपात है (अव्यय है)। [२]

कोई कहते हैं कि स्याद्वाद शैली में 'अपि' शब्द का प्रयोग करना चाहिए, 'एव' शब्द का नहीं। वह युक्तियुक्त नहीं है। जिस प्रकार स्याद्वाद शैली में 'अपि' शब्द की आवश्यकता है, उसी प्रकार 'एव' शब्द की भी आवश्यकता है। 'अपि' शब्द समन्वय का सूचक नहीं है परन्तु अनुक्त का सूचक है। उसी प्रकार 'एव' शब्द आग्रह का सूचक नहीं है अपितु दृढता का द्योतक है। जहाँ अपेक्षा नहीं कही जाती है, वहाँपर अपि शब्द का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ निश्चित अपेक्षा कही जाती है वहाँ 'एव' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। कथञ्चित् अपेक्षा 'स्यात्' शब्द से व्यक्त होती है। जिस प्रकार वस्तु कथञ्चित् नित्य भी है, कथञ्चित् अनित्य भी है। यही बात जब अपेक्षापूर्वक कही जाती है, तब वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य ही है, पर्याय की अपेक्षा से अनित्य ही है। इस प्रकार 'एव' शब्द का प्रयोग द्रव्य का उस अपेक्षा से पूर्णतः सत्यपना प्रकाशित करता है।

---

१. देवागम स्तोत्र, श्लो.सं. १०४

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह - समय व्याख्या, गा. १४

'एव' शब्द के प्रयोग का समर्थन विद्यानन्द जी आचार्य ने किया है, वह इस प्रकार है :-

"वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये ।
कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ।।"[१]

वाक्य में एवकार का प्रयोग अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति के लिए, निश्चित अर्थ के अवधारण करने के लिए करना चाहिए, अन्यथा कहीं पर वाक्य अनुक्त के समान होता है।

'स्याद्वाद' जिन शासन का अमोघ चिह्न है। शब्द ब्रह्म की मुद्रा स्यात्कार केतन (ध्वजा) इत्यादि विशेषणों से उस स्याद्वाद का माहात्म्य सुव्यक्त ही है।

जयसेन आचार्य ने जहाँ तहाँ अपेक्षा कही है, उन्होंने सर्वत्र दुराग्रह का निषेध किया है, उन्होंने कहा है कि-

"इदं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यमत्राग्रहो न कर्तव्यः । कस्मात् ? दुराग्रहे सति रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मभावना विघातो भवतीति।" [२]

यह वस्तु स्वरूप ही जानने योग्य है। यहाँ आग्रह नहीं करना चाहिए। क्यों? दुराग्रह होने पर राग द्वेष की उत्पत्ति होती है। उससे निर्विकार चिदानन्द एक स्वभावी परमात्मा की भावना का विघात होता है।

सप्तभंगी निरूपण :-

स्याद्वाद अनेकान्तात्मक वस्तु की प्रतिपादन शैली है। स्याद्वाद सप्तभंग नयों की अपेक्षा से वस्तु के अनन्त धर्मों का प्रतिपादन करता है। वस्तु के प्रतिपादन में सर्वप्रथम प्रश्न होता है कि वस्तु वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य। स्याद्वादी जिनागम वस्तु को कथञ्चित् वक्तव्य और कथञ्चित् अवक्तव्य कहता है।

प्रथमतः अस्तित्व धर्म का विचार किया जाता है। अस्तित्व को कह सकते हैं अथवा नहीं। वहाँ वक्तव्यता के संदर्भ में तीन अवस्थाऐं होती हैं। १) अस्तित्व कह सकते हैं। २) नास्तित्व कह सकते हैं। ३) क्रम से अस्तित्व और नास्तित्व कह सकते हैं। अवक्तव्यता के संदर्भ में चार स्थितियां होती हैं। १) कुछ भी नहीं कहा जा सकता २) अस्तित्व कहा नहीं जा सकता है। ३) नास्तित्व कहा नहीं जा सकता है। ४) अस्तित्व और नास्तित्व एक साथ नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार तीन भंग वक्तव्य सम्बन्धी और चार भंग अवक्तव्य सम्बन्धी हैं। इस प्रकार सब मिलकर सात भंग होते हैं।

---

१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, अ.१, सू. ६, श्लो. ५३

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा.२१

सात भंगों का समाहार सप्तभंगी कही जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने पञ्चास्तिकाय संग्रह में सप्तभंगी की चर्चा की है।

" सिय अत्थि णत्थि उहयं अवत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥[1]

आदेश के वश से द्रव्य कथञ्चित् सत् , कथञ्चित् असत्, कथञ्चित् उभय, कथञ्चित् अवक्तव्य, कथञ्चित् सत् अवक्तव्य, कथञ्चित् असत् अवक्तव्य, कथञ्चित् सत् असत् अवक्तव्य, इस प्रकार सप्त भंगात्मक है।

उक्त सात भंगों की अपेक्षा जयसेन आचार्य ने स्पष्ट की है। वह इस प्रकार है :-

१. स्यात् अस्ति :- स्यात् कथञ्चित् विवक्षित प्रकार से स्वद्रव्य आदि चतुष्टय की अपेक्षा से है, ऐसा अर्थ है।

२. स्याद् नास्ति :- परद्रव्य आदि चतुष्टय की अपेक्षा नहीं है।

३. स्यादस्तिनास्ति :- क्रम से स्वपर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति नास्ति है।

४. स्यादवक्तव्य :- एक साथ कहना अशक्य होने से, एक साथ स्वपरद्रव्य चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है।

५. स्यादस्ति अवक्तव्य :- स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से और एक साथ स्वपर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति अवक्तव्य है।

६. स्याद् नास्ति अवक्तव्य :- पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से और एक साथ स्वपर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति अवक्तव्य है।

७. स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य :- क्रम से स्वपर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से एक साथ स्वपरद्रव्य चतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।

अस्ति आदि सात प्रश्नों के करने पर स्यादस्ति इत्यादि सात प्रकार के परिहार के वश से सप्तभंगी उत्पन्न होती है। [2]

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह, गा. १४

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १४

प्रश्न के वश से एक वस्तु में अविरोध रूप से विधि निषेध कल्पना सप्तभंगी है ।[1] पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति में सप्तभंगी के स्वरूप के प्रतिपादन में कहा है, वह इस प्रकार है :-

"एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यतः ।
सदादिकल्पना या च सप्तभंगीति सा मता ॥"[2]

प्रमाण वाक्य से अथवा नय वाक्य से एक वस्तु में अविरोध रूप से सत् असत् आदि धर्मों की कल्पना सप्तभंगी कही जाती है। यहाँ पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक ही द्रव्य सातभंग स्वरूप कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर जयसेन आचार्य ने दृष्टान्तपूर्वक सयुक्तिक कहा है, वह इस प्रकार है :-

"यथैकोऽपि देवदत्तो गौणमुख्यविवक्षावशेन बहुप्रकारो भवति । पुत्रापेक्षया पिता भण्यते सोऽपि स्वकीयपित्रपेक्षया पुत्रो भण्यते मातुलापेक्षया भागिनेयो भण्यते, स एव भागिनेयापेक्षया मातुलो भण्यते भार्यापेक्षया भर्ता भण्यते भगिन्यपेक्षया भ्राता भण्यते, विपक्षापेक्षया शत्रुर्भण्यते इष्टापेक्षया मित्रं भण्यत इत्यादि। तथैकमपि द्रव्यं गौणमुख्यविवक्षाभेदेन सप्तभंग्यात्मकं भवतीति नास्ति दोषः ।" [3]

जिस प्रकार एक ही देवदत्त गौणमुख्य विवक्षा के वश से बहुत प्रकार का होता है। पुत्र की अपेक्षा से पिता कहा जाता है। वह भी अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र कहा जाता है। मामा की अपेक्षा से भानजा कहा जाता है और वही भानजे की अपेक्षा से मामा कहा जाता है। भार्या की अपेक्षा से पति, भगिनी की अपेक्षा से भाई, विपक्ष की अपेक्षा से शत्रु कहा जाता है, इष्ट जनों की अपेक्षा से मित्र कहा जाता है इत्यादि। उसी प्रकार एक ही द्रव्य गौण मुख्य विवक्षा के भेद से सात भंगात्मक होता है। उसमें दोष नहीं है।

स्याद्वादी एक ही जीवादि वस्तु में अनन्त धर्म स्वीकार करते हैं तो यहाँ पर सात धर्म कैसे प्रतिपादन किये जाते हैं ? ऐसा नहीं कहना चाहिए। एक एक धर्म के प्रति सात धर्मों का प्रतिपादन होने से दोष का अवकाश नहीं है।

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. १, सू. ६, वा. ५
२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १४
३. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १४

इसलिए अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभंगियाँ होती हैं, परन्तु अनन्तभंगी नहीं होती। जिस प्रकार अस्तित्व धर्म का आश्रय करके सप्तभंगी होती हैं, उसी प्रकार एकत्व, नित्यत्व आदि परस्पर विरोधी युगलों का आश्रय करके सप्तभंगियां होती हैं। जयसेन आचार्य ने इस विषय में अभिमत व्यक्त किया है, वह इस प्रकार है : -

"सूक्ष्मव्याख्यानविवक्षायां पुनः सदेकनित्यादिधर्मेषु मध्ये एकैकधर्मे निरुद्धे सप्तभंगा वक्तव्याः । कथमितिचेत् । स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्तिनास्ति स्यादवक्तव्यमित्यादि । स्यादेकं स्यादनेकं स्यादेकानेकं स्यादवक्तव्यमित्यादि स्यान्नित्यं स्यादनित्यं स्यान्नित्यानित्यं स्यादवक्तव्यमित्यादि । तत्केन दृष्टान्तेनेति कथ्यते यथैकोपि देवदत्तः स्यात्पुत्र स्यादपुत्र स्यात्पुत्रापुत्र स्यात्पुत्रोऽवक्तव्यः स्यात्पुत्रापुत्रोऽवक्तव्यः ।" [१]

सूक्ष्म व्याख्यान की विवक्षा में सत् एक नित्य आदि धर्मों में एक एक धर्म को रोककर सात भंग कहने चाहिए। कैसे? ऐसा पूछने पर कहते हैं। कथञ्चित् है, कथञ्चित् नहीं है, कथञ्चित् है नहीं है, कथञ्चित् अवक्तव्य है, इत्यादि। कथञ्चित् एक, कथञ्चित् अनेक, कथञ्चित् एक अनेक, कथञ्चित् अवक्तव्य इत्यादि। कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य, कथञ्चित् नित्यानित्य, कथञ्चित् अवक्तव्य इत्यादि। वह किस दृष्टान्त के द्वारा कहा जाता है ? जिस प्रकार एक ही देवदत्त कथञ्चित् पुत्र है, कथञ्चित् अपुत्र है, कथञ्चित् पुत्रापुत्र है, कथञ्चित् पुत्र अवक्तव्य, कथञ्चित् पुत्रापुत्र अवक्तव्य है।

इस संदर्भ स्याद्वादमंजरी न्याय ग्रन्थ में भी कहा है, वह इस प्रकार है :-

एक वस्तु में विधीयमान निषिध्यमान अनन्त धर्मों का स्वीकार होने से अनन्त भंगी का प्रश्न आता है, इसलिए सप्तभंगी असंगत है ऐसा नहीं कहना चाहिए। विधि निषेध की अपेक्षा से प्रति पर्याय वस्तु में अनन्त सप्तभंगियां भी हो सकती है। इस प्रकार अनन्त सप्तभंगियों का समुच्चय विशाल अनेकान्त तत्त्व सागर में अनन्त उर्मियों के समान प्रगट होता है। वहां दृष्टा की सजगता और समदृष्टिपना आवश्यक है।[२] यहाँ पर यह तात्पर्य है कि भंग अनन्त होंवे, सप्तभंगियां भी अनन्त हो सकती हैं, परन्तु अनन्तभंगी नहीं हो सकती।

प्रमाण से वर्णन हो अथवा नय से, भंग सात ही होते हैं।

सप्तभंगी दो प्रकार की है। १. प्रमाण सप्तभंगी, २. नय सप्तभंगी।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १४

२. स्याद्वादमञ्जरी, श्लो. सं. २३, पृ.सं. २८२, पंक्ति ५

नय चक्रकार माइल्ल धवल ने प्रमाण, नय और दुर्नय के भेद से सप्तभंगी तीन प्रकार की कही है। स्यात् सापेक्ष भंग प्रमाण सप्तभंगी है। नय संयुक्तभंग, नय सप्तभंगी है और निरपेक्ष भंग दुर्नय सप्तभंगी कही जाती है। वह इस प्रकार है :-

१. प्रमाण सप्तभंगी :-

कथञ्चित् है, कथञ्चित् नहीं है, कथञ्चित् है, नहीं है; कथञ्चित् अवक्तव्य है, कथञ्चित् है अवक्तव्य है, कथञ्चित् नहीं है अवक्तव्य है, कथञ्चित् है, नहीं है, अवक्तव्य है।

२. नय सप्तभंगी :-

स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य है ही। पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य नहीं ही है , स्वपर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य है, नहीं है, एक साथ स्वपर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य अवक्तव्य ही है। इत्यादि नय सप्तभंगी है। इस प्रकार सर्वत्र सापेक्ष कथन होता है।

३. दुर्नय सप्तभंगी :-

नयनिरपेक्ष वस्तु है ही, नहीं ही है, उभय ही है, अवक्तव्य ही है, अस्ति अवक्तव्य ही है, नास्ति अवक्तव्य ही है, अस्ति नास्ति अवक्तव्य ही है। यह दुर्नय सप्तभंगी है।[१]

उपरोक्त स्पष्टीकरण से यह जाना जाता है कि नय सप्तभंगी में अपेक्षा स्पष्ट रूप से कही जाती है। प्रमाण सप्तभंगी में अपेक्षा न कहकर के उस स्थान में स्यात् अथवा कथञ्चित् पद का प्रयोग किया जाता है। यही प्रमाण और नय सप्तभंगी में बड़ा अन्तर है। प्रमाण सप्तभंगी में 'अपि' शब्द का और नय सप्तभंगी में 'एव' पद का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार कथञ्चित् है भी, कथञ्चित् नहीं भी है इत्यादि प्रमाण सप्तभंगी का प्रयोग होता है। स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से है ही; पर चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं ही है, इत्यादि नय सप्तभंगी का प्रयोग है। अपेक्षा के बिना यह एवकार का प्रयोग दुर्नय सप्तभंगी है। नयचक्रकार ने स्यात् पद सहित वाक्य को प्रमाण वाक्य, स्यात् पद से सहित एवकार सहित वाक्य को नय वाक्य कहा है। यही मत जयसेन आचार्य ने पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति में अभिव्यक्त किया है। पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में उन्होंने लिखा है कि :-

"स्यादस्ति द्रव्यमिति पठनेन प्रमाण सप्तभंगी ज्ञायते । स्यादस्तीति सकलवस्तु-ग्राहकत्वात्प्रमाणवाक्यं, स्यादस्त्येव द्रव्यं इति वस्त्येकदेशग्राहकत्वान्नयवाक्यम्।"[२]

---

१. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नय चक्र, गा. २५४-२५८

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. १४

"स्यादस्तिद्रव्यं" ऐसा पढ़ने से प्रमाण सप्तभंगी जानी जाती है। स्यादस्ति इस प्रकार सम्पूर्ण वस्तु ग्राहक होने से प्रमाण वाक्य है और कथञ्चित् है ही, ऐसी वस्तु के एकदेश ग्राहक होने से नय वाक्य है।

प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति में उन्होंने कहा है कि :-

पूर्वं पंचास्तिकाये स्यादस्तीत्यादिप्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभंगी व्याख्याता अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकार ग्रहणं तन्नयसप्तभंगीज्ञापनार्थमिति भावार्थ:।[1]

पहले पञ्चास्तिकाय में कथञ्चित् है, इत्यादि प्रमाण वाक्य से प्रमाण सप्तभंगी का व्याख्यान किया। परन्तु यहाँ कथञ्चित् है ही, इस प्रकार जो एवकार का ग्रहण है, वह नय सप्तभंगी का ज्ञान कराने के लिए है। इस प्रकार भावार्थ है।

अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप को जानने में और प्रतिपादन करने में प्रमाण और नयों की उपयोगिता असंदिग्ध है। जब प्रमाण के द्वारा वस्तु कही जाती है, तब प्रमाण सप्तभंगी अवतरित होती है। जब नय के द्वारा वस्तु स्वरूप कहा जाता है तब नय सप्तभंगी अवतरित होती है। जब ये सात ही भंग सकलादेशी होते हैं, तब प्रमाण हैं, परन्तु जब विकलादेशी होते हैं, तब नय कहा जाता है। सकलादेश एक धर्म के द्वारा समस्त द्रव्य को अखंड रूप से ग्रहण करता है। विकलादेश एक धर्म को प्रधान (मुख्य) करके शेष धर्मों को अप्रधान (गौण) करके वस्तु को ग्रहण करता है।[2]

कथञ्चित् जीव है, यह वाक्य अनंत धर्मात्मक जीव का अखंड रूप से बोध कराता है, इसलिए प्रमाण वाक्य है। कथञ्चित् जीव अस्ति है, इस वाक्य में जीव का अस्तित्व धर्म मुख्य रूप से कहा जाता है, इसलिए यह नय वाक्य है।

दुर्नय सप्तभंगी वस्तुतः सप्तभंगी ही नहीं है, वह तो सप्तभंगी का आभास मात्र हैं। सप्तभंगी दो प्रकार की है। प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी।

दुर्नय सप्तभंगी के समान दुष्प्रमाण सप्तभंगी भी जानना चाहिए, क्योंकि पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में जयसेन आचार्य ने दुर्नय वाक्य के समान दुष्प्रमाण वाक्य भी कहा है, वह इस प्रकार है -

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १२५

२. प्रो. उदयचन्द जी जैन, आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका, प्रस्तावना पृ. ९८

"अस्ति द्रव्यमिति दुःप्रमाणवाक्य, अस्त्यैव द्रव्यमिति दुर्नयवाक्यम् ।"[1]

'द्रव्य है', ऐसा दुष्प्रमाण वाक्य है, 'द्रव्य है ही,' ऐसा दुर्नय वाक्य है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नय सप्तभंगी नय है, दुर्नय सप्तभंगी नयाभास है। प्रमाण सप्तभंगी प्रमाण है, दुष्प्रमाण सप्तभंगी प्रमाणाभास है।

सात ही भंग कैसे होते हैं ? न आठ और न छह ही होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर सप्त भंग तरंगिणी शास्त्र में प्रत्युत्तर दिया है, वह इस प्रकार है :-

"प्रतिपाद्यप्रश्नानां सप्तविधानामेव सद्भावात् सप्तैव भंगा इति । ननु प्रश्नानां सप्तविधत्वं कथमिति चेत् जिज्ञासानां सप्तविधत्वात् । ननु सप्तधैव जिज्ञासा कुत इति चेत् सप्तधा संशयानामुत्पतेः । संशयानां सप्तविधत्वं तु तद्विषयीभूतधर्मानां सप्तविधत्वात् ।"[2]

शिष्य के सात प्रकार प्रश्नों का सद्भाव होने से सात ही भंग हैं।

शंका :- प्रश्नों का सात प्रकारपना ही कैसे है ?

समाधान :- क्योंकि जिज्ञासा सात प्रकार की होती है।

शंका :- जिज्ञासा सात प्रकार की ही क्यों होती है ?

समाधान :- क्योंकि संशयों की उत्पत्ति सात प्रकार से होती है।

संशयों का सात प्रकारपना उनके विषयभूत धर्मों का सात प्रकारपना होने से है।

उपर्युक्त सात भंगों में पहला, दूसरा और चौथा ये तीन मूल भंग हैं। शेष चार भंग संयोगी भंग हैं। मूल भंगों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य, ये तीन असंयोगी भंग हैं। अस्तिनास्ति, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य ये तीन द्विसंयोगी भंग हैं। अस्तिनास्ति अवक्तव्य यह एक त्रिसंयोगी भंग है। इस प्रकार सात भंग होते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्ययन

केवली कवलाहार निषेध :-

जयसेन आचार्य ने कुछ विषयों में अपनी बुद्धि की कुशलता से विशेष मीमांसा की है। वहाँ प्रवचनसार की इक्कीसवीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति में केवली के कवलाहार के विषय में सयुक्तिक, सविस्तर विवेचन किया है। तर्क और आगम से दृष्टान्त पूर्वक कवलाहार का सम्यक् रूप से निरसन किया है। जैन परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर ऐसे दो प्रकार के मत प्रचलित

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. १४

२. सप्तभंग तरंगिणी, पृ. ४-५

हैं। उनमें श्वेताम्बर परम्परा में केवलियों को कवलाहार माना गया है, परन्तु दिगम्बर परम्परा में केवलियों को कवलाहार स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार ही जयसेन स्वामी ने अपना मत व्यक्त किया है। उनके अनुसार ही यहाँ स्पष्टीकरण किया जाता है। वह इस प्रकार है :-

आहार छह प्रकार का है -

१) नोकर्माहार २) कर्माहार ३) कवलाहार ४) लेपाहार ५) ओजाहार ६) मानसिक आहार। उनमें ग्रास रूप से जो आहार है, उसे कवलाहार कहते हैं।

केवली के ज्ञान और सुख अतीन्द्रिय ही होता है। अतीन्द्रियपना होने से। केवली के शरीर के आधार से उत्पन्न कवलाहार आदि का सुख और असाता के उदय से उत्पन्न क्षुधा आदि दुःख नहीं है। जिस प्रकार लोहे के गोले के संसर्ग के अभाव से अग्नि के घनघात से पिटना प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह आत्मा भी लोहपिंड स्थानीय इन्द्रियग्राम का अभाव होने से सांसारिक सुख दुःख का अनुभव नहीं करता।

केवलियों के औदारिक शरीर के सद्भाव से और असाता वेदनीय कर्म के उदय के सद्भाव से हमारे जैसे भोजन है, ऐसा कोई कहता है, वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि इस भगवान का शरीर औदारिक नहीं है किन्तु परमौदारिक, सप्तधातु रहित, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल और दिव्य है। वह इस प्रकार कहा है -

"शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥"[१]

जिनका दोष नष्ट हुआ है, ऐसे केवली के शुद्ध स्फटिक के समान तेजोमूर्तिमय सप्तधातु रहित शरीर होता है। यदि औदारिक शरीर के सद्भाव से, हमारे समान भोजन है, ऐसी कल्पना करते हैं तो औदारिक शरीर के सद्भाव से हमारे जैसे रोगादिक भी होने चाहिए। वैसा तो नहीं है। इसलिए केवलियों को भोजन नहीं है।

असाता वेदनीय के उदय का सद्भाव होने से भोजन है, ऐसा जो कहा है, वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि मोहनीय कर्म के उदय का अभाव होने से असाता वेदनीय का उदय अपना कार्य करने में असमर्थ है। जिस प्रकार ब्रीहि आदि बीज जल के सहकारी कारण के सहित अंकुर आदि कार्य का उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार असाता वेदनीय कर्म मोहनीय रूप सहकारी कारण सहित क्षुधा आदि कार्य को उत्पन्न करते हैं। क्यों ? मोह के बल से जीव का घात होता है, ऐसा वचन है। [२] राजवार्तिक में भी इस विषय में कहा है, वह इस प्रकार है :-

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २१

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा. १९, द्वितीय पद

"घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । यथा विषद्रव्यं मन्त्रौषधिबलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मरणाय कल्पते तथा ध्यानानलनिर्दग्ध घातिकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थमिति क्षुधाद्यभावः ।"[1]

घाति कर्म के उदय के सहाय का अभाव होने से उसकी सामर्थ्य से रहित होने से, जिस प्रकार विषद्रव्य मन्त्र और औषधि के बल से जिसकी मारण शक्ति नष्ट हो गई है, उसका उपयोग किये जाने पर मरण के लिए कारणभूत नहीं होता, उसी प्रकार जिसने ध्यानरूपी अग्नि से घाति कर्मरूपी ईंधन को जलाया है, अनन्त प्रतिहत ज्ञानादि चतुष्टय से सहित है, उसके अन्तराय का अभाव होने से संचित की जानेवाली संतति होने से वेदनीय कर्म होने पर भी जिसका सहाय बल नष्ट हुआ है, वह अपने योग्य प्रयोजन को उत्पन्न करने के प्रति असमर्थ है। इस प्रकार केवली के क्षुधादि का अभाव है।

असाता वेदनीय का उदय विद्यमान होने पर भी मोहनीय कर्म के नहीं होने पर सामर्थ्य रहित होने से क्षुधारूप दुःख को करने में समर्थ नहीं है। [2]

आहार संज्ञा का कारण असातावेदनीय की उदीरणा है। असाता वेदनीय की उदीरणा व्युच्छित्ति प्रमत्त संयत नामक छठे गुणस्थान में होती है, इसलिए असाता वेदनीय की उदीरणा का अभाव होने से अप्रमत्त संयत के भी यदि आहार संज्ञा नहीं है [3] तो फिर केवली के कैसे होगी।

यदि पुनः असाता वेदनीय मोह के अभाव में क्षुधा आदि परिषह उत्पन्न करता है, तो वहाँ रोगादि परिषह भी उत्पन्न करे। वैसा तो नहीं है। वह भी कैसे ? भुक्ति उपसर्ग का अभाव होने से। ऐसा वचन है, वैसा कहा है।

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. ९, सू. ११, पृ. ६१३

२. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ. ३०३

३. असादावेदणीयस्स उदीरणाभावदो आहारसण्णा अप्पमत्त संजदस्स णत्थि।
धवला, पु. २, खण्ड १, पृ.सं. ४३३

केवली चार प्रकार के उपसर्गों से सदा विमुक्त, कषाय रहित, क्षुधा आदि परिषहों से और राग द्वेषों से परित्यक्त हैं।[१] जो भोजनपान में तृष्णा उत्पन्न होने पर मोह संयुक्त होकर मरण के भय से भोजन करता है, परिषह से पराजित हुए उसके केवलिपना संभव नहीं है।[२] वेदना के अभाव में भी द्रव्यकर्म के सद्भाव की अपेक्षा से उनके परीषह का उपचार किया जाता है।

यदि क्षुधा की बाधा है तो क्षुधा से क्षीण हुए केवली के अनन्तवीर्य सम्भव नहीं है। उसी प्रकार क्षुधा से दुःखित के अनंत सुख भी नहीं है। जिह्वा इंद्रिय से जानने रूप मतिज्ञान से परिणत के केवलज्ञान भी संभव नहीं है। इस प्रकार बडी दोष परम्परा अवतरित होती है।

उसी प्रकार केवली के असातावेदनीय के उदय की अपेक्षा से सातावेदनीय का उदय अनन्तगुणा है। उस कारण से शर्करा राशि में नींब की कणिका के समान असातावेदनीय का उदय विद्यमान होने पर भी जाना नहीं जाता। उस केवली के सातावेदनीय का बंध एक समय स्थितिवाला है। वह उदयात्मक ही है। उससे उनमें असातावेदनीय का उदय साता रूप से परिणमता है, क्यों ? क्योंकि विशिष्ट शुद्ध ऐसे उनमें असाता का अनन्तगुणी हीन शक्तिपना होने से और मोहनीय के सहाय का अभाव होने से असाता वेदनीय का अव्यक्त उदय है।[३]

उसी प्रकार अन्य भी बाधक हैं। जिस प्रकार प्रमत्तसंयत आदि तपोधनों के वेद का उदय विद्यमान होने पर भी मोह का मंद उदय होने से अखंड ब्रह्मचारियों के स्त्री परिषह बाधा नहीं है और जिस प्रकार नवग्रैवेयक आदि अहमिन्द्र देवों के वेद का उदय विद्यमान होने पर भी मोह का मंद उदय होने से स्त्री विषयक बाधा नहीं है, उसी प्रकार भगवान के असाता वेदनीय का उदय विद्यमान होने पर भी सम्पूर्ण मोह के अभाव से क्षुधा बाधा नहीं है।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, अधिकार १, गा. ५९

२. धवला पु. १२, खण्ड ४, पृ. २४

३. समयठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड-जीव प्रबोधिनी गा.सं. २७४
चउविह उवसग्गेहिं णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो।
छहुपहुदि परिसहेहिं परिचत्तो रायदोसेहि॥ तिलोयपण्णत्ति, अ. १, गा. ५९

केवलियों के कवलाहार की सिद्धि के लिए प्रतिवादी अन्य भी हेतु प्रस्तुत करता है। मिथ्यादृष्टि आदि सयोगकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानवर्ती जीव आहारक हैं, इस प्रकार आहारक मार्गणा में आगम में कहा है, उस कारण से केवलियों के आहार है, वह भी अयुक्त है।

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।"
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥[1]

नोकर्म आहार, कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओज आहार, मनो आहार, इस प्रकार क्रम से आहार छह प्रकार का जानना चाहिए।

इस प्रकार गाथा में कहे हुए क्रम से यद्यपि आहार छह प्रकार का है, तथापि नोकर्म आहार की अपेक्षा से केवलियों के आहारकपना जानना चाहिए, कवलाहार की अपेक्षा से नहीं। सूक्ष्म, सुरस, सुगंधी अन्य मनुष्यों के असंभव ऐसे शरीर की स्थिति के कारणभूत सप्तधातुरहित परमौदारिक शरीर नोकर्म आहार के योग्य पुद्गल, लाभान्तराय कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने से, कवलाहार के बिना भी कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष पर्यन्त प्रतिक्षण आते हैं। इसलिए जाना जाता है कि केवलियों के नोकर्म आहार की अपेक्षा से आहारकपना है।[2] आहारकपने के विषय में धवला टीका में कहा है, वह इस प्रकार है :-

"अत्र कवललेपोष्ममनःकर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः अन्यथाहार-कालविरहाभ्यां सह विरोधात्।"[3]

यहाँ पर कवल, लेप, उष्म, मन और कर्माहार को छोडकर नोकर्म आहार ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्यथा आहार का काल और अन्तर के साथ विरोध आता है।

उसी प्रकार "एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः।"[4] इस प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि भवान्तर गमन काल में विग्रह गति में शरीर का अभाव होने पर नवीन शरीर धारण करने के लिए तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल पिंड का ग्रहण नोकर्म आहार कहा जाता है। वह विग्रहगति में कर्माहार विद्यमान होने पर भी एक, दो या तीन समय पर्यन्त नहीं है। इसलिए

---

१. भावसंग्रह, गा. ११०
२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २१ (२०)
३. धवला पु. १, पृ. ४०९, सू. १७३
४. तत्त्वार्थ सूत्र, अ. २, सू. ३०

नोकर्म आहार की अपेक्षा से आहारक और अनाहारकपना आगम में कहा है। यदि पुनः कवलाहार की अपेक्षा से है तो भोजनकाल को छोडकर सर्वदा अनाहारक ही है, फिर तीन समय का नियम घटित नहीं होता। अन्यत्र भी कहा है :-

"पडिसमयं दिव्वतमं जोगी णोकम्म देहपडिबद्धं।
समयपबद्धं बंधदि गलिदवसेसाउमेत्तठिदी ॥"[1]

योगी प्रत्येक समय दिव्यतम नोकर्म शरीर सम्बन्धी समयप्रबद्ध को बाँधता है। उसकी गलना से जितना आयुशेष है, उतनी स्थिति होती है।

केवलियों के कवलाहार की सिद्धि के लिए विपक्षियों के द्वारा दूसरा हेतु कहा जाता है, वह इस प्रकार है :- केवलियों के कवलाहार है, मनुष्यपना होने से, जैसे वर्तमान के मनुष्य। वह भी अयुक्त है। ऐसा हो तो पूर्वकाल पुरूषों को सर्वज्ञपना नहीं और राम रावण आदि पुरूषों को, वर्तमान पुरूषों के समान विशेष सामर्थ्य नहीं है। [२] वैसा तो नहीं है। केवलियों की क्रिया सामान्य मनुष्यों के समान नहीं है, क्योंकि उनके मनुष्य व्यवहार से अतीतपना है। उनका दिव्यपना और मनुष्यातीतपना स्वयंभूस्तोत्र में कहा है, वह इस प्रकार है :-

"मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः ॥"[३]

मानुषी प्रकृति से अतीत हैं और देवता में भी देवता है। हे नाथ ! आप परम देवता हैं। हे जिन वृष ! हमारे कल्याण के लिए प्रसन्न हों।

केवली रत्नत्रय के लिए भोजन ग्रहण करते हैं, ऐसा भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि केवली जिन परिपूर्ण आत्मस्वभाव को प्राप्त हुए हैं। उस कारण से रत्नत्रय के लिए ज्ञान, संयम, ध्यान के लिए करते हैं, यह संभव नहीं है। उस भगवान के ज्ञान, संयम, ध्यान आदि गुण स्वभाव से ही रहते हैं, आहार के बल से नहीं तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए भोजन नहीं करते, क्योंकि

---

१. क्षपणासार, गा.सं. ६१८
२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २१
३. स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक ७५

उन्होंने परिपूर्ण केवलज्ञान प्राप्त किया है। केवलज्ञान से अधिक प्राप्त करने योग्य अन्य ज्ञान नहीं है, जिससे उसके लिए केवली भोजन करें। संयम के लिए नहीं करते क्योंकि उन्हें यथाख्यात संयम प्राप्त है। ध्यान के लिए भोजन नहीं करते क्योंकि उन्होंने तीन भुवन को जाना है, उस कारण से ध्येय का अभाव है। किसका ध्यान करें ? इसलिए भोजन के कारण का अभाव होने से केवली भोजन नहीं करते। यह सिद्ध होता है।[१]

यदि पुनः देह के ममत्व से आहार ग्रहण करते हैं तो छद्मस्थ से भी हीन होते हैं, क्योंकि छद्मस्थ तपोधन प्रमत्त संयत छठे गुणस्थानवर्ती यद्यपि आहार ग्रहण करते हैं तथापि ज्ञान संयम ध्यान की सिद्धि के लिए करते हैं, देह के ममत्व के लिए नहीं करते हैं। कहा भी है :-

"कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखम् ॥"[२]

शरीर स्थिति के लिए आहार है, शरीर ज्ञान के लिए, ज्ञान कर्म विनाश के लिए है और कर्म के नाश में परम सुख होता है।

उसके अतिशय विशेष से प्रगट भोजन नहीं है, गुप्त रूप से भोजन है, ऐसा कोई प्रतिवादी कहता है तो परमौदारिकपना होने से भोजन ही नहीं है, ऐसा अतिशय क्यों नहीं होता ? तो वहाँ गुप्त भोजन में मायाचार, दैन्यवृत्ति अन्य भी आहार शुद्धि में कहे हुए बहुत दोष होते हैं, इसलिए यह सिद्ध होता है कि केवलियों के कवलाहार नहीं है।

स्त्रीमुक्ति का निराकरण :-

जयसेन आचार्य द्वारा विशेष रूप से स्पष्ट किये हुए विषयों में से स्त्रीमुक्ति का निराकरण यह एक विषय है। प्रवचनसार की चरणानुयोग सूचक चूलिका नामक तीसरे अधिकार में ग्यारह गाथाओं में स्त्रीमुक्ति के निषेध की मुख्यता से व्याख्यान है। ये गाथाऐं जयसेन आचार्य की तात्पर्यवृत्ति में ही प्राप्त होती हैं, अमृतचन्द्र आचार्य की टीका में प्राप्त नहीं होती। जयसेन आचार्य ने उसके ऊपर विशेष रूप से विवरण लिखा है। उसके अनुसार यहाँ विवेचन करते हैं। श्वेताम्बर मतानुसारी स्त्रियों का निर्वाण मानते हैं। यह युक्तियुक्त नहीं है। स्त्रियों में मोक्ष प्रतिबन्धक बहुत कारण विद्यमान हैं।

---

१. कषायपाहुड, भा.१, पृ.सं. ५२
२. दोहापाहुड, दोहा सं. २१६

१) मोक्ष के प्रतिबन्धक प्रमाद की बहुलता :-

"स्त्रीणां परिणतिः प्रकृत्या प्रमादेन निर्वृत्ता प्रमादमयी वर्तते । तत एव नाममालायां स्त्रीणां प्रमदासंज्ञा भाषिता । तस्मादेव नार्यो निःप्रमादपरमात्मतत्त्वभावनाविनाशकप्रमादबहुला भण्यन्ते ।"[१]

स्त्रियों की परिणति स्वभाव से ही प्रमाद से रची हुई प्रमादमय होती है। इसी कारण से नाममाला में स्त्रियों के प्रमदा संज्ञा कही है। उसी कारण से ही स्त्रियां निष्प्रमाद परमात्म तत्त्व की भावना का नाश करनेवाले प्रमाद से बहुल होती हैं।

२) मोक्ष प्रबन्धक मोहादि की बहुलता :-

स्त्रियों के अनन्त गुण आदि सुख स्वरूप मोक्ष कारण के प्रतिबन्धक मोह, द्वेष, भय, जुगुप्सा परिणाम विद्यमान रहते हैं। मन में अनेक प्रकार की माया रहती है। इसलिए भी उनको निर्वाण नहीं है। [२]

जिस प्रकार वर्षाकाल में नदियों का मध्यभाग मलिन जल से परिपूर्ण रहता है, उसी प्रकार स्त्रियों का चित्त भी राग, द्वेष, मोह, असूया आदि दुष्ट भावों से मलिन होता है। [३] यदि स्त्रियों के दोष किसी भी प्रकार मूर्त होते हैं तो निश्चय से उनके द्वारा पूरा भुवन का उदर भरा जायेगा। [४]

३) मोक्ष प्रतिबन्धक सचेलता :-

निश्चय से स्त्रियों के उसी जन्म से सिद्धि नहीं देखी गई है। उस कारण से उनके योग्य आवरण सहित स्त्रियों का लिंग कहा है। उनके गात्र ढके हुए नहीं हैं, इसलिए उनके वस्त्र का आवरण किया जाता है। धवला टीका में भी प्रश्नोत्तर रूप से यह स्पष्ट किया है -

"अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निवृत्तिः सिद्ध्येदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुण स्थितानां संयमानुपपत्तेः । भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरूद्ध इति चेत् न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः ।"[५]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. २४६

२. वहीं पर, गा.सं. २४७

३. पाउसकालणदीवोव्वं ताओ णिच्चंपि कलुसहिदथाओ। भगवती आराधना गा. ९३४

४. ज्ञानार्णव अधिकार १२, गा. ५०

५. धवला, पु. १, पृ.सं. ३३३

इसी आर्ष से द्रव्य स्त्रियों की निवृत्ति सिद्ध होगी, तो उत्तर देते हैं कि नहीं। वस्त्र सहित होने से अप्रत्याख्यान गुणों में स्थित उनके संयम की उत्पत्ति नहीं है। वस्त्र सहित उनके भाव संयम अविरूद्ध है, ऐसा कहेंगे तो उनके भाव संयम नहीं है क्योंकि भाव असंयम के अविनाभावी वस्त्रादि का ग्रहण अन्यथा नहीं हो सकता।

जिन शासन में जब तक तीर्थंकर भी वस्त्र धारण करते हैं, तब तक सिद्ध नहीं होते हैं, इसलिए एक निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं। [१] द्रव्यस्त्रियों के निर्ग्रन्थपना नहीं है। वस्त्रादिक के परित्याग के बिना उनके भाव निर्ग्रन्थपने का अभाव है। द्रव्य स्त्री और द्रव्य नपुंसकों के वस्त्र आदि त्याग नहीं है, क्योंकि छेद सूत्र के साथ विरोध आता है।[२]

४) मोक्ष प्रतिबन्धक अन्य दोष :-

उन स्त्रियों के काम का उद्रेक होने से राग से आर्द्र भाव और शिथिलता है, उस भव में मुक्ति योग्य परिणाम के विषय में चित्त की दृढता नहीं होती। प्रत्येक मास में तीन दिन पर्यन्त चित्त शुद्धि का विनाशक रक्तस्राव होता है। स्त्रियों के लिंग में, योनि प्रदेश में, स्तनों के बीच में, नाभि प्रदेश में, काँख में सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यादि जीवों का उत्पाद होता है। उस कारण से उनके संयम नहीं होता।

ये पूर्वोक्त दोष पुरूषों के भी पाये जाते हैं, परन्तु स्त्रियों के बहुलता से होते हैं। अस्तित्व मात्र से समानता नहीं है। एक की विष कणिका है, दूसरे का विष पर्वत है, क्या समानता हो सकती है ? परन्तु पुरूषों के प्रथम संहनन के बल से दोष विनाशक मुक्ति योग्य सकल संयम है। [३]

५) प्रथम संहनन का अभाव :-

जिस प्रकार प्रथम संहनन का अभाव होने से स्त्री सातवें नरक नहीं जाती, वैसे निर्वाण भी नहीं जाती। आगम में भाव स्त्रियों का निर्वाण / मुक्ति कैसे कही है ? ऐसा पूछने पर भाव स्त्रियों के प्रथम संहनन है। द्रव्य स्त्रीवेद का अभाव होने से उस भव में मोक्ष परिणाम के प्रतिबंधक काम का उद्रेक भी नहीं है। [४] द्रव्य स्त्रियों के प्रथम संहनन नहीं है, ऐसा गोम्मटसार कर्मकांड में कहा है, वह इस प्रकार है :-

---

१. सूत्रपाहुड, गा.सं. २३

२. धवला, पु. ११, पृ.सं. ११४

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. २४९, २५०

४. वहीं पर, गा.सं. २५१

"अंतिमतिगसंघडणं णियमेण य कम्मभूमि महिलाणं।
आदिमतिगसंघडणं णत्थि त्ति जिणेहिं णिदिट्ठं॥"[1]

कर्मभूमि की महिलाओं के अन्तिम तीन संहनन नियम से होते हैं, प्रथम तीन संहनन नहीं हैं, ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

६) सम्पूर्ण कर्म निर्जरा का अभाव :-

"यद्यपि सम्यक्त्वेन शुद्धा एकादशांगसूत्राध्ययनेनापि संयुक्ता घोरं पक्षोपवास मासोपवासादि चरति वा चारित्रं तथापि स्त्रीजनस्य तद्भवकर्मक्षययोग्या सकलकर्मनिर्जरा न भणिता।"[2]

यद्यपि सम्यक्त्व से शुद्ध ग्यारह अंगों के सूत्रों के अध्ययन से संयुक्त होने पर भी घोर पक्षोपवास मासोपवास आदि चारित्र का आचरण करती है तथापि स्त्रीजनों के उस भव में कर्म क्षय के योग्य सम्पूर्ण कर्म निर्जरा नहीं कही है। यदि स्त्री को मोक्ष नहीं है तो आपके मत में आर्यिकाओं के महाव्रतों का आरोपण किसलिए किया है ? परिहार कहते हैं :- उसके उपचार से कुल व्यवस्था के निमित्त महाव्रतों का आरोपण किया है। उपचार साक्षात् नहीं हो सकता है। जैसे :- यह देवदत्त अग्नि के समान क्रूर है, इत्यादि के समान। मुख्य का अभाव होने पर प्रयोजन और निमित्त में उपचार प्रवृत्त होता है परन्तु यदि उस भव में स्त्रियों को मोक्ष होता है तो सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका से आज के दिन में दीक्षित साधु कैसे वंद्य होता ? वही साधु को प्रथमतः क्यों वंदनीय नहीं होती ? परन्तु आपके मत में (श्वे.) मल्लि तीर्थंकर भी स्त्री कहे जाते हैं, वह भी अयोग्य है। तीर्थंकर सम्यग्दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं की पूर्व भव में भावना करके पश्चात् होते हैं। सम्यग्दृष्टि के स्त्रीवेद कर्म का बंध नहीं है, तो सम्यग्दृष्टि स्त्री कैसे होगा। यदि मल्लि तीर्थंकर अथवा अन्य कोई भी स्त्री होकर निर्वाण गया तो स्त्री रूप प्रतिमा की आराधना आपके द्वारा क्यों नहीं की जाती ? यदि स्त्रियों के पूर्वोक्त दोष हैं तो सीता, रूक्मिणी, कुंती, द्रौपदी, सुभद्रा इत्यादि जिनदीक्षा ग्रहण करके विशिष्ट तपश्चरण से सोलहवें स्वर्ग में कैसे गई ? ऐसा पूछने पर परिहार कहते हैं :- उसमें दोष नहीं है, उस स्वर्ग से आकर पुरूषवेद से आगे मोक्ष जायेंगी। उस भव में मोक्ष नहीं है। भवान्तर में हो, उसमें क्या दोष है।[3]

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा. ३२
२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २५१
३. वहीं पर, गा. २५१

अन्यत्र भी स्त्रियों के तद्भव मोक्ष का अभाव बताया है, वह इस प्रकार है :- कुत्ता, गधा, गो इत्यादि पशु और महिलाओं के मोक्ष नहीं दिखायी देता। जो चौथे मोक्ष पुरूषार्थ का शोध करते हैं, उन्हीं की मुक्ति संभव है।[१] स्त्रियों के भी मुक्ति नहीं होती है, क्योंकि महाव्रत का अभाव है।[२]

कर्म सिद्धान्त :-

जयसेन आचार्य ने जिन ग्रन्थों के ऊपर वृत्तियां रची हैं, वे तीनों भी ग्रन्थ आध्यात्मिक हैं, तथापि जयसेन आचार्य ने स्थान स्थान पर अध्यात्म और आगम में सुमेल बिठाया है। उन्होंने करणानुयोग के कुछ सिद्धान्तों का विवेचन किया है। कर्मों का स्वरूप, अनादिपना, मूर्तिकपना, अनुभाग शक्ति इत्यादि विषय रूप से वर्णित हैं। इससे जयसेन आचार्य की आगम कुशलता जानी जाती है। जिनागम में कर्मों का विवेचन बहुत विस्तृत किया है।

परन्तु यहाँ पर, उन्होंने जिन विषयों का विवेचन किया है, उन्हीं की समीक्षा की जाती है, अन्य विषयों की नहीं। जैनागम में कर्म सिद्धान्त का वर्णन प्राप्त होता है, अन्य धर्मों में कर्मों का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है। जैन दर्शन ही कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करता है। पुद्गल द्रव्य की तेईस वर्गणाओं में कार्माण वर्गणा नाम की एक वर्गणा है। जीव के राग, द्वेष, मोह, परिणाम के निमित्त से कार्माण वर्गणाओं का कर्मरूप से परिणमन होता है। जिनागम में उसकी द्रव्यकर्म ऐसी संज्ञा है। वे कर्म पुद्गल द्रव्यपना होने से रूपादियुक्त मूर्तिक हैं, परन्तु सूक्ष्म स्कन्धपना होने से इन्द्रिय गोचर नहीं हैं।

कर्म के अस्तित्व की सिद्धि :-

"जीवं परतन्त्री कुर्वन्ति स परतन्त्री क्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि।"[३]

जीव को जो परतन्त्र करते हैं, अथवा वह जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है, वे कर्म हैं, अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शन आदि परिणामों से किये जाते हैं, वे कर्म हैं। कर्मों का अस्तित्व उनके कार्यों से जाना जाता है। परमागम में अनेक युक्तियों से वह सिद्ध किया है। कषाय प्राभृत में ज्ञान के तरतम भाव से कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है।

---

१. सुगहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो।
जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहि॥ शीलपाहुड गा. २९

२. मोक्षपाहुड - टीका गा. १२

३. आप्त परीक्षा, टी. श्लोक ११३

ज्ञान प्रमाण का वृद्धि ह्रास रूप तरतम भाव निष्कारण नहीं है। यदि वृद्धि हानि नहीं मानेंगे तो ज्ञान की एकरूपता का प्रसंग आता है। वैसा तो नहीं है। ज्ञान की एकरूप अवस्थान की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए ज्ञान की वृद्धि हानि सकारण है। जो वृद्धि हानि तरतम भाव का कारण है, वह आवरण है, इस प्रकार सिद्ध है। [१]

मनुष्यादि विविध पर्यायों से भी कर्म का अस्तित्व जाना जाता है। जो जितने मनुष्यादि प्राणी हैं, उनके शरीर, संस्थान, वर्ण आदि भिन्न भिन्न ही दिखायी देते हैं। उनमें नाना रूपता का कुछ कारण है। वह कारण कर्म ही है। जीव ने पूर्व भव में जिस प्रकार का कर्म उपार्जित किया है, वैसी ही पर्याय अन्य भव में प्राप्त होती है। मनुष्यादि पर्यायों का कर्म कार्यत्व प्रवचनसार में कहा है, वह इस प्रकार है :-

"यथा ज्योतिः स्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिः कार्यं तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम्।"[२]

जिस प्रकार ज्योति स्वभाव से तैल स्वभाव का पराभव करके किया गया दीपक ज्योति का कार्य है, उसी प्रकार कर्म स्वभाव से जीव स्वभाव का पराभव करके की गई मनुष्यादि पर्याय कर्म का कार्य है।

जीव और कर्म का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। मैं पने के अनुभव से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है। गरीब श्रीमन्त आदि विचित्र परिणाम से कर्म का अस्तित्व सिद्ध है। [३] जिस प्रकार कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है वैसे ही उसके मूर्तत्त्व को भी सिद्ध किया है। जिस कारण से उदयागत कर्म का फल मूर्त पाँच इन्द्रियों के विषय रूप मूर्त इन्द्रियों से भोगा जाता है और स्वयं मूर्त सुख दुःख आदि कार्य दिखाई देता है, इसलिए कारण सदृश कार्य होता है, ऐसा मानकर के कार्यानुमान से कर्म मूर्त हैं ऐसा जाना जाता है।

---

१. एदस्स पमाणस्स वड्ढिहाणितरतमभावो ण ताव णिक्कारणो वड्ढि हाणि हि विणा एगसरूवेणावट्ठाणप्पसंगादो। ण च एवं तहाणुवलंभादो। तम्हा सकारणहि ताहि होदव्वं। जं तं हाणितरतमभावकारणं तमावरणमिदि सिद्धं। ..... कम्मं पि सहेउअं तव्विणासणाहाणुववत्तीदो णव्वदे। ण च कम्मविणासो असिद्धो। [२] कसायपाहुड, पु. १, ३८/५६

२. प्रवचनसार तत्त्व प्रदीपिका, गा. ११७

३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड - जीव प्रबोधिनी २/३१६

जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध :-

जीव और कर्म का अनादिकाल से संश्लेष सम्बन्ध है। पहले जीव भिन्न था और कर्म भिन्न थे और बाद में उन दोनों का संयोग हुआ, ऐसा नहीं है। जिस प्रकार मेरू आदि अकृत्रिम स्कन्धों में अनन्त पुद्गल परमाणु अनादि से एक बंधनरूप हैं, उनमें से कुछ परमाणु अलग होते हैं, कुछ मिलते हैं, इस प्रकार भेद और संघात निरन्तर होता है। उसी प्रकार संसार अवस्था में एक जीव द्रव्य और अनन्त कर्म परमाणु अनादिकाल से एक बंधनरूप हैं। पुनः कुछ परमाणु निर्जरित होते हैं और कुछ बंधते हैं।

"बन्धस्यादिमत्त्वे आत्यन्तिकीं शुद्धिं दधतः सिद्धस्येव बन्धाभावः प्रसज्येत।"[१]

बन्ध के आदिमानपना होने पर आत्यन्तिक शुद्धि को धारण करनेवाले सिद्ध के समान बन्ध के अभाव का प्रसंग आता है। जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध जयसेन आचार्य ने स्थान स्थान पर दिखाया है। वह इस प्रकार है :-

"ज्ञानावरणादिभावा द्रव्यकर्म पर्यायाः संसारीजीवेन सुष्ठु संश्लेषणरूपेण अनादिसंतानेन बद्धास्तिष्ठन्ति।"[२]

ज्ञानावरणादि भाव रूप द्रव्यकर्म की पर्याय संसारी जीव के साथ संश्लेष रूप से अनादि परम्परा से बद्ध है।

"जीवानां कर्मणां चानादिसम्बन्धो भवति। जीवेन कर्म न जनितं कर्मणा जीवोऽपि न जनितो येन कारणेन द्वयोरप्यादिर्न भवति। जीवकर्मणामनादिसंबन्धः पर्यायसंतानेन बीजवृक्षवद् व्यवहारनयेन भवति।"[३]

जीव और कर्मों का अनादि सम्बन्ध है। जीव ने कर्म को उत्पन्न नहीं किया और कर्म के द्वारा जीव भी उत्पन्न नहीं किया गया। जिस कारण से दोनों को भी आदि नहीं है। जीव और कर्मों का अनादि सम्बन्ध पर्याय सन्तान रूप से बीज और वृक्ष के समान व्यवहार नय से है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, अ. ८, सू. २

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २०

३. जीवहं कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण।
कम्मे जीउ वि जणिउ णवि दोहि वि आइ ण तेण॥
परमात्म प्रकाश, अधिकार १, दोहा ५९

कार्माण वर्गणा का कर्म रूप से परिणमन स्वयं ही अपने उपादान कारण से होता है, उसमें जीव उपादान कारण नहीं है। जहाँ पर शरीर से अवगाहित क्षेत्र में जीव रहते हैं, बंध योग्य पुद्गल भी वहीं पर रहते हैं। बाहर से जीव लाता नहीं। कर्मत्व के योग्य स्कन्ध जीव की मिथ्यात्व रागादि परिणति को प्राप्त करके कर्म भाव को ज्ञानावरणादि कर्म पर्याय को प्राप्त होते हैं।

वे कर्म स्कन्ध उपादान कर्तृरूप जीव के द्वारा परिणमाये नहीं गये हैं। कर्म स्कन्धों का निश्चय से जीव कर्ता नहीं है। वही दृष्टान्त पूर्वक कहा है :-

"यथा चंद्रार्कप्रभोपलम्भे सति अभ्रसन्ध्यारागेन्द्रचापपरिवेषादिभिर्बहुभिः प्रकारैः परेणाकृता अपि स्वयमेव पुद्गलाः परिणमन्ति लोके तथा जीवानां मिथ्यात्वरागादिपरिणामे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गला जीवेनोपादानकारणेनाकृता अपि स्वकीयोपादानकारणैः कृत्वा ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिरूपैर्बहुभेदैः परिणमन्तीति।"[१]

जैसे लोक में चन्द्र और सूर्य की प्रभा उपलब्ध होने पर अभ्र, संध्याराग, इन्द्रधनुष, परिवेष आदि के द्वारा बहुत प्रकार से पर के द्वारा बिना किये ही, स्वयं ही पुद्गल परिणमन करते हैं, वैसे ही जीवों के मिथ्यात्व रागादि परिणाम होने पर कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल उपादान कारणभूत जीव के द्वारा बिना किये ही अपने उपादान कारणों से ज्ञानावरणादि मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतिरूप बहुत भेदों से परिणमन करते हैं।

जिस प्रकार कार्माण वर्गणा कर्म रूप से स्वयं परिणमती हैं, उसी प्रकार उनकी अनेक प्रकार की प्रकृति भी स्वभाव से होती है। वही कहा है :-

"भूमेर्मेघजलसंयोगे सति यथाऽन्ये पुद्गला स्वयमेव हरितपल्लवादिभावैः परिणमन्ति तथा स्वयमेव नानाभेदपरिणतैर्मूलोत्तरप्रकृतिरूपज्ञानावरणादिभावैः पर्यायैरिति। ततो ज्ञायते यथा ज्ञानावरणादिकर्मणामुत्पत्तिः स्वयंकृता तथा मूलोत्तरप्रकृतिरूपवैचित्र्यमपि न च जीवकृतमिति।"[२]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ७२

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १९९

भूमि का मेघजल के साथ संयोग होने पर जिस प्रकार अन्य पुद्गल स्वयं ही हरितपल्लव आदि भाव रूप से परिणमते हैं, उसी प्रकार स्वयं ही नानाभेद रूप से परिणत मूल उत्तर रूप ज्ञानावरणादि भावरूप पर्यायों से परिणमते हैं । इसलिए जाना जाता है कि जिस प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्पत्ति स्वयंकृत है, उसी प्रकार मूल उत्तर प्रकृतिरूप वैचित्र्य भी जीवकृत नहीं है।

जीव के मिथ्यात्व रागादि परिणाम रूप निमित्त को प्राप्त करके मूर्त कर्म नवीन मूर्त कर्म के साथ अपनी स्निग्ध रूक्ष परिणतिरूप उपादान कारण से संश्लेष रूप बंध का अनुभव करता है। इस प्रकार पुराने और नवीन मूर्त कर्मों का बन्ध होता है।

मूर्तिक कर्म का मूर्तिक कर्म के साथ बंध युक्त है। अमूर्त जीव का मूर्तिक पुद्गल कर्म के साथ बन्ध कैसे संभव है ? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। जयसेन आचार्य ने इस प्रश्न का नय विभाग से परिहार किया है। वह इस प्रकार है :-

"शुद्धनिश्चयेन जीवो मूर्तिविरहितोऽपि व्यवहारेणानादि कर्मबन्धवशान्मूर्तः सन मिथ्यात्वरागादिपरिणामेन परिणतः सन् तान् कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलान् गाहते परस्परानुप्रवेशरूपेण बध्नाति।"[1]

शुद्ध निश्चय से जीव मूर्ति रहित होने पर भी व्यवहार से अनादि कर्म बन्ध के वश से मूर्त होकर मिथ्यात्व रागादि परिणामों से परिणत होता हुआ उन कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, परस्पर अनुप्रवेश रूप से बन्धता है। इस प्रकार यह आत्मा निश्चय से यद्यपि अमूर्त है तथापि अनादि कर्मबंध के वश से मूर्त होकर द्रव्यबंध के निमित्तभूत रागादि विकल्परूप भावबन्ध उपयोग को करता है। उसके होने पर मूर्त द्रव्यकर्म के साथ यद्यपि तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि संश्लेष सम्बन्ध है।

जिस प्रकार यह आत्मा रूपादि रहित होने पर भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहित मूर्त द्रव्य और उनके गुणों को तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव होने पर भी जानता और देखता है, उसी प्रकार उनके साथ बन्ध भी होता है, ऐसा जानना चाहिए।[2] इस प्रकार अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्म के साथ सम्बन्ध संभव है।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १४२

२. प्रवचनसार, गा. १७३

कर्म सामान्य रूप से कर्मत्व की अपेक्षा से एक ही है। पुनः वही कर्म द्रव्य भाव के भेद से दो प्रकार का है। उसमें पुद्गल द्रव्यपिंड, द्रव्यकर्म है। उस पुद्गल पिंड की फलदान शक्ति भावकर्म है। अथवा कार्य में कारण का उपचार होने से शक्ति जनित अज्ञान आदि भावकर्म हैं।[१] जयसेन आचार्य ने समयसार की तात्पर्यवृत्ति में इस विषयक अच्छा स्पष्टीकरण किया है, वह इस प्रकार है :-

"भावकर्म द्विधा भवति जीवगतं पुद्गलकर्मगतं च। तथाहि भावक्रोधादि व्यक्तिरूपं जीवभावगतं भण्यते। पुद्गलपिण्डशक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं। अत्र दृष्टान्तो यथा मधुर कटुकादिद्रव्यस्य भक्षणकाले जीवस्य मधुरकटुकस्वादव्यक्तिविकल्परूपं जीवभावगतं तद् व्यक्तिकारणभूतं मधुरकटुकद्रव्यगतं शक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतम्। एवं भावकर्मस्वरूपं जीवगतं पुद्गलगतं च द्विधेति भावकर्मव्याख्याने सर्वत्र ज्ञातव्यम्।"[२]

भावकर्म दो प्रकार का है। जीवगत और पुद्गल कर्मगत।

स्पष्टीकरण :- भाव क्रोधादि व्यक्तिरूप जीव भावगत कहा जाता है। पुद्गल पिंड की शक्तिरूप पुद्गल द्रव्यगत कहा जाता है। यहाँ पर दृष्टान्त :- जैसे मीठा, कडुआ आदि द्रव्य के भक्षण काल में जीव को मीठा कडुआ आदि स्वाद की व्यक्ति के विकल्परूप जीव भावगत है, और उसकी व्यक्ति का कारणभूत मीठा कडुवा द्रव्यगत शक्तिरूप पुद्गल द्रव्यगत है। इस प्रकार भावकर्म का स्वरूप जीवगत और पुद्गलगत दो प्रकार से भावकर्म के व्याख्यान में सर्वत्र जानना चाहिए।

मूल कर्म प्रकृति ज्ञानावरणादि भेद से आठ प्रकार की है। पुनः उत्तर प्रकृति रूप से १४८ प्रकार की है। वहाँ किस परिणाम से किस प्रकार का कर्म बँधता है, यह जयसेन आचार्य ने विविध स्थलों में दिखाया है। जीव जिस प्रकार का चिन्तन करता है, उसी प्रकार का कर्म बँधता है और उसी प्रकार की पर्याय को प्राप्त करता है। वह एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियरूप जीव भेद के विचार के प्रस्ताव में सम्यक् दिखाया है। वह इस प्रकार है :-

---

१. कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु।
पोग्गलपिण्डो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु॥ गोम्मटसार - कर्मकाण्ड गा. ६

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. २००-२०२

"स्पर्शनेन्द्रियादिरहितमखंडैकज्ञानप्रतिभासमयं यदात्मस्वरूपं तद्भावनारहितेनाल्प-सुखार्थं स्पर्शनेन्द्रियविषयलाम्पट्यपरिणतेन जीवेन यदुपार्जितं स्पर्शनेन्द्रिय-जनकमेकेन्द्रियजातिनामकर्म तदुदयकाले स्पर्शनेन्द्रियक्षयोपशमं लब्ध्वा स्पर्शविषयज्ञानेन परिणमतीति।"[१]

स्पर्शन इन्द्रिय आदि से रहित अखंड एक ज्ञान प्रतिभासमय जो आत्मा का स्वरूप है, उसकी भावना से रहित अल्प सुख के लिए स्पर्शन इन्द्रिय की विषय लम्पटता से परिणत जीव के द्वारा जो उपार्जित स्पर्शन इन्द्रिय को उत्पन्न करनेवाले एकेन्द्रिय जाति नामकर्म है, उसके उदय काल में स्पर्शनेन्द्रिय क्षयोपशम को प्राप्त करके स्पर्श विषयक ज्ञान से परिणमता है।

"परमार्थेन स्वाधीनतानन्तज्ञानसुखसहितोऽपि जीवः पश्चादज्ञानेन पराधीनेन्द्रियसुखासक्तो भूत्वा यत्कर्म बध्नाति तेनाण्डजादिसदृशमेकेन्द्रियजं दुःखितं चात्मानं करोतीति।"

परमार्थ से स्वाधीन, अनन्तज्ञान सुख सहित भी जीव अज्ञान से पराधीन इन्द्रिय सुख में आसक्त होकर जो कर्म बाँधता है, उससे अण्डज आदि सदृश एकेन्द्रिय से उत्पन्न हुए दुःखित आत्मा को करता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्यायो में उत्पत्ति का कारण कहा है। सम्यग्दृष्टि भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में उत्पन्न नहीं होता। ऐसा सिद्धान्त आगम में कहा है, परन्तु प्रवचनसार की छठी गाथा में कहा है :-

"संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणपहाणादो ॥ गा.६॥"

दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्र से जीव को देवेन्द्र, असुरेन्द्र, मनुष्येन्द्र के वैभवों के साथ निर्वाण प्राप्त होता है। यहाँ पर आगम विरोध प्रतिभासित होता है। परन्तु जयसेन आचार्य ने प्रश्नोत्तर करके वह विरोध दूर किया है। वह इस प्रकार है :-

"असुरेषुमध्ये सम्यग्दृष्टिः कथमुत्पद्यते इतिचेत् निदानबन्धेन सम्यक्त्वविराधनां कृत्वा तत्रोत्पद्यते इति ज्ञातव्यम्।"[२]

असुरों में सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होता है, ऐसा पूछने पर कहते हैं कि निदान बन्ध से सम्यक्त्व की विराधना करके वहाँ उत्पन्न होता है, ऐसा जानना चाहिए। यह पढकर मन निःशल्य होता है। इससे जयसेन आचार्य की सूक्ष्म विवेचन दृष्टि भी दृष्टिगोचर होती है।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ११०

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ६

आध्यात्मिक दृष्टि से अध्ययन

शुद्धात्मा का स्वरूप :-

छह द्रव्यों के बीच में जीव नामक एक स्वतन्त्र द्रव्य है। चार्वाक दर्शन भूतचतुष्टय से चेतना की उत्पत्ति मानता है। उसके मत में जीव नामक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। जैन दार्शनिकों ने उनके मत का खण्डन करके आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध किया है। जीव द्रव्य चेतन है, शेष द्रव्य अचेतन हैं। चेतना गुण से आत्मा अन्य पाँच द्रव्यों से भिन्न विलसित होता है। यद्यपि जीव स्वभावतः शुद्ध ही है, परन्तु अनादि बंध पर्याय की अपेक्षा से संसार अवस्था में अशुद्ध होता है। जब जीव स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्धात्मा का ध्यान करता है, तब अशुद्धता का विनाश होता हैं और पर्याय में साक्षात् शुद्ध होता है, इसलिए शुद्ध आत्म स्वरूप का ध्यान करने के लिए शुद्धात्मा का स्वरूप मुख्यता से निरूपण किया है। उनकी स्वरचित वृत्तियां अध्यात्म अमृतरस से परिपूरित हैं। उन वृत्ति ग्रन्थों में अध्यात्म पीयूष से परिपूर्ण प्रवाह प्रवाहित होता है। समयसार परमागम में मुख्य रूप से शुद्ध आत्म स्वरूप का व्याख्यान है। पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ में छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थों का तात्त्विक विवेचन है। परन्तु वहाँ भी जयसेन आचार्य ने प्रत्येक गाथा के भावार्थ में शुद्धात्मा को ही उपादेय कहा है। पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि अजीव पदार्थ के व्याख्यान के अवसर में भी शुद्धात्मा को ही उपादेयपना कहा है। वह इस प्रकार है :- काल द्रव्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए उस गाथा की समाप्ति में भावार्थ में ऐसा लिखा है कि:-

"अत्र व्याख्यानेऽतीतानन्तकाले दुर्लभो योऽसौ शुद्धजीवास्तिकायस्तस्मिन्नेव चिदानन्दैकस्वभावे सम्यक्श्रद्धानं रागादिभ्यो भिन्नरूपेण भेदज्ञानं रागादिविभावरूप-समस्तसंकल्पविकल्पजालत्यागेन तत्रैव स्थिरचित्तं च कर्तव्यमिति तात्पर्यार्थः।"[१]

इस व्याख्यान में अतीत अनन्तकाल में दुर्गम जो यह शुद्ध जीवास्तिकाय है, उसी चिदानन्द एक स्वभाव में सम्यक् श्रद्धान, रागादि से भिन्न रूप से भेदज्ञान, रागादिविभावरूप सम्पूर्ण संकल्प विकल्प जाल के त्यागरूप से उसी में स्थिर चित्त करना चाहिए, ऐसा तात्पर्य अर्थ है। पुद्गल द्रव्य की प्रतिपादक गाथा के अन्त में तात्पर्य रूप से कहा है, वह इस प्रकार है:-

"अत्रोपादेयभूतात्परमात्मतत्त्वात् पुद्गलानां यद्भिन्नत्वेन परिज्ञानं तदेव फलमिति तात्पर्यम्।"[२]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २६

२. वहीं पर, गा. ७५

यहाँ उपादेयभूत परमात्म तत्त्व से पुद्गलों का जो भिन्नत्व रूप से परिज्ञान है, वही फल है, ऐसा तात्पर्य है।

समयसार के प्रत्येक अधिकार की समाप्ति के अवसर में भी ऐसा उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है :-

"इति समयसार व्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलत्रय समुदायेन त्रिंशद् गाथाभिरजीवाधिकारः समाप्तः।"[१]

इस प्रकार समयसार की व्याख्या में शुद्धात्मानुभूति लक्षण तात्पर्यवृत्ति में तीन स्थलों के समुदाय से तीस गाथाओं के द्वारा अजीव अधिकार समाप्त हुआ। इसी से जाना जाता है कि शुद्धात्मा को प्राप्त कराना ही उनकी रचना का प्रयोजन था। इसलिए उन्होंने जहाँ तहाँ शुद्धात्मा का स्वरूप कहा है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन समयसार परमागम में विशद है।

शुद्ध शब्द से भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म रहित जीव ग्रहण किया जाता है। नोकर्म शब्द से शरीर आदि पर पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। जीव चेतन उपयोग लक्षण वाला है। शरीर आदि परद्रव्य चेतन रहित अचेतन हैं। इसलिए लक्षण भेद होने से आत्मा और शरीर में एकत्व नहीं हो सकता है।

जिस प्रकार सोना और चांदी की मिली हुई अवस्था में व्यवहार से एकत्व होने पर भी निश्चयनय से कदापि एकत्व नहीं है।

जयसेन आचार्य ने हेतु दृष्टान्तपूर्वक देह और आत्मा में भिन्नत्व सिद्ध किया है, वह इस प्रकार है :-

"देहात्मनोरत्यन्तं भेद इति पक्षः भिन्न लक्षण लक्षितत्वादिति हेतुर्जलानलवदिति दृष्टान्तः।"[२]

शरीर और आत्मा में अत्यन्त भेद है, ऐसा पक्ष है। भिन्न लक्षण से लक्षित होने से, यह हेतु है। जल और अग्नि के समान, यह दृष्टान्त है।

अज्ञानी जीव अज्ञान के वश से शरीर पुत्र कलत्र आदिक परद्रव्य को "यह मेरा है" ऐसा कहता है। उस बहिरात्मा को सम्बोधन करते हुए जयसेन आचार्य कहते हैं कि :-

---

१. समयसार जीव अधिकार की समाप्तिसूचक वाक्य, पृ.सं. ५५
भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन।

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ४९

"यथा वर्षासु लवणमुदकीभवति ग्रीष्मकाले जलं लवणीभवति तथा यदि चैतन्यं विहाय जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति पुद्गलद्रव्यं च मूर्तत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्वं च भवति । तदा भवदीयवचनं सत्यं भवति रे! दुरात्मन् न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ततो जीवद्रव्यं देहाद् भिन्नममूर्तं शुद्धबुद्धैकस्वभावं सिद्धम् ।"[१]

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में नमक पानी रूप हो जाता है, ग्रीष्म काल में पानी नमक रूप होता है, उसी प्रकार यदि चैतन्य को छोडकर जीव द्रव्य, पुद्गल के स्वरूप से परिणमता है और पुद्गल मूर्तत्व अचेतनत्व को छोडकर चैतन्य और अमूर्त रूप होता है, तब आपका वचन सत्य है। हे दुरात्मन्! वैसा नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष विरोध है। इसलिए जीव द्रव्य शरीर से भिन्न अमूर्त शुद्ध बुद्ध एक स्वभावी सिद्ध है।

ज्ञानी निरन्तर शरीर और आत्मा में भेदज्ञान की भावना करता है। वह कैसे भेदभावना करता है ? उसे दिखाते हुए जयसेन आचार्य भेदभावना को नचाते हैं, वह इस प्रकार है :-

"देहोऽहं न भवामि, अशरीरसहजशुद्धचैतन्यपरिणतत्वेन मम देहत्वविरोधात् । कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्य निःक्रियपरमचिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन मम देहकर्तृत्व विरोधादिति।"[२]

"मैं शरीर नहीं हूँ" क्योंकि अशरीर सहज शुद्ध चैतन्य रूप से परिणत होने से मुझे देहपने का विरोध है। अथवा उस शरीर का कर्ता भी नहीं हूँ क्योंकि निष्क्रिय परमज्योति रूप से परिणमित होने से मेरे देह के कर्तृत्व का विरोध है।

आठ प्रकार का ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म भी पुद्गल द्रव्य है। इसलिए द्रव्यकर्म से भी जीव भिन्न है। रागादि भावकर्म भी शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है। कर्मोदय का कार्यपना होने से रागादि पौद्गलिक हैं। आठ प्रकार के कर्म पुद्गल का कार्य आकुलता को उत्पन्न करने वाला दुःख है। रागादिक भी आकुलता के उत्पादक दुःख लक्षणवाले हैं। उस कारण से पुद्गल का कार्यपना होने से शुद्धनिश्चयनय से पौद्गलिक हैं।

रागादिक से शुद्ध जीव का भिन्नत्व जयसेन आचार्य ने हेतु दृष्टान्तपूर्वक कहा है, वह इस प्रकार है :-

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २८-३०

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १७४

"रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षः परमसमाधिस्थपुरूषैः शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुः । किट्टकालीकास्वरूपात् सुवर्णवदिति दृष्टान्तः ।"[१]

रागादिक से भिन्न शुद्ध जीव है, ऐसा पक्ष है, क्योंकि परम समाधिस्थ पुरूषों के द्वारा शरीर रागादिकों से भिन्न चिदानन्दैक स्वभाव शुद्ध जीव की उपलब्धि होती है। यह हेतु है। किट्ट कालिमा स्वरूप से स्वर्ण के समान, यह दृष्टान्त है। रागादिक विभाव स्फटिक की उपाधि के समान हैं, इसलिए उनको निर्विकार शुद्धात्मानुभूति के बल से पृथक्त्व कर सकते हैं। रागादिकों का लक्षण और स्वरूप भिन्न है और आत्मा का लक्षण और स्वरूप भिन्न है, इसलिए लक्षण भेद से उन दोनों में भिन्नत्व पाया जाता है। समयसार परमागम में कर्तृकर्म अधिकार में क्रोधादि आस्रव और शुद्धात्मा में भेद विज्ञान अच्छी तरह से भाया है, वह इस प्रकार है :-

"एते, क्रोधाद्यास्रवा जीवेन सह निबद्धा औपाधिकाः । न पुनः निरूपाधिस्फटिकवच्छुद्धजीवस्वभावाः। विद्युच्चमत्कारवदध्रुवा अतीवक्षणीकाः। ध्रुवः शुद्धजीव एव। शीतोष्णज्वरावेशवदध्रुवापेक्षया क्रमेण स्थिरत्वं न गच्छन्तीत्यनित्या विनश्वराः । नित्यश्चिच्चमत्कारमात्रशुद्धजीव एव। आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखानि भवन्ति कामक्रोधाद्यास्रवा। अनाकुलत्वलक्षणत्वात्पारमार्थिकसुखस्वरूप शुद्ध जीव एव । आगामिनारकादि दुःखफलकारणत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः। वास्तवसुखफलस्वरूपशुद्धजीव एव।"[२]

ये क्रोधादिक आस्रव जीव से निबद्ध औपाधिक हैं। निरूपाधि स्फटिक के समान शुद्ध जीव के स्वभाव नहीं हैं। बिजली के चमत्कार के समान आस्रव अध्रुव और अतीव क्षणिक हैं। ध्रुव शुद्ध जीव ही है। आस्रव शीत ऊष्ण ज्वर के आवेश के समान अध्रुव की अपेक्षा से क्रम से स्थिरता को प्राप्त नहीं होते, इसलिए आस्रव अनित्य विनश्वर हैं। चित् चमत्कार मात्र शुद्ध जीव ही नित्य है। आकुलता का उत्पादक होने से काम क्रोधादि आस्रव दुःखरूप हैं। अनाकुलत्व लक्षण वाला होने से पारमार्थिक सुख स्वरूप शुद्ध जीव ही है। आगामी नारकादि दुःख फल का कारण होने से आस्रव दुःख फलवाले हैं। वास्तविक सुख फल स्वरूप शुद्ध जीव ही है। इस प्रकार भावकर्म, द्रव्यकर्म , नोकर्म से भिन्न शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव जीव पदार्थ सिद्ध होता है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ४९

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ७९

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुभ अशुभ परिणमन का अभाव होने से शुद्धात्मा प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं है, उसी प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चय से शुद्धात्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र ऐसे गुण भेद रूप नहीं है। [१] शुद्ध निश्चयनय से जीव अजीवादि नौ पदार्थों से भी शुद्ध जीव स्वरूप पृथक् है। वही जयसेन आचार्य ने समयसार परमागम की तात्पर्यवृत्ति में कहा है :- यद्यपि नौ पदार्थ तीर्थ प्रवृत्ति के निमित्त प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से भूतार्थ कहे जाते हैं तथापि अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में नौ पदार्थों में शुद्ध निश्चयनय से एक ही शुद्धात्मा अनुभव में आता है। [२]

उसी प्रकार शुद्ध निश्चय से आत्मा अबद्ध अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त है, ऐसा कहा है, वह इस प्रकार है :-

"य कर्ता पश्यति जानाति शुद्धात्मानं द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले बिसिनीपत्रवत्, अनन्यकं नरनारकादिपर्यायेषु मृतिका द्रव्यवत्, नियतमवस्थितं निस्तरंगोत्तरंगवस्थासु समुद्रवत्। अविशेषमभिन्नं ज्ञानदर्शनादिभेदरहितं गुरूत्वस्निग्धत्वपीतत्वादिधर्मेषु सुवर्णवत्। असंयुक्तमसंबद्धं रागादिविकल्परूपभावकर्मरहितं निश्चयेनौष्ण्यरहितजलवद् इति तं पुरूषमेवाभेदनयेन शुद्धनय विषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्धं विजानीहीति।"

जो कर्ता शुद्धात्मा को जल में कमलिनी के पत्ते के समान द्रव्यकर्म, नोकर्म से असंस्पृष्ट देखता है, जानता है, नरनारक आदि पर्यायों में मिट्टी द्रव्य के समान अनन्य निस्तरंग उत्तरंग अवस्थाओं में समुद्र के समान नियत, अवस्थित, गुरूत्व, स्निग्धत्व, पीतत्व आदि धर्मों में स्वर्ण के समान निश्चय से रागादि विकल्परूप भावकर्म रहित असंयुक्त असंबद्ध देखता जानता है, उस पुरूष को अभेदनय से, शुद्ध नय का विषय होने से, शुद्धात्मा का साधक होने से, शुद्ध अभिप्राय से परिणत होने से, तू शुद्ध जान।

इस स्पष्टीकरण से ऐसा जाना जाता है कि बद्ध स्पृष्ट विशेषण से द्रव्यकर्म नोकर्म रूप परद्रव्यों से भिन्नत्व कहा है। अनन्य विशेषण के द्वारा द्रव्य पर्यायों से अन्यत्व लक्षित होता है। नियत विशेषण से अर्थ पर्याय से (गुण पर्याय से) विभक्त कहा है। अविशेष विशेषण से

---

१. समयसार, गा. ६, ७

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १५

गुणभेद रहितपना जाना जाता है। असंयुक्त विशेषण से भावकर्मों से भिन्नत्व लक्षित होता है। सारांश रूप से भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से, शुद्ध, अशुद्ध पर्यायों से और गुणभेद से भिन्न शुद्ध जीव सिद्ध होता है।

समयसार परमागम के अजीव अधिकार में वर्णादि उनतीस भावों से शुद्ध जीव का भिन्नत्व कहा है, वह इस प्रकार है :-

१) वर्ण २) गन्ध ३) रस ४) स्पर्श ५) रूप शब्द के वाच्य स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाली मूर्ति, ६) औदारिक आदि पाँच शरीर ७) समचतुरस्र आदि छह संस्थान, ८) वज्रर्षभनाराच आदि छह संहनन, ९) राग, १०) द्वेष, ११) मोह, १२) मिथ्यात्व के पाँच प्रत्यय, १३) ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्म, १४) नोकर्म, १५) परमाणु के अविभाग प्रतिच्छेद रूप शक्ति समूह वर्ग, १६) वर्गों का समूह वर्गणा १७) वर्गणाओं का समूह लक्षण वाले स्पर्धक, १८) शुभ अशुभ रागादि विकल्प रूप अध्यवसान, १९) अनुभाग स्थान, २०) योगस्थान, २१) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश रूप चार प्रकार के बन्ध स्थान, २२) उदयस्थान, २३) गति आदि मार्गणा स्थान, २४) स्थितिबन्धस्थान, २५) कषाय उद्रेक रूप संक्लेशस्थान, २६) कषाय मन्दउदय रूप विशुद्धि स्थान, २७) संयमलब्धि स्थान २८) जीवस्थान, और २९) गुणस्थान - ये सभी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं है । क्योंकि पुद्गल परिणाममयपना होने पर शुद्धात्मानुभूति से भिन्न हैं। यह एक ही हेतु सभी से भिन्नत्व सिद्ध करने में प्रयुक्त किया है। इनमें दो प्रकार के भाव हैं। १) वर्णादि साक्षात पुद्गल स्वरूप हैं। २) रागादि अशुद्ध निश्चय से जीवभाव रूप हैं, परन्तु शुद्ध निश्चय से पुद्गल कर्म का निमित्त होने से पौद्गलिक कहें हैं। इस प्रकार बहिरंग में वर्णादिक अन्तरंग में रागादिकभाव पौद्गलिक शुद्ध निश्चय से जीव का स्वरूप नहीं है। ऐसा सिद्ध होता है।[१]

शुद्ध जीव के स्वरूप को बताने वाली एक गाथा कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा विरचित सर्व परमागमों में प्राप्त होती है, वह इस प्रकार है :-

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ [२]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ५५-६०

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ५४

जीव रस, रूप, गन्ध, शब्द स्पर्श रहित होने से अरस, अरूप, अगन्ध, अशब्द, अस्पर्श मनोगत काम क्रोध आदि विकल्प विषय रहित होने से अवक्तव्य है। स्वसंवेदन ज्ञान का विषय होने से अलिंगग्रहण, समचतुरस्र आदि छह संस्थान रहित होने से अनिर्दिष्ट संस्थान, सर्व अन्य द्रव्यों में असाधारण, स्वकीय अनन्तजीव जाति में साधारण चेतना गुण स्वरूप है। इस प्रकार गुण विशिष्ट शुद्ध जीव स्वरूप जानना चाहिए।

इस एक ही गाथा का विवेचन विभिन्न ग्रन्थों में टीकाकारों ने अपनी बुद्धि कुशलता से भिन्न भिन्न रूप से ही किया है। अमृतचन्द्र आचार्य ने प्रचनसार की तत्त्व प्रदीपिका नामक टीका में अलिंगग्रहण शब्द के बीस प्रकार से अर्थ किये हैं। उसी अर्थ को संक्षेप रूप से जयसेन आचार्य ने छह प्रकार से कहा है। वह इस प्रकार है।

१. लिंग अर्थात् इन्द्रिय, उससे पदार्थों का ग्रहण अर्थात् ज्ञान नहीं करता है, इसलिए अलिंगग्रहण है, क्योंकि स्वयं ही अतीन्द्रिय अखंड ज्ञान सहित है।
२. उसी लिंग शब्द के वाच्यभूत चक्षुरादि इन्द्रिय से अन्य जीवों को जिसका ग्रहण अर्थात् ज्ञान नहीं होता इसलिए अलिंगग्रहण कहा जाता है। वह भी क्यों ? क्योंकि निर्विकार अतीन्द्रिय स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा गम्य है।
३. धूमादिक लिंग हैं, उसके द्वारा धूमरूप लिंग से उत्पन्न अनुमान से अग्नि के समान अनुमेयभूत पर पदार्थों का ग्रहण नहीं करता, वह भी क्यों ? क्योंकि स्वयं ही अलिंग से उत्पन्न अतीन्द्रिय ज्ञान से सहित है।
४. उसी लिंग से उत्पन्न अनुमान से अग्नि के ग्रहण के समान पर पुरूषों को जिस आत्मा का ग्रहण अर्थात् ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए अलिंगग्रहण है, वह भी क्यों ? क्योंकि अलिंग से उत्पन्न अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा गम्य है।
५. लिंग अर्थात् चिह्न, शिखा, जटा धारण आदि उससे अर्थों का ग्रहण अर्थात् ज्ञान नहीं करता, उससे अलिंगग्रहण है, वह भी क्यों ? क्योंकि स्वाभाविक अचिह्न से उत्पन्न अतीन्द्रिय ज्ञान से सहित है।
६. उसी चिह्न से उत्पन्न ज्ञान से पर पुरूषों को जिस आत्मा का ग्रहण अर्थात् ज्ञान नहीं होता, इसलिए अलिंगग्रहण है, वह भी क्यों ? क्योंकि निरूपराग स्वसंवेदन ज्ञान से गम्य है। [१]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १८४

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष सिद्ध होता है -

१) आत्मा इन्द्रियों से पर पदार्थों को नहीं जानता।

२) आत्मा इन्द्रिय से दूसरों के द्वारा अथवा स्वयं के द्वारा नहीं जाना जाता।

३) आत्मा अनुमान ज्ञान से दूसरों को नहीं जानता।

४) आत्मा अनुमान ज्ञान से दूसरों के द्वारा अथवा स्वयं के द्वारा जाना नहीं जाता।

५) जटादि चिह्न से पर पदार्थों को ग्रहण नहीं करता।

६) जटादि चिह्न से आत्मा ग्रहण नहीं किया जाता है। अर्थात् आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान से ही जाना जाता है। इस प्रकार छह अर्थों का परिज्ञान होता है। पञ्चास्तिकाय संग्रह की तात्पर्यवृत्ति में अरस शब्द के दस प्रकार के अर्थ जयसेन आचार्य ने बताये हैं, वह इस प्रकार है :-

१) जीव रस गुण सहित पुद्गल द्रव्य रूप नहीं है।

२) जीव रस गुण मात्र नहीं है।

३) रस गुण ग्राहक पौद्गलिक जिह्वानामक द्रव्येन्द्रियरूप नहीं है।

४) उसी साधनभूत जिह्वा द्रव्येन्द्रिय से दूसरों को अथवा स्वयं को रस के समान जानने योग्य नहीं है।

५) स्वयं उसी द्रव्येन्द्रिय से रस का ग्राहक नहीं है।

६) रस के आस्वाद को जानने वाली जो क्षायोपशमिक भावेन्द्रिय है, तद्रूप नहीं है।

७) उसी भावेन्द्रिय से दूसरों को अथवा स्वयं को रस के समान जानने योग्य नहीं है।

८) उसी भावेन्द्रिय से रस को जानने वाला नहीं है।

९) सकल ग्राहक अखण्ड एक प्रतिभासमय जो केवलज्ञान, उस रूप होने से, रस का आस्वादन करनेवाली भावेन्द्रिय से उत्पन्न जो कार्यभूत रस को जाननामात्र खण्ड ज्ञान है, उस रूप नहीं है।

१०) रस को जानता है परन्तु रसरूप से तन्मय नहीं है, इसलिए अरस है।

इस प्रकार से यथासंभव रूप, गंध, स्पर्श, शब्द के विषयों में भी योजना करनी चाहिए।[१]

जयसेन आचार्य ने स्थान स्थान पर शुद्धात्म विषयक बहुत अनेक प्रकार के विशेषण प्रयुक्त किये हैं, उसके आधार से कुछ अधोलिखित ध्यानसूत्र निष्पन्न होते हैं :-

---

१. पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः गा. १२७

१) अशरीरस्वरूपोऽहम् । २) अरसस्वरूपोहम् । ३) अगन्धस्वरूपोऽहम् । ४) अरूपोऽहम् । ५) अव्यक्तोऽहम् । ६) अशब्दस्वरूपोऽहम् । ७) अस्पर्शस्वभावोऽहम् । ८) अलिङ्गग्रहणस्वभावोऽहम्। ९) अनिर्दिष्टसंस्थानोऽहम्। १०) अतीन्द्रियज्ञानसहितोऽहम्। ११) अलिङ्गोद्भवज्ञानसहितोऽहम् । १२) अलिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानगम्योऽहम् । १३) अविनश्वरोऽहम्।१४) अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपोऽहम्। १५) अपूर्वोऽहम्। १६) अनाद्यनन्तोऽहम्। १७) अव्ययोऽहम्। १८) अव्याबाधसुखस्वरूपोऽहम्। १९) अप्रमाणसुखस्वरूपोऽहम्। २०) अविनश्वरसुखरूपोऽहम्। २१) आदिमध्यान्तवर्जितोऽहम्। २२) अखण्डज्ञानकाण्डसहितोऽहम्। २३) अविभागस्वरूपोऽहम्। २४) अमूर्तिकोऽहम्। २५) अक्षयानन्तसुखस्वरूपोऽहम्। २६) अभिन्नषट्कारकस्वरूपोऽहम्। २७) अहेतुकोऽहम्। २८) अनन्तगुणाधारोऽहम्। २९) अनेकान्तस्वभावोऽहम् । ३०) अभेदरत्नत्रयैकपरिणतोऽहम् । ३१) अबद्धस्पृष्टोऽहम् । ३२) अनन्यकोऽहम्। ३३) अविशेषोऽहम्। ३४) असंयुक्तोऽहम्। ३५) अखण्डपरमात्मस्वरूपोऽहम्। ३६) अकर्तृत्वस्वरूपोऽहम्। ३७) अभोक्तृत्वस्वरूपोऽहम्। ३८) अनुभागस्थानरहितोऽहम्। ३९) अध्यवसानरहितोऽहम्। ४०) अकलुषचैतन्यचमत्कारोऽहम्। ४१) असहायोऽहम्। ४२) इन्द्रियमनोजनितविकल्पजालरहितोऽहम्। ४३) उपयोगमयोऽहम्। ४४) उत्तमक्षमादिस्वरूपोऽहम्। ४५) उदयस्थानरहितोऽहम्। ४६) उदासीनोऽहम्। ४७) एकोऽहम्। ४८) एकत्वविभक्तोऽहम्। ४९) क्रोधरहितोऽहम्। ५०) कर्मोदयरहितोऽहम्। ५१) केवलोऽहम्। ५२) क्रोधादिपञ्चदशप्रमादरहितोऽहम्। ५३) गुणभेदरहितोऽहम्। ५४) गुणस्थानरहितोऽहम्। ५५) चेतनागुणस्वरूपोऽहम्। ५६) चैतन्यप्रकाशसहितोऽहम्। ५७) चिन्मयोऽहम्। ५८) चैतन्यचमत्कारमात्रोऽहम्। ५९) चिदानन्दैकस्वभावोऽहम्। ६०) जातिजरामरणरहितोऽहम् ६१) ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माञ्जनरहितोऽहम्। ६२) ज्ञानदर्शनस्वरूपोऽहम्। ६३) जीवस्थानरहितोऽहम्। ६४) टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽहम्। ६५) द्रव्यकर्मरहितोऽहम्। ६६) ध्रुवोऽहम्। ६७) निष्क्रियस्वरूपोऽहम्। ६८) निरुपरागस्वसंवेदन ज्ञानगम्योऽहम्। ६९) निर्विकारोऽहम्।

७०) निरालम्बनोऽहम्। ७१) नोकर्मरहितोऽहम्। ७२) निर्मोहस्वरूपोऽहम्। ७३) निरञ्जनोऽहम्। ७४) नयपक्षपातरहितोऽहम्। ७५) निरुपलेपगुणस्वरूपोऽहम्। ७६) निर्विकल्पोऽहम्। ७७) निजमनोहरानन्दोऽहम्। ७८) निदानरहितोऽहम्। ७९) निर्विकारसदानन्दैकरूपोऽहम्। ८०) नीरागोऽहम्। ८१) निर्भरानन्दस्वरूपोऽहम्। ८२) नित्यानन्दैकस्वरूपोऽहम्। ८३) नरनारकादिविभावपर्यायरहितोऽहम्। ८४) निश्चयरत्नत्रयस्वरूपोऽहम्। ८५) निरास्रवशुद्धात्मपदार्थोऽहम्। ८६) नि:प्रमादचिच्चमत्कारोऽहम्। ८७) निःसङ्गोऽहम्। ८८) निरुपरागसदानन्दैकलक्षणोऽहम्। ८९) नि:संसारस्वरूपोऽहम्। ९०) निष्कारणोऽहम्। ९१) निर्मोहपरमानन्दैकस्वभावोऽहम्। ९२) निर्मलोऽहम्। ९३) नि:स्नेहस्वरूपोऽहम्। ९४) निर्नामोऽहम्। ९५) निर्गोत्रोऽहम्। ९६) निरवद्यचैतन्यचमत्कारोऽहम्। ९७) निरारम्भस्वरूपोऽहम्। ९८) निराहारोऽहम्। ९९) निर्विषयशुद्धात्मस्वरूपोऽहम्। १००) नियतोऽहम्। १०१) निश्चलोऽहम्। १०२) निर्विकारबोधस्वरूपोऽहम्। १०३) नयपक्षातिक्रान्तोऽहम्। १०४) निरुपाधिस्वरूपोऽहम्। १०५) निर्मलानन्दस्वरूपोऽहम्। १०६) निःकषायस्वभावोऽहम्। निरावरणोऽहम् १०७) परमचिज्ज्योति:स्वरूपोऽहम्। १०८) पूर्णकलशवद् भरितावस्थोऽहम्। १०९)परिपूर्णोऽहम्। ११०) परमात्मस्वरूपोऽहम्। १११) परमानन्दस्वरूपोऽहम् । ११२) परभावशून्योऽहम् । ११३) पारमार्थिक सुखसहितोऽहम्। ११४) परमचैतन्यशाली अहम्। ११५) परमार्थोऽहम्। ११६) परमसमाधिस्वरूपोऽहम्। ११७) परहेतुनिरपेक्षोऽहम्। ११८) परमोपशमभावपरिणतोऽहम्। ११९) परद्रव्यकाङ्क्षारहितस्वरूपोऽहम्। १२०) प्रमत्ताप्रमत्तभावरहितोऽहम्। १२१) परमपारिणामिकभावोऽहम्। १२२) बन्धपर्यायरहितोऽहम्। १२३) बन्धस्थानरहितोऽहम्। १२४) भगवान् अहम्। १२५) भूतार्थोऽहम्। १२६) भावकर्मरहितोऽहम्। १२७) मोक्षपर्यायरहितोऽहम्। १२८) मतिज्ञानादिविभावगुणरहितोऽहम्। १२९) महार्थोऽहम्। १३०) ममकाराहङ्काररहितोऽहम्। १३१)मनोवाक्कायव्यापाररहितोऽहम्। १३२) मिथ्यात्वरागादिरहितोऽहम्। १३३) मार्गणास्थानरहितोऽहम्। १३४) मानरहितोऽहम्। १३५)मायारहितोऽहम्। १३६) योगस्थानरहितोऽहम्। १३७) लोभरहितोऽहम्। १३८) वीतरागपरमात्मस्वरूपोऽहम्। १३९) वीतरागस्वसंवेदनवेद्योऽहम्। १४०) विशुद्धिस्थानरहितोऽहम्। १४१) वीतरागस्वरूपोऽहम्।

१४२) विषयसुखानुभवानन्दरहितोऽहम्। १४३) शुद्धोऽहम्। १४४) शुद्धचिन्मात्रज्योतिरहम्।
१४५) शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽहम्। १४६) शुद्धचिद्रूपोऽहम्। १४७) शाश्वतोऽहम्।
१४८)शुभाशुभकर्मकाण्डरहितोऽहम्। १४९)शान्तस्वरूपोऽहम्। शुद्धपारिणामिकस्वरूपोऽहम्।
१५०) सहजशुद्धचैतन्यस्वरूपोऽहम्। १५१) सहजपरमाह्लादस्वरूपोऽहम्।
१५२) समयसारोऽहम्। १५३) स्वाभाविकचिह्नोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितोऽहम्।
१५४) सानन्दोऽहम्। १५५) सहजानन्दस्वरूपोऽहम्।
१५६) सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहम्। १५७) सर्वविभावरहितशून्योऽहम्।
१५८) सदानन्दोऽहम्। १५९) सहजपरमानन्दोऽहम्। १६०) सिद्धसदृशोऽहम्। सिद्धोऽहम्।
१६१) स्वाभाविकसुखस्वरूपोऽहम्। १६२) समरसीभावस्वरूपोऽहम्। १६३) स्वाधीनोऽहम्।
१६४) सकलाखण्डैककेवलज्ञानरूपोऽहम्। १६५) स्वतःसिद्धोऽहम्।
१६६) स्वरूपास्तित्वसहितोऽहम्। १६७) सुन्दरोऽहम्। १६८) समीचीनोऽहम्।
१६९) सशरणोऽहम्। १७०) स्वसंवेद्योऽहम्। १७१) सहजस्वच्छभावोऽहम्।
१७२) सर्वविशुद्धदृङ्मात्रोऽहम्। १७३) सर्वविशुद्धज्ञप्तिमात्रभावोऽहम्।
१७४) स्थितिबन्धस्थानरहितोऽहम्। १७५) सङ्क्लेशस्थानरहितोऽहम्।
१७६) संयमस्थानरहितोऽहम्। १७७)संस्थानरहितोऽहम्। १७८) संहननरहितोऽहम्।
१७९) सुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थोऽहम्।

अवस्था की अपेक्षा से आत्मा के भेद : -

द्रव्य परिणाम स्वभावी है, प्रत्येक समय में द्रव्य की कोई अवस्था रहती ही है। आत्मा एक द्रव्य है। उसके विस्तार से असंख्यात लोकमात्र परिणाम जिनागम में प्रतिपादित हैं। वे ही मध्यम मार्ग से मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान रूप से कहे गये हैं। वे ही गुणस्थान संक्षेप से बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा रूप से तीन प्रकार के कहे गये हैं। वह इस प्रकार हैं :-

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र-तीन गुणस्थानों में तारतम्य न्यूनाधिक भेद से बहिरात्मा जानना चाहिए। अविरत गुणस्थान में उसके योग्य अशुभ लेश्या से परिणत जघन्य अन्तरात्मा है। क्षीण कषाय आदि दो गुणस्थानों में विवक्षित एक देश शुद्धनय से सिद्ध समान परमात्मा हैं। सिद्ध साक्षात् परमात्मा हैं।[1]

---

१. बृहद् द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. १४

इस प्रकार जीव की संक्षेप से अवस्थायें कही हैं। १) बहिरात्मा, २) अन्तरात्मा ३) परमात्मा | उनमें अन्तरात्मा के द्वारा बहिरात्मपने का त्याग करके परमात्मा का ध्यान करना चाहिए | [१] जयसेन आचार्य ने तीन अवस्था का वर्णन प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में किया है, वह इस प्रकार है :-

"बहिरात्मावस्थान्तरात्मावस्थापरमात्मावस्थामोक्षावस्थात्रयं तिष्ठति । अवस्था-त्रयेऽनुगताकारं द्रव्यं तिष्ठति। मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्था तावदशुद्धा सा मुक्तिकारणं न भवति। मोक्षावस्था शुद्धा फलभूता सा चाग्रे तिष्ठति एताभ्यां द्वाभ्यां भिन्ना यान्तरात्मावस्था सा मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन शुद्धा । यथा सूक्ष्मनिगोदज्ञाने शेषावरणे सत्यपि क्षयोपशम-ज्ञानावरणं नास्ति तथापि केवलज्ञानावरणे सत्यप्येकदेशक्षयोपशमज्ञानापेक्षया नास्त्यावरणम्। यावतांशेन निरावरणा रागादिरहितत्वेन शुद्धा च तावतांशेन मोक्षकारणं भवति । तत्र शुद्ध-पारिणामिकभावरूपं परमात्मद्रव्यं ध्येयं भवति तच्च तस्मादन्तरात्मा-ध्यानावस्थाविशेषा-त्कथञ्चिद्भिन्नम्। एवं बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण मोक्षमार्गो ज्ञातव्यः।"[२]

बहिरात्म अवस्था, अन्तरात्म अवस्था, परमात्म अवस्था - मोक्ष अवस्था, ऐसी तीन अवस्थाऐं हैं। तीन अवस्थाओं में अन्वय रूप से द्रव्य रहता है। मिथ्यात्व रागादिरूप बहिरात्म अवस्था अशुद्ध है। वह मुक्ति का कारण नहीं है। मोक्ष अवस्था शुद्ध फलभूत है, वह आगे होती है। इन दोनों से भिन्न जो अन्तरात्मा अवस्था है, वह मिथ्यात्वरागादि से रहित होने से शुद्ध है। जिस प्रकार सूक्ष्म निगोदिया के ज्ञान में शेष आवरण होने पर भी क्षायोपशमिक ज्ञानावरण नहीं है, तथापि केवल ज्ञानावरण होने पर भी एकदेश क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा से आवरण नही है। जितने अंशों से निरावरण और रागादि रहित होने से शुद्ध है, उतने अंश से मोक्ष का कारण है। उसमें शुद्ध पारिणामिक भाव रूप परमात्म द्रव्य ध्येय है। वह उस अन्तरात्माध्यान अवस्था विशेष से कथञ्चित् भिन्न है। इस प्रकार बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा के कथन रूप से मोक्षमार्ग जानना चाहिए।

१.तिपयारो सो अप्पा परमिंतरबाहरो दु हेऊणं।
तत्थं परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा॥ मोक्षपाहुड, गा. ४
बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत्॥ समाधिशतक, श्लो. सं. ४

२. प्रवचनसारतात्पर्यवृत्तिः, गा. २७३

१. बहिरात्म अवस्था :-

"देहरागादिपरद्रव्यमिदानीमहं भवामि पूर्वमहमासं पुनरग्रे भविष्यामीति यो वदते सोऽज्ञानी बहिरात्मा।"[1]

"देह रागादि परद्रव्य अब मै हूँ, पहले मैं था, आगे मैं होऊँगा" ऐसा जो कहता है वह अज्ञानी बहिरात्मा है। बहिरात्मा इन्द्रिय द्वारों से बाह्य अर्थ को ग्रहण करने में व्याप्त होकर जीव स्वरूप के ज्ञान से बहिर्भूत होता हुआ अपने शरीर को ही मैं हूँ ऐसा मानता है।[२] ज्ञान ध्यान अध्ययनरूप सुखामृत को छोडकर के इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है, वह बहिरात्मा कहा गया है। [३] बहिरात्मा मिथ्यादर्शन से मोहित होकर परमात्मा को नहीं जानता है, इसलिए वह पुनः पुनः संसार में परिभ्रमण करता है। अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव विषय कषायरूप अशुभोपयोगरूप परिणाम को करता है। कदाचित् पुनः चिदानन्दैक स्वभाव शुद्धात्मा को छोडकर के भोगाकांक्षा निदानरूप शुभोपयोगरूप परिणाम को करता है। [४]

पहले तीन गुणस्थानवर्ती बहिरात्मा हैं। उनमें भी प्रथम गुणस्थान में स्थित उत्कृष्ट बहिरात्मा, द्वितीय गुणस्थान में स्थित मध्यम, मिश्र गुणस्थान में स्थित जघन्य बहिरात्मा कहा गया है। [५]

२. अन्तरात्म अवस्था :-

अन्तः अर्थात् अन्तरंग में शरीर आदि से भिन्न प्रतिभासमान आत्मा जिनका है, वे अन्तरात्मा हैं। परम समाधि में स्थित होते हुए देह से भिन्न ज्ञानमय परमात्मा को जो जानते हैं, वे अन्तरात्मा हैं। [६] जब तत्त्वश्रद्धा, ज्ञान, महाव्रत, अप्रमादपरता मोह जय होता है, तब अन्तरात्मा व्यक्त होता है। [७]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २५-२६
२. समाधिशतक, श्लोक सं. ७
३. रयणसार, श्लोक सं. १३५
४. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ७९
५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, गा. १९३
६. वहीं पर, गा. १९२
७. अध्यात्मसार २०, २३ पृ. २९/१ यशोविजय प्रका. जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि.सं. १९६५

देह से भिन्न मैं हूँ, मेरे देह आदिक परद्रव्य नहीं हैं। मैं एक ज्ञान दर्शनमय शाश्वत आत्मा हूँ, शेष संयोग लक्षणवाले रागादि बहिर्भाव मुझ से भिन्न हैं। इस प्रकार जो आत्म तत्त्व को जैसा है वैसा सम्यक् जानकर के, उसी प्रकार प्रतीति करके निज ज्ञानानन्द स्वरूप शुद्धात्मा में स्थिर होता है, वह अन्तरात्मा कहा जाता है। बहिर्भावों का अतिक्रमण करके जिसके आत्मा में आत्म-निश्चय है, वह अन्तरात्मा माना गया है। जो पुनः सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा सम्यग्ज्ञानी जीव वह मुख्यवृत्ति से निश्चय रत्नत्रय लक्षण शुद्धोपयोग के बल से निश्चय चारित्र अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर निर्विकल्प समाधिरूप परिणति को करता है, उस काल से, उस परिणाम से, द्रव्यभावरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थों का कर्ता होता है।

कदाचित् पुनः निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम का अभाव होने पर विषय कषाय से बचने के लिए अथवा शुद्ध आत्मा की साधना के लिए आचार्य, उपाध्याय, साधुओं के गुण स्मरण आदि रूप शुभोपयोग रूप परिणाम को करता है। [१]

उपादानकारणभूत पुद्गल के द्वारा किया जानेवाला कर्म नोकर्म का परिणाम आत्मा नहीं करता है, ऐसा जो जानता है, वह परम समाधि के बल से निश्चय शुद्धात्मा की भावना करता हुआ ज्ञानी होता है। [२] ज्ञानी जीव मिथ्यात्व रागादि विकल्प से शून्य पूर्ण कलश के समान चिदानन्द एक स्वभाव से भरितावस्थ शुद्धात्मा को निर्विकल्प समाधि में ध्याता है। तत्त्वज्ञानी जीव दूसरे जीवों को "मैं सुख दुःख देता हूँ।" ऐसा विकल्प नहीं करता। जब पुनः निर्विकल्प समाधि का अभाव होने पर प्रमाद से "मैं सुख दुःख करता हूँ" ऐसा विकल्प होता है, तब मन में चिंतन करता है कि इस जीव का अन्तरंग पुण्य और पापोदय हुआ है, मैं निमित्त मात्र ही हूँ, ऐसा जानकर के मन में हर्ष विषाद रूप परिणाम से कर्म नहीं करता। [३] इस प्रकार ज्ञानी अन्तरात्मा परद्रव्य की परिणति का कर्ता और भोक्ता नहीं होता। अन्तरात्मा मोक्षमार्गरूप मोक्ष का साधन है।

अन्तरात्मा तीन प्रकार का है। उत्तम अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा और जघन्य अन्तरात्मा, इन तीनों का लक्षण इस प्रकार है :-

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ७९

२. वहीं पर गा. ८०

३. वहीं पर गा. २६७-२६९

उत्तम अन्तरात्मा :-

जो पंचमहाव्रत से युक्त धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में सदैव सुस्थित है। सम्पूर्ण प्रमादों पर विजय प्राप्त की है, वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहे जाते हैं।

मध्यम अन्तरात्मा :-

जो जिनवचन में अनुरक्त, उपशमशील, महासत्त्व हैं, वे श्रावक गुणों से युक्त गृहस्थ और प्रमत्तविरत मुनिवर मध्यम अन्तरात्मा हैं।

जघन्य अन्तरात्मा :-

जिनेन्द्र चरणों में भक्त, अपनी निंदा करनेवाले, गुण ग्रहण में अनुरक्त, अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा कहे जाते हैं। [१]

इस विवक्षा से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य, पाँचवें, छठे गुणस्थानवर्ती मध्यम अन्तरात्मा, सातवें गुणस्थान से क्षीणमोह पर्यन्त उत्तम अन्तरात्मा कहे जाते हैं। द्वितीय विवक्षा से कुछ अन्तर है, वह इस प्रकार है :-

"अविरतगुणस्थाने तद्योग्याशुभलेश्यापरिणतो जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्टो अविरतक्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यमः "[२]

अविरत गुणस्थान में उसके योग्य अशुभ लेश्या से परिणत जघन्य अन्तरात्मा है। क्षीणकषाय गुणस्थान में पुनः उत्कृष्ट और अविरत-क्षीणकषाय इन दोनों के बीच में मध्यम अन्तरात्मा है। नियमसार टीका में भी यही मत कहा है :-

"स्ववशाभिधानपरमश्रमणः सर्वोत्कृष्टोऽन्तरात्मा, षोडशकषायाणामभावादयं क्षीणमोहपदवीं परिप्राप्य स्थितो महात्मा। असंयत सम्यग्दृष्टिर्जघन्यान्तरात्मा। अनयोर्मध्यमाः सर्वे मध्यमान्तरात्मानः।"[३]

---

१. पंचमहव्वयजुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं।
णिज्जियसयलपमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥१९५॥
सावयगुणेहि जुत्ता पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
जिणवयणे अणुरत्ता उवसमशीला महासत्ता ॥ १९६॥
अविरय सम्मादिट्ठी होंति जहण्णा जिणिंदपयभत्ता।
अप्पाणं णिंदता गुणगहणे सुट्ठु अणुरत्ता ॥ १९७॥
कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. १९५-१९७

२. बृहद् द्रव्यसंग्रह वृत्ति, गा. १४

३. जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुदृक।
प्रथमः क्षीणमोहोऽन्त्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः ॥ नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १४९

स्ववशनामक परम श्रमण सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है। सोलह कषायों का अभाव होने से यह क्षीण मोह पदवी को प्राप्त करके स्थित महात्मा है। असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है। इन दोनों के बीच में सभी मध्यम अन्तरात्मा हैं।

परमात्म अवस्था :-

जिसने अनन्तज्ञान दर्शनादि रूप चैतन्य शक्तियों का परिपूर्ण विकास करके सर्वज्ञ पद को प्राप्त किया, वह परमात्मा कहा जाता है। कर्म कलंक से विमुक्त देव परमात्मा कहा गया है।[१] सम्पूर्ण दोषों से रहित केवलज्ञान आदि परम विभव युक्त वह परमात्मा है।

"निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः ॥"[२]

जो निर्लेप, शरीर रहित, शुद्ध, निष्पन्न, अत्यन्त निर्वृत्त, निर्विकल्प, शुद्धात्मा परमात्मा ऐसा कहा गया है।

'परा' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट, 'मा' अर्थात् अनन्तचतुष्टय आदि अन्तरंग और समवशरण आदि बहिरंग लक्षण वाली लक्ष्मी जिनकी है, वे परम हैं और परम वे ऐसे आत्मा परमात्मा हैं।[३] संसारियों से उत्कृष्ट आत्मा परमात्मा हैं, ऐसा कहा गया है। [४] जिसने आठ कर्मों का विनाश करके शरीर आदि परद्रव्य को छोडकर के ज्ञानमय आत्मा प्राप्त किया है, वह परमात्मा जानना चाहिए। वह केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलवीर्य स्वभाव उत्कृष्ट परमात्मा है। [५] परमात्मा सकल प्राणियों से उत्तम आत्मा है। परमात्मा साध्य है।

परमात्मा दो प्रकार का है। १) सकल परमात्मा, २) निकल परमात्मा

---

१. कम्मकलंक विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो। मोक्षपाहुड, गा. ५
२. ज्ञानार्णव, अधिकार ३२, श्लोक ८, पृ.सं. ३१७
३. शुभचन्द्र आचार्यकृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, गा. १९२
४. आत्मस्वरूपं, श्लोक १८, प्रकाशक - मा.दि.जैन ग्रन्थमाला, वि.सं. १९७९
५. अप्पालद्धउ णाणमउ कम्मविमुक्के जेण।
मेल्लि वि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ॥ परमात्मप्रकाश अ. १, श्लो. ४५
केवलदंसणणाणमयकेवलसुक्खसहाउ।
केवलवीरिउ सो मुणहि जोजि परावरु भाउ ॥ परमात्मप्रकाश अ. १, श्लो. २४

१. सकल परमात्मा :-

'कल' अर्थात् शरीर से जो सहित है, वह सकल अर्थात् सकलात्मा।[१] केवल ज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थों को जिन्होंने जान लिया है, ऐसे सशरीरी अर्हन्त सकल परमात्मा कहे गये हैं।

२. निकल परमात्मा :-

निश्चय से औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण नामक पाँच शरीरों का अभाव होने से निकल हैं।[२] सर्वोत्तम सुख से सम्पन्न ज्ञान शरीरी सिद्ध निकल परमात्मा कहे जाते हैं। वे द्रव्यकर्म भावकर्म से विमुक्त ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से लोक के अन्त को प्राप्त करके लोकाग्र में स्थित होते हुए सर्वज्ञानदर्शी होकर अतीन्द्रिय अनन्तसुख को प्राप्त करते हैं।[३]

आत्मानुभूति का साधन :-

शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव स्वसंवेदन गम्य आत्मिक सुख का वेदन ही अनुभव है। तत्त्वानुशासन ग्रन्थ में आत्मानुभव का लक्षण कहा है।[४] यथार्थ वस्तु स्वरूप की उपलब्धि, परभाव अरमण, स्वरूप रमण, उसके आस्वादन का एकत्व अनुभव है।

परिपूर्ण आत्मा का साक्षात् दर्शन ही अनुभव है। वही स्वसंवेदन कहा जाता है जिसमें योगी स्वयं ही ज्ञेयपना और ज्ञायकपना को प्राप्त होता है। आत्मा स्वयं को, स्वयं के द्वारा, स्वयं ही जानता है, देखता है, अनुभव करता है। स्वसंवेदन, आत्मानुभव, आत्मदर्शन एकार्थवाचक शब्द हैं। आत्मानुभव की बेला में एक शुद्धात्मा ही अनुभव में आता है। उसमें नौ पदार्थ प्रतीति में नहीं आते। प्रमाण, नय, निक्षेप विकल्प भी उदय को प्राप्त नहीं होते। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय विकल्प भी प्रकाशित नहीं होते। ध्याता, ध्यान, ध्येय नहीं होता। वहाँ विकल्प का लेश भी अवकाश नहीं है।[५]

सम्पूर्ण रागादि संकल्प विकल्प समूह के परिहार से, मन वचन काय के निरोध से, पाँच इन्द्रियां और मन के विषय के व्यावर्तन से चिदानन्द एक स्वभावी आत्मा की अनुभूति होती है। आत्मानुभव की विधि अमृतचन्द्र आचार्य ने आत्मख्याति में दिखाई है, वह इस प्रकार है :-

---

१. समाधि शतक, प्रभाचन्द्र आचार्य कृत टीका, गा. २

२. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गा. ४३

३. ज्ञानसार वृत्ति, श्लो. २६, पृ. ८७, जैन लक्षणावली, पृ.सं. ७४ उद्धृत

४. वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत् स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम्॥ तत्त्वानुशासन, श्लोक सं. १६१

५. उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्कषेऽस्मिन् अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥ समयसार कलश, श्लो.सं. ९

"यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टम्भेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य ततः खल्वात्मख्यातये परख्यातिहेतूनखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधार्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वस्तथा नानाविधनयपक्षालम्बनेनानेकविकल्पैराकुलयन्तीः श्रुतज्ञानबुद्धिरप्यवधार्य श्रुतज्ञान तत्त्व-मप्यात्माभिमुखी कुर्वन्नत्यन्तमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवन्तमादि-मध्यान्तविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरन्तमिवाखण्डप्रतिभासमय-मनन्तं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विन्दन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव।"[१]

आत्मा प्रथमतः श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञान स्वभावी आत्मा का निश्चय कर पीछे निश्चय से आत्मा की प्रकट प्रसिद्धि होने के लिए आत्मा से पर पदार्थ के निकट होने का कारण जो इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रवृत्ति रूप बुद्धि, उसको गौण कर जिसने मतिज्ञान का स्वरूप आत्मा के सम्मुख किया है, ऐसा होता है और उसी प्रकार नाना प्रकार के नयों के पक्षों का अवलम्बन कर अनेक विकल्पों से आकुलता उत्पन्न कराने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी गौण कर तथा श्रुतज्ञान को भी आत्मतत्त्व के स्वरूप के सम्मुख करता हुआ अत्यन्त निर्विकल्प रूप होकर तत्काल अपने ही निजरस से प्रगट हुआ आदि मध्य और अन्त के भेद से रहित अनाकुल एक समस्त पदार्थ समूहरूप लोक के ऊपर तैरता जैसा हो, उस तरह अविनाशी अनन्त विज्ञानघन स्वरूप परमात्मारूप समयसार का ही अनुभव करता हुआ सम्यक् प्रकार श्रद्धान किया जाता है, सम्यक् प्रकार जाना जाता है, इसलिए यही सम्यग्दर्शन है, यही सम्यग्ज्ञान है, ऐसा ही समयसार है।

उपरोक्त विधि से यह जाना जाता है कि आत्मानुभव का सर्वप्रथम उपाय आगम ज्ञान है। आगम अभ्यास के बिना आत्मा का और पर पदार्थों का यथार्थ स्वरूप नहीं जान सकते। यथार्थ परिज्ञान के बिना ही यह जीव पर को आत्मा और आत्मा को पर मानता हुआ अनादि कालीन संस्कार से यहाँ वहाँ सर्वत्र परिभ्रमण करता है। आगम चक्षु से ही पर द्रव्यों से भिन्न स्व आत्मा का सम्यक् ज्ञान होता है।

आत्म परिज्ञान के उपाय का चिन्तन करते हुए जयसेन आचार्य ने भी बहुत बार कहा है, वह इस प्रकार है :-

---

१. समयसार - आत्मख्याति, गा.सं. १४४

"वीतराग सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रात् "एगो मे सस्सदो अप्पा'" इत्यादि परमात्मोपदेशक श्रुतज्ञानेन तावदात्मानं जानीते कश्चिद् भव्यः तदनन्तरं विशिष्टाभ्यासवशेन परमसमाधिकाले रागादि विकल्परहितमानस प्रत्यक्षेण च तमेवात्मानं परिच्छिनत्ति।"[१]

कोई भव्य जीव वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्र से "मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ" इत्यादि परमात्मा के उपदेशक श्रुतज्ञान से प्रथम आत्मा को जानता है, उसके बाद विशिष्ट अभ्यास के वश से परमसमाधि काल में रागादि विकल्प रहित मानस प्रत्यक्ष से उसी आत्मा को जानता है। उसी प्रकार पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में शुद्धत्व प्राप्ति की विधि कही है, वह इस प्रकार है :-

"यथा वेणुदण्डो विचित्रचित्रप्रक्षालने कृते शुद्धो भवति तथायं जीवोपि यदा गुरूणां पार्श्वे शुद्धात्मस्वरूपप्रकाशकं परमागमं जानाति। कीदृशमितिचेत् :-

एकोऽहं निर्ममः शुद्धोज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्यासंयोगजा भावामत्तः सर्वेऽपि सर्वदा।"

तथैव च देहात्मनोरत्यन्तभेदो भिन्नलक्षणलक्षितत्वाज्जलानलवदित्यनुमान ज्ञानं जानाति तथैव वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं जानाति। तदित्थम्भूतागमानुमानस्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानात् शुद्धो भवति।"[२]

जिस प्रकार वेणुदंड अनेक प्रकार के चित्र का प्रक्षालन करने पर शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह जीव भी जब गुरु के पास शुद्धात्मस्वरूप के प्रकाशक परमागम को जानता है। किस प्रकार ? ऐसा पूछने पर कहते हैं :-

मैं एक निर्मम, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रों का ही विषय हूँ, सभी संयोगज भाव मुझ से सर्वदा बाह्य है। इसी प्रकार शरीर और आत्मा में अत्यन्त भेद है। भिन्न लक्षण से लक्षित होने से पानी और अग्नि के समान, इस प्रकार अनुमान ज्ञान जानता है। उसी प्रकार वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान जानता है। इस प्रकार आगम, अनुमान, स्वसंवेदन ज्ञान प्रत्यक्ष से शुद्ध होता है। उसी प्रकार अन्यत्र भी कहा है :- "बहिरंग परमागम के अभ्यास से अभ्यंतर में स्वसंवेदनज्ञान से सम्यग्ज्ञान होता है।"[३]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ९३ (८६)
२. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा. २०
३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३०१

"वीतराग सर्वज्ञप्रणीत परमागमज्ञाने तत्फलभूतस्वसंवेदनज्ञाने .....।"[1]

सर्व द्रव्य गुण पर्याय परमागम से जाने जाते हैं, क्योंकि आगम परोक्ष रूप से केवल ज्ञान के समान है। पश्चात् आगम के आधार से स्वसंवेदन ज्ञान होने पर स्वसंवेदन ज्ञान के बल से केवल ज्ञान होने पर प्रत्यक्ष भी होते हैं।[2] इस प्रकार इन बहु प्रमाणों से निश्चय होता है कि आत्मानुभव के लिए सर्वप्रथम आगम अभ्यास करना चाहिए। जिस कारण से आगम से ही सम्यक् आत्म परिज्ञान होता है, आगम ज्ञान से आत्मा का निश्चय करके इन्द्रियमनो जनित मतिज्ञान से निर्वृत्त होकर के मतिज्ञान को आत्माभिमुख करना चाहिए, क्योंकि इन्द्रिय और मन स्वात्मानुभव में उपयुक्त नहीं हैं। इन्द्रिय ज्ञान से आत्मा दिखाई नहीं देता क्योंकि इन्द्रियां वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श विशिष्ट पदार्थों को ही देखती हैं। आत्मा वर्णादिकों से रहित अमूर्तिक है। इसलिए इन्द्रियों के द्वारा गम्य नहीं है। मन भी आत्मा को नहीं जानता, क्योंकि श्रुत मन का विषय है, क्योंकि "श्रुतमनिन्द्रियस्य"ऐसा कहा है। इन्द्रियमन के निरोध करने पर अतीन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए स्वसंवेद्य आत्मरूप स्वसंवित्ति के द्वारा ही देखना चाहिए। उसके अनन्तर श्रुतज्ञान को भी आत्माभिमुख कर निर्विकल्प होकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का अनुभव ही आत्मानुभव है।

आत्मानुभव के काल में युक्तियों का भी अवलम्बन नहीं है | तत्त्वान्वेषण काल में युक्ति की उपयोगिता है। प्राथमिक अवस्था में तर्क और आगम के द्वारा तत्त्व निर्णय का प्रयत्न करना चाहिए। तर्क, आगम के द्वारा तत्त्व का निर्णय होने पर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। वही आराधना का समय है। आराधना के द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार किया जाता है। आराधना के काल में युक्ति तर्क के प्रयोग नहीं होते। युक्ति और तर्क पराश्रित होने से परोक्ष होते हैं, किन्तु अनुभव प्रत्यक्ष होता है।[3] आत्मानुभव क्या प्रत्यक्ष है? क्या परोक्ष है। इस विषय में जयसेन आचार्य ने स्पष्ट कहा है, वह इस प्रकार है:-

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा.२२८

२. वहीं पर, गा. २६९

३.तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा॥
द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र, श्लोक २६८

"यद्यपि केवल ज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयेन परोक्षं भण्यते, तथापीन्द्रियमनोजनित सविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षम् । तेन कारणेनात्मा स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षोऽपि भवति, केवलज्ञानापेक्षया पुनः परोक्षोऽपि भवति। सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति। किन्तु चतुर्थकालेऽपि केवलिन: किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति। तेऽपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छन्ति। तथापि श्रवणकाले श्रोतृणां परोक्ष एव पश्चात् परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति। तथा इदानीं कालेऽपीति भावार्थ :।"[1]

यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा से रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदनरूप भावश्रुत ज्ञान शुद्ध निश्चय से परोक्ष कहा जाता है तथापि इन्द्रिय मनोजनित सविकल्प ज्ञान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है। उस कारण से आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष भी होता है। पुनः केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष भी होता है। सर्वथा परोक्ष ही नहीं कह सकते। परन्तु चतुर्थ काल में भी केवली क्या आत्मा को हाथ में ग्रहण करके दिखाते थे, वे भी दिव्यध्वनि द्वारा कहकर जाते थे। तथापि श्रवण काल में श्रोताओं को परोक्ष ही है। पश्चात् परम समाधि काल में प्रत्यक्ष है। उसी प्रकार इस काल में भी है। ऐसा भावार्थ है। पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में भी कहा है, वह इस प्रकार है:,

"स्वसंवेदनरूपेण यदात्मग्राहकं भावश्रुतं तत्प्रत्यक्षं यत्पुनर्द्वादशांगचतुर्दश-पूर्वरूपपरमागमसंज्ञं तच्च मूर्तामूर्तोभयपरिच्छित्तिविषये व्याप्तिज्ञानरूपेण परोक्षमपि केवलज्ञान-सदृशमित्यभिप्राय:।"[2]

स्वसंवेदनरूप से जो आत्मग्राहक भावश्रुत है, वह प्रत्यक्ष है। जो पुनः बारह अंग चौदह पूर्वरूप परमागम नामक श्रुतज्ञान है वह मूर्त, अमूर्त दोनों को जानने के विषय में व्याप्ति ज्ञानरूप से परोक्ष होने पर भी केवलज्ञान सदृश है, ऐसा अभिप्राय है।

समयसार की तात्पर्यवृत्ति में भी कहा है कि स्वसंवेदन ज्ञान से परीक्षा करके प्रमाण करना चाहिए और आत्मख्याति में कहा है कि "यदि मैं दिखाऊँगा तब स्वयं ही स्वानुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना चाहिए।[3] बृहद् द्रव्य संग्रह वृत्ति में भी इस विषयक स्पष्टीकरण है, वह इस प्रकार हैं -

"जो निश्चय भावश्रुतज्ञान है, वह शुद्धात्माभिमुख सुख संवित्ति स्वरूप स्वसंवित्ति के आकार से सविकल्प और इन्द्रिय मनोजनित रागादि विकल्प जाल से रहित होने से निर्विकल्प है। अभेदनय से वही आत्म शब्द वाच्य वीतराग सम्यक् चारित्र के अविनाभूत केवल ज्ञान की

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १९९

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ९९

३. समयसार आत्मख्याति, गा. ५

अपेक्षा से परोक्ष भी संसारियों को क्षायिक ज्ञान का अभाव होने से क्षायोपशमिक होने पर भी प्रत्यक्ष कहा जाता है। यहाँ पर शिष्य पूछता है कि " आद्येपरोक्षम्" इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में मति, श्रुत दो ज्ञान परोक्ष कहे गये हैं, वे प्रत्यक्ष कैसे होते हैं ? उसका परिहार करते हैं। वह उत्सर्ग व्याख्यान है। यह पुन: अपवाद व्याख्यान हैं। यदि उत्सर्ग व्याख्यान नहीं होता तो मति ज्ञान तत्त्वार्थ में परोक्ष कैसे कहते, तर्क शास्त्र में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे होता | जिस प्रकार अपवाद व्याख्यान से मति ज्ञान परोक्ष भी प्रत्यक्ष ज्ञान है, उसी प्रकार स्वात्माभिमुख भावश्रुतज्ञान भी परोक्ष होता हुआ भी प्रत्यक्ष कहा जाता है। पुनः यदि एकान्त से परोक्ष होता तो सुख दुःख आदि का संवेदन भी परोक्ष प्राप्त होता। वैसा नहीं है। "[१]

उपर्युक्त उद्धरणों के द्वारा यह जाना जाता है कि स्वसंवेदनरूप मतिश्रुत दो ज्ञान कथञ्चित् परोक्ष और कथञ्चित् प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। जिस प्रकार बाह्य पदार्थ के परिज्ञान में मतिश्रुत ज्ञान को इन्द्रिय और मन का सहाय होता है और रागादि विकल्प होते हैं, उस प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मतिश्रुत दो ज्ञानों में इन्द्रिय और मन का सहायपना नहीं है। इसलिए पराधीनता का अभाव होने से प्रत्यक्ष है, परन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान होने से केवल ज्ञान के समान प्रत्यक्ष नहीं होते।

ध्यान का विवेचन

ध्यान की उपयोगिता:-

संवर निर्जरा में कारणभूत बारह प्रकार का तप कहा है। उन बारह प्रकार के तपों में ध्यान अन्तिम तप है। ध्यान सर्वोत्कृष्ट तप है। निश्चय से वही साक्षात् संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण है। शेष अनशन आदि तप ध्यान सिद्धि के लिए बाह्य आलम्बनभूत हैं। जिस प्रकार प्राण धारण करने के लिए धन और अन्न बाह्य साधन हैं। धन और अन्न की उपचार से प्राण संज्ञा कही जाती है।"धनं वै प्राणा: "अन्नं वै प्राणा: " | उसी प्रकार ध्यान की सिद्धि के लिए अनशन आदि बहिरंग और प्रायश्चित आदि अन्तरंग तप निमित्त हैं, इसलिए उनकी भी उपचार से तप संज्ञा की है।

जिस प्रकार अग्नि से तप्त सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि से तप्त आत्मा शुद्ध होता है। ध्यान के बिना शुद्धि संभव नहीं है। ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा ही कर्म रूपी ईंधन भस्मसात् होता है। वहीं जयसेन आचार्य ने कहा है :-

---

१. बृहद् द्रव्य संग्रहवृत्ति, गा.५.

"यथा स्तोकोप्याग्निः प्रचुरतृणकाष्ठराशिं स्तोक कालेनैव दहति तथा मिथ्यात्वकषायादि विभाव परित्याग लक्षणेन महावातेन प्रज्वलितस्तथापूर्वादभुतपरमाल्हादैक सुखलक्षणेन घृतेन सिञ्चितो निश्चलात्मसंवित्तिलक्षणो ध्यानाग्निर्मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं कर्मेन्धनराशिं क्षणमात्रेन दहतीति।"[1]

जिस प्रकार थोडी भी अग्नि बहुत तृण और काष्ठ राशि को थोडे काल में ही जलाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व कषाय आदि विभावका परित्याग लक्षण महावायु से प्रज्वलित तथा अपूर्व अद्भुत परमाल्हाद एक सुख लक्षण घी के द्वारा सिंचित निश्चल आत्म संवित्ति जिसका लक्षण है ऐसी ध्यान रूपी अग्नि, मूल उत्तर प्रकृति के भेद से भिन्न कर्म ईन्धन रूपी राशि को क्षणमात्र से जलाती है।

"ध्यानेनैव निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्य लाभो भवति तस्मात् मुमुक्षुभिः सर्वप्रयत्नेन ध्यानं समभ्यसितव्यम् ।[2]

ध्यान के द्वारा ही निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग का लाभ होता है, इसलिए मुमुक्षुओं को सर्व प्रयत्न से ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

धर्मध्यान के बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता। इसलिए मोक्ष की सिद्धि के लिए अथवा मोक्षमार्ग की सिद्धि के लिए ध्यान करना चाहिए। कषाय के युद्ध में ध्यान क्षपक का आयुध है और कवच है। जिस प्रकार रत्नों में वज्ररत्न, सुगंधित पदार्थों में गोशीर्ष चन्दन, मणियों में वैडूर्यमणि उत्तम श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र, तपों में ध्यान सर्वोत्कृष्ट और सारभूत है।[3]

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १५४

२. दुविहं पि मोक्खहेउं ज्झाणे पाउणदि जं मुणि णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं ज्झाणं समब्भसह ॥ द्रव्यसंग्रह गा. ४७

३. रणभूमीए कवचं होदि ज्झाणं कसायजुद्धम्मि। भगवती आराधना श्लो. १८९३
वईरं रदणेसु तहा गोसीसं चंदनं व गंधेसु।
वेरुलियं व मणीणं तहज्झाणं होइ खवयस्स ॥ भगवती आराधना, श्लो. १८९६

जिस प्रकार प्रयोगों के बिना पाषाण में स्वर्ण, काष्ठ में अग्नि दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार ध्यान के बिना आत्मा दिखाई नहीं देता।[१] प्रतिदिन घोर तपश्चरण करे, सम्पूर्ण शास्त्र का अध्ययन करे अथवा प्रमाद रहित होकर चारित्र को धारण करे तथापि ध्यान के बिना सिद्धि नहीं होती। [२]

ध्यान का लक्षणः-

"उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् "।[३] यह ध्यान का लक्षण तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है। एकाग्र चिन्ता निरोध- एक अर्थात् प्रधान, अग्र अर्थात् आलम्बनभूत विषय, चिन्ता अर्थात् स्मृति क्षायोपशमिक ज्ञान प्रवृत्ति, निरोध अर्थात् नियन्त्रण, स्थिरीकरण; एक विषय में चित्त प्रवृत्ति का स्थिर करना ध्यान कहा जाता है। [४]

चित्त चंचल है, वह एक विषय में दीर्घकाल नहीं रहता | उस चंचल वृत्ति की अन्य विकल्पों से निवृत्ति करके एक विषय में स्थिर करने पर ध्यान संभव है। जो स्थिर अध्यवसान है, वह ध्यान है। जहाँ अस्थिर, चंचल मन रहता है वह भावना अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कही जाती है।[५]

जब तक व्यग्रता रहती है, तब तक वह ज्ञान कहा जाता है। जब वही ज्ञान एकाग्र होता है, तब वह ज्ञान ध्यान कहा जाता है।[६] अन्यत्र भी कहा है : -

"ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति।"[७]

---

१. पाहाणम्मि सुवण्णं कट्ठे अग्गि विणा पओएहि।
ण जहा दीसंति इमो झाणेण विण तहा अप्पा॥ मुनि पद्मसिंह, ज्ञानसार, श्लो.३६

२. तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्ता, शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्।
धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रो, न सिद्ध्यति ध्यानामृते तथापि॥ अमितगतिश्रावकाचार, अधिकार १५, श्लो. १६, ३ तत्त्वार्थ सूत्र, अ.९, सू.२७

४. अंतोमुहुत्तमेत्तं चिन्तावत्थाणमेगवत्थुम्हि।
छदुमत्थाणं ज्झाणं जोगणिरोहो जिणाणं तु॥
ध्यानशतक, श्लो.सं. ३, धवला पु. १३, पृ. ७६ उद्धृत.

५. जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावना वा अणुपेहा वा अहव चिंता॥ ध्यानशतक, श्लो. २

६. एकाग्रग्रहणं चात्र वैयग्र्यनिवृत्तये। व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते॥
तत्त्वानुशासन, श्लो. सं. ५९

७. सर्वार्थ सिद्धि, अ. ९ सू. २७

परिस्पंद रहित अग्नि की शिखा के समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है। इस प्रकार इसके द्वारा जाना जाता है कि एकाग्र परिणत ज्ञान ही ध्यान है। अथवा 'एकाग्र चिन्ता निरोध' इस पद का आध्यात्मिक अर्थ है, वह इस प्रकार है :-

"अथवाऽङ्गति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तितः।
तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतः॥"[१]

अथवा "अंगति" जानता है, इस निरुक्ति से जानता है, वह अग्र अर्थात् आत्मा है। तत्त्वों में अग्रगण्य होने से यह अग्र ऐसा कहा गया है।

यहाँ आचार्य ने दो अपेक्षाओं से, अग्र शब्द से आत्मा को कहा है।

१. प्रथम अपेक्षा से निरूक्ति :- "अङ्गति जानातीत्यग्रमात्मेति" जो जानता है वह अग्र अर्थात् आत्मा है।

२. दूसरी अपेक्षा से :- जीवादि नौ पदार्थों में अग्रगण्य होने से अग्र अर्थात् आत्मा, ऐसा कहा है। एक शब्द केवल का, असहाय का और शुद्ध का वाचक है। निरोध शब्द नियंत्रण अर्थ में है। इसलिए असहाय शुद्धात्मा में जो चिन्ता का निरोध, वह ध्यान है। अथवा निरोध शब्द, अभाव अर्थ में रहता है अर्थात् अन्य चिंता का निरोध अर्थात् दूसरी चिन्ता का व्यय ऐसा अर्थ ग्रहण किया जाता है। चिन्ता मात्र का अभाव रूप ग्रहण नहीं किया जाता है। वैसा होने पर ध्यान सद्रूप होगा। इसलिए एक चिन्तात्मक चिन्ता से रहित स्वसंवित् ध्यान कहा जाता है। अभाव किसी पर्याय रूप से इष्ट है। अन्य चिन्ता के अभाव की विवक्षा में ध्यान असत् ही है। विवक्षित पदार्थ के विषय को जानने के स्वभाव की सामर्थ्य की अपेक्षा से सत् ही कहा जाता है। यही व्याख्या तत्त्वार्थ राजवार्तिक में भी कही है, वह इस प्रकार है :-

"अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थः। द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्ता निरोधो ध्यानं ततः स्ववृत्तित्वाद् बाह्यदेहप्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति॥"[२]

द्रव्यार्थ की अपेक्षा से एक आत्मारूप अग्र में चिन्ता का निरोध ध्यान है। इसलिए स्ववृत्तिपना होने से बाह्य शरीर के प्राधान्य की अपेक्षा निवर्तित होती है।

---

१. तत्त्वानुशासन, श्लो. सं. ६२.

२. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. ९, सू. २७, वा. २१

ध्यान के भेद :-

ध्यान चार प्रकार का है। वह इस प्रकार है :-

१) आर्त ध्यान, २) रौद्र ध्यान ३) धर्म ध्यान, ४) शुक्ल ध्यान। [१]

यह चार प्रकार का ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार को प्राप्त होता है। उनमें आर्त रौद्र दो अप्रशस्त ध्यान हैं। धर्म शुक्ल दो प्रशस्त ध्यान हैं। [२] पुण्य के आशय के वश से, शुद्ध लेश्या के अवलम्बन से, वस्तु तत्त्व के चिन्तन से उत्पन्न हुआ प्रशस्त ध्यान कहा जाता है। पाप के आशय के वश से, मोह मिथ्यात्व से, वस्तु के विभ्रम से, कषाय से निरन्तर अप्रशस्त ध्यान उत्पन्न होता है। [३] अपुण्य आस्रव का कारण होने से अप्रशस्त है। कर्म को जलाने की सामर्थ्य होने से प्रशस्त है। प्रत्येक ध्यान चार प्रकार का है।

१) इष्ट संयोग आकांक्षा २) अनिष्टवियोग आकांक्षा ३) व्याधिविनाश आकांक्षा ४) भोग निदान आकांक्षा। इस प्रकार चार प्रकार का आर्तध्यान है।

१) हिंसानन्द, २) अनृतानन्द, ३) स्तेयानन्द, ४) विषय संरक्षण आनन्द। यह चार प्रकार का दुष्ट चित्त उत्पन्न करनेवाला रौद्र ध्यान है।[४]

१) आज्ञाविचय, २) अपायविचय, ३) विपाक विचय, ४) संस्थान विचय। यह चार प्रकार का धर्म ध्यान है।

१) पृथक्त्व वितर्कवीचार, २) एकत्व वितर्क वीचार, ३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति, ४) व्युपरत क्रिया निवर्ति - ये शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं।

जयसेन आचार्य ने ध्यान के विषय में कहा है, वह इस प्रकार है -

ध्यान से आत्मा शुद्ध होता है, उस विषय में चार प्रकार का व्याख्यान किया जाता है। ध्यान, ध्यान संतान, ध्यान चिंता, ध्यान अन्वय सूचन।

१. ध्यान :- एकाग्र चिन्ता निरोध ध्यान है। वह शुद्ध, अशुद्ध रूप से दो प्रकार का है :-

---

१. आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि। तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. २८

२. अट्टं च रूद्द सहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि॥ मूलाचार, गा. ३९४

३. ज्ञानार्णव, अ. ३, गा. २९-३१

४. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. १४०

२. ध्यान संतान :- जहां अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान, उसके अनन्तर अन्तमुहूर्त पर्यन्त तत्त्वचिंतन, पुनः अन्तमुहूर्त पर्यन्त ध्यान, पुनः तत्त्वचिन्ता, इस प्रकार प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थान के समान अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त जाने पर परावर्तन है वह ध्यान संतान कहा जाता है। वह धर्म ध्यान सम्बन्धी है। शुक्ल ध्यान पुनः उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी के आरोहण में होता है। उनमें अल्पकालपना होने से परावर्तनरूप ध्यान सन्तान घटित नहीं होती।

३. ध्यान चिंता :-

जहाँ ध्यान संतान के समान ध्यान परावर्तन नहीं है, ध्यान सम्बन्धी चिन्ता है, वहां यद्यपि किसी काल में ध्यान करता है, तथापि वह ध्यान चिन्ता कही जाती है।

४. ध्यान अन्वय सूचन :-

जहाँ ध्यान सामग्रीभूत द्वादश अनुप्रेक्षा अथवा अन्य ध्यान सम्बन्धी संवेग वैराग्य वचन अथवा व्याख्यान है, वह ध्यान अन्वय सूचन है। [१]

आर्त रौद्र, दो ध्यान दुर्ध्यान हैं, संसार के कारण हैं, अतः छोडने योग्य हैं। धर्म और शुक्ल ध्यान, दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं , सद्ध्यान हैं इसलिए मुमुक्षुओं के द्वारा सदा उपादेय हैं। यहाँ धर्म ध्यान की ही मुख्यता से व्याख्यान किया जाता है।

ध्यान सामग्री (ध्याता का स्वरूप) :-

पञ्चास्तिकाय संग्रह में ध्यान सामग्री का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा है, वह इस प्रकार है :-

"यस्य योगिनो रागपरिणामो द्वेषपरिणामो मोहपरिणामो मनोवचनरूपकायव्यापारे वा न विद्यते तस्य शुभाशुभकर्मेन्धनदहनसामर्थ्यलक्षणो ध्यानमयोऽग्निर्जायते।"[२]

जिस योगी का राग परिणाम, द्वेष परिणाम, मोह परिणाम, मनोवचनरूप काय व्यापार में नहीं है उसके शुभ और अशुभ कर्म रूपी ईंधन को जलाने की सामर्थ्य जिसमें है,ऐसी ध्यानमय अग्नि उत्पन्न होती है। इससे जाना जाता है कि ध्यान के लिए राग, द्वेष, मोह रूप विभाव भावों का अभाव और योग निरोध आवश्यक है। अन्यत्र भी कहा है :-

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०९

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह, गा. १४६

विषय कषाय की निवृत्तिरूप शुद्धात्मानुभूति स्वभावरूप वैराग्य, शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप तत्त्वविज्ञान, बाह्यअभ्यंतर परिग्रह के त्यागरूप निर्मलता, चिन्ता रहित आत्मानुभूतिरूप चित्त का वशपना, वीतराग निर्विकल्प समाधि की बहिरंग सहकारीभूत जितपरिषहपना, ये पांच ध्यान के हेतु जानकर और भावना करके ध्यान करना चाहिए। [१]

तप, व्रत, श्रुतवान आत्मा, ध्यानरूपी रथ का धुरन्धर सारथी होता है।[२] जिसने मोह कलुष का नाश कर दिया है, जो विषय से विरक्त है, निज आत्म द्रव्य में सम्यक् अवस्थित, विषय कषाय से उत्पन्न विकल्पजालरूप मन को निश्चल करके, इस प्रकार के गुणों से युक्त पुरूष, वह आत्मा का ध्याता होता है।[३]

उपर्युक्त प्रमाणों से यह निश्चित किया जाता है कि बाह्य अन्तरंग परिग्रह का त्याग, काम भोगों और शरीर से विरक्तता, परिषह सहिष्णुता, जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों का ज्ञान, स्वपर में भेद विज्ञान, स्थिरता और धीरता आदि सामग्री होनी चाहिए। उत्तम संहनन की भी ध्यान के लिए आवश्यकता बताई है। उसमें वज्रर्षभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन, ये तीन संहनन जिनागम में उत्तम कहे गये हैं। कुछ लोग इस काल में उत्तम संहनन का अभाव होने से, ध्यान का निषेध करते हैं। उनका परिहार जयसेन आचार्य ने प्रश्नोत्तर के माध्यम से आगम प्रमाणपूर्वक किया है, वह इस प्रकार है :-

प्रश्न :- इस काल में ध्यान नहीं है, क्यों ? क्योंकि दस पूर्व और चौदह पूर्व श्रुत के आधारभूत पुरूष का अभाव है और प्रथम संहनन का अभाव है।

समाधान :- इस काल में शुक्ल ध्यान नहीं है। कुन्दकुन्द आचार्य देव ने मोक्ष पाहुड में कहा है। भरत क्षेत्र में दुषम काल में, आत्म स्वभाव को जानने वाले ज्ञानी के धर्मध्यान होता है। उसको जो नहीं जानता वह अज्ञानी है।

आज भी त्रिकरण से, शुद्ध आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपने या लौकान्तिक देवपने को प्राप्त करता है। वहाँ से च्युत होकर निवृत्ति को प्राप्त होते हैं। इसमें युक्ति कहते हैं :- जो इस काल में यथाख्यात नामक निश्चय चारित्र नहीं है, तो तपस्वी लोग सराग चारित्र नामक अपहृत संयम का आचरण करें। उसी प्रकार तत्त्वानुशासन ग्रन्थ में कहा है :-

---

१. वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थं वशचित्तता।
जितपरीषहत्वं च पञ्चैते ध्यानहेतवः ॥
परमात्मप्रकाशवृत्ति, अ. २, गा. १९२ उद्धृत

२. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गा. ५७

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०९

आज वर्तमान में यथाख्यात चारित्र का आचरण करनेवाले नहीं है, तो क्या हुआ, अन्य तपोधन यथाशक्ति आचरण करें और कहा है कि सकल श्रुतधारियों को ध्यान होता है, वह उत्सर्ग वचन है। परन्तु अपवाद व्याख्यान में पाँच समिति और तीन गुप्ति के प्रतिपादक श्रुत के परिज्ञान मात्र से ही केवलज्ञान होता है। यदि ऐसा न हो तो "तुसमासं घोसंतो सिवभूदी केवली जातो" तुषमास का घोष करनेवाले शिवभूति केवली हो गये, इत्यादि कैसे घटित होता ?

चारित्रसार आदि ग्रन्थ में पुलाक आदि पाँच निर्ग्रन्थों के व्याख्यान काल में कहा है :- मुहूर्त के ऊपर जो केवलज्ञान को उत्पन्न करते हैं, वे निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं । क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती उनके उत्कृष्ट से श्रुत चौदह पूर्व होता है, जघन्य से पाँच समिति तीन गुप्ति नामक अष्टप्रवचनमातृका मात्र होता है। और भी कहा है, वज्रर्षभनाराच नामक प्रथम संहनन से ध्यान होता है, वह उत्सर्ग वचन है। अपवाद व्याख्यान पुनः अपूर्व आदि गुणस्थानवर्तियों के, उपशम और क्षपक श्रेणी में जो शुक्लध्यान है उसकी अपेक्षा से वह नियम है । अपूर्व से नीचे के गुणस्थानों में धर्मध्यान का निषेधक नहीं है। उसी तत्त्वानुशासन में वह भी कहा है :-

"यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तत्राधस्तान्निषेधकम् ॥"

जो वज्र काय के ध्यान है, ऐसा आगम में वचन है, वह दो श्रेणियों के ध्यान का आश्रय करके कहा है। नीचे का निषेधक नहीं है। इस प्रकार थोडे श्रुत से ध्यान होता है , ऐसा जानकर के कुछ भी शुद्धात्मा के प्रतिपादक, संवर निर्जरा का कारण, जरामरण का हरण करनेवाले, सारभूत उपदेश को ग्रहण करके ध्यान करना चाहिए, ऐसा भावार्थ है। कहा भी है :-

"अंतो णत्थि सुदीणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा ।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणइ ॥"[१]

श्रुत का अन्त नहीं है, काल थोडा है, हम दुर्बुद्धि हैं, इसलिए केवल वही सीखना चाहिए जो जरा मरण का क्षय करे। समयसार की तात्पर्यवृत्ति में भी कहा है, वह इस प्रकार है :-

"ननु तर्हि स्वसंवेदन ज्ञान बलेनास्मिन् कालेऽपि श्रुतकेवली भवति ? तन्न यादृशं पूर्व-पुरूषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किन्तु धर्मध्यानयोग्य-मस्तीत्यर्थः ।"[२]

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.सं.१४६

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ९-१०

शंका :-स्वसंवेदन ज्ञान के बल से इस काल में भी श्रुतकेवली हैं ?

समाधान :- ऐसा नहीं है। जिस प्रकार का पूर्व पुरूषों का शुक्ल ध्यान रूप स्वसंवेदन ज्ञान है, उस प्रकार का अब नहीं है, परन्तु धर्मध्यान योग्य है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि इस पंचम काल में भी धर्मध्यान संभव है। कुन्दकुन्द आचार्य ने स्पष्ट घोषित किया है कि जो इस काल में धर्मध्यान नहीं मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। यद्यपि आज इस काल में मोक्ष नहीं है, तथापि परम्परा से मोक्ष है। वह शुद्धात्म भावना के बल से संसार स्थिति को कम करके देवलोक जाता है। वहाँ से आकर मनुष्य भव में रत्नत्रय की भावना प्राप्त करके शीघ्र मोक्ष जाता है। जो भी भरत, सगर, राम, पांडवादि मोक्ष गये हैं, वे भी पूर्व भव में भेदाभेद रत्नत्रय की भावना से संसार स्थिति को कम करके पश्चात् मोक्ष गये हैं। उस भव में सभी को मोक्ष होता है, ऐसा नियम नहीं है और दूसरी बात यह है कि ध्यान के लिए बहुश्रुतज्ञान का नियम नहीं है। अल्पश्रुत से भी ध्यान होता है। इसलिए आगम से पदों को ग्रहण करके ध्यान करना चाहिए।

ध्येय स्वरूप :-

ध्यान की विषयभूत (अवलम्बनरूप) वस्तु ध्येय कही जाती है। ध्याने के योग्य ध्येय है। ध्यान के अनेक प्रकारपना होने से आगम में विविध प्रकार से ध्येय का वर्णन किया है। [१]

"जिणउवइट्ठणवपयत्था वा ज्झेयं होंति।"

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए नौ पदार्थ ध्येय हैं। "मेरा यह है, मैं इसका हूँ" ऐसा आत्मा आत्मीय संकल्प के बिना यथावत् स्थित जगत् ध्यान का आलम्बनभूत है। [२] यथावस्थित वस्तु ध्येय है। पंचपरमेष्ठी का स्वरूप भी ध्येय है। चार घाति कर्म का अभाव होने से स्नातक अवस्था में प्राप्त केवलज्ञान, केवलदर्शन, सुख, वीर्य सम्पन्न परम औदारिक तेजोमय शरीर को धारण करनेवाले केवली भगवान ध्यान के काल में ध्येय हैं। [३] उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान आदि सम्पन्न सात महर्द्धि युक्त आचार्य, उपाध्याय, साधु भी ध्येय हैं। [४]

---

१. अमी जीवादयो भावाश्चिदचिल्लक्षलाञ्छिताः।
तत्स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभिः // ज्ञानार्णव: अ २८, श्लो. १८

२. ध्यानस्यालम्बनं कृत्स्नं जगत्तत्वं यथास्थितम्।
विनात्मात्मीयसङ्कल्पाद् औदासीन्ये निवेशितम् / महापुराणं, सर्ग २१, श्लो. १७

३. अथवा स्नातकावस्थायां प्राप्तो घातिव्यपायतः।
जिनोऽर्हन् केवली ध्येयो बिभ्रत्तेजोमयं वपुः //महापुराणं, सर्ग: २१, श्लो. १२०

४. सम्यग्ज्ञानादिसम्पन्नाः प्राप्तसप्तमहर्द्धयः।
यथोक्तलक्षणा ध्येया सूर्युपाध्यायसाधवः//तत्त्वानुशासनं, श्लो १३०

जब साधु निस्पृहवृत्ति होकर जो कुछ भी ध्येय को वस्तु स्वरूप से चिंतन करते हैं, तब वह उनका निश्चय ध्यान कहा जाता है।[1] उपसंहार रूप से यह कहना शक्य है। वह सर्व वस्तु ध्येय में अन्तर्भूत है जो यथार्थतः जानकर, श्रद्धान करके यहाँ रागद्वेष अभाव रूप माध्यस्थ धारण किया जाता है। वीतराग साधु के विश्ववर्ती सम्पूर्ण पदार्थ का समूह ध्येय है।

प्राथमिक अपेक्षा से सविकल्प अवस्था में विषय कषाय से बचने के लिए, चित्त को स्थिर करने के लिए पंच परमेष्ठी आदि द्रव्य भी ध्येय हैं। पश्चात् अभ्यास के बल से चित्त स्थिर होने पर शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव निज शुद्धात्म स्वरूप ही ध्येय है। ऐसा कहा है। वह ही कहा है:-

"यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां चित्तस्थिरीकरणार्थं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूति विशेषकारणं परम्परया शुद्धात्मसम्प्राप्ति हेतुभूतं पञ्चपरमेष्ठिरूपस्तववस्तुस्तवगुणस्तवादिकं वचनेन स्तुत्यं भवतिमनसा च तदक्षररूपादिकं प्राथमिकानां ध्येयं भवति तथापि निश्चयरत्नत्रयपरिणतिकाले केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिणतः स्वशुद्धात्मैव ध्येय इति।[2]"

यद्यपि व्यवहार से सविकल्प अवस्था में चित्त स्थिर करने के लिए देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विभूति का विशेष कारण परम्परा से शुद्धात्मा की प्राप्ति का कारणभूत पंचपरमेष्ठिरूप स्तव, वस्तुस्तव, गुणस्तव आदि वचन से स्तुत्य है, मन के द्वारा उसके अक्षररूप आदिक प्राथमिक पुरूषों को ध्येय हैं, तथापि निश्चय रत्नत्रय की परिणति काल में केवलज्ञान आदि अनन्तगुण परिणत वह शुद्धात्मा ही ध्येय है।

जयसेन आचार्य ने स्थान-स्थान पर भावार्थ रूप से शुद्ध पारिणामिक भावरूप परमात्म द्रव्य को ध्येय कहा है, वह इस प्रकार है :-

"मनोवाक्काय निरोधेन ..... शुद्धचैतन्यादिशुद्धप्राणसहितः शुद्धजीवास्तिकाय एव ध्यातव्यः।"[3] मन, वचन, काय निरोध से ..... शुद्ध चैतन्य आदि शुद्ध प्राण सहित शुद्ध जीवास्तिकाय ही ध्यातव्य है।

---

१. जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं॥ द्रव्यसङ्ग्रहः गा. ५५

२. परमात्मप्रकाश वृत्ति, गा.३१

३. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ३०

जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व तीन प्रकार के पारिणामिक भाव में शुद्ध जीवत्व शक्ति लक्षण जो पारिणामिकपना है, वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के आश्रित होने से निरावरण शुद्ध पारिणामिक भाव नामक जानना चाहिए। वह बंध मोक्ष पर्याय परिणति से रहित है, इसलिए जाना जाता है कि शुद्धपारिणामिक भाव ध्येयरूप है। ध्यान रूप नहीं है, क्योंकि ध्यान विनश्वर है। उसी प्रकार योगीन्द्र देव ने भी कहा है :-

"ण वि उपज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थे जोइया जिणवरू एउ भणेइ ||

हे योगी ! परमार्थ से जीव उत्पन्न नहीं होता, न ही मरता, बंध और मोक्ष भी नहीं करता, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। ध्याता पुरुष जो सकल निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण निज परमात्म द्रव्य है, वही मैं हूँ। ऐसी भावना करता है, खण्ड ज्ञानरूप नहीं |[1] अन्यत्र भी ध्यान और ध्येय में भेद जयसेन आचार्य ने दिखाया है। उन्होंने ध्येय का स्वरूप स्पष्ट कहा है, वह इस प्रकार है:-

"अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः स तु शुद्धात्मद्रव्यलक्षणाद् ध्येयभूताच्छुद्धपारिणामिकभावादभेदप्रधानद्रव्यार्थिकनयेनाभिन्नोऽपि भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन भिन्नः। अयमेकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्ड-ज्ञानव्यक्तिरूपः स च पारिणामिकः सकलावरणरहितत्वेनाखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः अयं तु सादिसान्तत्वेन विनश्वरः स च अनाद्यनन्तत्वेनाविनश्वरः। यदि पुनरेकान्तेनाभेदो भवति तर्हि घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डविनाशवत् ध्यानपर्यायविनाशे मोक्षे जाते सति ध्येयरूपारिणामिकस्यापि विनाशो भवतीत्यर्थः। तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानभावनारूपो न भवति ध्यानस्य विनश्वरत्वात्। [2]

यहाँ पर जो यह रागादि विकल्प रूप उपाधि से रहित समाधि लक्षण शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण कहा है. वह ध्येयभूत शुद्धात्म द्रव्य लक्षण शुद्ध पारिणामिक भाव से अभेद प्रधान द्रव्यार्थिक नय से अभिन्न होने पर भी भेद प्रधान पर्यायार्थिक नय से भिन्न है। यह एकदेश निरावरण होने से क्षायोपशमिक खंड ज्ञान व्यक्तिरूप वह पारिणामिक भाव सकल आवरण से रहित होने से अखण्ड ज्ञान व्यक्तिरूप है। यह सादि सान्त होने से विनश्वर है और वह अनादि

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति गा. ३४१

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १९३

अनन्त होने से अविनश्वर है। यदि पुनः एकान्त से अभेद है तो घट की उत्पत्ति में मिट्टी के पिण्ड के नाश के समान ध्यान पर्याय का विनाश होने पर मोक्ष प्राप्त होने पर ध्येय रूप पारिणामिक का भी विनाश होता है ऐसा अर्थ है। इसलिए जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येय रूप है, ध्यान भावना रूप नहीं है, क्योंकि ध्यान विनश्वर है।

इससे यह जाना जाता है कि निर्विकल्प ध्यान में निर्मल अनादि अनन्त, अविनश्वर परम पारिणामिक भाव शुद्धात्मा ध्येय है। पहले शुद्धात्म स्वरूप का वर्णन कहा है, वहीं ध्येय का स्वरूप जानना चाहिए। चारित्रसार आदि में कहा है कि द्रव्यपरमाणु का ध्यान करके केवलज्ञान को उत्पन्न करते हैं उस विषय में जयसेन आचार्य ने स्पष्टीकरण किया है :-

"द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं ग्राह्यं भावपरमाणुशब्देन च भावसूक्ष्मत्वं न च पुद्गलपरमाणुः । इदं व्याख्यानं सर्वार्थसिद्धिटिप्पणके भणितमास्ते । अस्य संवादवाक्यस्य विवरणं क्रियते । द्रव्यशब्देनात्मद्रव्यं ग्राह्यं तस्य तु परमाणुः । परमाणुरिति कोऽर्थ रागाद्युपाधिरहिता सूक्ष्मावस्था तस्याः सूक्ष्मत्वं कथमिति चेत् निर्विकल्पसमाधिविषयादिति द्रव्यपरमाणुशब्दस्य व्याख्यानम्।

भावशब्देन तु तस्यैवात्मद्रव्यस्य स्वसंवेदनज्ञानपरिणामो ग्राह्यः तस्य भावस्य परमाणुः। परमाणुरिति कोऽर्थ ? रागादिविकल्परहिता सूक्ष्मावस्था | तस्याः सूक्ष्मत्वं कथमिति चेत् इन्द्रियमनोविकल्पाविषयत्वादिति भावपरमाणुशब्दस्य व्याख्यानं ज्ञातव्यम्।'[१]

द्रव्य परमाणु शब्द से द्रव्य सूक्ष्मत्व रूप ग्रहण करना चाहिए। भाव परमाणु शब्द से भाव सूक्ष्मत्व ग्रहण करना चाहिए, न कि पुद्गल परमाणु। यह व्याख्यान सर्वार्थसिद्धि की टिप्पणी में कहा है। इस संवाद वाक्य का विवरण करते हैं। द्रव्य शब्द से आत्म द्रव्य ग्रहण करना चाहिए, उसका परमाणु। "परमाणु" इसका क्या अर्थ है ? रागादि उपाधि रहित सूक्ष्म अवस्था। उसका सूक्ष्मपना कैसे है ? ऐसा पूछने पर :- क्योंकि निर्विकल्प समाधि का विषय है। इस प्रकार द्रव्य परमाणु शब्द का व्याख्यान जानना चाहिए।

भाव शब्द से उसी आत्म द्रव्य का स्वसंवेदन ज्ञान परिणाम ग्रहण करना चाहिए, उस भाव का परमाणु। परमाणु का क्या अर्थ है ? रागादि विकल्प रहित सूक्ष्म अवस्था। उसका सूक्ष्मत्व कैसे है ? क्योंकि इन्द्रिय मन के विकल्प का विषय नहीं है। इस प्रकार भाव परमाणु शब्द का व्याख्यान जानना चाहिए।

---

१. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा. १५२

केवलियों को उपचार से ध्यान कहा है। क्योंकि केवलियों के चिन्ता ही नहीं होती, उसका निरोध कैसे घटित होता है। इसलिए एकाग्रचिन्ता निरोध रूप ध्यान केवलियों के संभव नहीं है।

"जोग णिरोहो जिणाणं तु योग निरोधः केवलिषु ध्यानस्य लक्षणं भणितम्।"[१]

केवलियों में योग निरोध रूप ध्यान का लक्षण कहा है।

केवलियों के ध्यान संभव है अथवा नहीं, इस विषय में जयसेन आचार्य ने ऊहापोह किया है, वह इस प्रकार है :-

जिस प्रकार कोई देवदत्त विषय सुख के निमित्त विद्या आराधना योग्य करता है, जब विद्या सिद्ध होती है, तब उसके फलभूत विषय सुख सिद्ध होता है, तब आराधना ध्यान नहीं करता। उसी प्रकार इस भगवान ने भी केवलज्ञान विद्या के निमित्त और उसके फलभूत अनन्त सुख निमित्त पहले छद्मस्थ अवस्था में शुद्धात्म भावना रूप ध्यान किया। अब इस ध्यान के द्वारा केवलज्ञान विद्या सिद्ध हुई। उसका फल अनन्तसुख सिद्ध हुआ। फिर किसलिए ध्यान करते हैं, ऐसा प्रश्न अथवा आक्षेप है। और दूसरा कारण, परोक्ष पदार्थ में ध्यान होता है, भगवान के सब प्रत्यक्ष है, फिर ध्यान कैसे ? ऐसा पूर्व पक्ष होने पर परिहार देते हैं।

यह भगवान जब एक देश से उत्पन्न सांसारिक ज्ञान और सुख को कारणभूत सर्वात्म प्रदेशों से उत्पन्न स्वाभाविक अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख की विनाशक जो इन्द्रियाँ उनका निश्चय रत्नत्रयात्मक कारण समयसार के बल से अतिक्रमण करते हैं और विनाश करते हैं, उसी क्षण में समस्त बाधा रहित होकर अतीन्द्रिय अनन्त आत्मा से उत्पन्न सुख का ध्यान करते हैं, अनुभव करते हैं, परिणमते हैं।

इसलिए जाना जाता है कि अन्य चिंता निरोध लक्षण ध्यान नहीं है। परन्तु यही परम सुख का अनुभवन अथवा ध्यान के कार्यभूत कर्म निर्जरा को देखकर ध्यान शब्द से उपचार किया जाता है। जो पुनः सयोग केवली के तीसरा शुक्लध्यान और अयोग केवली के चौथा शुक्ल ध्यान होता है, ऐसा कहा है, वह उपचार से जानना चाहिए। [२]

अभेद नय से ध्यान चारित्र है, वह ध्यान केवलियों के उपचार से कहा है, चारित्र भी उपचार से है।[३]

---

१. धवला पु. १३, पृ.सं. ७६, गा.सं. ५१

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २११

३. वहीं पर गा. २७९

सराग वीतराग सम्यक्त्व का विश्लेषण :

दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर सहजचैतन्य रूप ज्ञायक भाव का श्रद्धान होता है, वही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, यह तत्त्वार्थ सूत्र में व्यवहार से सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है। जिस भाव से पदार्थ व्यवस्थित है, उसी भाव से अर्थ का ग्रहण जिसके सन्निधान से होता है, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन वस्तुतः श्रद्धा गुण की शुद्ध पर्याय है। वास्तव में सम्यग्दर्शन एक प्रकार का है, तथापि शास्त्र में अनेक प्रकार की विवक्षा से उसके भी भेद कहें हैं। उसमें प्रथम सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। १) सराग सम्यग्दर्शन २) वीतराग सम्यग्दर्शन | उसमें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति जिसका लक्षण है, वह सराग सम्यग्दर्शन है। निज शुद्धात्मानुभूति लक्षण आत्म विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है।

जयसेन आचार्य के द्वारा अभिमत वीतराग सम्यग्दृष्टि की व्याख्या : - 'आर्तरौद्र परित्याग लक्षण निर्विकल्प सामायिक में स्थित जीवों को जो शुद्धात्म स्वरूप का दर्शन, अनुभवन, अवलोकन, उपलब्धि, संवित्ति, प्रतीति ख्याति, अनुभूति है, वही निश्चय नय से निश्चय चारित्र का अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व ही वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है। [१]

सराग सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन, सविकल्प सम्यग्दर्शन, ये एकार्थवाचक संज्ञा हैं। उसी प्रकार वीतराग सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, ये पर्यायवाची शब्द हैं।

सराग वीतराग सम्यग्दर्शन के विषय में लोगों में मतान्तर प्रचलित हैं। कुछ लोग चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान वर्तियों को केवल सराग सम्यक्त्व स्वीकार करते हैं, वीतराग सम्यक्त्व का निषेध करते हैं। कुछ सराग सम्यग्दृष्टि को मिथ्यादृष्टि मानते हैं। परन्तु जयसेन आचार्य की रचित तात्पर्यवृत्तियों का सम्यक् अवलोकन करने से सब विवाद समाप्त होते हैं।

जब मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम से, क्षयोपशम से, अथवा क्षय से आत्मविशुद्धि होती है तभी प्रशमादि सहचर भाव सम्यग्दर्शन संज्ञा को प्राप्त होते हैं। अन्यथा आभासमात्र होते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टियों के प्रशम आदि आभास मात्र हैं। यही अभिमत जयसेन आचार्य ने समयसार के बंध अधिकार में स्पष्ट किया है, वह इस प्रकार है:-

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति गा. १५ उत्थानिका

निश्चयमोक्षमार्गे स्थितानां नियमेन मोक्षो भवति, व्यवहारमोक्षमार्गे स्थितानां तु भवति न भवति च | कथं भवति न भवति ? इति चेत् यदि मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशम-क्षयोपशमक्षयात्सकाशाच्छुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा वर्तते तदा मोक्षो भवति । यदि पुनः सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते तदा मोक्षो न भवति । तदपि कस्मात् ? सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे सत्यनन्त ज्ञानादिगुणस्वरूपमात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते न श्रद्धत्ते यतः कारणात् । यस्तु तादृशमात्मानमुपादेयं कृत्वा श्रद्धत्ते तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं विद्यते स तु भव्यो भवति । यस्य पुनः पूर्वोक्त शुद्धात्मस्वरूपमुपादेयं नास्ति तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं न विद्यते इति ज्ञातव्यं मिथ्यादृष्टिरसौ।"[1]

निश्चयमोक्षमार्ग में स्थित जीवों को नियम से मोक्ष होता है। व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित जीवों को होता है अथवा नहीं होता। होता है और नहीं होता, कैसे ? ऐसा पूछने पर कहते हैं:-

जब मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से शुद्धात्मा को उपादेय करके रहता है, तब मोक्ष होता है। और यदि पुनः सात प्रकृतियों के उपशमादि के अभाव में शुद्धात्मा को उपादेय करके नहीं प्रवृत्त होता, तब मोक्ष नहीं होता। वह भी कैसे ? जिस कारण से सात प्रकृतियों के उपशम आदि के अभाव में अनन्त ज्ञान आदि गुण स्वरूप आत्मा को उपादेय करके वर्तन नहीं करता, श्रद्धान नहीं करता, परन्तु जो उस प्रकार की आत्मा को उपादेय करके श्रद्धान करता है, उसके सात प्रकृतियों के उपशमादि होते हैं, वह भव्य है। जिसको पुनः पूर्वोक्त शुद्धात्मा का स्वरूप उपादेय नहीं है, उसको सात प्रकृति के उपशम आदि नहीं होते, वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा जानना चाहिए।

उपर्युक्त उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि यदि मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशमादि पूर्वक तत्त्वार्थ श्रद्धान आदि व्यवहार होता है, तो वहाँ से निश्चय से शुद्धात्म भावना (शुद्धात्मानुभूति) होती ही है। चौथे पाँचवे छठे गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टियों के सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम नियम से होता है। इसलिए वहाँ शुद्धात्मानुभूति रूप शुद्धोपयोग होता ही है।

यदि सात प्रकृतियों के उपशमादि के अभाव से शुद्धात्म भावना नहीं होती है तो प्रशमादि व्यवहार सम्यग्दर्शन संज्ञा को प्राप्त नहीं होते। वह जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २९५-२९६

सम्यग्दृष्टि भावास्रव के अभाव से अबन्धक है, ऐसा स्पष्ट करते हुए जयसेन आचार्य ने आस्रव अधिकार में सराग वीतरागत्व के विषय में कहा है वह इस प्रकार है :-

"सरागवीतराग भेदेन द्विधा सम्यग्दृष्टिर्भवति। तत्र योऽसौ सराग सम्यग्दृष्टिः।

सोलस पणवीसणभं दसचउछक्केक बंधवोच्छिण्णा।

दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलस जोगिणो इक्को।

इत्यादि बन्धत्रिभङ्गकथितबन्धविच्छेदक्रमेण मिथ्यादृष्टयापेक्षया त्रिचत्वारिंश-त्प्रकृतीनामबन्धकः सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बन्धकोऽपि सन् संसारस्थितिच्छेदको भवति। तेन कारणेनाबन्धक इति। तथैवाविरतिसम्यग्दृष्टेर्गुणस्थानादुपरि यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपर्यन्तम्, अधस्तनगुणस्थानापेक्षया तारतम्येनाबन्धकः। उपरिमगुणस्थानापेक्षया पुनर्बन्धकः। ततश्च वीतरागसम्यक्त्वे जाते साक्षादबन्धको भवति इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टयः सर्वथा बन्धो नास्तीति न वक्तव्यम्।"[1]

सराग, वीतराग के भेद से सम्यग्दृष्टि दो प्रकार का है, उसमें जो यह सराग सम्यग्दृष्टि :-

एक से सात गुणस्थान तक क्रम से १६, २५, ०, १०, ४, ६, १ और अपूर्वकरण गुणस्थान में २, ३०, ४, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ५ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में १६, सयोगी में १, इत्यादि बन्ध त्रिभंगी में कहे हुए बन्ध विच्छेद के क्रम से मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से तैंतालिस प्रकृतियों का अबन्धक है। सतहत्तर प्रकृतियों का अल्प स्थिति अनुभाग का बन्धक होने पर भी संसार स्थिति का छेदक है, उस कारण से अबन्धक है। उसी प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से ऊपर यथासंभव सराग सम्यक्त्व पर्यन्त, नीचे के गुणस्थान की अपेक्षा से तारतम्य से अबन्धक है। उपरिम गुणस्थान की अपेक्षा से पुनः बन्धक है, इसलिए वीतराग सम्यक्त्व होने पर साक्षात् अबन्धक होता है, ऐसा मानकर हम सम्यग्दृष्टि हैं, हमें सर्वथा बंध नहीं होता, ऐसा नहीं कहना चाहिए।

उपर्युक्त व्याख्यान में करणानुयोगगत बंध व्युच्छित्ति के प्रकरण के साथ अध्यात्म व्याख्यान का सुमेल दर्शाया है। इसलिए जीव का जितना रागांश विद्यमान है, उतना वह सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। जब तक रागादिकों का सर्वथा अभाव होता है, तब तक साक्षात् अबन्धक वीतराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इस प्रकार करणानुयोग की विवक्षा से चतुर्थ गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यन्त सराग सम्यग्दृष्टि है। ग्यारहवें गुणस्थान से वीतराग

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १७४

सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं। इस प्रकार इससे यह निष्कर्ष ग्रहण नहीं करना चाहिए कि जो गृहस्थों के और छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के सराग सम्यग्दर्शन ही होता है, वीतराग निश्चय सम्यग्दर्शन होता ही नहीं। जो चौथे आदि गुणस्थानों में सात प्रकृतियों के उपशमादि का सद्भाव होने से निश्चय सम्यक्त्व है ही। केवल यहाँ यथायोग्य विवक्षा जाननी चाहिए। यही अभिमत जयसेन आचार्य ने उसी आस्रव अधिकार में अभिव्यक्त किया है, वह इस प्रकार है :-

"किंच विस्तरः मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सरागसम्यग्दृष्टिः त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबन्धकः । सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बन्धकोऽपि संसारस्थितिच्छेदं करोति । तथा चोक्तं सिद्धान्ते" द्वादशांगावगमस्त-त्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणामः केवलिसमुद्घातश्चेति संसारस्थितिघातकारणानि भवन्ति। तद्यथा -

मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से चौथे गुणस्थान में सरागसम्यग्दृष्टि तैंतालीस प्रकृतियों का अबन्धक है। सतहत्तर प्रकृतियों का अल्प स्थिति अनुभागों का बन्धक होने पर भी संसार स्थिति का छेद करता है। इस प्रकार सिद्धान्त में कहा है। बारह अंगों का ज्ञान, उसकी तीव्र भक्ति, अनिवृत्ति रूप परिणाम, केवलि समुद्घात - ये संसार स्थिति के घात के कारण हैं।

वहाँ बारह अंग के श्रुत विषयक ज्ञान व्यवहार से बाह्य विषय है। निश्चय से तो वीतराग स्वसंवेदन लक्षण है। भक्ति पुनः सम्यक्त्व कही जाती है। वह व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों के पंचपरमेष्ठी की आराधना रूप है। निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों की शुद्धात्म तत्त्व की भावना रूप है। निवृत्ति नहीं, उसे अनिवृत्ति कहते हैं। शुद्धात्म स्वरूप से चलित न होकर एकाग्र परिणति अनिवृत्ति है। इस प्रकार बारह अंगों का ज्ञान, निश्चय व्यवहार ज्ञान हो गया। भक्ति से निश्चय व्यवहार सम्यक्त्व हुआ। अनिवृत्ति परिणाम सराग चारित्र के अनन्तर वीतराग चारित्र हुआ। इस प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र भेदाभेद रत्नत्रय रूप से संसार व्युच्छित्ति के कारण हैं। किनको ? छद्मस्थों को..... |[1]

उपर्युक्त उद्धरण में भी करणानुयोग की अपेक्षा से बंधक होने पर भी सम्यग्दृष्टि अबन्धक कैसे है ? यह कहा है। संसार छेद के चार कारण बताते हुए निश्चय और व्यवहार में सुन्दर सुमेल किया है। चौथे आदि गुणस्थान में व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय का सद्भाव स्पष्ट रूप से स्वीकार

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १८१-१८४

किया है। पुनः आगे सराग वीतराग सम्यक्त्व का निरूपण किया है, उससे भी स्पष्ट होता है, जो इस प्रकार है :-

"अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व उदय जनित राग द्वेष मोह सम्यग्दृष्टि को नहीं है, ऐसा पक्ष है, क्यों ? ऐसा पूछने पर कहते हैं, क्योंकि केवलज्ञानादि अनन्त गुणसहित परमात्मा का उपादेयपना होने पर वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, इनकी रुचि रूप, तीन मूढता आदि पच्चीस दोष रहित, संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुबंध इन आठ गुणों से युक्त सम्यक्त्व सहित, गाथा में कहे रूप लक्षण जिसका है, ऐसे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक्त्व की अन्यथानुपपत्ति है। यह हेतु है। अथवा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण नामक क्रोध, मान, माया, लोभ उदय जनित राग द्वेष मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं है, ऐसा पक्ष है। क्योंकि निर्विकार परमानन्द एक सुख लक्षण परमात्मा का उपादेयपना होने पर छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ की रुचि रूप तीन मूढता आदि पच्चीस दोषों से रहित उसके अनुसार प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, देव धर्म आदि विषयक आस्तिक्य की अभिव्यक्ति जिसका लक्षण है, ऐसे पंचम गुणस्थान योग्य देशचारित्र के अविनाभावी सराग सम्यक्त्व की अन्यथानुपपत्ति है, यह हेतु है।

अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया, लोभ, उदय जनित राग द्वेष मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं है। यह पक्ष है। क्योंकि चिदानन्द एक स्वभाव शुद्ध आत्मा को उपादेयपना होने पर छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ की रुचि रूप, तीन मूढता आदि पच्चीस दोषों से रहित छठे गुणस्थान रूप सराग चारित्र का अविनाभावी सराग सम्यक्त्व की अन्यथानुपपत्ति है, यह हेतु है। अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ तीव्र उदय जनित प्रमाद उत्पादक राग द्वेष मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं, क्योंकि शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा का उपादेयपना होने पर उसके योग्य अपने शुद्धात्म समाधि से उत्पन्न सहजानन्द एक स्वलक्षण सुखानुभूतिमात्र स्वरूप अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व की अन्यथा अनुपपत्ति है। यह हेतु है।[1]

उपर्युक्त उद्धरण में व्यवहार निश्चय, सराग, वीतराग में सहचरपना प्रकाशित किया है। चौथे, पाँचवे, छठे गुणस्थानवर्ती के रागद्वेष मोह के अभावरूप साध्य में सराग सम्यक्त्व की

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १८५-१८६

अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु बतलाया है। उसमें स्वशुद्ध चैतन्य मात्र परमात्मा का उपादेय रूप से स्वीकार है। इस प्रकार निश्चय सम्यक्त्व का अस्तित्व स्वीकार किया है। उसी प्रकार छह द्रव्यादि की रुचि रूप व्यवहार सम्यक्त्व भी कहा है। जितने अंश से राग द्वेष मोह का अभाव हुआ है, उतने अंश से वीतराग सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है। चतुर्थ गुणस्थानगत सराग सम्यक्त्व असंयम के साथ अविनाभावी है। पंचम गुणस्थानगत सराग सम्यक्त्व देशचारित्र के साथ अविनाभावी है। छठे गुणस्थानगत सराग सम्यक्त्व सकल संयम के साथ अविनाभावी है। उसी प्रकार सराग सम्यक्त्व के साथ वीतराग सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा गुण की निर्मलता है ही। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में उपयोग रूप शुद्ध आत्मानुभूति किसी काल में होती है। परन्तु लब्धि रूप ज्ञान चेतना निरंतर है। उसी को यहाँ शुद्धात्मा का उपादेय रूप से स्वीकार कहा है।

प्रवचनसार चारित्र अधिकार में शुभोपयोगी श्रमणों को भी किसी काल में शुद्धोपयोग होता है, और शुद्धोपयोगी श्रमणों को भी किसी काल में शुभोपयोग कहा है। उसी प्रकार श्रावकों के भी सामायिक आदि काल में शुद्धात्म भावना स्वीकार की है। [१] इससे जाना जाता है कि चतुर्थ आदि गुणस्थानों में शुद्धोपयोग है। वहाँ बहुलता से शुभोपयोग है, अतः वहाँ शुभोपयोग कहा है। चतुर्थ गुणस्थान से छठे गुणस्थान पर्यन्त बुद्धिपूर्वक राग का सद्भाव होने से यहाँ मुख्यता से सराग सम्यक्त्व कहा है। वस्तुतः सम्यक्त्व श्रद्धा गुण की स्वभाव पर्याय है। परन्तु उसके साथ अप्रत्याख्यानावरण आदि राग द्वेष का अस्तित्व है, इसलिए सहचरपने का आश्रय करके सम्यक्त्व के ऊपर राग का उपचार करके सराग सम्यक्त्व कहा है।

सराग वीतराग सम्यग्दृष्टि के विषय में अन्य विवक्षा पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में कही है, वह इस प्रकार है :-

"यदायं जीवः आगमभाषया कालादिलब्धिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुख-परिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते तदा प्रथमतस्तावन्मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनामुपशमेन क्षयोपशमेन च सराग सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा पंचपरमेष्ठिभक्त्यादिरूपेण पराश्रितधर्म्यध्यान-बहिरंगसहकारित्वेनानन्तज्ञानादिस्वरूपोऽहमित्यादिभावनास्वरूपमात्माश्रितं धर्म्यध्यानं प्राप्य आगमकथितक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानचतुष्टयमध्ये क्वापि गुणस्थाने दर्शनमोहक्षयेण क्षायिक सम्यक्त्वं कृत्वा-"[२]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २८७

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. १५८-१५९

जब यह जीव आगम भाषा से कालादि लब्धिरूप, अध्यात्म भाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणाम रूप स्वसंवेदन ज्ञान को प्राप्त करता है, तब प्रथमतः मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम और क्षयोपशम से सराग सम्यग्दृष्टि होकर पंच परमेष्ठी की भक्ति रूप से पराश्रित धर्मध्यान की बहिरंग सहकारिता से अनन्त ज्ञानादि स्वरूप मैं हूँ इत्यादि भावना स्वरूप आत्माश्रित धर्मध्यान को प्राप्त करके आगम में कहे हुए क्रम से असंयत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में से किसी भी गुणस्थान में दर्शन मोहनीय के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व करके .....।

इस प्रकार इसके द्वारा कुछ तथ्य सिद्ध होते हैं।

१) चतुर्थादि गुणस्थानों में स्वसंवेदन ज्ञानरूप शुद्धोपयोग है।

२) मिथ्यादृष्टि, सराग सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जाता है। जयसेन आचार्य ने किसी भी स्थान में मिथ्यादृष्टि का सराग सम्यग्दृष्टि रूप से उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है:-

"अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्या ग्रहणं ..... ।"[१]

इस ग्रन्थ में मुख्य वृत्ति से वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण है। जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि है, उसका गौणवृत्ति से ग्रहण है ..... ।

इस प्रकार अनेक स्थलों में चौथे गुणस्थानवर्ती की सराग सम्यग्दृष्टि संज्ञा कही है। समयसार की १०४ नंबर गाथा की तात्पर्यवृत्ति से सराग सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि है, ऐसा अर्थ कोई करते हैं, परन्तु वह अच्छी तरह से समीक्षा करने से युक्तियुक्त प्रतिभासित नहीं होता। तात्पर्यवृत्ति का वह अंश यहाँ दिया जाता है, जिससे सराग सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि है, ऐसा भ्रम हुआ है। वह इस प्रकार है :-

"..... एवं गाथा पूर्वार्द्धव्याख्यानप्रकारेण मनसि योऽसौ वस्तुस्वरूपं जानाति स सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुञ्चति। निश्चयचारित्राविनाभावि वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुञ्चति।"[२]

इस प्रकार गाथा पूर्वार्ध के व्याख्यान के प्रकार से जो मन में वस्तु स्वरूप को जानता है, वह सराग सम्यग्दृष्टि होकर अशुभ कर्म के कर्तृत्व को छोडता है। निश्चय चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर शुभाशुभ सर्व कर्म कर्तृत्व को छोडता है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०३

२. वहीं पर, गा. १०४

सराग सम्यग्दृष्टि होकर अशुभ कर्म के कर्तृत्व को छोडता है, इस वाक्यांश से "सराग सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसके अशुभकर्म कर्तृत्व नष्ट हुआ है, परन्तु शुभ कर्म का कर्तृत्व है।" ऐसा अर्थ ग्रहण युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। यहाँ पर कर्तृत्व श्रद्धा की अपेक्षा से ग्रहण नहीं किया है, परन्तु उस रूप से परिणमन ही कर्तृत्व है, ऐसे चारित्र की अपेक्षा से कर्तृत्व कहा है। वही जयसेन आचार्य ने कहा है :-

१. अशुद्ध उपादान रूप से मिथ्यात्व रागादि भाव का (कर्ता) उस रूप से परिणमन ही कर्तृत्व जानना चाहिए।[१]

२. अशुद्ध निश्चय से अशुद्ध भावों का और शुद्ध निश्चय से शुद्ध भावों का कर्ता है, इस प्रकार भावों का परिणमन ही कर्तृत्व है। [२]

इस प्रकार कितने स्थलों में कर्तृत्व का अर्थ जयसेन आचार्य ने स्पष्ट किया है। सराग सम्यग्दृष्टि मुख्यतः शुभोपयोग होने से शुभ कर्मों का कर्ता कहा जाता है। वीतराग सम्यग्दृष्टि मुख्यतः शुद्धोपयोगपना होने से शुभाशुभ कर्मों का अकर्ता है। सम्यग्दृष्टि के कर्तृत्व के विषय में दूसरा उल्लेख प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है :-

"स च ज्ञानी जीवः शुद्धोपयोगभावपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन यदा परिणमति तदा निश्चयचारित्राविनाभावी वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा संवरनिर्जरमोक्षपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि संक्षेपेण निरूपितं पूर्वम् । निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परम्परया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकर प्रकृत्यादिपुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितम् ।"[३]

शुद्धोपयोग भाव से परिणत ज्ञानी जीव अभेद रत्नत्रय लक्षण भेदज्ञान से जब परिणमता है तब निश्चय चारित्र का अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर संवर, निर्जरा, मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है। यह भी संक्षेप से पहले कहा है। निश्चय सम्यक्त्व के अभाव में जब सराग सम्यक्त्व रूप से परिणमता है तब शुद्धात्मा को उपादेय करके परम्परा से निर्वाण का कारण तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य पदार्थ का कर्ता होता है। यह भी पहले कहा है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति,, गा. १०८

२. वहीं पर, गा. २४

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १२६-१३०

यहाँ पर सराग सम्यग्दृष्टि को तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य पदार्थ का कर्ता कहा है। तीर्थंकर प्रकृति चतुर्थ आदि गुणस्थानों में ही बन्ध को प्राप्त होती है, इसलिए यह निश्चित होता है कि सराग सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि नहीं है।

चौथे पाँचवें गुणस्थानवर्तियों की सराग सम्यग्दृष्टि संज्ञा है। जब चतुर्थादि गुणस्थानों में सम्यग्दृष्टि शुद्धात्मानुभवरूप निर्विकल्प समाधि में रहता है, तब वीतराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। जब वहाँ नहीं रह सकता, तब पंच परमेष्ठियों के गुण स्तवन आदि शुभोपयोग में प्रवर्तमान सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। वही कहा है :-

"अपरमे अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे ..... इति।"[१]

अपरम अशुद्ध असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा श्रावक की अपेक्षा से सराग सम्यग्दृष्टि लक्षण शुभोपयोग में .....।

"यदाकोऽपि शुभोपयुक्तः आचार्यः सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगिनां वीतराग चारित्र लक्षणशुद्धोपयोगिनां वा वैयावृत्यं करोति ....."[२]

जब कोई शुभ में उपयुक्त आचार्य सराग चारित्र लक्षण शुभोपयोगियों की अथवा वीतराग चारित्र लक्षण शुद्धोपयोगियों की वैय्यावृत्ति करता है .....।

निर्विकल्प सामायिक में स्थित जीवों का जो शुद्धात्म स्वरूप का दर्शन, अनुभवन है, वही निश्चय नय से निश्चय चारित्र का अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व अर्थात् वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है। [३]

"ये केचन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चय-मोक्षमार्ग निरपेक्षं केवलशुभानुष्ठानरूपं व्यवहानयमेव मोक्षमार्गं मन्यन्ते तेन तु सुरलोकादि-क्लेशपरम्परया संसारं परिभ्रमन्तीति, यदि पुनः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं निश्चयमोक्षमार्गं मन्यन्ते निश्चयमोक्षमार्गानुष्ठानशक्त्यभावान्निश्चयसाधकं शुभानुष्ठानं च कुर्वन्ति तर्हि सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति परम्परया मोक्षं लभन्ते इति।"[४]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १४

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २८३

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १५ उत्थानिका

४. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. १८०

जो कोई विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव शुद्धात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान अनुष्ठान रूप निश्चय मोक्षमार्ग से निरपेक्ष केवल शुभानुष्ठानरूप व्यवहार नय को ही मोक्षमार्ग मानते हैं, उस कारण से देवलोक आदि क्लेश परम्परा से संसार में परिभ्रमण करते हैं। यदि पुनः शुद्धात्मानुभूति रूप लक्षण निश्चय मोक्षमार्ग को मानते हैं, निश्चय मोक्षमार्ग के अनुष्ठान की शक्ति के अभाव से निश्चय साधक शुभ अनुष्ठान करते हैं, तो सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते है।

इस प्रकार अनेक प्रकार के प्रमाण प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त उद्धरणों से यह निर्णय किया जाता है कि शुद्धात्मानुभूति रूप निश्चय सम्यक्त्व ही वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है। जब सम्यग्दृष्टि वहाँ स्थिर नहीं रह सकता तब पंच परमेष्ठि की भक्ति आदि रूप शुभोपयोग से परिणत होता है, तब शुभ राग सहित होने से वह सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व कहा जाता है। चौथे पाँचवे गुणस्थान में राग की बहुलता होने से उनकी सराग सम्यग्दृष्टि ऐसी संज्ञा कही है।

स्वसमय परसमय का विवेचन:-

सम् उपसर्ग पूर्वक " अयगतौ " धातु से समय शब्द निष्पन्न हुआ है। एकत्व पूर्वक एक साथ जानता है और परिणमता है, इस निरुक्ति से समय अर्थात् जीव नामक पदार्थ | वह समय पर्याय भेद से दो प्रकार का है। स्वसमय और परसमय | जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित है, वह स्वसमय है और जो पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मोह राग द्वेषों में स्थित है, वह परसमय कहा जाता है।[१] जो जीव नर नारक आदि पर्यायों में निरत हैं, वे परसमय कहे गये हैं और जो आत्म स्वभाव में लीन हैं, वे स्वसमय जानने चाहिए।[२] पञ्चास्तिकाय संग्रह की तात्पर्यवृत्ति टीका में स्वसमय और परसमय का विस्तार से विवेचन है। वह इस प्रकार है:-

"जीवःशुद्धनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्तावत् पश्चाद्व्यवहारेण निर्मोहशुद्धात्मोपलब्धिप्रतिपक्षभूतेनानादिमोहोदयवशेन मतिज्ञानादि विभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायपरिणतः सन् परसमयरतः परिचरितो भवति। यदा तु निर्मलविवेकज्योतिः समुत्पादकेन परमात्मानुभूतिलक्षणेन परमकलानुभवेन शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं भावयति तदा स्वसमयः स्वचरितरतो भवति।"[३]

---

१. समयसार, गा. २

२. प्रवचनसार, गा. १०४

३. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १६३

जीव शुद्ध नय से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव है। व्यवहार से निर्मोह शुद्धात्मा की उपलब्धि की प्रतिपक्षभूत अनादि मोह के उदय के वश से मतिज्ञान आदि विभावगुण, नरनारकादि विभाव पर्यायों से परिणत होकर परसमयरत अर्थात् परचरित्र होता है। परन्तु जब निर्मल विवेकज्योति को उत्पन्न करनेवाले परमात्मानुभूति लक्षण परमकला के अनुभव से शुद्धबुद्ध एक स्वभाव आत्मा की भावना करता है, तब स्वसमय स्वचरितरत होता है।

उपर्युक्त विवक्षा से स्वसमय सम्यग्दृष्टि है, परसमय मिथ्यादृष्टि है, ऐसा जाना जाता है, चौथे गुणस्थान से सिद्ध पर्यन्त सभी जीव स्वसमय हैं। शेष मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र परसमय हैं, ऐसा जानना चाहिए।

दूसरी विवक्षा से निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोग में स्थित जीव यदि निश्चय रत्नत्रय से परिणत विवक्षित किये जाते हैं, तब सातवें गुणस्थान से सिद्धपर्यन्त जीव स्वसमय जानने चाहिए। तीसरी विवक्षा से यदि परिपूर्ण वीतरागी निश्चय रत्नत्रय परिणत ग्रहण किये जाते हैं, तब बारहवें गुणस्थान से सिद्ध पर्यन्त जीव स्वसमय जानने चाहिए।

पञ्चास्तिकाय संग्रह में परसमय दो प्रकार का कहा है। १) स्थूल पर समय और १) सूक्ष्म पर समय। इन दोनों की व्याख्या तात्पर्यवृत्ति में निम्नलिखित प्रकार से की है, वह इस प्रकार है :-

"कश्चित्पुरूषो निर्विकार शुद्धात्मभावनालक्षणे परमोपेक्षासंयमे स्थातुमीहते तत्राशक्तः सन् कामक्रोधाद्यशुद्धपरिणामवञ्चनार्थं संसारस्थितिछेदनार्थं वा यदा पञ्चपरमेष्ठिषु गुणस्तवनादिभक्तिं करोति तदा सूक्ष्मपरसमयपरिणतः सन् सरागसम्यग्दृष्टिर्भवतीति यदि पुनः शुद्धात्मभावनासमर्थोऽपि तां त्यक्त्वा शुभोपयोगादेव मोक्षो भवतीत्येकान्तेन मन्यते तदा स्थूलपरसमयपरिणामेनाज्ञानी मिथ्यादृष्टिर्भवति ततः स्थितमज्ञानेन जीवो नश्यतीति।"[१]

कोई पुरूष निर्विकार शुद्धात्मभावना लक्षण परमोपेक्षा संयम में स्थित रहने की इच्छा करता हैं, वहां असमर्थ होकर काम, क्रोध, आदि अशुद्ध परिणाम से बचने के लिए अथवा संसार स्थिति को छेदने के लिए पंच परमेष्ठियों में गुणस्तवन आदि भक्ति करता है, तब सूक्ष्म परसमय परिणत होकर सराग सम्यग्दृष्टि होता है। यदि पुनः शुद्धात्म भावना में समर्थ होकर भी, उसको छोडकर शुभोपयोग से मोक्ष होता है, ऐसा एकान्त से मानता है, तब स्थूल परसमय परिणाम से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि अज्ञान से जीव नष्ट होता है।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १७३

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट जाना जाता है कि मिथ्यादृष्टि स्थूल परसमय है और सराग सम्यग्दृष्टि सूक्ष्म परसमय है। चौथे, पाँचवे, छठे गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी सम्यग्दृष्टि सराग सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं। इस प्रकार पूर्व निबन्ध में सिद्ध किया है।

पञ्चास्तिकाय संग्रह की तात्पर्यवृत्ति में तीसरे अधिकार के प्रारम्भ में भी कहा है :-

"निर्विकल्पपरमसमाधिस्वरूपसामायिकसंयमे स्थातुं समर्थोऽपि तत्त्यक्त्वा यद्येकान्तेन सरागचारित्रानुचरणं मोक्षकारणं मन्यते तदा स्थूलपरसमयो भण्यते यदि पुनस्तत्र स्थातुमीहमानोऽपि सामग्रीवैकल्येनाशुभवञ्चनार्थं शुभोपयोगं करोति तदा सूक्ष्मपरसमयो भण्यत इति ..... ।"[१]

निर्विकल्प परम समाधि स्वरूप सामायिक संयम में स्थिर रहने में समर्थ होने पर भी उसे छोडकर यदि एकान्त से सराग चारित्र के अनुचरण को मोक्ष का कारण मानता है तब स्थूल परसमय कहा जाता है। पुनः यदि स्थिर रहने की इच्छा करता हुआ भी सामग्री की विकलता से अशुभ से बचने के लिए शुभोपयोग करता है, तब सूक्ष्म परसमय कहा जाता है ..... ।

इससे स्पष्ट लक्षित होता है कि सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ अवस्था में अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल अपने स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता इसलिए अशुभ राग से बचने के लिए पंच परमेष्ठी की भक्ति आदि शुभोपयोग करता है, तब स्वस्वरूप से च्युत होने से और परस्वरूप पंच परमेष्ठी आदि में उपयुक्त होने से परसमय कहा गया है। परन्तु मिथ्यादृष्टि के समान श्रद्धा की अपेक्षा से भ्रष्ट नहीं है, इसलिए उससे पृथक्त्व दिखाने के लिए सूक्ष्म परसमय कहा जाता है।

पुनः उसी पञ्चास्तिकाय संग्रह में आगे सूक्ष्म परसमय का दूसरे प्रकार से वर्णन किया है। उसमें अर्हन्त आदि की भक्ति रूप परसमय में प्रवृत्त पुरुष का साक्षात् मोक्ष हेतुपने का अभाव होने पर भी परम्परा से मोक्ष का कारणपना प्रकाशित किया है। मूल कथन से सर्व स्पष्ट होता है, वह इस प्रकार है :-

बहिरङ्गेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेन रागाद्युपाधिरहितस्य ख्यातिपूजालाभनिमित्तानेकमनोरथरूपविकल्पजालज्वालावलिरहितत्वेन निर्विकल्पस्य च चित्तस्य निजशुद्धात्मनि संयमार्थं स्थितिकरणात्संयतोऽपि अनशनाद्यनेकविधबाह्यतपश्चरणबलेन समस्तपरद्रव्येच्छालक्षणेनाभ्यन्तरतपसा च नित्यानन्दैकात्मस्वभावे प्रतपनाद्विजयना-त्तपस्थोऽपि यदा विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावान्निरन्तरं तत्र स्थातुं न शक्नोति तदा किं करोति? क्वापि काले शुद्धात्म-

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, तृतीयाधिकार, पातनिका, पृ.सं. २०२,भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

भावनानुकूलजीवादिपदार्थप्रतिपादकमागमं रोचते। कदाचित्पुनर्यथा कोऽपि रामदेवादिपुरूषो देशान्तरस्थसीतादिस्त्रीसमीपादागतानां पुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा मुक्तिश्रीवशीकरणार्थं निर्दोषिपरमात्मनां तीर्थंकरपरमदेवानां तथैव गणधरदेवभरतसगर-रामपाण्डवादिमहापुरुषाणां चाशुभरागवञ्चनार्थं शुभधर्मानुरागेण चरितपुराणादिकं श्रुणोति भेदाभेदरत्नत्रयभावनारतानामाचार्योपाध्यायादीनां गृहस्थावस्थायां च पुनर्दानपूजादिकं करोति च, तेन कारणेन यद्यप्यनन्तसंसारस्थितिच्छेदं करोति कोप्यचरमदेहस्तद्भवे कर्मक्षयं न करोति तथापि पुण्यास्रवपरिणामसहितत्वात्तद्भवे निर्वाणं न लभते, भवान्तरे पुनर्देवेन्द्रादिपदं लभते। तत्र विमानपरिवारादिविभूतिं तृणवद्गणयन् सन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा समवशरणे वीतरागसर्वज्ञान् पश्यति निर्दोषपरमात्मारा-धकगणधरदेवादीनां च। तदनन्तरं विशेषेण दृढधर्मो भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामा-त्मभावनामपरित्यजन् सन् देवलोके कालं गमयति ततोऽपि जीवितान्ते स्वर्गादागत्य मनुष्यभवे चक्रवर्त्यादिविभूतिं लब्ध्वापि पूर्वभवभावित-शुद्धात्मभावनाबलेन मोहं न करोति ततश्च विषयसुखं परिहृत्य जिनदीक्षां गृहीत्वा निर्विकल्पसमाधिविधानेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्षं गच्छतीति भावार्थः। [१]

बहिरंग इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम के बल से रागादि उपाधि रहित ख्याति पूजा लाभ के लिए अनेक मनोरथ रूप विकल्प समूहों की ज्वालाओं की पंक्ति से रहित होने से निर्विकल्प चित्त का निज शुद्धात्मा में संयम करने के लिए स्थिति करने से संयत होता हुआ भी अनशन आदि अनेक प्रकार के बाह्य तपश्चरण के बल से और समस्त परद्रव्य की इच्छा का निरोध रूप अभ्यंतर तप से नित्य आनन्द एक आत्म स्वभाव में प्रतपन होने से विजयी होने से तपस्थ है, फिर भी जब विशिष्ट संहनन आदि शक्ति का अभाव होने से निरन्तर स्थिर रहना शक्य नहीं है, तब क्या करता है ? किसी काल में शुद्धात्मा की भावना के अनुकूल जीवादि के प्रतिपादक आगम की रुचि करता है। कभी पुनः जैसे कोई रामदेव आदि पुरूष देशान्तर में स्थित सीता आदि के समीप से आये हुए पुरूषों का उसके लिए दान सम्मान आदि करता है, उसी प्रकार मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वश करने के लिए निर्दोषी परमात्मा तीर्थंकर परम देवों का, उसी प्रकार गणधर देव, भरत, सगर, राम, पाण्डवादि का चरित पुराण आदिक अशुभ राग से बचने के लिए शुभ धर्मानुराग से सुनता है और भेदाभेद रत्नत्रय भावना में रत आचार्य उपाध्याय

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १७८

आदिकों का गृहस्थ अवस्था में दानपूजादि करता है, उस कारण से यद्यपि अनन्त संसार की स्थिति का छेद करता है। कोई अचरम शरीरी उस भव में कर्म क्षय नहीं करता तथापि पुण्यास्रव परिणाम से सहित होने से उस भव में निर्वाण प्राप्त नहीं करता, दूसरे भव में देवेन्द्र आदि पद प्राप्त करता है।

वहाँ विमान परिवार आदि विभूति को तृण के समान गिनता हुआ पाँच महाविदेहों में जाकर समवशरण में वीतराग सर्वज्ञों को और निर्दोष परमात्मा के आराधक गणधर देव आदिकों को देखता है। उसके अनन्तर विशेष रूप से दृढ धर्मा होकर चौथे गुणस्थान के योग्य आत्म भावना को न छोडता हुआ देव लोक में काल बिताता है। उसके बाद जीवन के अन्त में स्वर्ग से आकर मनुष्य भव में चक्रवर्ती आदि विभूति को प्राप्त करके पूर्व भव में भावित शुद्धात्म भावना के बल से मोह नहीं करता। उसके पश्चात् विषय सुख का त्याग करके, जिन दीक्षा ग्रहण करके निर्विकल्प समाधि के विधान से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव निज शुद्धात्मा में स्थित होकर मोक्ष जाता है, ऐसा भावार्थ है।

उपर्युक्त गद्यांश में चतुर्थ गुणस्थानवर्तियों के सूक्ष्म परसमय का विवेचन है। यह तथ्य कतिपय प्रमाणों से निश्चित होता है। वह इस प्रकार है।

१. उपरोक्त गद्यांश में विवक्षित जीव का "निज शुद्धात्मा में संयम के लिए स्थिति करने से संयत होने पर भी नित्यानंद एक आत्म स्वभाव में प्रतपन अर्थात् विजयी होने से तपस्थ होने पर भी ऐसा विशेषण कहा है।" इससे जाना जाता है कि यह सम्यग्दृष्टि ही है, मिथ्यादृष्टि नहीं, क्योंकि इस प्रकार का निश्चय संयम और तप चतुर्थादि गुणस्थानों में ही संभव है, प्रथम गुणस्थान में नहीं।

२. जब विशिष्ट संहनन आदि शक्ति का अभाव होने से निश्चय तप और संयम में स्थिर रहना संभव नहीं है, तब आगम का अभ्यास आदि शुभ धर्मानुरागों से प्रवृत्त होता है। यहाँ पर मिथ्यादृष्टि होता है, ऐसा उल्लेख नहीं है।

कुछ लोग "विशिष्ट संहनन आदि शक्ति का अभाव होने से निरन्तर वहाँ स्थिर रहना शक्य नहीं है तब इस वाक्य का श्रद्धा अपेक्षा सम्यक्त्व सहित वहाँ स्थित न रहता हुआ मिथ्यात्व में आगमन होने से", ऐसा अर्थ करते हैं, वह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।[१]

---

१. मुनि वीरसागरजी सूक्ष्म परसमय (निबन्ध), पृ.सं. ५

जिस कारण से श्रद्धा अपेक्षा से सम्यक्त्व सहित वहाँ नहीं रहता ऐसा उल्लेख उपर्युक्त गद्यांश में नहीं है। भावार्थ से भी वैसा सिद्ध नहीं होता जब शुद्धोपयोग में स्थित नहीं रह सकता तब शुभोपयोग में प्रवृत्त होता है। यही तात्पर्य अर्थ स्पष्ट जाना जाता है। शुभोपयोग में स्थित होने से उस भव में सम्पूर्ण निर्जरा करके मोक्ष नहीं जाता, इसलिए उसके निर्वाण दूर तक कहा है।

३. वही जीव स्वर्ग जाने पर भी वहाँ चतुर्थ गुणस्थान योग्य आत्म भावना को नहीं छोडता, इसलिए निश्चय होता है कि उपर्युक्त विवेचन सम्यग्दृष्टि के विषय में ही है। वही सूक्ष्म परसमय यहाँ विवक्षित है।

निष्कर्ष :-

१. जैन दर्शन में जीवादि सम्पूर्ण तत्त्वों का द्रव्यगुण पर्याय के द्वारा वस्तु स्वरूप से समीक्षण किया है। वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। वहाँ द्रव्य शब्द से सामान्य अंश तथा गुण और पर्याय के द्वारा विशेष अंश ग्रहण किया जाता है। द्रव्य त्रिकाली ध्रुवरूप अंश है। गुण भी नित्य स्वभावी और स्थायी हैं। उन द्रव्य और गुणों की अवस्था विशेष पर्याय है। इसलिए पर्याय अनित्य, क्रमवर्ती और अस्थाई हैं। इन द्रव्य गुण पर्यायों के ऊपर सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था व्यवस्थित है। द्रव्य गुण, पर्याय का संज्ञा, प्रयोजन, लक्षण आदि से भिन्नत्व होने पर भी वस्तु रूप से भिन्नत्व नहीं है।

२. जीवादि सात तत्त्व मोक्ष मार्ग में प्रयोजनभूत हैं। जीव और अजीव मूल तत्त्व है। उन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए संसार के कारणभूत आस्रव और बन्ध दुःख का कारण होने से हेयभूत हैं। मोक्ष सुख रूप है। उसका कारण संवर, निर्जरा सुख का कारण होने से उपादेय है। मोक्ष के लिये इतना ही जानना है।

३. जैन दर्शन में कारण कार्य विषयक मौलिक चिन्तन किया है। कार्य की उत्पत्ति में बहुत कारण होते हैं। उनमें जो वस्तु स्वयं कार्यरूप से परिणमती है, वह उपादान कारण है, वही कार्य का नियामक है। उससे इतर कारण निमित्त रूप से कार्य में सहायक होते हैं।

४. अनेकान्त, जैन दर्शन का जीवन है। स्याद्वाद सम्पूर्ण वस्तु तत्त्व का साधक एक अस्खलित अर्हन्त सर्वज्ञ का शासन है। वस्तु सत्, असत्, नित्य, अनित्य, एकत्व, अनेकत्व आदि परस्पर विरोधी अनेक धर्म युगलों का निवास स्थान है। स्याद्वाद उस अनेकान्तात्मक वस्तु का कथञ्चित् अपेक्षा से कथन करता है। सप्तभंगी उसकी प्रतिपादन शैली है। अनेक धर्मात्मक वस्तु का अभेद रूप से परिज्ञान प्रमाण से होता है। उसके एक एक धर्म का आश्रय

करके अंश के द्वारा वस्तु का परिज्ञान नय के द्वारा किया जाता है। इसलिए प्रमाण और नय वस्तु को जानने के कारण हैं। एकान्तवादरूपी विष को दूर करने के लिए अनेकांत संजीवनी हित के इच्छा करनेवालों के द्वारा आश्रय करने योग्य है।

५. जयसेन आचार्य की वृत्तियाँ सिद्धान्तों का दर्पण है। स्वरूपनिष्ठ कृतकृत्य निर्दोष, सर्वज्ञ केवलि के घातिकर्म का अभाव होने से कवलाहार का प्रयोजन नहीं है। प्रमाद की बहुलता से परिग्रह सहित होने से स्त्रियों के उस भव में मोक्ष नहीं है। जीव का स्वरूप शुद्ध होने पर भी कर्म के संयोग से अशुद्ध होता है। अनादि संसार में जीव कर्म परवश प्रवृत्त होता है, इत्यादि सिद्धान्तों का विवेचन जयसेन आचार्य की वृत्तियों में विद्यमान है।

६. अध्यात्म जीवन का सार है। आध्यात्मिक जीवन ही साधु जीवन है। शरीर आदि पर द्रव्यों से विभक्त आत्मा शुद्ध कहा जाता है। अनादि अनन्त, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक स्वभाव, अमूर्तिक, चैतन्य लक्षण शुद्धात्मा का स्वरूप है। सब इन्द्रियों को संयमित करके, मन को अपने वश करके, स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्धात्मा प्राप्त होता है। स्वसंवेदन की प्राप्ति के लिए शास्त्राभ्यास प्राथमिक उपाय है। शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए ध्यान शरणभूत है। ध्यान से पुरूषों के सम्पूर्ण अर्थ की सिद्धि होती है। इस काल में भी धर्म ध्यान हो सकता है। जैन दर्शन का साध्य स्वतन्त्रता है। उसका साधन स्वावलम्बन है।

इस प्रकार जयसेन स्वामी की वृत्तियों में वर्णित दार्शनिक, सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक विचार, व्यक्ति की अन्तरात्मा को प्रकाशित करने के लिए आलोक स्तम्भ हैं। इस अद्वितीय आलोक में आत्मा वीतरागी सर्वज्ञ होकर अनन्त सुखी कृतकृत्य होता है।

****

पाँचवा अध्याय

जयसेन आचार्य विरचित वृत्ति ग्रन्थों की व्याख्यान पद्धति

जयसेन आचार्य की व्याख्यान शैली दृष्टान्तमयी और प्रश्नोत्तरमयी है। उन्होंने केवल तीन प्राभृत ग्रन्थों के ऊपर वृत्तियाँ रची हैं। परन्तु वहाँ पर भी विविध साहित्य शैलियों का विलास दृष्टिगोचर होता है। उनके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक विषय परम्परागत होने पर भी उसका प्रतिपादन करने के लिए प्रयुक्त व्याख्यान शैली उनके द्वारा स्वयं निर्मापित है। स्वानुभव पूर्व चिंतन की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने इस प्रकार की शैली का संकल्प किया, जो सरल, दृष्टान्तमयी और सर्वजन साधारण ग्राह्य हो। यह वृत्तिकार अपनी मर्यादा के द्वारा पाठक समाज से और बौद्धिक क्षमता से परिचित था। इसलिए उन्होंने ऐसी शैली नियुक्त की जो न पूर्णतः शास्त्रीय, न अलंकार युक्त, न क्लिष्ट और न कठिन हो। परन्तु वह इस प्रकार की प्रतिभासित होती है, जैसे कोई सामान्य जन इतर सामान्य जन के साथ भाषण कर रहा हो। आध्यात्मिक विषय के व्याख्यान में इस प्रकार की शैली का दर्शन दुर्लभ है।

जयसेन आचार्य के साहित्य के अनुशीलन से जाना जाता है कि उन्होंने अपनी गद्य रचना में विभिन्न साहित्यिक शैलियों का प्रयोग किया है। ये आध्यात्मिक शैली के अनुसार तत्त्व विवेचन में निष्णात वृत्तिकार हैं। जिन शैलियों का प्रयोग आध्यात्मिक क्षेत्र में और दर्शन क्षेत्र में वस्तु तत्त्व के निरूपण में किया जाता है, उन सब आध्यात्मिक, दार्शनिक शैलियों का अपनी व्याख्यान पद्धति में समावेश किया है। उनमें हेतु पुरस्सर तर्क शैली, नयरूप कथन शैली, पाँच अनुमान अवयव प्रयोग शैली, न्याय शैली, अस्ति-नास्ति रूप कथन शैली इत्यादि प्रमुख हैं। उसके अतिरिक्त उत्थानिका शैली, व्युत्पत्ति शैली, निरुक्ति अर्थ शैली, पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग, दीर्घसमास युक्त पद रचना, लघुकाय वाक्य रचना, प्रश्नोत्तर शैली, दृष्टान्त पूर्वक सिद्धान्त प्रतिपादन शैली इत्यादि पूर्ववर्ती साहित्यकारों के द्वारा प्रयुक्त लौकिक शैलियों का भी बहुलता से प्रयोग किया है।

उसी प्रकार उन्होंने कुछ नई व्याख्यान पद्धति के उपक्रम भी किये हैं। उनमें शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ रूप पंचार्थ कथन शैली में वृत्तिकार सर्जक हैं। यह शैली उन्होंने अपनी बुद्धि की कुशलता से सब लोगों के हित के लिए निर्माण की है। उससे अतिरिक्त

आगम और अध्यात्म में दिखाई देने वाले विरोध को दूर करके समन्वय पूर्वक व्याख्यान का नूतन प्रयोग भी इन्होंने प्रारम्भ किया। इसलिए वे अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में सफल हुए। इससे उनकी व्याख्यान शैली अन्य सब वृत्तिकारों से विलक्षण हुई है। यहाँ पर उनके द्वारा प्रयुक्त शैलियों का उदाहरण सहित दिग्दर्शन किया जाता है, वह इस प्रकार है :-

प्रत्येक पद व्याख्या :-

आचार्य जयसेन की व्याख्या पद्धति पदखण्डनान्वयी है। उन्होंने स्वयं तीनों भी तात्पर्य वृत्तियों के प्रारम्भ में ही यह सूचित किया है।

"णमो जिणाणं इत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते।[1]

पणमामीत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। [2]

वंदित्तु इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते।[3]"

वृत्तियों के बीच में भी बहुत स्थानों में पद खण्डना रूप से व्याख्यान का उल्लेख दृष्टिपथ में आता है। गाथा के एक एक पद को ग्रहण करके उसका अर्थ कहना, पद खण्डना कहा जाता है। पद खण्डनात्मक व्याख्यान से गाथा के प्रत्येक पद का अर्थ स्पष्ट जाना जाता है। पद खण्डनात्मक व्याख्यान का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

१) "णमो जिणाणं। नमः नमस्कारोऽस्तु। केभ्यः ? जिनेभ्यः। कथम्भूतेभ्यः ? इंदसदवंदियाणं = इन्द्रशतवन्दितेभ्यः। पुनरपि किं विशिष्टेभ्यः ? अंतातीदगुणाणं अन्तातीत गुणेभ्य:। पुनरपि। जिदभवाणं जितभवेभ्यः इति क्रियाकारक सम्बन्धः।"[4]

नमस्कार हो। किनको ? जिनों को। किस प्रकार के जिनों को ? सौ इन्द्रों से वंदित जिनों को। पुनः किस प्रकार के ? जिनके अनन्त गुण हैं, उनको। पुनः जितभवों को। इस प्रकार क्रियाकारक सम्बन्ध है।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. १

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १

४. इंदसदवंदियाणं तिहुवणहिदमधुरविसदवक्काणं।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिद भवाणं॥ १॥ पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गाथा १

२) *"पणमिय प्रणम्य । स कः ? कर्ता । एसो एषोऽहं । केन ? सिरसा उत्तमांगेन । कम् ? समयं शब्दसमयम् । इणं इमं प्रत्यक्षीभूतम् । किंविशिष्टम् ? समणमुहुग्गदं सर्वज्ञवीतरागमहाश्रमणमुखोद्गतम् । पुनरपि किं विशिष्टम् ? अट्ठं जीवादि पदार्थम् । पुनरपि किं रूपम् चदुग्गदिणिवारणं नरकादिचतुर्गतिनिवारणम् । पुनश्च कथम्भूतम् ? सणिव्वाणं सनिर्वाणं सकलकर्मविमोचनलक्षणनिर्वाणम् । इत्थम्भूतं शब्दसमयं कथम्भूतम् ? ..... इत्यादि गुणविशिष्टवचनात्मकं नत्वा किं करोमि ? वोच्छामि वक्ष्यामि । कम् ? अर्थसमयम् । सुणह शृणुत यूयं हे भव्या । इति क्रियाकारक सम्बन्धः ।"*[१]

प्रणाम करके । वह कौन ? कर्ता । यह मैं । किससे ? उत्तम अंग से । किसको ? शब्द समय को । इस प्रत्यक्षीभूत को । किस प्रकार के ? सर्वज्ञ वीतराग महाश्रमण के मुख से निकले हुए । पुनः किस प्रकार से ? जीवादि पदार्थ का । पुनः किस रूप ? नारकादि चार गति के निवारण रूप । पुनः किस प्रकार का ? सम्पूर्ण कर्म से विमुक्त होना जिसका लक्षण है, ऐसे निर्वाण रूप । इस प्रकार का शब्द समय कैसा है ? इत्यादि गुण विशिष्ट वचनात्मक शब्द समय को नमस्कार करके मैं क्या करता हूँ ? कहता हूँ । क्या ? अर्थ समय को । हे भव्य जीव ! तुम सुनो । ऐसा क्रियाकारक सम्बन्ध है ।

उत्थानिका शैली :-

जयसेन आचार्य ने गाथा के पूर्व पातनिका लिखी है । उत्थानिका को ही पातनिका कहते हैं । उन्होंने स्वयं कहा है - "समयसारप्राभृतग्रन्थेऽधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिकासहितं व्याख्यानं क्रियते ।"[२]

समयसार प्राभृत ग्रन्थ में अधिकार शुद्धिपूर्वक पातनिका सहित व्याख्यान किया जाता है । पातनिका का लक्षण भी बहुत बार लिखा है, वह इस प्रकार है :-

"अथ देहमात्रविषये दृष्टान्तं कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति । एवमग्रेऽपि विवक्षितसूत्रार्थं मनसि संप्रधार्याथवा सूत्रस्याग्रे सूत्रमिदमुचितं भवत्येवं निश्चित्य सूत्रमिदं निरूपयतीति पातनिकालक्षणं यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।"[३]

---

१. समणमुहुग्गमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं । एसो पणमिय सिरसा समयमिणं सुणह वोच्छामि ॥२॥ पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २

२. समयसारतात्पर्यवृत्ति, प्रारम्भिक समुदायपातनिका, पृ.सं. १

३. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ३३, उत्थानिका

अब देह मात्र विषय में दृष्टान्त कहता हूँ। ऐसा अभिप्राय मन में धारण करके यह सूत्र कहता हूँ। इसी प्रकार आगे भी विवक्षित सूत्र के अर्थ को मन में धारण करके अथवा इस सूत्र के आगे यह सूत्र उचित है, ऐसा निश्चय करके इस सूत्र का निरूपण करता हूँ। ऐसा पातनिका का लक्षण यथासंभव सर्वत्र जानना चाहिए।

इससे गाथा का अभिप्राय पातनिका में संक्षेप से कहा जाता है, ऐसा जाना जाता है। जयसेन आचार्य ने पातनिकाओं का प्रयोग प्रायः तीन प्रकार से किया है। १) समुदाय पातनिका २) सामान्य पातनिका ३) प्रश्नोत्तरी पातनिका।

१. समुदाय पातनिका :-

अनेक गाथाओं की एक पातनिका ही "समुदाय पातनिका" कही जाती है। तात्पर्यवृत्ति में प्रथमतः मूल ग्रन्थ, महाधिकारों में विभक्त है। महाधिकार अधिकारों में, अधिकार अन्तराधिकारों में, अन्तराधिकार अवांतर अधिकारों अथवा विशेष अधिकारों में अथवा स्थलो में विभक्त हैं। प्रत्येक ग्रन्थ में महाधिकार, अधिकार और अन्तराधिकार के प्रारम्भ में समुदाय पातनिका लिखी है। प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में महाधिकारों की संख्या, तद्गत गाथा संख्या और उनके नाम का निर्देश किया है।

अधिकार और अन्तराधिकार के प्रारम्भ में पातनिका में जयसेन आचार्य ने लिखा है कि इस अधिकार में १) कितनी गाथा २) कितने अन्तराधिकार अथवा स्थल ३) प्रत्येक स्थल अथवा अन्तराधिकार किस गाथा से प्रारम्भ हुआ है। ४) प्रत्येक अन्तराधिकार में कितनी गाथा हैं। ५) प्रत्येक अन्तराधिकार में अथवा स्थल में किस विषय का वर्णन है। वह इस प्रकार है :-

"अथ प्रवचनसारव्याख्यायां ..... प्रथमतः एकोत्तरशतगाथाभिर्ज्ञानाधिकारः तदनन्तरं त्रयोदशाधिक शतगाथाभिर्दर्शनाधिकारः ततश्च सप्तनवतिगाथाभिश्चारित्राधिकारश्चेति समुदायेनैकादशाधिकत्रिशतप्रमितसूत्रैः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपेण महाधिकारत्रयं भवति।"[१]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, प्रारम्भिक समुदाय पातनिका, पृ.सं. १

अब प्रवचनसार की व्याख्या में ..... प्रथमतः एक सौ एक गाथाओं के द्वारा ज्ञानाधिकार, उसके अनन्तर एक सौ तेरह गाथाओं के द्वारा दर्शन अधिकार, उसके बाद सत्तानवें गाथाओं के द्वारा चारित्र अधिकार इस प्रकार समुदायरूप से तीन सौ ग्यारह गाथा सूत्रों के द्वारा सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप से तीन महाधिकार हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक अधिकार, अन्तराधिकार और स्थल के प्रारम्भ में तद्गत विषय वस्तु प्रतिपादन करने के लिए पातनिका का प्रयोग किया है। पातनिका में मुख्यतः गाथा संख्याओं का और संक्षेप से वर्णनीय विषयों का विवरण है।

"अथ सुखप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारेऽष्टादशगाथा भवन्ति। अत्र पञ्चस्थालानि तेषु प्रथमस्थले 'अत्थि अमुत्तं इत्याद्यधिकारगाथासूत्रमेकं, तदनन्तरमतीन्द्रियज्ञानमुख्यतेन' 'जं पेच्छदो' इत्यादि सूत्रमेकं, अथेन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन 'जीवो स्वयं अमुत्तो' इत्यादि गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरमतीन्द्रियसुखमुख्यतया 'जादं सयं' इत्यादि गाथाचतुष्टयं .....।"[1]

अब सुख प्रपंच नामक अन्तराधिकार में अठारह गाथाएँ हैं। यहाँ पांच स्थल हैं। उनमें प्रथम स्थल में 'अत्थि अमुत्तं' इत्यादि एक अधिकार गाथा सूत्र है। उसके अनन्तर अतीन्द्रिय ज्ञान की मुख्यता से 'जं पेच्छदो' इत्यादि एक सूत्र है। उसके बाद इन्द्रियज्ञान की मुख्यता से 'जीवो स्वयं अमुत्तो' इत्यादि चार गाथाएँ हैं। उसके पश्चात् अतीन्द्रिय सुख की मुख्यता से 'जादंसयं' इत्यादि चार गाथाएँ हैं .....।

समुदाय पातनिका के द्वारा सम्पूर्ण अधिकार की विषयवस्तु दृष्टि के सामने उपस्थित होती है। अधिकार और अन्तराधिकार समाप्ति में भी पुनः संक्षेप से अधिकारगत गाथाओं का विषय विवरण किया है। उसमें पाठकों को वर्णीय विषय पुनः स्मृतिपथ में आता जाता है, विस्मृत नहीं होता। जयसेन आचार्य ने हम जैसे विस्मरणशीलों के ऊपर यह उपकार ही किया है।

२. सामान्य पातनिका -

गाथा के पूर्व उसके अभिप्राय का निरूपण करने के लिए सामान्य पातनिका का प्रयोग किया है, वह इस प्रकार है :-

"अथैकत्वपरिणतं शुद्धात्मस्वरूपं सुलभं न भवतीत्याख्याति।"[२]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ५५ पूर्व समुदायपातनिका

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ४

अब एकत्व परिणत शुद्धात्म स्वरूप सुलभ नहीं है, ऐसा कहते हैं :-

इस पातनिका से गाथा का प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट रूप से जाना जाता है।

३. प्रश्नोत्तरी पातनिका -

इस पातनिका में अग्रिम गाथागत विषय के अनुसार प्रश्न उत्पन्न करके परिहार रूप से गाथा का अवतार होता है, ऐसा कहा है। वह इस प्रकार है :-

"अथास्यात्मनो निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणशुद्धोपयोगप्रभावात्सर्वज्ञत्वे सतीन्द्रियैर्बिना कथं ज्ञानानन्दाविति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति।"[१]

अब इस आत्मा के निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण शुद्धोपयोग के प्रभाव से सर्वज्ञत्व होनेपर इन्द्रियों के बिना ज्ञान और आनन्द कैसे होता है, ऐसा पूछने पर प्रत्युत्तर देते हैं।

प्रश्नोत्तर रूप पातनिका का उल्लेख स्वयं जयसेन आचार्य ने भी किया है, वह इस प्रकार है :-

"अथात्र कः किं चेतयतीति निरूपयति इति। निरूपयति इति कोऽर्थ ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति एवं प्रश्नोत्तररूप पातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेति शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः।"[२]

अब यहां कौन किसका अनुभवन करता है ? ऐसा निरूपण करते हैं। 'निरूपयति' इसका क्या अर्थ है, ऐसा पूछने पर प्रत्युत्तर देते हैं। इस प्रकार प्रश्नोत्तर रूप पातनिका के प्रसंग में सर्वत्र 'इति' शब्द का अर्थ जानना चाहिए।

कितनी ही पातनिकाओं में पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष रूप से प्रतिपादन है। कितनी ही पातनिकाओं में भावार्थ रूप से वर्णन है। किन्हीं में शंका समाधान रूप से निरूपण है। वह इस प्रकार है :-

"अथ जीवाभावो मुक्तिरिति सौगतमतं विशेषेण निराकरोति।"[३]

अब जीव का अभाव मुक्ति है। इस प्रकार सौगतमत का विशेष रूप से निराकरण करते हैं। किसी स्थान में एक से अधिक पातनिकाओं का प्रयोग भी दिखाई देता है, वह इस प्रकार है :-

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ३९

३. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ३७

"अथ शुभाशुभोपयोगद्वयं निश्चयनयेन हेयं ज्ञात्वा शुद्धोपयोगाधिकारं प्रारभमाणः शुद्धात्मभावनामात्मसात् कुर्वाणः सन् जीवस्य प्रोत्साहनां शुद्धोपयोगफलं प्रकाशयति। अथवा द्वितीय पातनिका - यद्यपि शुद्धोपयोगफलमग्रे ज्ञानं सुखं च संक्षेपेण विस्तरेण च कथयति तथाप्यत्रापि पीठिकायां सूचनां करोति। अथवा तृतीय पातनिका - पूर्वं शुद्धोपयोगफलं निर्वाणं भणितमिदानीं पुनर्निर्वाणस्य फलमनन्तसुखं कथयतीति पातनिकात्रयस्यार्थं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति।"[१]

अब शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों निश्चयनय से हेय जानकर शुद्धोपयोग अधिकार का प्रारम्भ करने वाले शुद्धात्म भावना को आत्मसात् करते हुए जीव के प्रोत्साहन रूप शुद्धोपयोग के फल को प्रकाशित करते हैं। अथवा दूसरी पातनिका - यद्यपि शुद्धोपयोग का फल आगे ज्ञान और सुख का संक्षेप से और विस्तार से कथन करते हैं तथापि यहाँ भी पीठिका में सूचना करते हैं। अथवा तीसरी पातनिका :- पहले शुद्धोपयोग का फल निर्वाण कहा है। अब पुनः निर्वाण का फल अनन्त सुख कहते हैं। इस प्रकार तीन पातनिकाओं के अर्थ को मन में धारण करके यह सूत्र कहते हैं।

इस प्रकार प्रवचनसार की पन्द्रहवीं, चौतीसवीं, तिहत्तरवीं, तिरानवेवीं, निन्यानवेवी इत्यादि गाथाओं की, इसी प्रकार पञ्चास्तिकाय और समयसार की अनेक गाथाओं की एक से अधिक पातनिकायें प्राप्त होती हैं।[२]

पंचार्थ निरूपण शैली -

जयसेन आचार्य प्रत्येक गाथा का स्पष्टीकरण शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ रूप से पंचार्थ के द्वारा करना चाहते हैं। कुछ गाथाओं का पंचार्थ रूप से व्याख्यान करके यथासंभव सर्वत्र इस प्रकार के प्रयोग की सूचना भी की है। शब्दार्थ व्याख्यान से शब्दों का अर्थ जानना चाहिए। व्यवहार निश्चय रूप से नयार्थ जानना चाहिए। सांख्य के प्रति मतार्थ जानना चाहिए। आगमार्थ प्रसिद्ध ही है। हेय उपादेय व्याख्यान रूप से भावार्थ भी जानना चाहिए। इस प्रकार शब्द, मत, नय, आगम और भावार्थ व्याख्यान काल में यथासंभव सर्वत्र जानने चाहिए। वह इस प्रकार है :-

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १३

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १२३-१२५

"एवं विशेष्यविशेषणसम्बन्धरूपेण शब्दार्थः कथितः । अनन्तज्ञानादिगुणस्मरण-रूपभावनमस्कारोऽशुद्धनिश्चयेन, नमो जिनेभ्य इति वचनात्मकद्रव्यनमस्कारोऽप्य-सद्भूतव्यवहारनयेन, शुद्धनिश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्या-राधकभाव इति नयार्थोप्युक्तः । त एव नमस्कारार्हा नान्ये चेत्यादिरूपेण मतार्थोऽप्युक्तः । इन्द्रशतवन्दिता इत्यागमार्थः प्रसिद्ध एव । अनन्तज्ञानादिगुणयुक्तशुद्धजीवास्तिकाय एवोपादेयः इति भावार्थः ।

अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थः । अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थ व्याख्यानकाले सर्वत्र योजनीयमिति ।"[१]

इस प्रकार विशेष्य विशेषण सम्बन्ध रूप से शब्दार्थ कहा गया है । अशुद्ध निश्चय से अनन्त ज्ञानादि गुण स्मरण रूप भाव नमस्कार है । असद्भूत व्यवहार नय से 'णमो जिनेभ्यः' इस प्रकार वचनात्मक द्रव्य नमस्कार भी है । शुद्ध निश्चय नय से अपने में ही आराध्य आराधक भाव है । इस प्रकार नयार्थ भी कहा । वे ही नमस्कार करने योग्य हैं, अन्य नहीं, इत्यादि रूप से मतार्थ भी कहा । सौ इन्द्रों से वन्दित हैं, ऐसा आगमार्थ प्रसिद्ध ही है । अनन्त ज्ञानादि गुणयुक्त शुद्ध जीवास्तिकाय ही उपादेय है, ऐसा भावार्थ है । इस प्रकार से शब्द, नय, मत, आगम, भावार्थ कहा । इस प्रकार से शब्द, नय, मत आगम, भावार्थ व्याख्यान काल में सर्वत्र योजना करनी चाहिए ।

१. शब्दार्थ :-

"सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।"[२]

सहज योग्यता और संकेत के वश से शब्दादि वस्तु के जानने के कारण है । शब्द और अर्थ में वाच्य वाचक शक्ति होने से, इस शब्द का यह वाच्यार्थ है, ऐसा जाना जाता है । इसलिए शब्दादिकों से पदार्थों का परिज्ञान होता है ।

जिस प्रकार 'मेरू' ऐसे शब्द का उच्चारण करने से जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित मेरू का ज्ञान हो जाता है, अन्यत्र भी कहा है ।

"स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः ।"[३]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १

२. परीक्षामुख, परिच्छेद ३, सू. १००

३. स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक सं. १४, पृ. १७८, पंक्ति २१

स्वाभाविक सामर्थ्य और संकेत के द्वारा अर्थ बोध में जो कारण है, वह शब्द है। इस परिभाषा से शब्द के दो प्रकार का विशेषपना प्रकट होता है। उसमें प्रथम विशेषता - शब्द में पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति स्वाभाविक रूप से होती है, अन्य के द्वारा नहीं की जाती। अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसंग आता है और दूसरी विशेषता यह है कि शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा जो पदार्थ व्यक्त है, वही उसका अर्थ हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। शब्द तो संकेत से अर्थबोध को उत्पन्न करते हैं, वह व्युत्पत्ति अर्थ से अतिरिक्त भी हो सकता है। जितने रूढि शब्द हैं, उनका भूत भविष्यत् वर्तमान काल के आधीन जो क्रिया है, वह केवल उसकी सिद्धि के लिए है। उनसे जो अर्थ प्रकाशित होता है, वह नहीं ग्रहण किया जाता है।

जयसेन आचार्य की लेखनी में शब्दों के अर्थ की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य है। उससे प्रत्येक गाथा के प्रत्येक शब्द का अर्थ प्रतिपादन किया है। कहाँ पर किस शब्द का क्या अर्थ ग्रहण करना चाहिए, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट कहा है। जिस प्रकार समयसार की पन्द्रहवीं गाथा में आये हुए 'अबद्धस्पृष्ट' शब्द का अर्थ कहते हुए कहा है :-

"अत्र बद्ध शब्देन संश्लेषरूपबन्धो ग्राह्यः, स्पृष्टशब्देन तु संयोगमात्रमिति।"[१]

यहाँ पर 'बद्ध' शब्द से संश्लेष रूप बंध ग्रहण करना चाहिए। 'स्पृष्ट' शब्द से संयोग मात्र ग्रहण करना चाहिए। किसी स्थान पर एक शब्द के अनेक अर्थ कहे हैं। प्रवचनसार की दो सौ सातवीं गाथा में आये हुए साकार और अनाकार शब्द के तीन प्रकार के अर्थ कहे हैं। वह इस प्रकार हैं :-

"अथवा साकारानाकारः। सहकारेण विकल्पेन वर्तते साकारो ज्ञानोपयोगः अनाकारो निर्विकल्पो दर्शनोपयोगस्ताभ्यां युक्तः साकारानाकारः। अथवा साकारः सविकल्पो गृहस्थः अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधनः। अथवा सहाकारेण लिङ्गेन चिह्नेन वर्तते साकारो यतिः, अनाकारश्चिह्नरहितो गृहस्थः।"[२]

आकार अर्थात् विकल्प के साथ जो है वह साकार ज्ञानोपयोग है। अनाकार निर्विकल्प दर्शनोपयोग है। उन दोनों से युक्त साकार आकार है अथवा; साकार अर्थात् सविकल्प गृहस्थ, अनाकार अर्थात् निर्विकार तपोधन। अथवा, आकार अर्थात् लिंग, चिह्न से जो सहित हैं, वह साकार यति। अनाकार अर्थात् चिह्न रहित गृहस्थ।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १७

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०७

इस प्रकार बहुत शब्दों के अनेक प्रकार के अर्थ कहे हैं। कहीं पर व्युत्पत्ति रूप से भी शब्दार्थ व्यक्त किया है। जिस प्रकार 'अपदेश' शब्द का अर्थ प्रतिपादन करते हुए कहा है :-

"अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत्।"[१]

जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाता है, वह अपदेश अर्थात् शब्द अर्थात् द्रव्यश्रुत। मंगल शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ - मल अर्थात् पाप को गलाता है अर्थात् नाश करता है, वह मंगल है। अथवा मंग अर्थात् पुण्य, सुख को जो लाता है, ग्रहण करता है, वह मंगल है।[२] इस प्रकार बहुत शब्दों का व्युत्पत्ति अर्थ कहा है।

२. नयार्थ :-

इस विषय में जयसेन आचार्य का विशेष प्रावीण्य दिखाई देता है। कहाँ पर किस विवक्षा से वर्णन है, वह विवक्षा उन्होंने स्पष्ट कही है। उससे पाठकों के मन में शंका का अवकाश नहीं रहता और गाथा का अभिप्राय सुगमता से ग्रहण किया जाता हैं। नय शब्द का जहाँ उल्लेख प्राप्त नहीं होता, वहाँ भी नय योजना करनी चाहिए। इस प्रकार उन्होंने स्वयं कहा है। वह इस प्रकार है। जिस वाक्य में नय शब्द का उच्चारण नहीं है, वहाँ पर दो नयों का शब्द व्यवहार करना चाहिए। क्रिया कारक में से किसी एक का अध्याहार करने के समान। अथवा स्यात् शब्द के अध्याहार के समान।[३]

जयसेन आचार्य के द्वारा प्रयुक्त नय भेदों का इस शोध निबन्ध के चौथे अध्याय में नय विवेचन के अवसर में प्रतिपादन किया है। वहाँ से जानना चाहिए।

३. मतार्थ :-

सम्पूर्ण विश्व में अनेक प्रकार के मत हैं। जयसेन आचार्य ने स्थान स्थान पर विविध मतों का उल्लेख किया है। उनमें चार्वाक, बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक मतों का प्रचुर रूप से निराकरण प्राप्त होता है। आचार्यों का ग्रन्थ रचना का उद्देश्य परमत का खंडन और स्वमत का मंडन है। कुन्दकुन्द आचार्य विरचित गाथाओं में कौन गाथा किस मत के निराकरण के लिए लिखी है, यह उन्होंने स्पष्ट कहा है। एकान्त मत के निराकरण के लिए और अनेकान्त

---

१. समयार तात्पर्यवृत्ति, गा. १७

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १

३. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १३ उत्थानिका

मत की स्थापना के लिए मतार्थ अवश्य कहना चाहिए । धवला टीका में भी कहा है - "तदभिप्रायकदनार्थं वास्य सूत्रस्यावतारः ।" अर्थात् एकान्तवादियों के मत का निराकरण करने के लिए प्रकृत सूत्र का अवतार हुआ है । [१] वही पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में कहा है :-

"अष्टादशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन एकान्तमतनिराकरणाय तथैवानेकान्त-मतस्थापनाय च सांख्यमतानुसारिशिष्यसम्बोधनार्थं कर्तृत्वं बौद्धमतानुयायिशिष्यं प्रतिबोधनार्थं भोक्तृत्वं सदाशिवमताश्रितशिष्यसन्देहविनाशार्थं कर्मसंयुक्तत्वमिति कर्तृत्व-भोक्तृत्वकर्मसंयुक्तत्वाधिकारत्रयं ज्ञातव्यम् ।"[२]

अठारह गाथाओं से पाँच स्थलों से एकान्तमत का निराकरण करने के लिए और अनेकान्त मत का स्थापन करने के लिए सांख्य मतानुसारी शिष्य को संबोधन करने के लिए कर्तृत्व, बौद्ध मतानुयायी शिष्य को प्रतिबोधन करने के लिए भोक्तृत्व, सदाशिवमत के आश्रित शिष्य का संदेह नष्ट करने के लिए कर्म संयुक्तत्त्व कहा है । इस प्रकार कर्तृत्व, भोक्तृत्व और कर्म संयुक्तत्त्व ये तीन अधिकार जानने चाहिए ।

पञ्चास्तिकाय की सत्ताइसवीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति में जीव के नौ अधिकार दूसरे मत के निराकरण के लिए सविस्तर कहे हैं । उसी प्रकार बहुत स्थलों में मतार्थ कहा है ।

४. आगमार्थ :-

पूर्वापर विरूद्ध आदि दोष रहित सर्वभावों का प्रकाशक आप्तवचन आगम कहा जाता है । अठारह दोष रहित वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशक आप्त कहे जाते हैं ।

आप्त असत्य वचन नहीं बोलते, क्योंकि उनमें असत्य वचन के कारण का अभाव है।[३] राग, द्वेष, मोह से असत्य वाक्य कहा जाता है । जिसमें ये दोष नहीं हैं, उसके असत्य का कारण नहीं है । राजवार्तिक में भी आगम का लक्षण कहा है, वह इस प्रकार है :-

"आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति, न सर्वः । यदि सर्वः स्यात् अविशेषः स्यात् ।"[४]

---

१. धवला पु. १, सू. १, १, ३० पृ.सं. २२९

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. २७

३. पूर्वापरविरूद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहतेः । द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहतिरागमः ॥ आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयं विदुः । व्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् ॥ रागाद्वा दोषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥ धवला पु. ३, पृ. १२

४. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. १, सू. १२

क्षीण दोष प्रत्यक्ष ज्ञानी आप्त के द्वारा कहा गया ही आगम है, सर्व आगम नहीं। यदि सर्व आगम होगा तो उसमें कोई विशेष नहीं रहेगा। वक्ता की प्रामाणिकता से वचन में प्रमाणता होती है। आचार्य परम्परा से आया हुआ उपदेश प्रमाणता को प्राप्त होता है। जिस कारण से आचार्यों ने स्वेच्छा से ग्रन्थ रचना नहीं की है, जो जिनेन्द्र देव ने कहा है, वही कहते हैं।

"जिणेहिं णिद्दिट्ठं", 'सुदकेवली भणिदं', णिच्छयदण्हू ववदिसंति" इत्यादि वचनों से ग्रन्थ रचना का स्वकर्तृत्व का निराकरण किया है। जयसेन आचार्य ने भी जहाँ तहाँ आगमार्थ कहा है, वह इस प्रकार है :-

१) "जीवादिषड्द्रव्याणां समवायो मेलापको लोक" इतिवचनात्।"[१]

२) "उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात्।"[२]

३) "मोहस्स बलेन घाददे जीवं" इतिवचनात्। [३]

४) "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति वचनात्। [४]

५) "आधारे थूलाओ सुहुमेहिं णिरंतरो लोगो।"[५]

इत्यादि आगम प्रमाणों से अपनी रचित तात्पर्यवृत्ति का प्रामाण्यपना प्रसिद्ध किया है।

५. भावार्थ :-

गाथा के व्याख्यान में भावार्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवक्षित श्लोक से क्या ग्रहण करना चाहिए और क्या छोडना चाहिए, इसका ज्ञान आवश्यक है। पाठक भावार्थ ग्रहण करने से ही शास्त्र पठन का फल प्राप्त करता है। शुद्धात्मा का परिज्ञान ही शास्त्र पठन का फल है। ऐसा जयसेन आचार्य ने कहा है। इसलिए उन्होंने प्रत्येक गाथा की वृत्ति की समाप्ति में शुद्धात्मा को उपादेय रूप से कहा है, वह इस प्रकार है :-

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २२

२. वहीं पर, गा. २३

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २१

४. वहीं पर, गा. १०९

५. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ३१-३२

"कर्मोपाधिजनितमिथ्यात्वरागादिरूपसमस्तविभावपरिणामांस्त्यक्त्वा निरूपाधि-केवलज्ञानादिगुणयुक्तशुद्धजीवास्तिकाय एव निश्चयनयेनोपादेयत्वेन भावयितव्य इति भावार्थः।"[1]

कर्म की उपाधि से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व रागादिरूप समस्त विभाव परिणामों का त्याग करके निरुपाधिक केवलज्ञान आदिक शुद्ध जीवास्तिकाय की निश्चय नय से उपादेय रूप से भावना करनी चाहिए, ऐसा भावार्थ है।

प्रवचनसार की एकसौ छियालीसवीं गाथा के भावार्थ के अन्तर्गत अनेक भावार्थ कहे गये हैं। उसमें अंतिम भावार्थ रूप से शुद्धात्मा ही उपादेय कहा है। वह इस प्रकार है :-

"अत्र पञ्चास्तिकायमध्ये जीवास्तिकाय उपादेयस्तत्रापि पञ्चपरमेष्ठि पर्यायावस्था, तस्याप्यर्हत्सिद्धावस्था, तत्रापि सिद्धावस्था । वस्तुतस्तु रागादिसमस्त विकल्पजाल-परिहारकाले सिद्धजीव सदृशा स्वकीयशुद्धात्मावस्थेति भावार्थः।"[2]

यहाँ पञ्चास्तिकाय में जीवास्तिकाय उपादेय है। उसमें भी पंचपरमेष्ठी पर्याय अवस्था उपादेय है। उसमें अर्हन्त सिद्ध अवस्था उपादेय है। उसमें भी सिद्ध अवस्था उपादेय है। वास्तव में रागादि सम्पूर्ण विकल्प जाल के परिहार काल में सिद्ध जीव सदृश स्वकीय शुद्धात्म अवस्था ही उपादेय है। ऐसा भावार्थ है। इस प्रकार जयसेन आचार्य भावार्थ को कहने में कुशल हैं। भावार्थ के पठन से अध्येता गाथा का भाव सरलता से और सुगमता से ग्रहण कर सकता है।

जहाँ विषय स्पष्ट दिखाई देता है वहाँ भावार्थ नहीं लिखा है। भावार्थ के स्थान में उसके पर्यायवाची रूप से भाव, तात्पर्य अर्थ, सूत्रार्थ, सूत्राभिप्राय, अभिप्राय इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। [3]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २७

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १४६

३. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २५, ४०, ८०, ८२

पर्यायवाची शब्दों की प्रयोग शैली :-

जयसेन आचार्य ने एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द प्रयोग किये हैं। उससे शब्द का अत्यन्त स्पष्ट रूप से अर्थ जाना जा सकता है। जिस प्रकार भावमोक्ष के लिए केवलज्ञान की उत्पत्ति, जीवनमुक्त, अर्हन्त पद इत्यादि पर्यायवाची शब्द कहे हैं। [१] इसी प्रकार कुछ शब्दों के पर्यायवाची शब्द कहें हैं, वे इस प्रकार हैं :-

१. संग्रह वाक्य, वार्तिक, समुदाय कथन, तात्पर्य अर्थ कथन, सम्पिण्डित अर्थ कथन। [२]
२. तिर्यक् प्रचय इति, तिर्यक् सामान्य इति, विस्तार सामान्य इति, अक्रम अनेकान्त इति। [३]
३. ऊर्ध्वप्रचय, ऊर्ध्वसामान्य इति, आयत सामान्य इति, क्रम अनेकान्त इति। [४]
४. उत्सर्ग, निश्चय नय, सर्व परित्याग, परम उपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग। [५]
५. अपवाद, व्यवहार नय, एक देश परित्याग, अपहृत संयम, सराग चारित्र, शुभोपयोग। [६] इत्यादि पर्यायवाची।
६. जो शुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन, अनुभवन, अवलोकन, उपलब्धि, संवित्ति, प्रतीति, ख्याति, अनुभूति, उसे ही निश्चय सम्यक्त्व कहा जाता है। [७]
७. स्वभाव, सत्ता, अस्तित्व, तन्मयपना, स्वरूप। [८]

दीर्घ समास युक्त पदों की और दीर्घ वाक्यों की प्रयोग शैली :-

बहुत स्थानों में दीर्घ समास युक्त पदों का प्रयोग किया है। उसी प्रकार कहीं पर दीर्घ वाक्यों का भी प्रयोग किया है। वह इस प्रकार है :-

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १५९ उत्थानिका
२. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १६
३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १५२
४. वहीं पर, गा. १५२
५. वहीं पर, गा. २६४
६. वहीं पर, गा. २६४
७. समयसार तात्पर्यवृत्ति, उत्थानिका गा. १५
८. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा. ५

'सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसञ्जातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवमलभमानः सन् पूर्णमासीदिवसे जलकल्लोलक्षुभितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलैर्यावदस्वस्थरूपेण क्षोभं गच्छत्ययं जीवस्तावत्कालं निजशुद्धात्मानं न प्राप्नोति इति।

स एव वीतरागसर्वज्ञप्रणीतोपदेशात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्यवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखनिवर्तनक्रोधादिकषायव्यावर्तनादिपरम्परादुर्लभान्यपि कथंचित्काकतालीयन्यायेनावाप्य सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिसञ्जातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवलाभे।[1]

अस्ति नास्ति रूप कथन शैली :-

इस शैली में जयसेन आचार्य तथ्य सिद्धि के लिए एक ही अभिप्राय को अस्तिरूप से नास्ति रूप से कहते हैं। उदाहरणार्थ :- पञ्चास्तिकाय संग्रह के मंगलाचरण में जिनों के लिए प्रयुक्त विशेषण अस्तिनास्ति रूप से कहे गये हैं। वह इस प्रकार है :-

"इन्द्रशतैर्वन्दिता इन्द्रशतवन्दितास्तेभ्य इत्यनेन पूजातिशयप्रतिपादनार्थम्। किमुक्तं भवति त एवेन्द्रशतनमस्कारार्हा नान्ये। कस्मात्। तेषां देवासुरादियुद्धदर्शनात्। त्रिभुवनहितमधुरविशदवाक्यास्तेभ्यः इत्यनेन वचनातिशयप्रतिपादनेन तद्वचनमेव प्रमाणं न चैकान्तेनापौरुषेयवचनं न चित्रकथाकल्पितपुराणवचनं चेत्युक्तं भवति। जितो भवः पञ्चप्रकार-संसार आजवञ्जवो यैस्ते जितभवास्तेभ्य इत्यनेन घातिकर्मापायातिशयप्रतिपादनेन कृतकृत्यत्वप्रकटनादन्येषामकृतकृत्यानां ते एव शरणं नान्य इति प्रतिपादितं भवति।[2]

सौ इन्द्रों से वंदित हैं, इससे पूजा अतिशय बताने के लिए, क्या कहा है ? वे ही सौ इन्द्रों के द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं, अन्य नहीं। क्यों ? क्योंकि उनमें देव, असुर आदि में युद्ध दिखायी देता है। तीन लोकों के हित, मधुर और विशद वाक्य जिनके हैं, इस विशेषण के

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, परिशिष्ट पृ. ४१०

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह ता.वृत्ति, गा.सं. १

द्वारा वचन अतिशय बताया है। उनके वचन ही प्रमाण हैं, एकान्त से अपौरूषेय वचन, चित्रकथा, कल्पित पुराण वचन प्रमाण नहीं हैं, यह बताया है। जीत लिया है पाँच प्रकार का संसार जिन्होंने, वे जितभव हैं, इस विशेषण के द्वारा घाति कर्म के नाश से होनेवाला अतिशय प्रतिपादन के द्वारा कृतकृत्यपना प्रगट होने से अन्य कृतकृत्यों को वे ही शरण हैं, अन्य नहीं, ऐसा प्रतिपादित होता है।

उपर्युक्त वाक्यों में प्रथम अस्तिपरक और पश्चात् नास्तिपरक कथन किया है। अस्तिकथन से ये ही जिन प्रमाण हैं और नास्ति कथन से जिन से अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा श्रद्धान दृढ होता है। विधि निषेध रूप वर्णन से तत्त्व का यथार्थ निर्णय होता है। जिस प्रकार एकत्व और अन्यत्व भावना से यथार्थ भेद विज्ञान होता है। इस प्रकार की कथन शैली में भ्रान्ति का अवकाश नहीं होता। इसी कथन शैली से विरोधी भावों में उसी प्रकार हेय और उपादेयों के भेद को स्पष्ट जाना जाता है। मोक्षमार्ग के निरूपण में भी यही शैली प्रयुक्त है। वह इस प्रकार है :-

"सम्यक्त्वज्ञानयुक्तमेव न च सम्यक्त्वज्ञानरहितं, चारित्रमेव न चाचारित्रं, रागद्वेषपरिहीनमेव न च रागद्वेषसहितं, स्वात्मोपलब्धिरूपस्य मोक्षस्यैव भवति न च शुद्धात्मानुभूतिप्रच्छादकबन्धस्य, अनन्तज्ञानादिगुणामौल्यरत्नपूर्णस्य मोक्षनगरस्य मार्ग एव नैवामार्गः शुद्धात्मस्वभावरूपव्यक्तियोग्यतासहितानां भव्यानामेव न च शुद्धात्मरूप-व्यक्तियोग्यतारहितानामभव्यानां लब्धनिर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपबुद्धीनामेव न च मिथ्यात्व-रागादिपरिणतिरूपविषयानन्दस्वसंवेदनकुबुद्धिसहितानां क्षीणकषायशुद्धात्मोपलम्भे सत्येव भवति न च सकषायशुद्धात्मोपलंभे भवतीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामष्टविधनियमोऽत्र द्रष्टव्यः।"[1]

सम्यक्त्व ज्ञान युक्त ही मोक्ष का मार्ग है, सम्यक्त्व ज्ञान रहित नहीं। चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, अचारित्र नहीं। रागद्वेष रहित ही मोक्षमार्ग है, रागद्वेष सहित नहीं। स्वात्मोपलब्धि रूप मोक्ष का ही मार्ग है। शुद्धात्मानुभूति को ढकने वाले बंध का वह मार्ग नहीं है। अनन्तज्ञानादि गुण रूप अमूल्यरत्नों से परिपूर्ण मोक्ष नगर का मार्ग ही है, अमार्ग नहीं। शुद्धात्म स्वभावरूप व्यक्ति की योग्यता से सहित भव्यों को ही होता है, शुद्धात्म स्वरूप व्यक्ति की योग्यता से रहित अभव्यों को नहीं। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान रूप बुद्धि जिनको प्राप्त हुयी है, उनका ही मार्ग है, मिथ्यात्व रागादिरूप विषयानन्द रूप स्वसंवेदन कुबुद्धि से सहित जीवों को नहीं होता। क्षीण

---

१. पञ्चास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति, गा. ११३

कषाय शुद्धात्मा की प्राप्ति होने पर ही होता है, कषाय सहित शुद्धात्मा की प्राप्ति होने पर नहीं होता। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा आठ प्रकार का नियम यहाँ जानना चाहिए।

आगम अध्यात्म में सुमेल शैली :-

जिनागम में दो प्रकार की कथन पद्धति प्राप्त होती है। १) आगम पद्धति, २) अध्यात्म पद्धति। जहाँ सर्व पदार्थों का निरूपण है, वहाँ आगम पद्धति है। जहाँ केवल आत्मा का आश्रय करके प्ररूपण होता है, वहाँ अध्यात्म पद्धति है। [१]

आगम ग्रन्थों में जीव की अशुद्ध अवस्था का, द्रव्यकर्म और भावकर्मों का वर्णन मुख्य रूप से होता है। अध्यात्म ग्रन्थों में शुद्ध आत्मा का वर्णन मुख्य रूप से कहा जाता है। वही परमार्थ वचनिका में कविवर बनारसीदास पंडित ने कहा है, वह इस प्रकार है :-

द्रव्यरूप तो पुद्गल (कर्मों) के परिणाम हैं और भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्ध परिणति रूप परिणाम, उन दोनों परिणामों को आगम रूप स्थापें। द्रव्यरूप तो जीवत्व (सामान्य) परिणाम और भावरूप ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण (विशेष) परिणाम हैं। वे दोनों परिणाम अध्यात्म रूप जानने।[२]

धवल, जयधवल, महाबन्ध, गोम्मटसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में आगम पद्धति है। समयसार, परमात्मप्रकाश आदि ग्रन्थों में मुख्य रूप से अध्यात्म पद्धति प्रयुक्त है। गोम्मटसार आदि सिद्धान्तग्रन्थों में भी जीव का विवेचन है। परन्तु वहाँ गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीव समास के द्वारा संसारी जीव का विवेचन उपलब्ध होता है।

उसको पढकर संसारी जीवों का परिज्ञान होता है। परन्तु शुद्ध जीव का परिज्ञान नहीं होता है। उसके भी प्रत्येक अधिकार के अन्त में सिद्धों का वर्णन किया है, इसलिए उसकी 'सिद्धान्त' ऐसी संज्ञा प्रख्यात है। उससे आत्मा के शुद्ध स्वरूप का किञ्चित् परिज्ञान होता है, परन्तु अल्पबुद्धि स्पष्ट रूप से नहीं जान सकते। परन्तु अध्यात्म ग्रन्थों में शुद्धात्मा का स्पष्ट रूप से विस्तार से विवरण प्राप्त होता है। इससे शुद्धात्म स्वरूप जानना सुलभ है।

आगम और अध्यात्म में दृष्टिभेद होने पर भी प्रयोजन भेद नहीं है। दोनों भी एक ही मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं। आगम सिद्धान्त की अपेक्षा से और अध्यात्म की अपेक्षा से

---

१. सूत्र पाहुड, गा. ६, भावार्थ जयचंदजी छावडा

२. परमार्थ वचनिका पं. बनारसीदास, मोक्ष मार्ग प्रकाशक, पृ.सं. ३५२

मोक्षमार्ग भिन्न भिन्न नहीं है। आगम का वक्तव्य व्यवहार प्रधान है, परन्तु अध्यात्म का वक्तव्य निश्चय प्रधान है। आदिपुराण सदृश प्रथमानुयोग शास्त्र में भी अध्यात्म का अच्छा स्पष्टीकरण किया है। वहाँ बाहुबली मुनीश्वर के ध्यान धारणा के प्रसंग में कहा है कि :-

"निर्द्वन्द्ववृतिरध्यात्मम्" इति निश्चित्य परमयोगीश्वरो योगी मनो निर्जित्य ध्यानाभ्यासे मनश्चक्रे।[1] ऐसा निश्चय करके परम योगीश्वर योगी ने मन को जीतकर के ध्यानाभ्यास में मन लगाया।

यहाँ विकल्परहित चित्तवृत्ति की धारणा करना अध्यात्म है, ऐसी अध्यात्म की परिभाषा कही है। पुन: वहीं पर "बाह्यं अध्यात्मशुद्धये" [२] इस प्रकार कहकर बाह्य तपश्चरण, अन्तरंग शुद्धि का सहकारी कारण रहता है। इस प्रकार सर्वत्र आगम और अध्यात्म की मैत्री दिखाई देती है। व्यवहार भी परमार्थ मात्र का ही प्रतिपादक है। यही जयसेन आचार्य ने दिग्दर्शित किया है। वह इस प्रकार है :-

"आगमसारादर्थपदानामभेदरत्नत्रयप्रतिपादकानामनुकूलं यत्र व्याख्यानं क्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते। वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञान व्रताद्यनुष्ठानभेद-रत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्रं भण्यते। तच्चाभेदरत्नत्रयात्मकस्याध्यात्मा-नुष्ठानस्य बहिरंगसाधनं भवति।" [३]

आगम के सार से अभेद रत्नत्रय के प्रतिपादक अर्थपदोंका अनुकूल व्याख्यान जहाँ किया जाता है, वह अध्यात्म शास्त्र कहा जाता है। वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छह द्रव्यादि का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व्रतादिक अनुष्ठान स्वरूप भेद रत्नत्रय का जहाँ स्वरूप कहा जाता है, उसे आगम शास्त्र कहते हैं। वह अभेद रत्नत्रयात्मक अध्यात्म अनुष्ठान का बहिरंग साधन है।

उपर्युक्त परिभाषा से आगम और अध्यात्म का अर्थ परिस्पष्ट होता है। द्रव्य का अथवा रत्नत्रय का जहां अभेदरूप से व्याख्यान है, वहाँ अध्यात्म पद्धति है, और जहाँ उन दोनों का भेदरूप से व्याख्यान किया जाता है, वहाँ वह व्याख्यान आगम पद्धति से कहा हुआ, कहा जाता है। अध्यात्म शास्त्र में शुद्ध द्रव्य का कथन है, इसलिए वहाँ शुद्ध नय अथवा निश्चयनय का आश्रय किया जाता है। आगम शास्त्र में अशुद्ध द्रव्यका कथन है इसलिए वहाँ व्यवहार नय का

---

१. आदिपुराण भा.२ पर्व ३६, श्लो. सं. १५६, पृ. सं. २१४

२. आदि पुराण भा. २. पर्व ३४ श्लो. सं. २१३, पृ. सं. १६९

३. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्य वृत्ति, गा. सं. १८१

आश्रय किया जाता है। अध्यात्मशास्त्र साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रतिपादक होने से शुद्धोपयोग को ही मोक्षमार्ग स्वीकार करता है। शुभोपयोग को बन्ध मार्ग कहता है। मोक्षमार्ग में शुभोपयोग के लिए किञ्चित् भी स्थान नहीं देता। परन्तु आगमिक दृष्टि मोक्षमार्ग की प्राप्ति के उपाय का चिन्तन करती है, इसलिए वहाँ शुभोपयोग चारित्र का महत्त्व है। अध्यात्म दृष्टि साक्षात् साधन को साधन रूप से स्वीकार करती है, परम्परा साधनों को अंगीकार नहीं करती है। परन्तु आगमिक दृष्टि साक्षात् साधनको साधन रूप से स्वीकार करके भी साक्षात् साधन की प्राप्ति के उपाय को भी परम्परा से मोक्षमार्ग का साधन मानती है। एक दृष्टि शुद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है और दूसरी सिद्धान्त के प्रति प्राप्त होने का मार्ग बताती है। [१]

कुन्दकुन्दआचार्य के द्वारा विरचित समयसार परमागम में अध्यात्म का ही मुख्यता से अधिकार है। उसके ऊपर अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा रचित टीका ग्रन्थ भी मुख्य रूप से अध्यात्ममय ही है। वहाँ भी आगम का गौण रूप से वर्णन है। जयसेन आचार्य ने स्वरचित वृत्तियों में आगम और अध्याय का समन्वय स्थापित किया है। अमृतचन्द्र सदृश समर्थ टीकाकार के द्वारा रचित सशक्त समर्थ टीकाओं के सद्भाव में भी जयसेन आचार्य ने वृत्ति रचना का साहस किसलिए किया ? ऐसा प्रश्न सभी पाठकों के मन में उत्पन्न होता है। उनके द्वारा विरचित वृत्ति ग्रन्थों के सूक्ष्म अवलोकन से यह कह सकते हैं कि आगम और अध्यात्म में सुमेल करने के लिए उन्होंने समर्थ टीकाओं के सद्भाव में भी पुनः वृत्ति रचनाओं का साहस किया है। अमृतचन्द्र आचार्य विरचित टीका अध्यात्म अमृतरस से परिपूरित ओतप्रोत हैं। उनके अध्यात्म रसायन का यथेच्छ आस्वादन करके कुछ अध्यात्म रसिकमत्त होकर एकान्ती हुए। जयसेन आचार्य ने प्रवचनसार की प्रशस्ति में "पिता के भक्ति के विलोप से भीरू ऐसा स्वयं का विशेषण लिखा है। उन्होंने उस श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि जो निरन्तर सर्वज्ञ की पूजा करता है, आचार्य के चरणों की आराधना करता है, उस मैने पिता के भक्ति के विलोप से भयभीत होकर कल्याण के लिए प्राभृत ग्रन्थ की वृत्ति रची हैं। [२] इससे उनके पिता भी आत्मख्याति

---

१. अध्यात्मामृतकलश प्रस्तावना - जगन्मोहनलालजी शास्त्री, पृ.सं. २६, तृतीय संस्करण

२. यः सन्ततं सर्वविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरूः ॥
प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, आचार्य जयसेन प्रशस्ति, श्लो.सं. ५, पृ.सं. ४१२

ग्रन्थ का अध्ययन करके कदाचित भक्ति पूजा दान आदि व्यवहार छोड़कर निश्चय एकान्ती हुए थे। ऐसा अनुमान किया जाता है। इसलिए वे भक्ति का लोप करके स्वच्छन्दी न होवें, इस भय से आचार्य ने आगम और अध्यात्म में सुन्दर सुमेल बिठाकर के सर्व सामान्य जनों के हित के लिए वृत्तियाँ रची हैं, ऐसा प्रतिभासित होता है। तात्कालिक परिस्थिति ही उनको ऐसा करने में प्रेरित हुई। सद्पुरुष सदैव "स्वान्त सुखाय पर जन हिताय" निरत रहते हैं।

आगम और अध्यात्म में वस्तुत: विरोध नहीं है, परन्तु नय विभाग को न जानने वाले अज्ञानी लोगों ने नय विवक्षा न जानकर के विरोध खडा किया है। जयसेन आचार्य ने नय विवक्षा को स्पष्ट करके उन दोनों में विरोध दूर किया है। वह इस प्रकार है :-

"सिद्धान्तादिशास्त्रेषु अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यन्तरे रागादयो बहिरंगे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोऽपि जीवा इत्युक्ताः। अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभागविवक्षया नास्ति विरोध इति।"[१]

सिद्धान्त आदि शास्त्रों में अशुद्ध पर्यायार्थिक नय से अन्तरंग में रागादिक और बहिरंग में शरीर वर्ण की अपेक्षा से वर्णादि भी जीव हैं, ऐसा कहा है। यहाँ पुनः अध्यात्म शास्त्र में शुद्ध निश्चयनय से निषेध किया है। इस प्रकार दोनों जगह भी नय विभाग की विवक्षा से विरोध नहीं है।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट जाना जाता है कि आगम और अध्यात्म में कुछ भी विरोध नहीं है, केवल विवक्षाभेद है। इससे आचार्य का आगम और अध्यात्म में कैसा संतुलन था, यह जाना जाता है।

यद्यपि आचार्य ने अध्यात्म के साथ संधि की है, तथापि उनके मन में अध्यात्म की ही मुख्यता थी। आगम के साथ सुमेल करके उन्होंने अध्यात्म की गरिमा बढाई ही है। उन्होंने अध्यात्म को आगम पद का सारभूत कहा है। वह इस प्रकार है :-

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ५५-६०

"जीवभेदकर्मभेदप्रतिपादकागमाभ्यासाद्भवति, न केवलमागमाभ्यासात्तथैवागमपदसारभूता-च्चिदानन्दैकपरमात्मतत्त्वप्रकाशकादध्यात्माभिधानात्परमागमाच्च पदार्थपरिच्छितिर्भवति।"[1]

जीव भेद कर्म भेद के प्रतिपादक आगम के अभ्यास से पदार्थ का ज्ञान होता है, केवल आगम के अभ्यास से नहीं। आगम पद के सारभूत चिदानन्द एक परमात्म तत्त्व के प्रकाशक अध्यात्म नामक परमागम से पदार्थ का ज्ञान होता है।

"आगमपदसारभूतमध्यात्मशास्त्रं चाजानन् पुरुषो रागादिदोषरहिताव्याबाधसुखादि-गुणस्वरूपनिजात्मद्रव्यस्य भावकर्मशब्दाभिधेयै रागादिनानाविकल्प-जालैर्निश्चयेन कर्मभिः सह भेदं न जानाति, तथैवकर्मा-रिविध्वंसकस्वकीयपरमात्मतत्त्वस्य ज्ञानावरणादिकर्मभिरपि सह पृथक्त्वं न वेत्ति तथा चाशरीरलक्षणशुद्धात्मपदार्थस्य शरीरादिनोकर्मभिः सहान्यत्वं न जानाति।"[2]

आगम पद के सारभूत अध्याम शास्त्र को न जानने वाला पुरुष रागदोष रहित अव्याबाध सुख आदि गुण स्वरूप निज आत्म द्रव्य का भाव कर्म शब्द से वाच्य जो रागादि नाना विकल्प जाल के साथ निश्चय से भेद नहीं जानता, उसी प्रकार कर्मरूपी शत्रु का नाश करने वाले अपने परमात्म तत्त्व का ज्ञानावरण आदि कर्म के साथ भी पृथक्त्व नहीं जानता और अशरीरी शुद्धात्म पदार्थ का शरीर आदि नोकर्म के साथ भी अन्यत्व नहीं जानता।

उपर्युक्त दो गद्यांशों से उनके हृदय में अध्यात्म का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था, स्पष्ट जाना जाता है। अध्यात्म के बिना भेद विज्ञान उत्पन्न नहीं होता। भेद विज्ञान के अभाव में मोक्ष प्राप्ति नहीं होती, ऐसा उनका दृढ विश्वास था। उस कारण से उन्होंने मोक्षार्थी के लिए परमागम अभ्यास की प्रेरणा की है। सम्पूर्ण जिनागम का सारभूत मुख्य केन्द्र बिन्दु शुद्धात्मा ही है। उनके द्वारा प्रणीत तात्पर्यवृत्ति सतत धारा प्रवाह रूप से आत्मा के चारों ओर ही परिक्रमा लगाती है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से वृत्ति का अवलोकन करने से जाना जाता है।

जयसेन आचार्य ने मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों सम्बन्धी निरूपण आगम और अध्यात्म शैली में किया है।

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. २६६

२. वहीं पर, गा.स. २६७ तात्पर्यवृत्ति

१. पंचभाव सम्बन्धी निरूपण :-

तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते । अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादिपर्यायसंज्ञां लभते ।[१]

वह परिणाम आगम भाषा से औपशामिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तीन भाव रूप से कहा जाता है। अध्यात्म भाषा से पुनः शुद्धात्माभिमुख परिणाम शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय संज्ञा को प्राप्त होता है। "

जब जीव शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान अनुचरण पर्याय रूप से परिणमन करता है तब वह परिणाम अध्यात्म भाषा से शुद्धोपयोग कहा जाता है। वही परिणाम आगम भाषा से औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक भाव इस नाम से कहा जाता है। आगम, कर्म की अवस्था का आश्रय करके, वर्णन करता है और अध्यात्म शुद्धात्मा का आश्रय करके वर्णन करता है। दोनों में कथन शैली में अन्तर है, भाव की अपेक्षा अन्तर दिखाई नहीं देता।

अध्यात्म भाषा से कहा गया परिणाम और आगम भाषा से कहा गया परिणाम भिन्न नहीं है। एक ही परिणाम का वर्णन भिन्न रूप से किया है। जब सम्यग्दृष्टि आत्मा शुद्धोपयोगी निर्विकल्प ध्यानी इत्यादि शब्दों से कहा जाता है, तब वहाँ अध्यात्म पद्धति से कथन जानना चाहिए | जब पंच भावों के द्वारा कथन किया जाता है, तब वहाँ आगम पद्धति जाननी चाहिए।

२. सम्यग्दर्शन संबन्धी निरूपण:-

"अध्यात्मभाषया शुद्धात्मभावनां विना आगमभाषया वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबन्धकारणमेव न च मुक्तिकारणम् ।"[२]

अध्यात्म भाषा से शुद्धात्म भावना के बिना, आगम भाषा से वीतराग सम्यक्त्व के बिना व्रत दानादिक पुण्य बंध के कारण ही हैं, मुक्ति के कारण नहीं।

"वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मोपादेयभावनां विना व्रततपश्चरणादिकं पुण्यकारणमेव भवति तद्भावनासहितं पुनर्बहिरंगसाधकत्वेन परम्परया मुक्तिकारणं चेति ।"[३]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा-३४१

२. समयसार पुण्यपापाधिकार, गा.सं. १५३, पूर्व समुदाय पातनिका।

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १६२

वीतराग सम्यक्त्व रूप शुद्धात्मा की उपादेय भावना के बिना व्रत, तपश्चरण आदिक पुण्य के कारण ही हैं। उसकी भावना सहित पुनः बहिरंग साधन होने से परम्परा से मुक्ति के कारण हैं। यहाँ पर वीतराग सम्यक्त्व और शुद्धात्म भावना ये दोनों भी शब्द एकार्थवाचक प्रयुक्त हैं। आगम भाषा से जिस परिणाम की वीतराग सम्यक्त्व संज्ञा है, अध्यात्म भाषा से उसी की शुद्धात्म भावना संज्ञा कही है। वीतराग सम्यक्त्व का पूर्व अध्याय में विस्तार से वर्णन किया है। यहाँ वीतराग शब्द से दर्शनमोहनीय के अविनाभावी राग द्वेष मोह का अभाव ग्रहण करना चाहिए।

अमृतचन्द्र आचार्य ने आत्मख्याति में वीतराग सम्यक्त्व को ही कहा है, वह इस प्रकार है:-

"यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशस्यापि सद्भावोऽस्ति स श्रुतकेवलि-कल्पोऽपि ज्ञानमयस्य भावस्याभावादात्मानं न जानाति । ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः ।"[१]

जिसके रागादि अज्ञानमय भावों का लेश भी सद्भाव है तो वह श्रुतकेवली के समान होने पर भी ज्ञानमय भाव के अभाव से आत्मा को नहीं जानता। इसलिए रागी ज्ञान का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि नहीं है।

दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय चतुर्थ आदि गुणस्थानों में ही होता है। इसलिए चतुर्थ गुणस्थान से ही वीतराग सम्यक्त्व सिद्ध होता है।

शुद्धात्म भावना का स्पष्टीकरण :-

"अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते।"[२]

अध्यात्म भाषा से पुनः द्रव्य शक्ति रूप शुद्ध पारिणामिकभाव के विषय में भावना कही जाती है अर्थात् शुद्ध पारिणामिक भाव में पुनः पुनः उपयोग को जोडना शुद्धात्म भावना कही जाती है। भावना का यही अर्थ यहाँ जानना चाहिए। शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्मानुभूति ही शुद्धात्म भावना के नाम से कही गई है।

शुद्धात्म भावना शुभोपयोग रूप नहीं है, ऐसा जयसेन आचार्य ने शुद्धात्म भावना का जहाँ जहाँ उल्लेख किया है, उसके निरीक्षण करने से सम्यक् जाना जाता है। यथा :-

---

१. समयसार-आत्मख्याति, गा. २०१

२. बृहद् द्रव्य संग्रह, पृ.सं. १६-१७

१. प्रथम उद्धरण – *"शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन स्वकीयशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकार सुखामृत-रसास्वादेन तृप्तो भूत्वा शुभाशुभकर्मणि मा रज्यस्व।"*[१]

शुभाशुभ संकल्प विकल्प रहित होने से अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न निर्विकार सुखामृत रसास्वाद से तृप्त होकर शुभाशुभ कर्म में राग मत कर। यहाँ पर शुद्धात्म भावना शुभाशुभ संकल्प विकल्प रहित कही है। शुद्धात्म भावना का फल निर्विकार सुख कहा है। उससे शुद्धात्म भावना निर्विकल्प शुद्धोपयोग रूप जानी जाती है।

२. द्वितीय उद्धरण – *"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिलक्षणं निजशुद्धात्मभावनारूपं परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवतीति।"*[२]

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में एकाग्र परिणति जिसका लक्षण है, ऐसे निज शुद्धात्म भावना रूप परमार्थ का आश्रय करनेवाले यतियों का कर्म क्षय होता है।

३. तृतीय उद्धरण – *"शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिकसिद्धभक्तियुक्तः .....।"*[३]

शुद्धात्मभावना रूप परमार्थ सिद्ध भक्ति युक्त .....।

४. चतुर्थ उद्धरण – *"यःकर्ता मिथ्यात्वरागादिरूपमुन्मार्गं गच्छन्तं सन्तमात्मानं परमयोगाभ्यासबलेन शिवमार्गे स्वशुद्धात्मभावनारूपे निश्चयमोक्षमार्गे निश्चलं स्थापयति।"*[४]

जो कर्ता मिथ्यात्व रागादिरूप उन्मार्ग पर जाने वाले आत्मा को परम योगाभ्यास के बल से शिव मार्ग में व स्वशुद्धात्मा की भावना रूप निश्चय मोक्षमार्ग में निश्चल स्थापित करता है।

५. पंचम उद्धरण – *"अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोगः इत्यादिपर्यायसंज्ञां लभते। स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिद्भिन्नः। कस्मात् ? भावनारूपत्वात्।"*[५]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १५०
२. वहीं पर, गा. १६४
३. वहीं पर, गा. २४९
४. वहीं पर, गा. २५०
५. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३४१

अध्यात्म भाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय संज्ञा को प्राप्त होता है, और वह पर्याय शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण शुद्धात्म द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है, क्यों ? क्योंकि भावना रूप है।

बृहद् द्रव्यसंग्रह की वृत्ति में भी कहा है :-

६. *"अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्यायनामान्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा शुद्धोपयोगादिकं चेति।"*[१]

अध्यात्म भाषा से पुनः द्रव्य शक्तिरूप शुद्ध पारिणामिक भाव के विषय में भावना कही जाती है। पर्याय नामान्तर से निर्विकल्प समाधि अर्थात् शुद्धोपयोग आदि कहे जाते हैं।

उपर्युक्त अवतारित वृत्ति अंशों से यह जाना जाता है कि शुद्धात्म भावना शुद्धोपयोग से सर्वथा भिन्न नहीं है। शुद्धात्मा को जाननेवाली ज्ञान पर्याय ही शुद्धोपयोग कही जाती है और वह शुद्धोपयोग प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक स्वसंवेदन ज्ञान पर्याय है। शुद्धोपयोग जीव की निर्मल पर्याय है।

वह निर्मलता चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के अभाव से और पंचम गुणस्थान में सात प्रकृतियों के साथ अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क के अभाव से उत्पन्न होती है। यद्यपि शुद्धोपयोग शुद्धात्मा का अवलम्बन करके उत्पन्न होता है, ध्यान काल में शुद्ध ध्येयपना होने से बुद्धिपूर्वक राग द्वेष मोह का अभाव होने से प्रकट होता है, तथापि करणानुयोग शास्त्र में बताया है कि निश्चय चारित्र रूप श्रेणी के सम्मुख शुद्धात्मा में एकाग्र परिणति रूप शुद्धोपयोग यहाँ नहीं ग्रहण करना।

"श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धात्मभावना दृश्यते।"[२] श्रावकों को भी सामायिक आदि काल में शुद्धात्म भावना दिखाई देती है।

"चतुर्थ गुणस्थानयोग्यां शुद्धात्मभावनामपरित्यजन्निरन्तरं धर्मध्यानेन देवलोके कालं गमयित्वा।"[३]

चतुर्थ गुणस्थान के योग्य शुद्धात्म भावना का त्याग न करते हुए निरंतर धर्म ध्यान से देवलोक में काल गँवाकर इत्यादि वाक्यों से जयसेन आचार्य ने चौथे, पाँचवें गुणस्थान में

---

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, द्वितीय अधिकार की समुदाय पातनिका, पृ.सं. ९६

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २८७

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १३८-१३९

शुद्धात्म भावना स्वीकार की है। शुद्धोपयोग रूप आत्मानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन ही उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि चौथे, पाँचवे गुणस्थान में गृहस्थ के शुद्धोपयोग नहीं मानते तो तत्त्वार्थसूत्र में कही गई सम्यग्दृष्टि की असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा किस परिणाम की सामर्थ्य से होती है।

इसलिए जो चतुर्थ आदि गुणस्थानों में शुद्धात्म भावना स्वीकार करते हैं परन्तु वीतराग सम्यक्त्व शुद्धोपयोग को अंगीकार नहीं करते, वे उपर्युक्त उद्धरणों को आँखे खोलकर के सम्यक् देखें। अन्य भी उद्धरण प्राप्त होते हैं, जहाँ शुद्धात्मभावना, शुद्धोपयोग, वीतराग सम्यक्त्व और निश्चय रत्नत्रय ये पर्याय नामांतर रूप से प्रयुक्त किये हैं।

३. ध्यान सम्बन्धी निरूपण :-

"(अध्यात्मभाषया) शुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिसाध्ये आगमभाषया रागादि विकल्परहितशुक्लध्यान साध्ये वा मोक्षाधिकारे ..... ।"[१]

अध्यात्म भाषा से शुद्धात्मानुभूतिलक्षण निर्विकल्प समाधि से साध्य, आगम भाषा से रागादि विकल्प रहित शुक्ल ध्यान से साध्य मोक्ष अधिकार में ..... ।

"परमार्थशब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानस्वरूपं स्वसंवेद्यशुद्धात्मपदं परमसमरसीभावेन अनुभवति न चान्यः ।"[२]

परमार्थ शब्द से वाच्य साक्षात् मोक्ष का कारणभूत शुद्धात्म संवित्तिलक्षण, परमागम की भाषा से वीतराग धर्मध्यान स्वरूप स्वसंवेद्य शुद्धात्म पद को परम समरसी भाव से अनुभव करता है। दूसरा नहीं।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट रूप से जाना जाता है कि अध्यात्म भाषा से जो निर्विकल्प समाधि कही जाती है, वही आगम भाषा से वीतराग धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान कहा जाता है। ज्ञान की एकाग्रता ही ध्यान कहा जाता है। ज्ञान तो स्वरूप से सविकल्प है इसलिए उसका निर्विकल्पपना कैसे घटित होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर जयसेन आचार्य ने ही उसका प्रत्युत्तर कहा है।

"स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतरागसंवेदनज्ञानमपि स्वसंवित्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सती तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते ।"[३]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १५८-१५९ उत्थानिका

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २२९

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३१३

स्व शुद्धात्म संवित्ति रूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान भी स्वसंवित्ति आकार एक विकल्प से सविकल्प होने पर भी और बाह्य विषय सम्बन्धी अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव होने पर भी उसका मुख्यत्व नहीं है। उस कारण से निर्विकल्प भी कहा है।

इसलिए अध्यात्म ग्रन्थ में जहाँ जहाँ स्वसंवेदन ज्ञान ध्यान समाधि का निर्विकल्प विशेषण प्रयुक्त होता है, वहाँ वहाँ निर्विकल्प शब्द का उपर्युक्त अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। सर्वथा विकल्प का अभाव ऐसा अर्थ नहीं। परन्तु बुद्धिपूर्वक स्थूल विकल्पों का अभाव, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। पं. टोडरमलजी ने भी कहा है, "निर्विचार होने का नाम निर्विकल्प नहीं है क्योंकि छद्मस्थ का ज्ञान विचार सहित होता है। उसके अभाव से ज्ञान का अभाव होगा। तब जडपना होगा। आत्मा को जडपना नहीं है, इसलिए विकल्प होता ही है।"[१]

४. चारित्र की अपेक्षा निरूपण :-

व्रत, समिती, गुप्ति आदिकों का पालन व्यवहार चारित्र है। अपने स्वरूप में आचरण निश्चय चारित्र है। वहाँ प्रथम निरूपण परमागम की अपेक्षा से और दूसरा निरूपण अध्यात्म की अपेक्षा से जानना चाहिए। इन दोनों में कार्यकारण और साध्य साधक सम्बन्ध है।

"निजशुद्धात्मसंवित्यनुचरणरूपं परमागमभाषया वीतरागपरमसामायिकसंज्ञं स्वचरितं चरति अनुभवति।"[२]

निज शुद्धात्म संवित्ति और अनुचरण रूप परमागम की भाषा से वीतराग परम सामायिक नाम के स्वचारित्र का आचरण करता है, अनुभव करता है।

"वीतरागपरमात्मोपलम्भपरिणतिरूपः आगमभाषया परमयथाख्यातचारित्ररूपो वा योऽसौ परमो धर्मः स केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादक-त्वात्सफलोऽपि ..... ।"[३]

वीतराग परमात्मा की प्राप्ति और परिणति रूप आगम भाषा से परम यथाख्यात चारित्र रूप जो यह परम धर्म है, वह केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की व्यक्ति रूप कार्य समयसार का उत्पादक होने से सफल है।

---

१. पं. टोडरमल्ल मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ.सं. २१०, सोनगढ प्रकाशन, सन १९७८

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १५८

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १२६

वस्तुतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप में आचरण ही चारित्र है, ऐसी चारित्र की परिभाषा अध्यात्म ग्रन्थ में कही है। वही चारित्र आगम भाषा से वीतराग परम सामायिक नाम से कहा गया है। सर्व प्राणियों में समताभाव, संयम में शुभभावना, आर्त रौद्र ध्यान का त्याग सामायिक कहा जाता है।

"समम् अर्थात् एकत्व रूप से आत्मा में आयः अर्थात् आगमन, पर द्रव्यों से निवृत्त होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति समायः है। यह मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ इस प्रकार आत्मा विषयक उपयोग, ऐसा अर्थ है। क्योंकि एक आत्मा में ही ज्ञेय, ज्ञायकपना संभव है। अथवा सम् अर्थात् राग द्वेष से रहित माध्यस्थ स्वरूप आत्मा में आयः अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति समायः है, वह जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है।"[१]

इससे जाना जाता है कि आगम में भी स्वस्वरूप में आचरण की चारित्र संज्ञा होती है। रागद्वेषों के अभाव रूप परिणाम की ही चारित्र संज्ञा होती है। वहाँ सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात रूप चारित्र पाँच प्रकार का कहा है। आगम में भी केवल व्रत तपश्चरण आदि की चारित्र संज्ञा नहीं कही। व्रतादिकों के सद्भाव में जिस अंश से रागद्वेषों का परिहरण होता है, उसका ही चारित्र नाम है। वह ही स्वामी समंतभद्र आचार्य ने कहा है :-

"रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तना कृता भवति।"

यह अवश्य है कि व्रतादि द्रव्य चारित्र बिना मोक्ष प्राप्ति कदापि संभव नहीं है। द्रव्य चारित्र को अंगीकार करने पर मोक्ष होता है अथवा नहीं, परन्तु मोक्ष प्राप्ति द्रव्य चारित्र के धारण करने पर ही होती है। इस प्रकार द्रव्य चारित्र के बिना भाव चारित्र नहीं है, और भाव चारित्र के बिना मोक्ष सिद्धि नहीं हो सकती।

५. लब्धि सम्बन्धी प्ररूपण :-

लब्धियाँ पाँच हैं। १) क्षयोपशम लब्धि, २) विशुद्धि लब्धि, ३) देशना लब्धि, ४) प्रायोग्य लब्धि, ५) करण लब्धि।

काल, करण, उपदेश, उपशम, प्रायोग्यता के भेद से भी पाँच लब्धियाँ कहीं गई है।[२] उनमें करण नाम आत्म परिणाम का है। करण तीन प्रकार के होते हैं। १) अधःकरण, २) अपूर्वकरण, ३) अनिवृत्तिकरण।

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड – जीवप्रबोधिनी, गा.सं. ३६७

२. नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ४१

पाँच लब्धियों में पहली चार लब्धियाँ भव्य अभव्य दोनों के समान रूप से होती हैं, परन्तु करण लब्धि भव्य के ही होती है। जिसके सम्यग्दर्शन आदि व्यक्ति की योग्यता होती है, वह भव्य है, उससे विपरीत अभव्य है। जब जीव अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय को प्राप्त होता है, तब सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। यह आगम कथन पद्धति है। जब जीव शुद्धात्म तत्त्व को जानकर के निज शुद्धात्म तत्त्व का स्वसंवित्तिरूप से अनुभव करता है तब सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। यह अध्यात्म की कथन पद्धति है। वही कहा है :-

"निश्चयनयेन तदेवागमपदसारभूतयाऽध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मभावनाभिमुखरूपेण सविकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन तथैवागमभाषयाधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञ-दर्शनमोहक्षपणसमर्थपरिणामविशेषबलेन पश्चादात्मनि योजयति।"[१]

निश्चय नय से वही आगम पद के सारभूत अध्यात्म भाषा से निज शुद्धात्म भावना के अभिमुख सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से उसी प्रकार आगम भाषा से अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नामक दर्शन मोह के क्षपण में समर्थ परिणाम विशेष के बल से पश्चात् आत्मा में जोडता हैं।

"यदायं जीवः आगमभाषया कालादिलब्धिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुख-परिणामरूपं स्वसंवेदनं ज्ञानं लभते तदा .....।"[२]

जब यह जीव आगम भाषा से कालादि लब्धिरूप, अध्यात्म भाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणाम रूप स्वसंवेदन ज्ञान को प्राप्त करता है, तब .....।

आगम में सम्यग्दर्शन प्राप्ति के अनन्तर पूर्व करण लब्धिरूप परिणाम की अनिवार्यता कही है। करण लब्धि के बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। परन्तु वह करण रूप परिणाम किस प्रकार का होता है, वह नहीं जाना जाता है। अध्यात्म भाषा से उसका दिग्दर्शन जीवभावरूप से किया है। उसका खुलासा - करण लब्धि रूप परिणाम शुद्धात्माभिमुख सविकल्प स्वसंवेदन पर्याय रूप है। अर्थात् निर्विकल्प शुद्धात्मानुभूति से पहले शुद्ध पारिणामिक भाव विषय में विकल्पात्मक चिन्तन नियम से होता है। उसके बाद जब बुद्धिपूर्वक विकल्प भी नहीं होता, तब निर्विकल्प रूप से शुद्धात्मा का अनुभव होता है, उसी क्षण

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ८६

२. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १५८-१५९

सम्यग्दर्शन का लाभ होता है। इस प्रकार, सम्यक्त्व प्राप्ति के पहले जीव की कैसी परिणति होती है, उसका परिज्ञान होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से जयसेन आचार्य ने अपनी वृत्तियों में सर्वत्र आगम और अध्यात्म में सुयोग्य पद्धति से समन्वय स्थापित किया है, ऐसा दृष्टिगोचर होता है।

दृष्टान्त शैली :-

जयसेन आचार्य की प्रतिपादन शैली मुख्य रूप से दृष्टान्तमयी है। उनके द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्त शैली प्रतिपाद्य विषय को अत्यन्त स्पष्ट रूप से उद्घाटित करती है। दृष्टान्तों से विषय वस्तु अतीव सरल और सहज ग्राह्य होती है। वादीभसिंह सूरि ने भी कहा है कि :-

"दृष्टान्तैर्हि स्फुटा मतिः" इति।[१] दृष्टान्तों से मति अत्यन्त स्पष्ट होती है। दृष्टान्तों से मन में प्रमोद होता है। कुन्दकुन्द आचार्य ने भी अपने रचित गाथा सूत्रों में बहुत दृष्टान्त बताये हैं। जयसेन आचार्य ने अपनी रचित तीन वृत्तियों में दो सौ से अधिक दृष्टान्त कहे हैं। उन्होंने दृष्टान्तों का लक्षण भी लिखा है। वह इस प्रकार है :-

"दृष्टावन्तौ धर्मौ स्वभावौ अग्निधूमयोरिव साध्यसाधकयोर्वादिप्रतिवादिभ्यां कर्तृभूताभ्याम् अविवादेन यत्र वस्तुनि स दृष्टान्त इति। अथवा संक्षेपेन यथेति दृष्टान्तलक्षणं तथेति दार्ष्टान्तलक्षणमिति।"[२]

देखे गये हैं अन्त अर्थात् धर्म, स्वभाव, वादी, प्रतिवादी के द्वारा साध्य साधकभूत अग्निधूम के समान अविवादरूप से जिस वस्तु में दो धर्म देखे गये हैं, वह दृष्टान्त है। अथवा संक्षेप से 'जिस प्रकार' यह दृष्टान्त का लक्षण है 'उसी प्रकार' यह दार्ष्टान्त का लक्षण है।

जिस वस्तु में साध्य साधन रूप धर्म देखे जाते हैं, वह दृष्टान्त कहा जाता है इसलिए कहा है, "व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्त" इति।[३] व्याप्ति का जहाँ संवाद पाया जाता है, वह दृष्टान्त है। "लौकिक और परीक्षकों को जिस अर्थ में बुद्धि साम्य है वह दृष्टान्त है।"[४] दृष्टान्त दार्ष्टान्त को दृढ करने के लिए और सिद्धान्त को विशद करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

जयसेन आचार्य के द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्तों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया गया है –

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. ७
२. पञ्चास्तिकाय संग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. ४१
३. वहीं पर, गा.सं. ५५
४. वहीं पर, गा.सं. ६६

१. वस्तु गुण धर्म मूलक दृष्टान्त :-

वस्तु स्वयं दृष्टान्त मूलक है जिस कारण से वस्तु में अनन्त धर्म पाये जाते हैं। इसलिए जयसेन आचार्य ने वस्तु में उपलब्ध गुण धर्मों को मुख्य रूप से आधार करके दृष्टान्त निरूपित किये हैं, वे इस प्रकार है :-

"यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद्भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः, पचतीति पाचकः, प्रकाशं करोतीति प्रकाशक, इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते तथा जीवोऽपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्यरूपोऽपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं पश्यतीति दर्शनं चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति।"[१]

जिस प्रकार निश्चय नय से अभेद रूप से अग्नि एक ही है, पश्चात् भेद रूप व्यवहार से जलाती है इसलिए दाहक, पकाती है इसलिए पाचक, प्रकाश करती है इसलिए प्रकाशक। इस प्रकार व्युत्पत्ति से, विषय भेद से तीन प्रकार से भेदी जाती है। उसी प्रकार जीव भी निश्चय रूप अभेद नय से शुद्ध चैतन्य रूप होने पर भी भेद रूप नय से जानता है इसलिए ज्ञान, देखता है इसलिए दर्शन, आचरण करता है इसलिए चारित्र। इस प्रकार व्युत्पत्ति से विषय भेद से तीन प्रकार से भेदा जाता है।

यहाँ अग्नि के पाचक, दाहक, प्रकाशक गुणधर्म, जीव के व्यवहार से दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वभाव के भेद का ज्ञान कराने के लिए दृष्टान्त रूप से प्रयुक्त हैं। इस प्रकार वस्तुओं के गुणधर्मों का आश्रय करके बहुत दृष्टान्त कहे हैं।

२. नैसर्गिक दृष्टान्त :-

निसर्ग रूप प्राकृतिक स्थानों में रहनेवाले ऋषि प्रायः प्रकृति के निरीक्षण से उत्पन्न अनुभव के आधार से नैसर्गिक दृष्टान्त ही सहज रूप से बहुलता से देते हैं। जयसेन आचार्य ने भी बहुत दृष्टान्त प्राकृतिक ही प्रयुक्त किये हैं।

"यथैकोप्यादित्यो मेघावरणवशेन बहुधा भिद्यते तथा निश्चयनयेनाखण्डैकप्रतिभास-स्वरूपोऽप्यात्मा व्यवहारनयेन कर्मपटलवेष्टितः सन्मतिज्ञानादिभेदेन बहुधा भिद्यते इति।"[२]

जिस प्रकार एक ही आदित्य मेघ आवरण के वश से अनेक प्रकार से भेदा जाता है, उसी प्रकार निश्चय नय से अखण्ड एक प्रतिभास स्वरूप भी आत्मा व्यवहार नय से कर्म पटल से वेष्टित होकर मतिज्ञान आदि भेद से अनेक प्रकार से भेदा जाता है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ७

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ४१

यदि आचार्य सूक्ष्म रूप से प्रकृति का निरीक्षण नहीं करते तो इस प्रकार के नैसर्गिक दृष्टान्तों को कैसे प्रयुक्त करते। उसी प्रकार जीव के उत्पाद व्यय को नरनारकादि गति नाम कर्म के उदय को कारण बताते हुए समुद्र और कल्लोलों का प्राकृतिक दृष्टान्त प्ररूपित किया है, वह इस प्रकार है :-

"यथा समुद्रस्य समुद्ररूपेणाविनश्वरस्यापि कल्लोला उत्पादव्ययं कुर्वन्ति तथा जीवस्य ..... नित्यस्यापि ..... नरकगत्यादिकर्मप्रकृतय उत्पादव्ययं च कुर्वन्तीति।"[1]

जिस प्रकार समुद्र का समुद्र रूप से अविनश्वरपना होने पर भी कल्लोलें उत्पाद व्यय करती हैं, उसी प्रकार जीव के नित्य होने पर भी नरक गति आदि कर्म प्रकृतियाँ उत्पाद व्यय करती हैं। उसी प्रकार कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल स्वयं ही ज्ञानावरणादि कर्म रूप से परिणमते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्त निरूपण में चन्द्र और सूर्य की प्रभा प्राप्त होने पर अभ्र, संध्याराग, इन्द्रधनुष, परिवेष आदि अनेक प्रकार से दूसरे के द्वारा बिना किये ही स्वयं ही पुद्गल परिणमते हैं। ऐसा दृष्टान्त प्रयुक्त किया है।[2]

इस प्रकार इससे उनका प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टिपना लक्षित होता है। इस प्रकार प्रकृति की गोद में बैठकर अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृष्टान्त संयोजित किये हैं।

३. मानवों की स्वाभाविक दृष्टिपरक दृष्टान्त :-

कितने ही दृष्टान्तों में मानवों की स्वाभाविक वृत्तियों का दिग्दर्शन है। जैसे :-

"कोऽपि ग्राम्यजनः सकर्दमं नीरं पिबति, नागरिकः पुनः विवेकीजनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति तथा स्वसंवेदनरूपभेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणाम-सहितमात्मानमनुभवति सद्दृष्टिजनः पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतक-फलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थः।"[3]

जिस प्रकार कोई ग्रामीण जन कीचड सहित पानी पीता है, पुनः नागरिक विवेकीजन कतकफल डालकर निर्मल पानी पीता है। उसी प्रकार स्वसंवेदन रूप भेद भावना से शून्यजन मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणाम सहित आत्मा का अनुभव करता है। सम्यग्दृष्टि जन पुनः अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के बल से कतक फल स्थानीय निश्चय नय का आश्रय करके शुद्धात्मा का अनुभव करता है, ऐसा अर्थ है।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति,गा. ५५

२. वहीं पर, गा. ६६

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. १३

उपर्युक्त दृष्टान्त में ग्रामवासी और नगरवासियों की स्वाभाविक वृत्तियों का यथार्थ चित्रण दिखाई देता है। ग्रामस्थ लोक बहुशः अविवेकी अज्ञानी होते हैं, इसलिए मलिन जल का सेवन करते हैं, परन्तु नगरवासी विवेकी होते हैं, इसलिए निर्मल जल का सेवन करते हैं।

"उसी प्रकार ज्ञानी विषय सुख को हेय रूप से कैसे अनुभव करता है, इस दार्ष्टान्त के समर्थन में जिस प्रकार कोई चोर यद्यपि मरण की इच्छा नहीं करता तथापि कोतवाल के द्वारा पकडे जाने पर मरण का अनुभव करता है।" ऐसे दृष्टान्त का व्याख्यान किया है। [१]

इस प्रकार इसके द्वारा आचार्यों को मानवों की स्वाभाविक वृत्तियों का कैसा यथार्थ परिज्ञान था, यह जाना जाता है।

४. लोक प्रचलित दृष्टान्त :-

जयसेन आचार्य ने प्रदीप, मिट्टी, घट, कुंभकार, वस्त्र, अग्नि, सुवर्ण, गो रस इत्यादि लोक प्रचलित दृष्टान्तों का भी प्रयोग किया है। प्रसिद्ध दृष्टान्त से सिद्धान्त का मर्म शीघ्र हृदयांगम होता है।

पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं होता, द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती। ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए गोरस का दृष्टान्त प्रयुक्त किया है। वह इस प्रकार है :-

"दधिदुग्धादिपर्यायरहितगोरसवत्पर्यायरहितं द्रव्यं नास्ति। गोरसरहित दधिदुग्धादिपर्यायवत् द्रव्य विमुक्ताः पर्याया न सन्ति।"[२]

दही दूध आदि पर्याय रहित गोरस के समान पर्याय रहित द्रव्य नहीं है। गोरस रहित दही दूध आदि पर्याय के समान द्रव्य रहित पर्याय नहीं है। इस प्रकार बहुलोक प्रचलित दृष्टान्तों से तात्पर्यवृत्ति भरी है।

५. लोक जीवन के अनुभव मूलक दृष्टान्त :-

यद्यपि आचार्य वनवासी थे तथापि उनके दीक्षा ग्रहण से पहले गृहस्थ अवस्था में लौकिक जीवन का अनुभव था। उसका उपयोग उन्होंने पारमार्थिक जीवन के लिए किया। वह इस प्रकार है :-

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. २०४

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.सं. २४

"यथैव मनोजस्पर्शनेन्द्रियविषयैकदेशस्पर्शे कृते सति रसनेन्द्रियविषये च सर्वांगेन सुखानुभवो भवति, यथैव चैकदेशे सर्पदष्टे व्रणादिके वा सर्वांगेन दुःखवेदना भवति तथा लोकमध्ये स्थितेऽपि कालद्रव्ये सर्वत्रालोकाकाशे परिणतिर्भवति।"[१]

१. जिस प्रकार मनोज स्पर्शन इन्द्रिय के विषय को एक देश स्पर्श करने पर और रसनेन्द्रिय के विषय का स्वाद लेने पर सर्वांग से सुख का अनुभव होता है और जिस प्रकार एक जगह सर्प के डसने पर या घाव होने पर सर्वांग से दुःख वेदना होती है, उसी प्रकार काल द्रव्य लोक के मध्य में स्थित होने पर भी सर्वत्र अलोकाकाश में परिणति होती है।

"यथा कश्चिद्देवदतः स्वकीयदेशान्तरस्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरूषाणां सन्मानं करोति वार्ता पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्तं तेषां स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति। तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्माराधकप्रतिपादकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणं दानादिकं च स्वयं शुद्धात्माराधनारहितः सन् करोति।"[२]

२. जिस प्रकार कोई देवदत्त देशान्तर में स्थित अपनी स्त्री के निमित्त उसके पास से आये हुए पुरूषों का सम्मान करता है, वार्ता पूछता है, उस स्त्री के निमित्त उनका स्वीकार और स्नेहदान आदि करता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी शुद्धात्म स्वरूप की उपलब्धि के निमित्त शुद्धात्मा के आराधक प्रतिपादक आचार्य उपाध्याय साधुओं के गुणों का स्मरण और दानादिक स्वयं शुद्धात्म आराधना रहित होता हुआ करता है।

"यथा वर्षासु लवणमुदकीभवति ग्रीष्मकाले जलं लवणीभवति। तथा यदि चैतन्यं विहाय जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमती पुद्गलद्रव्यं च मूर्तत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्वं च भवति तदा भवदीयवचनं सत्यं भवति।"[३]

३. जिस प्रकार वर्षाकाल में नमक पानी रूप होता है और ग्रीष्म काल में पानी नमक होता है, उसी प्रकार यदि चैतन्य को छोडकर जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य स्वरूप परिणमता है और पुद्गल द्रव्य मूर्तत्व और अचेतनत्व को छोडकर चिद्रूप और अमूर्तत्व होता है, तब आपके वचन सत्य हैं। इन दृष्टान्तों से जयसेन आचार्य का विशाल व्यवहारिक ज्ञान प्रस्फुटित होता है।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २४

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ७९

३. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २८-३०

६. अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्त :-

न्याय शास्त्र में दृष्टान्त के दो भेद कहे हैं । १) अन्वय दृष्टान्त और २) व्यतिरेक दृष्टान्त। साध्य से व्याप्त साधन जहाँ दिखाया जाता है वह अन्वय दृष्टान्त है। साध्य के अभाव में साधन का अभाव जहाँ कहा जाता है, वह व्यतिरेक दृष्टान्त है। सिद्धान्त का विवरण करने के लिए जयसेन आचार्य ने दोनों प्रकार के दृष्टान्तों का प्रयोग किया है । जिस प्रकार धर्मास्तिकाय के स्वरूप के प्रतिपादन में अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्तों का प्रयोग देखने योग्य है।

"निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपरिणतजीवप्रदेशेषु परमानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादसमरसी-भाववत् सिद्धक्षेत्रे सिद्धराशिवत् पूर्णघटे जलवत् तिलेषु तैलवद्वा स्पृष्टः परस्परप्रदेशव्यव-धानरहितत्वेन निरन्तरो न च निर्जनप्रदेशे भावितात्ममुनिसमूहवन्नगरे जनचयवद्वा सान्तरः।"[१]

निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से परिणत जीव के प्रदेशों में परमानन्दैक लक्षण सुख रसास्वाद समरसी भाव के समान, सिद्ध क्षेत्र में सिद्ध राशि के समान, पूर्ण घट में जल के समान, तिलों में तैल के समान, स्पृष्ट है। परस्पर प्रदेश व्यवधान से रहित होने से निरन्तर है। निर्जन प्रदेश में आत्मा की भावना करनेवाले मुनि समूह के समान अथवा नगर में लोगों के समूह के समान सान्तर नहीं है।

उसी प्रकार धर्म द्रव्य के अत्यन्त उदासीनपने का प्रतिपादन करने में भी अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है, वह इस प्रकार है :-

"यथा तुरंगम: स्वयं गच्छन् स्वकीयारोहकस्य गमनहेतुर्भवति न तथा धर्मास्तिकायः निष्क्रियत्वात् किन्तु यथा जलं तिष्ठति सति वा तिष्ठत्सत्स्वयं गच्छतां मत्स्यानामौदासीन्येन गतेर्निमित्तत्वं भवति तथा धर्मोऽपि स्वयं तिष्ठन्सन् स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीवपुद्गलानामप्रेरकत्वेन बहिरंगनिमित्तं भवति।"[२]

जिस प्रकार घोड़ा स्वयं गमन करते हुए अपने सवार के गमन का हेतु है, उस प्रकार धर्मास्तिकाय नहीं है, निष्क्रिय होने से। परन्तु जिस प्रकार जल स्थिर होने पर स्थिर रहता हुआ, स्वयं गमन करनेवाली मछलियों को उदासीन रूप से गति का निमित्तपना है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य भी स्वयं स्थिर रहता हुआ अपने उपादान कारण से गमन करने वाले जीव पुद्गलों को

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ९०

२. वहीं पर, गा. ९५

अप्रेरक रूप से बहिरंग निमित्त है। अस्तिनास्तिपरक कथन से वस्तुस्वरूप के निर्णय में दृढता आती है।

७. संगति प्रभाव दर्शक दृष्टान्त :-

भारतीय साहित्य में जहाँ तहाँ सर्वत्र संगति का प्रभाव दिखाया है। नीति शास्त्र में सुसंगति और कुसंगति का किस प्रकार परिणाम होता है, वह कतिपय दृष्टान्तों से अच्छा वर्णन किया है। जयसेन आचार्य ने भी संगति प्रभाव के दृष्टान्त बताये हैं, वह इस प्रकार है :-

"यथा अग्निसंयोगात् जलस्य शीतलगुणविनाशो भवति तथा व्यावहारिकजन-संसर्गात्संयतस्य संयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधनः समगुणं गुणाधिकं वा तपोधनमाश्रयति तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहितशीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तदा समगुणसंसर्गाद् गुणरक्षा भवति तथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशर्करादि-शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाधिकसंसर्गाद् गुणवृद्धिर्भवति।" [१]

जिस प्रकार आग्नि के संयोग से पानी के शीतल गुण का विनाश होता है, उसी प्रकार व्यावहारिक लोगों के संसर्ग से संयत के संयम गुण का विनाश होता है। ऐसा जानकर तपोधन समान गुण अथवा अधिक गुणवाले तपोधनों का आश्रय करता है। तब इस तपोधन का जिस प्रकार शीतल पात्र सहित शीतल जल के शीत गुण की रक्षा होती है, उसी प्रकार समान गुण के संसर्ग से गुण की रक्षा होती है। जिस प्रकार उसी जल की कपूर शर्करा आदि के संसर्ग से शीतल गुण की वृद्धि होती है, उसी प्रकार निश्चय व्यवहार रत्नत्रय गुणाधिक के संसर्ग से गुण वृद्धि होती है।

यहाँ पर विपरीत गुण की संगति से, समगुण की संगति और गुणाधिक की संगति से किस प्रकार परिणाम होता है, उसे दृष्टान्त से सम्यक् रीति से दिखाया है।

"यथा वृक्षसेचनविषये जलप्रवाहश्चन्दनादिवनराजिरूपेण परिणतः सन्स्वकीय कोमल-शीतलनिर्मलस्वभावं न लभते तथाऽयं जीवोऽपि वृक्षस्थानीय कर्मोदयपरिणतः सन्परमा-ल्हादैकलक्षणसुखामृतास्वादनैर्मल्यादिस्वकीयगुणसमूहं न लभत इति।"[२]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २८२

२. वहीं पर, गा. १२८

जिस प्रकार वृक्ष सिंचन के विषय में जल प्रवाह चन्दनादि वन पंक्ति रूप से परिणत होता हुआ अपने कोमल, शीतल, निर्मल, स्वभाव को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह जीव भी वृक्ष स्थानीय कर्मोदय से परिणत होकर परमाल्हादैक लक्षण सुखामृत का स्वाद, निर्मल आदि अपने गुण समूह को प्राप्त नहीं होता।

यहाँ जल शीतल और निर्मल होते हुए भी वृक्ष के संसर्ग से स्वभाव को छोडता है, इस प्रकार वर्णन किया है। इस प्रकार संगति के प्रभाव को दिखाने वाले अनेक दृष्टान्त प्रयुक्त किये हैं।

८) महापुरुषों के दृष्टान्तः-

जयसेन आचार्य ने राम पाण्डव सगर भरतेश्वर आदि पुराण पुरुषों के दृष्टान्त यथास्थान कहे हैं, वह इस प्रकार है –

१) *"घोरपरीषहोपसर्गे प्राप्तेऽपि निश्शंकाः शुद्धात्मस्वरूपे निष्कम्पाः सन्तः .....। परमात्म स्वरूपान्न प्रच्यवन्ते पाण्डवादिवत्।"*[१]

घोर परीषह उपसर्ग के प्राप्त होने पर भी निश्शंक अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप में निष्कम्प रहते हुए .....। पाण्डवादि के समान परमात्म स्वरूप से च्युत नहीं होते।

२)"पूर्वभवभावितभेदविज्ञानवासनाबलेन शुद्धात्मभावनाविनाशकान् विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान्न ददाति भरतेश्वरादीनामिव।"[२]

पूर्व भव में भावित भेद विज्ञान की वासना के बल से शुद्धात्म भावना के विनाशक विषय, सुख के उत्पादक भोग आकांक्षा निदान रूप रागादि परिणामों को नहीं देता है, भरतेश्वर आदि के समान।

महापुरूषों के दृष्टान्त से आदर्श जीवन की प्रेरणा प्राप्त होती है।

९) अमूर्त पदार्थ से मूर्त पदार्थ का दृष्टान्त :-

जयसेन आचार्य ने समग्र रचनाऐं आत्मतत्त्व की मुख्यता से रची हैं। अन्यत्र ग्रन्थ में अमूर्त पदार्थ का मूर्त पदार्थ से विश्लेषण किया हुआ दिखाई नहीं देता है। परन्तु जयसेन आचार्य

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २४४

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २४०-२४३

की शैली विलक्षण ही है। यहाँ तो मूर्त पदार्थ का अमूर्त पदार्थ के दृष्टान्त से विवेचन किया गया है। यह इसी आचार्य का वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। परमाणु का स्वरूप विश्लेषण शुद्धात्मा के दृष्टान्त से किया है। वह इस प्रकार है :-

"यथा परमात्मा टङ्कोत्कीर्णज्ञायेकैकस्वभावेन द्रव्यार्थिकनयेनाविनश्वरत्वात् शाश्वतः तथा पुद्गलत्वेनाविनश्वरत्वात्परमाणुरपि नित्यः यथा शुद्धजीवास्तिकायो निश्चयेन स्वसंवेदनज्ञानविषयोपि शब्दविषयः शब्दरूपो वा न भवतीत्यशब्दः तथा हि परमाणुरपि शक्तिरूपेण शब्दकारणभूतोऽपि व्यक्तिरूपेण शब्दपर्यायरूपो न भवतीत्यशब्दः यथा शुद्धात्मद्रव्यं निश्चयेन परोपाधिरहितत्वेन केवलमसहायमेकं परमात्मद्रव्यं तथा परमाणुद्रव्यमपि द्वयणुकादिपरोपाधिरहितत्वात्केवलमसहायमेकं भवत्येकप्रदेशत्वाद्वा .. भागाभावादविभागी।"[1]

जिस प्रकार परमात्मा टंकोत्कीर्ण ज्ञायकैक स्वभाव से द्रव्यार्थिकनय से अविनश्वरपना होने से शाश्वत है, उसी प्रकार पुद्गलपने से अविनश्वरपना होने से परमाणु भी नित्य है। जिस प्रकार शुद्ध जीवास्तिकाय निश्चय से स्वसंवेदन ज्ञान का विषय होने पर भी शब्द का विषय अर्थात् शब्द रूप नहीं होता, इसलिए अशब्द है। उसी प्रकार परमाणु भी शक्ति रूप से शब्द का कारणभूत होने पर भी व्यक्ति रूप से शब्द पर्याय रूप नहीं होता, इसलिए अशब्द है। जिस प्रकार शुद्धात्म द्रव्य निश्चय से पर उपाधि रहित होने से केवल असहाय एक परमात्म द्रव्य है, उसी प्रकार परमाणु द्रव्य भी द्वयणुक आदि पर उपाधि रहित होने से अथवा एक प्रदेशपना होने से केवल असहाय एक ..... भाग का अभाव होने से अविभागी है।

इस प्रकार अनेक स्थलों में शुद्धात्मा और सिद्धात्मा को दृष्टान्त बनाकर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

१०) अत्यन्त तुच्छ वस्तु की प्राप्ति के लिए अमूल्य वस्तु का समर्पण मूलक दृष्टान्त-

"किंच भोगाकाङ्क्षानिदानरूपेण रूपलावण्यसौभाग्यकामदेवेन्द्राहमिन्द्रख्यातिपूजा-लाभादिनिमित्तं यो व्रततप-श्चरणदानपूजादिकं करोति स पुरूषःतक्रनिमित्तं रत्नविक्रियवत् भस्मनिमित्तं रत्नराशिदहनवत् सूत्रनिमित्तं हारचूर्णवत्, कोद्रवक्षेत्रवृत्तिनिमित्तमगुरुवन-च्छेदनवत् वृथैव व्रतादिकं नाशयति।"[2]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ७७

२. वहीं पर, गा. १५४

भोगों की इच्छा रूप निदान से रूप, लावण्य, सौभाग्य, कामदेव, इन्द्र , अहमिन्द्र, ख्याति, पूजा, लाभादि के निमित्त जो व्रत, तपश्चरण, दान, पूजा आदि करता है वह पुरूष छाछ के लिए रत्न बेचना, भस्म के लिए रत्नराशि को जलाना, धागे के लिए हार को तोडना, कोद्रु धान के लिए अगुरू (चंदन) के वन को छेदने के समान व्रतादि का नाश करता है।

११) एक सिद्धान्त का विवरण करने के लिए अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग :–

उपादान कारण सदृश कार्य होता है, इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करने के लिए चार दृष्टान्त प्रतिपादित किये हैं, वे इस प्रकार हैं -

"कुम्भकारचक्रचीवरादिबहिरङ्गनिमित्तोत्पन्नस्य घटकार्यस्य मृत्पिण्डोपादान-कारणवत् कुविन्दतुरीवेमसलाकादिबहिरङ्गनिमित्तोत्पन्नस्य पटकार्यस्य तन्तुसमूहोपादान-कारणवत् इन्धनाग्न्यादिबहिरङ्गनिमित्तोत्पन्नस्य शाल्याद्योदनकार्यस्य शाल्यादितण्डुलो-पादानकारणवत् कर्मोदयनिमित्तोत्पन्नस्य नरनारकादिपर्यायकार्यस्य जीवोपादान-कारणवदित्यादि।"[१]

जिस प्रकार कुम्भकार चक्र चीवर आदि बहिरंग निमित्त से उत्पन्न घट कार्य का मिट्टी का पिंड उपादान कारण है, जुलाहा तुरी, वेम, शलाका आदि बहिरंग निमित्त से उत्पन्न पट कार्य का तन्तु समूह उपादान कारण है, ईन्धन अग्नि आदि बहिरंग निमित्त से उत्पन्न शालि आदि ओदन कार्य का शालि आदि तन्दुल उपादान कारण है, उसी प्रकार कर्म के उदय से उत्पन्न नर नारक आदि पर्याय रूप कार्य का जीव उपादान कारण है।

जो सर्व को नहीं जानता वह आत्मा को भी नहीं जानता, इसके स्पष्टीकरण के लिए कैसे सार्थक अनेक प्रकार के दृष्टान्त कहें हैं, देखिये :-

"यथा कोऽप्यन्धक आदित्यप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन्नादित्यमिव प्रदीपप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् प्रदीपमिव दर्पणस्थबिम्बान्यपश्यन् दर्पणमिव, स्वकीयदृष्टिप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् हस्तपादाद्यवयवपरिणतस्वकीयदेहाकारमात्मानं स्वकीयदृष्ट्या न पश्यति तथायं विवक्षितात्मापि केवलज्ञानप्रकाश्यान् पदार्थानजानन् सकलाखण्डैककेवलज्ञान-रूपमात्मानमपि न जानाति।"[२]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २३

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ४९

जिस प्रकार कोई अन्धा सूर्य से प्रकाशित होने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ सूर्य को भी नहीं देखता , प्रदीप से प्रकाशित होने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ दर्पण को नहीं देखता, अपनी आँखों से प्रकाशित होने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ हाथ पैर आदि अवयव से परिणत अपने देहाकार आत्मा को अपनी दृष्टि से नहीं देखता, उसी प्रकार यह विवक्षित आत्मा भी केवलज्ञान के द्वारा प्रकाशित होने योग्य पदार्थों को न जानता हुआ सकल अखण्डैक केवलज्ञान रूप आत्मा को भी नहीं जानता।

इस प्रकार बहुत स्थानों में एक सिद्धान्त के प्रतिपादन में एक से अधिक दृष्टान्तों का प्रयोग दृष्टिपथ में आता है। एक दृष्टान्त से जयसेन आचार्य की तृप्ति नहीं होती। आचार्य सिद्धान्त सदृश गरिष्ठ अन्न को पचाने के लिए उसको अनेक दृष्टान्तों से हल्का और अत्यन्त कोमल करके पाठक जनों को खिलाते हैं। उससे वह सहज ग्राह्य, सुगम और पचनीय होता है।

१२) रूपक दृष्टान्त :-

जहाँ उपमेय का उपमान के साथ अभेद प्रस्तुत किया जाता है, वह रूपक अलंकार कहा जाता है। यहाँ उपमेय ही उपमान रूप को धारण करता है, वही काव्य प्रकाश में कहा है :-

"तद्रूपकमभेदो य उपमानउपमेययोः।"[१]

रूपक अलंकार उपमान उपमेय में अभेद होता है। इस रूपक अलंकार का उपयोग करके जयसेन आचार्य ने दृष्टान्त का प्रयोग किया है :-

"अधोभागे सप्तनरकस्थानीयमहाऽजगरप्रसारितमुखे कोणचतुष्के तु क्रोधमानमायालोभस्थानीयसर्पचतुष्कप्रसारितवदने देहस्थानीयमहान्धकूपे पतितः सन् कश्चित् पुरूषविशेषः संसारस्थानीयमहारण्ये मिथ्यात्वादिकुमार्गे नष्टः सन् मृत्युस्थानीय-हस्तिभयेनायुष्कर्मस्थानीये साटिकविशेषे शुक्लकृष्णपक्षस्थानीयशुक्लकृष्णमूषकद्वय-छेद्यमानमूले व्याधिस्थानीयमधुमक्षिकावेष्टिते लग्नस्तेनैव हस्तिना हन्यमाने सति विषयसुखस्थानीयमधुबिन्दुसुस्वादेन यथा सुखं मन्यते तथा संसारसुखम्।"[२]

---

१. डॉ. हिन्दकेसरी, सद्वृत्तालंकार, पृ. ४४ पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, १९९२

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ७५

अधोभाग में सातवें नरक के स्थानीय मुँह फाडे हुए यहाँ अजगर है, और चारों कोनों में क्रोध, मान, माया, लोभ स्थानीय चार साँप मुख को फैलाये हुए जिसमें हैं, ऐसे देह स्थानीय महा अंध कूप में गिरा हुआ कोई पुरूष विशेष संसार स्थानीय महा अरण्य में मिथ्यात्व आदि कुमार्ग में नष्ट हुआ मृत्यु स्थानीय हाथी के भय से शुक्ल कृष्ण पक्ष स्थानीय सफेद और काले दो चूहे जिसके मूल को छेद रहे हैं ऐसे आयु कर्म स्थानीय शाखा विशेष में, व्याधिस्थानीय मधु मक्षिका से वेष्ठित शाखा विशेष में लटका हुआ, उसी हाथी के द्वारा घाते जाने पर विषय सुख मधु बिन्दु के सुस्वाद से जैसे सुख मानता है वैसा संसार सुख है।

"किंच यथा कोऽपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति। तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये भगवानात्मानं पश्यति संसारी विवेकिजनः पुनर्निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति।"[1]

जिस प्रकार कोई भी देवदत्त सूर्य के उदय से दिन में देखता है, रात्रि में प्रदीप से थोडा बहुत देखता है, उसी प्रकार सूर्य स्थानीय केवलज्ञान के द्वारा दिवस स्थानीय मोक्ष पर्याय में भगवान आत्मा को देखते हैं। संसारी विवेकी जन पुनः रात्रि स्थानिक संसार पर्याय में प्रदीप स्थानीय रागादि विकल्प रहित समाधि के द्वारा निज आत्मा को देखता है।

१३) न्याय मूलक दृष्टान्त –

प्रमाण नय सप्तभंगी, स्याद्वाद, अनेकान्त आदि न्यायमूलक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए दैनिक जीवन के दृष्टान्त प्रयोग किये है। प्रमाण सप्तभंगी के विवेचन के लिए पिता पुत्र आदि सम्बन्ध रूप दृष्टान्त कहा है, वह इस प्रकार है :-

"यथैकोपि देवदत्तो गौणमुख्यविवक्षावशेन बहुप्रकारो भवति। पुत्रापेक्षया पिता भण्यते सोऽपि स्वकीयपित्रपेक्षया पुत्रो भण्यते मातुलापेक्षया भागिनेयो भण्यते स एव भागिनेयापेक्षया मातुलो भण्यते भार्यापेक्षया भर्ता भण्यते भगिन्यपेक्षया भ्राता भण्यते विपक्षापेक्षया शत्रुर्भण्यते इष्टापेक्षया मित्रं भण्यते इत्यादि। तथैकमपि द्रव्यं गौणमुख्यविवक्षावशेन सप्तभङ्ग्यात्मकं भवतीति।"[2]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३४

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १४

जिस प्रकार एक ही देवदत्त , गौण मुख्य विवक्षा से अनेक प्रकार होता है। पुत्र की अपेक्षा से पिता कहा जाता है, वह भी अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र कहा जाता है। मामा की अपेक्षा से भानजा कहा जाता है और भानजे की अपेक्षा से मामा कहा जाता है। पत्नि की अपेक्षा से पति कहा जाता है। बहन की अपेक्षा से भाई कहा जाता है। विपक्ष की अपेक्षा से शत्रु कहा जाता है, इष्ट की अपेक्षा से मित्र कहा जाता है। उसी प्रकार एक ही द्रव्य गौण मुख्य विवक्षा के वश से सात भंगात्मक होता है।

उसी प्रकार सप्तभंगी पुत्र के दृष्टान्त से कही हैं :-

"यथैकोऽपि देवदत्तः स्यात् पुत्रः, स्यादपुत्रः, स्यात्पुत्रापुत्रः स्यादवक्तव्यः स्यात्पुत्रोऽवक्तव्यः स्यादपुत्रोऽवक्तव्यः स्यात्पुत्रोपुत्राऽवक्तव्यश्चेति।"[१]

जिस प्रकार एक ही देवदत्त कथञ्चित् पुत्र, कथञ्चित् अपुत्र, कथञ्चित् पुत्रापुत्र, कथञ्चित् अवक्तव्य, कथञ्चित् पुत्र अवक्तव्य, कथञ्चित् अपुत्र अवक्तव्य, कथञ्चित् पुत्रापुत्रअवक्तव्य।

इस प्रकार के दृष्टान्तों से न्याय सदृश दुर्बोध क्लिष्ट विषय सुबोध, सरल होता है। दर्शन का प्रयोग दृष्टान्तों के माध्यम से किया है। जयसेन आचार्य ने दर्शन और दृष्टान्त में समन्वय स्थापित करके अपनी विशिष्ट शैली अभिव्यक्त की है। जिससे गूढतम्, दार्शनिक, सैद्धान्तिक समस्याओं को सुलझाने में उन्होंने अपूर्व सफलता प्राप्त की है।

प्रश्नोत्तर शैली :-

विषय को स्पष्ट करने के लिए, स्वयं शंका को उपस्थित करके यथार्थ समाधान करना जयसेन आचार्य का निज वैशिष्ट्य है। प्रश्नोत्तर के माध्यम से विषय वस्तु सहज गम्य और अत्यन्त स्पष्ट होती है। उदाहरणों में, नय प्रयोगों में और तर्क युक्तियों में सर्वत्र प्रश्नोत्तर प्रणाली का उपयोग करके अभिप्राय प्रगट करना उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्त्व का द्योतक है। अनेक प्रकार के प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनेक प्रकार की प्रश्नोत्तर प्रणाली का उन्होंने प्रयोग किया है। प्रश्नोत्तर शैली का वैशिष्ट्य विश्लेषण अधोलिखित प्रकार से किया जाता है :-

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १४

१. गाथार्थ सरलीकरण के लिए :-

गाथागत पदों का परस्पर कर्तृ कर्म सम्बन्ध दिखाने के लिए, उनका अभिप्राय जानने के लिए, प्रत्येक पद के विश्लेषण से पूर्व, अर्थ के अनुसार किसलिए, कौन, किसको, किसके द्वारा, किसका, किससे, किस प्रकार का इत्यादि प्रश्न किये हैं। वह इस प्रकार है :-

"जं यज्ज्ञानं कर्तृ जाणदि जानाति । कम् । अत्थं अर्थं पदार्थमिति विशेष्यपदम् । किंविशिष्टम् । तक्कालियमिदरं तात्कालिकं वर्तमानमितरं चातीतानागतम् । कथं जानाति । जुगवं युगपदेकसमये समंतदो समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सर्वप्रकारेण वा। कतिसंख्योपेतम्। सव्वं समस्तम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। विचित्तं नानाभेदभिन्नम्। पुनरपि किंरूपम् ....."[१]

जो ज्ञान कर्ता जानता है, किसको ? पदार्थ को। ऐसा विशेष्य पद है। किस प्रकार के पदार्थ को ? तात्कालिक अर्थात् वर्तमान, इतर अर्थात् अतीत अनागत (पदार्थ को), कैसे जानता है ? एक साथ एक समय में। सर्व आत्म प्रदेशोंसे अथवा सर्व प्रकार से। कितनी संख्या से युक्त ? सर्व को। पुनः किस प्रकार का (पदार्थ) ? नाना भेद से भिन्न (पदार्थ को)। पुनः किस रूप .....।

कभी कभी शब्द के विशेषार्थ विवरण के लिए प्रश्नोत्तर किये हैं,वह इस प्रकार है :-

"कर्मचेतना कोऽर्थः ? इति चेत्, मदीयं कर्म मया कृतं कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापारकरणं यत् सा बन्धकारणभूता कर्मचेतना भण्यते ।"[२]

कर्म चेतना का क्या अर्थ है ? ऐसा पूछने पर। मेरा कर्म अर्थात् मेरे द्वारा किया गया कर्म इत्यादि अज्ञान भाव से ईहापूर्वक इष्ट अनिष्ट रूप से निरुपराग शुद्धात्मानुभूति से च्युत जीव का जो मनो वचन व्यापार का करना है, वह बंध के कारणभूत कर्म चेतना कही जाती है।

इस प्रकार सभी गाथाओं का शब्दार्थ नयार्थ आदि प्रतिपादन करने में प्रश्नवाचक सर्वनाम लिखे हैं।

---

१. जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥ प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति गा. ४८

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ४०९-४११

२. प्रश्नोत्तरों का युक्तिपूर्वक प्रस्तुतिकरण :-

जयसेन आचार्य का शिष्य अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी प्रश्न नहीं पूछता। वह भी युक्तिपूर्वक अपने प्रश्न को प्रस्तुत करता है, वह इस प्रकार है -

"किमर्थं शास्त्रादौ शास्त्रकाराः मङ्गलार्थं परमेष्ठिगुणस्तोत्रं कुर्वन्ति? यदेव शास्त्रं प्रारब्धं तदेव कथ्यतां, मङ्गलमप्रस्तुतं। न च वक्तव्यं मङ्गलनमस्कारेण पुण्यं भवति पुण्येन निर्विघ्नं भवतीति । कस्मान्न वक्तव्यमिति चेत् । व्यभिचारात्। तथाहि क्वापि नमस्कारदान-पूजादिकरणेऽपि विघ्नं दृश्यते क्वापि दानपूजानमस्काराभावेऽपि निर्विघ्नं दृश्यत इति।"

शास्त्र के प्रारम्भ में शास्त्रकार मंगल के लिए परमेष्ठी गुणों का स्तोत्र किसलिए करते हैं? जो शास्त्र प्रारम्भ किया है, उसी को कहे। मंगल अप्रस्तुत है। मंगल नमस्कार से पुण्य होता है और पुण्य से निर्विघ्न शास्त्र समाप्ति होती है । ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्यों नहीं कहना चाहिए ? क्योंकि व्यभिचार आता है; उसका खुलासा :-

कहीं पर नमस्कार दान, पूजा आदि करने में भी विघ्न दिखाई देता है, कहीं पर दान, पूजा, नमस्कार के अभाव में भी निर्विघ्न दिखाई देता है। उपर्युक्त समस्त कथन शंकाकार का ही है। उत्तरकर्ता आचार्य भी युक्तिपूर्वक प्रश्न का उत्तर तर्क और आगम के द्वारा देते हैं, वह इस प्रकार है :-

"तदयुक्तम्, पूर्वाचार्या इष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरमेव कार्यं कुर्वन्ति, यदुक्तं भवता नमस्कारे कृते पुण्यं भवति पुण्येन निर्विघ्नं भवतीति न च वक्तव्यं तदप्ययुक्तं कस्मात् देवतानमस्कारकरणे पुण्यं भवति तेन निर्विघ्नं भवतीति तर्कादिशास्त्रे व्यवस्थापितत्वात्। पुनश्च यदुक्तं त्वया व्यभिचारो दृश्यते तदप्ययुक्तम् । कस्मादिति चेत् । यत्र देवतानमस्कार-दानपूजादिधर्मे कृतेऽपि विघ्नं भवति तत्रेदं ज्ञातव्यं पूर्वकृतपापस्यैव फलं तत्, न च धर्मदूषणं, यत्र पुनर्देवतानमस्कारदानपूजादिधर्माभावेऽपि निर्विघ्नं दृश्यते तत्रेदं ज्ञातव्यं पूर्वकृतधर्मस्यैव फलं तत्, न च पापस्य।"[१]

वह अयुक्त है। पूर्वाचार्य इष्ट देवता नमस्कार पूर्वक ही कार्य करते हैं। जो आपने कहा कि नमस्कार करने पर पुण्य होता है, पुण्य से निर्विघ्न होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, वह भी

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १

अयुक्त है। क्यों ? क्योंकि देवता नमस्कार करने में पुण्य होता है, उससे विघ्न का अभाव होता हैं। इस प्रकार तर्कादि शास्त्र में व्यवस्थापित किया है। पुन: जो तेरे द्वारा कहा गया कि व्यभिचार दिखाई देता है, वह भी अयुक्त है, क्यों ? ऐसा पूछने पर :- जहाँ पर देवता नमस्कार, दान, पूजा आदि धर्म किये जाने पर भी विघ्न होता है, वहाँ यह जानना चाहिए कि वह पूर्वकृत पाप का ही फल है, धर्म का दूषण नहीं है। जहाँ पुन: देवता नमस्कार, दान, पूजा आदि धर्म के अभाव में भी विघ्न नहीं दिखाई देता, वहाँ यह जानना चाहिए कि वह पूर्वकृत धर्म का ही फल है, पाप का नहीं।

इस प्रकार बहुत स्थानों में जयसेन आचार्य की युक्तिपूर्वक प्रश्नोत्तर प्रतिपादन शैली मनोहारी दिखाई देती है।

३. एक प्रश्न के लिए अनेक हेतुओं का प्रयोग:-

कितने ही स्थानों में आचार्य एक प्रश्न का समाधान एक ही हेतु से नहीं करते। उसका उत्तर शंकाकार के मन में हृदयंगम करने के लिए अनेक प्रकार के हेतुओं का प्रयोग करते हैं। वह इस प्रकार हैं :-

"वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ वीतरागविशेषणमनर्थकमित्युक्ते सति परिहारमाह विषयकषायनिमित्तस्याशुभध्यानस्य वर्जनार्थत्वात्, हेतुहेतुमद्भावव्याख्यानत्वाद्वा, कर्मधारय-समासत्वाद्वा, भावनाग्रन्थे पुनरुक्तदोषाभावत्वाद्वा, स्वरूपस्य विशेषणत्वाद्वा, दृढीकर-णार्थत्वाद्वा।"[१]

वीतराग निर्विकल्प समाधि में वीतराग विशेषण निरर्थक है, ऐसा कहने पर परिहार कहते हैं :-

विषय कषाय निमित्तक अशुभ ध्यान का परिहार करने के लिए अथवा हेतु हेतुमत भाव का व्याख्यानपना होने से, अथवा कर्मधारय समासपना होने से, भावना ग्रन्थ में पुनरुक्त दोष का अभाव होने से, स्वरूप का विशेषपना होने से अथवा दृढीकरण के लिए, वीतराग विशेषण निरर्थक नहीं है।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.७

४. एक प्रश्न के समाधान के लिए अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग :-

'लोकस्तावदसङ्ख्यातप्रदेशः तत्र लोके निश्चयनयेन अनन्तानन्तजीवा-स्तेभ्योप्यनन्तगुणाः पुद्गला लोकाकाशप्रमितप्रदेशप्रमाणाः कालाणवो धर्माधर्मौ चेति सर्वे कथमवकाशं लभन्ते इति? भगवानाह एकापवरके अनेकप्रदीपप्रकाशवदेकगूढनागरसगद्याणके बहुसुवर्णवदेकस्मिन्नुष्ट्रीक्षीरघटे मधुघटवदेकस्मिन् भूमिगृहे जयघण्टादिशब्दवद्विशिष्टा-वगाहगुणेनासंख्येयप्रदेशेऽपि लोके अनन्तसंख्या अपि जीवादयोऽवकाशं लभन्ते।"[१]

लोक असंख्यात प्रदेशी है। उस लोक में निश्चय नय से अनन्तानन्त जीव, उनसे अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण कालाणु, धर्म और अधर्म सभी अवकाश को कैसे प्राप्त होते हैं? भगवान कहते हैं:- एक कमरे में अनेक प्रदीपों के प्रकाश के समान, एक गूढ नाग रस में बहुत स्वर्ण के समान, एक ऊंटनी के दूध के घडे में मधु घट के समान, एक भूमिगृह में जय घन्टा आदि शब्द के समान, विशिष्ट अवगाह गुण होने के कारण असंख्यात प्रदेशी भी लोक में अनन्त संख्या वाले भी जीवादि पदार्थ अवकाश को प्राप्त होते हैं।

५. परमतों के निराकरण के लिए प्रश्नोत्तर :-

वहीं पर जिनमत के पोषण के लिए और परमत का निराकरण करने के लिए स्वयं प्रश्न उपस्थित करके उत्तरों से एकान्त स्वरूप का खंडन किया है। वह इस प्रकार है:-

"ननु यद्युत्पादविनाशौ तर्हि तस्यैव पदार्थस्य नित्यत्वं कथं? नित्यत्वं तर्हि तस्यैवोत्पादव्ययद्वयं च कथं? परस्परविरुद्धमिदं शीतोष्णवदिति पूर्वपक्षे परिहारमाहुः येषां मते सर्वथैकान्तेन नित्यं वस्तु क्षणिकं वा तेषां दूषणमिदम्। कथमिति चेत् येनैव रूपेण नित्यत्वं तेनैवानित्यत्वं न घटते। येनैव च रूपेणानित्यत्वं तेनैव नित्यत्वं न घटते कस्मात् एकस्वभावत्वाद्वस्तुनस्तन्मते। जैनमते पुनरनेकस्वभावं वस्तु तेन कारणेन द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यरूपेण नित्यत्वं घटते पर्यायार्थिकनयेन पर्यायरूपेणानित्यत्वं च घटते।"[२]

शंका:- यदि उत्पाद विनाश है तो उस पदार्थ का नित्यपना कैसे है ? और नित्यत्व है, तो उसका उत्पाद विनाश कैसे है ? शीत और उष्ण के समान यह परस्पर विरुद्ध है। ऐसा पूर्व पक्ष होने पर परिहार कहते हैं :-

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ९७

२. वहीं पर गा. १८

समाधान:- जिनके मत में सर्वथा, एकान्त से वस्तु नित्य है अथवा क्षणिक है उनका यह दूषण है। कैसे? जिस रूप से नित्यत्व है, उसी रूप से अनित्यपना घटित नहीं होता, और जिस रूप से अनित्यत्व है, उसी रूप से नित्यत्व घटित नहीं होता, क्योंकि उनके मत में वस्तु का एक स्वभावपना है। जैन मत में पुन: वस्तु अनेक स्वभावी है, उस कारण से द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य रूप से नित्यत्व घटित होता है और पर्यायार्थिक नय से पर्याय रूप से अनित्यत्व घटित होता है।

इस प्रकार कितने ही स्थानों में प्रश्नोत्तर रूप से एकान्त मत का निराकरण किया है।

६. पूर्वापर विरोध को दूर करने के लिए प्रश्नोत्तर :-

कितनी ही गाथाओं में पूर्वापर विरोध प्रतिभासित होता है, परन्तु वहां विरोध नहीं होता। इस प्रकार स्पष्ट रूप से पाठकों को ज्ञान कराने के लिए प्रश्नोत्तर प्रयुक्त हुए हैं।

"द्रव्यपीठिकायां सतो जीवस्य विनाशो नास्त्यसत उत्पादो नास्तीति भणितम्। अत्र सतो जीवस्य विनाशो भवत्यसत उत्पादो भवतीति भणितं तेन कारणेन विरोधः। तन्न तत्र द्रव्यपीठिकायां द्रव्यार्थिकनयेनोत्पादव्ययौ निषिद्धौ। अत्र तु पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययौ भवत इति नास्ति विरोधः। तदपि कस्मादिति चेत्? द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः परस्परसापेक्षत्वादिति।" [१]

शंका:- द्रव्यपीठिका में सत् जीव का विनाश नहीं होता, असत् का उत्पाद नहीं होता, ऐसा कहा है। यहाँ सत् जीव का विनाश होता है, असत् का उत्पाद होता है, ऐसा कहा है, उस कारण से विरोध है।

समाधान:- ऐसा नहीं है। वहाँ द्रव्यपीठिका में द्रव्यार्थिक नय से उत्पाद व्यय का निषेध किया, परन्तु यहाँ पर्यायार्थिक नय से उत्पाद व्यय है। इस प्रकार विरोध नहीं है। वह भी किस कारण से? क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय में परस्पर सापेक्षपना है।

७. विवक्षा का स्पष्टीकरण करने के लिए प्रश्नोत्तर :-

कहाँ पर, किस विवक्षा से वर्णन किया है, इस प्रकार जहाँ स्पष्ट रूप से जाना नहीं जाता, वहाँ आचार्य विवक्षा को बताने के लिए प्रश्नोत्तर प्रस्तुत करते हैं, वह इस प्रकार है:-

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १४

"अत्राह शिष्य: - शुद्धनिश्चयेनाकर्ता व्यवहारेण कर्तेति बहुधा व्याख्यातं तत्रैवं सति यथा द्रव्यकर्मणां व्यवहारेण कर्तृत्वं तथा रागादिभावकर्मणां च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्वं प्राप्नोतीति? नैवं। रागादिभावकर्मणां योऽसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसंज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभिः सह तारतम्यज्ञापनार्थम्। द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतनान्येव। यतः कारणादशुद्धनिश्चयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। अयमत्र भावार्थः। द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एवेति।"[1]

यहाँ पर शिष्य कहता है कि शुद्ध निश्चय नय से अकर्ता है, व्यवहार से कर्ता है, ऐसा बहुधा व्याख्यान किया। वहाँ इस प्रकार होने पर जिस प्रकार द्रव्यकर्मों का व्यवहार नय से कर्तृत्व है, उसी प्रकार रागादि भाव कर्मों का व्यवहार से कर्तृत्व है। इस प्रकार द्रव्यकर्म और भाव कर्मों में एकत्व प्राप्त होता है।

उत्तर :- ऐसा नहीं है। रागादि भाव कर्मों का जो यह व्यवहार है, द्रव्य कर्मों का भाव कर्मों के साथ तारतम्य दिखाने के लिए, उसकी अशुद्ध निश्चय संज्ञा है। द्रव्य कर्म अचेतन हैं, भाव कर्म चेतन हैं। तथापि शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से अचेतन ही हैं। जिस कारण से अशुद्ध निश्चय भी शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार ही है, यह यहाँ पर भावार्थ है। द्रव्य कर्मों का कर्तृत्व भोक्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से है और रागादि भाव कर्मों का अशुद्ध निश्चय से है। वह शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार ही है।

८. तर्क वितर्क के समाधान के लिए प्रश्नोत्तर :-

जब अध्येताओं के मन में विवक्षित विषय के प्रति तर्क वितर्क उत्पन्न होते हैं तब आचार्य उनका परिहार करने के लिए प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग करते हैं, वह इस प्रकार है :-

"अत्राह शिष्यः आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानं भवतीत्यत्र व्याख्यातं, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणितं सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञानं भवतीति। यद्येवं तर्हि छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्त्यात्मपरिज्ञानं कथं भविष्यति? आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथं? तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति।"

यहाँ पर शिष्य कहता है कि आत्म परिज्ञान होने पर सर्व परिज्ञान होता है, ऐसा यहाँ व्याख्यान किया। परन्तु वहाँ पूर्व सूत्र में कहा कि सर्व परिज्ञान होने पर आत्म परिज्ञान होता

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा- १२०-१२२

है। यदि ऐसा है तो छद्मस्थों के सर्व परिज्ञान नहीं है, आत्म परिज्ञान कैसे होगा? आत्म परिज्ञान के अभाव में आत्म भावना कैसे होगी ? उसके अभाव में केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी।

"परिहारमाह - परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते । कथमिति चेत् लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञानं परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहकं कथञ्चिदात्मैव भण्यते । अथवा स्वसंवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते, तया रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनभावनया केवलज्ञानं च जायते इति नास्ति दोषः ।"[१]

परिहार कहते हैं:- परोक्ष प्रमाणभूत श्रुतज्ञान के द्वारा सर्व पदार्थ जाने जाते हैं, कैसे? ऐसा पूछने पर कहते हैं:- लोकालोक आदि का परिज्ञान व्याप्ति ज्ञान रूप से छद्मस्थ के भी होता है, वह व्याप्ति ज्ञान परोक्षाकार रूप से केवल ज्ञान के विषय का ग्राहक कथञ्चित् आत्मा ही कहा जाता है अथवा स्वसंवेदन ज्ञान से आत्मा जाना जाता है। उससे भावना की जाती है, उससे उस रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन भावना से केवलज्ञान होता है, इसलिए दोष नहीं है।

९. जिज्ञासा शमन के लिए प्रश्नोत्तर :-

अध्ययन के अवसर में जब पाठक के हृदय में शंका उत्पन्न होती है, तब वहाँ आचार्य ने स्वयं प्रश्नोत्तर रूप से विश्लेषण किया ही है इसलिए पाठक की जिज्ञासा स्वयं ही शान्त होती है, वह इस प्रकार है:

"ननु धर्मास्तिकायोऽहमित्यादि कोऽपि न ब्रूते तत्कथं घटत इति । अत्र परिहारः धर्मास्तिकायोऽयमिति योऽसौ परिच्छित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते यथा घटाकारविकल्पपरिणतिज्ञानं घट इति । तथा तद्धर्मास्तिकायोऽयमित्यादिविकल्पो यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीवः तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति। तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽहमिति विकल्पमुपचारेण घटत इति भावार्थः।" [२]

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ५०

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १०२

शंका:- "मैं धर्मास्तिकाय हूँ" इत्यादि कोई नहीं कहता, वह कैसे घटित होता है।

समाधान:- यहाँ पर परिहार कहते हैं:- यह धर्मास्तिकाय है, ऐसा जो जानने रूप विकल्प मन में होता है, वह भी उपचार से धर्मास्तिकाय कहा जाता है। जिस प्रकार घटाकार विकल्प रूप से परिणत ज्ञान घट है उसी प्रकार यह धर्मास्तिकाय है, इत्यादि विकल्प जब जीव ज्ञेय तत्त्व के विचार काल में करता है तब शुद्धात्म स्वरूप का विस्मरण होता है। वह विकल्प करने पर "मैं धर्म हूँ" यह विकल्प उपचार से घटित होता है। ऐसा भावार्थ है।

इस प्रकार पाठक की जिज्ञासा शमन के लिए बहुत प्रश्नोत्तर किये हैं।

१०. क्रमश: अनेक प्रश्नोत्तरों का प्रयोग :-

जब तक विषय प्रश्नकार के मन में पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं होता, विषय वस्तु का आकलन नहीं होता, तब तक प्रश्नोत्तरों की मालिका क्रम से आगे जाती ही है। कालद्रव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए क्रमशः चार प्रश्नोत्तर किये हैं -

१) "किंच अन्येन क्रियाविशेषेणादित्यगत्यादिना परिच्छिद्यमानोऽन्यस्य जातकादेः परिच्छित्तिहेतुः स एव कालोऽन्यो द्रव्यकालो नास्तीति । तन्न पूर्वोक्तसमयादिपर्यायरूपः आदित्यगत्यादिना व्यज्यमानः स व्यवहारकाल: यश्चादित्यगत्यादिपरिणते: सहकारिकारणभूतः स द्रव्यरूपो निश्चयकालः।"

अन्य सूर्य की गति आदि क्रिया विशेष से जाना जाने वाला अन्य बालक के ज्ञान का कारण है, वही काल है, अन्य द्रव्य काल नहीं है। वैसा नहीं है। पूर्वोक्त समय आदि पर्याय रूप सूर्य की गति आदि से व्यक्त होने वाला वह व्यवहार काल है और जो सूर्य आदि की गति आदि की परिणति का सहकारी कारणभूत है, वह द्रव्य रूप निश्चय काल है।

२) "ननु आदित्यगत्यादिपरिणतेर्धर्मद्रव्यं सहकारिकारणं कालस्य किमायातं । नैवं गतिपरिणतेर्धर्मद्रव्यं सहकारिकारणं भवति कालद्रव्यं च सहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्ति यतः कारणात् घटोत्पत्तौ कुम्भकारचक्रचीवरादिवत् मत्स्यादीनां जलादिवत् मनुष्याणां शकटादिवत् विद्याधराणां विद्यामन्त्रौषधादिवत् देवानां विमानवदित्यादि कालद्रव्यं गतिकारणम्।

शंका :- सूर्य की गति आदि की परिणति का धर्म द्रव्य कारण भूत है तो काल का प्रयोजन उसमें क्यों है?

समाधान:- ऐसा नहीं है। गति परिणति का धर्म द्रव्य सहकारी कारण है और काल भी सहकारी कारण है। सहकारी कारण बहुत भी होते हैं। घट की उत्पत्ति में कुंभकार, चक्र चीवर

आदि के समान, मत्स्यादिकों की जलके समान, मनुष्यों को शकट आदि के समान, विद्याधरों को विद्या मंत्र औषधि आदि के समान, देवों को विमान के समान, काल द्रव्य गति का कारण है।

३) ऐसा कहाँ पर कहा है। "पोग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणे हिं" जीवों को पुद्गल निमित्त है और स्कन्धों को काल निमित्त है।

४) शंका :- जितने काल के द्वारा पुद्गल परमाणु एक प्रदेश का अतिक्रमण करता है, उतने प्रमाण से समय का व्याख्यान किया है। यदि ऐसा है तो वह एक समय में चौदह राजु गमन करता है तब जितने प्रदेश होते हैं, उतने समय होंगे ?

समाधान :- ऐसा नहीं है। एक प्रदेश के अतिक्रमण के द्वारा जो समय की उत्पत्ति कही है, वह मंदगति के गमन से है। जो एक समय में चौदह राजु गमन कहा है, वह अक्रम से शीघ्र गति से कहा है, इसलिए दोष नहीं है।[१]

इस प्रकार एक काल द्रव्य के विषय में क्रमश: प्रश्नोत्तर किये हैं।

११. पुनरुक्तदोष का परिहार करने के लिए प्रश्नोत्तर :-

किसी स्थान पर ऊपर ऊपर से अवलोकन करने से पुनरुक्तपना भासित होता है, परन्तु वहाँ पुनरुक्त पना नहीं है। वहाँ पुनः विषय प्रतिपादन का कुछ अन्य विशेष प्रयोजन है। उस प्रयोजन के स्पष्टीकरण के लिए और पुनरुक्त दोष का निराकरण करने के लिए अनेक स्थलों में प्रश्नोत्तर किये हैं । वह इस प्रकार हैं :-

"ननु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति जीवाधिकारे व्याख्यातमस्मिन्न-जीवाधिकारेऽपि तदेवेति पुनरुक्तमिदं? तन्न विस्तररूचिशिष्यं प्रति नवाधिकारैः समयसार एव व्याख्यायते न पुनरन्यदिति प्रतिज्ञावचनं । तत्रापि समयसारव्याख्यानमत्रापि समयसार-व्याख्यानमेव यदि पुन: समयसारं त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभङ्ग इति नास्ति पुनरुक्तं अथवा भावनाग्रन्थे समाधिशतकपरमात्म-प्रकाशादिग्रन्थवद्रागिणां श्रृङ्गारकथावद्वा पुनरुक्तदोषो नास्ति। अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता अत्राजीवस्य मुख्यता। विवक्षितो मुख्य इति वचनात्। अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण। अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानम् अत्र तु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति निषेधमुख्यतया व्याख्यानम्। किंवत् ? एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति। [२]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति गा.२५

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ७३

शंका:- रागादि जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसा जीवाधिकार में व्याख्यान किया गया है। इस अजीवाधिकार में भी वही कहा है। यह पुनरुक्त है।

समाधान: वैसा नहीं है। विस्तार रुचि शिष्य के प्रति नौ अधिकारों से समयसार का ही व्याख्यान किया जाता है। न पुनः अन्य किसी का । इस प्रकार प्रतिज्ञा वचन है। वहाँ पर भी समयसार का व्याख्यान है, यहाँ पर भी समयसार का ही कथन है। यदि पुन: समयसार को छोड़कर अन्य का व्याख्यान किया जाता, तब प्रतिज्ञा भंग होती। इसलिए पुनरुक्त नहीं है। अथवा भावना ग्रन्थ में समाधिशतक परमात्म प्रकाश आदि ग्रन्थ के समान अथवा रागी जीवों के श्रृंगार कथा के समान पुनरुक्त दोष नहीं है। अथवा वहाँ जीव की मुख्यता है, यहाँ अजीव की मुख्यता है। क्योंकि विवक्षित मुख्य होता है, ऐसा वचन है। अथवा वहाँ सामान्य व्याख्या है, परन्तु यहाँ विस्तार से व्याख्यान है। अथवा वहाँ रागादि से भिन्न जीव है, इस प्रकार विधि की मुख्यता से व्याख्यान है। परन्तु यहाँ रागादि जीव का स्वरूप नहीं है, इस प्रकार निषेध मुख्यता से व्याख्यान है। किसके समान ? एकत्व अन्यत्व अनुप्रेक्षा के प्रसंग में विधि और निषेध के व्याख्यान के समान |

१२. प्रश्नोत्तर में व्यंग :-

किसी स्थान में प्रश्नोत्तरों में व्यंगों का भी प्रयोग किया है, वह इस प्रकार है:-

"ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्तं भवता व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माकं सम्मतमेव तन्नारकादिदुःखं भवतामिष्टं चेत्तर्हि हिंसां कुरुत | भीतिरस्ति?' इति चेत् तर्हि त्यज्यतामिति ।"[१]

शंका:- तथापि व्यवहार से हिंसा हुई, परन्तु निश्चय से नहीं ।

समाधान:- आपने सत्य कहा है। व्यवहार से हिंसा है, उसी प्रकार पाप भी, नारकादि दुःख भी व्यवहार से हैं, यह हमें सम्मत ही है। आपको नारकादि दुःख इष्ट हैं तो हिंसा करो, भीति है तो त्याग करो ।

इस प्रकार कहीं पर आगम से और कहीं पर तर्क से तथा कहीं पर प्रत्यक्ष अनुभव से समाधान किया है। जब आगम से पर्याप्त समाधान नहीं होता तब तर्क का आश्रय करके समाधान करते हैं। इस प्रकार जयसेन आचार्य ने प्रश्नोत्तर के माध्यम से विषय का मर्म उद्घाटित किया है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३५८-३७०

तर्क प्रधान न्याय शैली :-

तर्क युक्तियों से परोक्ष पदार्थों की सिद्धि के लिए अथवा निश्चय के लिए न्याय शास्त्र का उद्गम हुआ है। प्रमाणों से अर्थ परीक्षण करना न्याय है।[१] ऐसा कहा है। अथवा साध्य साधन सम्बन्धी अज्ञान निवृत्ति रूप साक्षात् स्व अर्थ के निश्चय करने रूप फल में जो साधकतम् है वह तर्क है।[२] ऐसा कहा है। साध्य और साधन में जो अविनाभाव रूप व्याप्ति है, उसके परिज्ञान में जो साधकतम है, वह तर्क है। जिस प्रकार जहाँ जहाँ धूमपना है वहाँ वहाँ अग्निमानपना है। पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार ये तीनों भी ग्रन्थ आध्यात्मिक हैं, इसलिए उनकी वृत्ति रचना में द्रव्यानुयोग की प्रतिपादक न्याय पद्धति स्वीकृत की है। जयसेन आचार्य ने स्थान स्थान पर अन्य मतों की मिथ्या मान्यताओं का न्याय युक्तियों से खंडन करके जैन मत सम्मत मान्यताओं का मंडन किया है। वह इस प्रकार है:-

"क्षणिकैकान्ते किं दूषणं? येन घटादिक्रिया प्रारब्धा स तस्मिन्नेव क्षणे गतः क्रियानिष्पत्तिर्नास्तीत्यादि। नित्यैकान्ते च योऽसौ तिष्ठति स तिष्ठत्येव सुखी सुख्येव, दुःखी दुख्येवेत्यादिटङ्कोत्कीर्णनित्यत्वेन पर्यायान्तरं न घटते, परस्परनिरपेक्षद्रव्यपर्यायोभयैकान्ते पुनः पूर्वोक्तदूषणद्वयमपि प्राप्नोति। जैनमते पुनः परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायत्वान्नास्ति दूषणम् इति।"[३]

क्षणिक एकान्त में क्या दूषण है जिसके द्वारा घटादि क्रिया प्रारम्भ की गई, वह उसी क्षण में गया, क्रिया की निष्पत्ति नहीं है, इत्यादि। नित्य एकान्त में, जो स्थित है वह स्थित ही रहेगा। सुखी, सुखी ही रहेगा, दुःखी, दुःखी ही रहेगा, इत्यादि। टंकोत्कीर्ण नित्यपना होने से पर्यायान्तर घटित नहीं होता। परस्पर निरपेक्ष द्रव्य पर्याय उभयैकान्त में पुनः पूर्वोक्त दोनों दोष प्राप्त होते हैं। जैन मत में पुन: परस्पर सापेक्ष द्रव्य पर्यायपना होने से दूषण नहीं है।

इस प्रकार प्रमाण सप्तभंगी, केवली कवलाहार निषेध, सर्वज्ञ सिद्धि इत्यादि विषयों में प्रयुक्त अति निस्तुष तर्क युक्ति दर्शनीय ही है। उपर्युक्त विषय मूल से ही पठनीय है, पूर्व अध्याय में लिखे हैं, वहाँ से जानना चाहिए।

---

१. न्याय दर्शन भाष्य, अ.१, आह्निक - १, सू. १, पृ.सं. ३, मुजफ्फरनगर, सन् १९३४

२. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, पु.३, अ.१, सू.१३, वा. ११९,पृ.स.२६८ कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, प्रथम संस्करण, सन् १९४९-१९५६

३. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. १०

पञ्चास्तिकायसंग्रह और प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में तर्क प्रमाण का अधिकतर प्रयोग किया है। वहाँ अमूर्त द्रव्यों की सिद्धि, तर्क युक्तियों से सिद्ध की है। काल द्रव्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त सशक्त तर्क देखिये :-

"कश्चिदाह समयरूप एव परमार्थकालो न चान्य: कालाणुद्रव्यरूपः इति। परिहारमाह समयस्तावत्सूक्ष्मकालरूपः प्रसिद्ध स एव पर्यायो, न च द्रव्यम्। कथं पर्यायत्वमिति चेत् उत्पन्नप्रध्वंसित्वात्पर्यायस्य 'समओ उप्पण्णपद्धंसीति' वचनात्। पर्यायस्तु द्रव्यं विना न भवति द्रव्यं च निश्चयेनाविनश्वरं, तच्च कालपर्यायस्योपादानकारणभूतं कालाणुरूपं कालद्रव्यमेव न च पुद्गलादि। तदपि कस्मात् उपादानकारणसदृशत्वात्कार्यस्य मृत्पिण्डोपादानकारणसमुत्पन्न-घटकार्यवदिति। किञ्च कालशब्द एव परमार्थकालस्वरूपं व्यवस्थापयति साधयति।"[१]

कोई कहता है कि समयरूप परमार्थ काल है। अन्य कालाणु द्रव्य रूप नहीं हैं। परिहार कहते हैं :- प्रथम तो समय सूक्ष्म काल रूप प्रसिद्ध है, वही पर्याय है, द्रव्य नहीं है। पर्यायपना कैसे है, ऐसा पूछने पर कहते हैं:- पर्याय उत्पन्न ध्वन्सी है समय उत्पन्नध्वंसी है, ऐसा वचन है। परन्तु पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती और द्रव्य निश्चय से अविनश्वर है। वह काल पर्याय का उपादान कारणभूत कालाणु रूप काल द्रव्य ही है, पुद्गल आदि नहीं। वह भी किस कारण से ? क्योंकि कार्य उपादान कारण के सदृश होता है। मृत पिंड उपादान कारण से उत्पन्न घटादि के समान। काल शब्द ही परमार्थ काल स्वरूप को सिद्ध करता है।

अनुमान के पक्ष हेतु दृष्टान्त रूप तीन अवयवों का प्रयोग बहुत स्थानों में किया है। वह इस प्रकार है:

१) *"रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षः परमसमाधिस्थपुरुषैः शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुः किट्टकालिकास्वरूपात् सुवर्ण-वदिति दृष्टान्तः।"*[२]

रागादिकों से भिन्न शुद्ध जीव है, ऐसा पक्ष है। क्योंकि परम समाधिस्थ पुरुषों के द्वारा शरीर रागादिकों से भिन्न चिदानन्दैक स्वभावी शुद्ध जीव की उपलब्धि होती है, यह हेतु है। किट्ट कालिमा स्वरूप से भिन्न स्वर्ण के समान, यह दृष्टान्त है।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. २६

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा.४९

२) *देहात्मनोरत्यन्तं भेदः इति पक्षः भिन्नलक्षणलक्षितत्वादिति हेतु : जलानलवदिति दृष्टान्त: इति।* [१]

देह और आत्मा में अत्यन्त भेद है, ऐसा पक्ष है, क्योंकि भिन्न लक्षण से लक्षित है, यह हेतु है। जल और अग्नि के समान, यह दृष्टांत है।

सामान्य लिंगों के सुख से सुबोध होने के लिए किन्हीं स्थानों में पाँच अवयवी अनुमान पद्धति भी प्रयुक्त की है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन-ये अनुमान के पाँच अवयव हैं। सर्वज्ञ की सिद्धि के लिए पाँच अवयवों का प्रयोग किया है।

"सूक्ष्माव्यवहितदेशान्तरितकालान्तरितस्वभावान्तरितार्था धर्मिणः कस्यापि पुरुष-विशेषस्य प्रत्यक्षा भवन्तीति साध्यो धर्मः। कस्माद्धेतोः। अनुमानविषयत्वात् यद्यदनुमानविषयं तत्तत्कस्यापि प्रत्यक्षं दृष्टं, यथाग्न्यादि, अनुमानविषयाश्चैते तस्मात्कस्यापि प्रत्यक्षा भवन्तीति संक्षेपेण सर्वज्ञसद्भावे प्रमाणं ज्ञातव्यम्।"[२]

सूक्ष्म, अव्यवहित, देशान्तरित, कालान्तरित भावान्तरित पदार्थ-धर्मी। किसी पुरुष विशेष के प्रत्यक्ष हैं, यह साध्य धर्म है। किस कारण से ? क्योंकि अनुमान का विषयपना है। जो जो अनुमान का विषय है, वह वह किसी के प्रत्यक्ष देखा गया है। जिस प्रकार अग्नि आदि | ये अनुमान के विषय हैं, इसलिए किसी के प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार संक्षेप से सर्वज्ञ के सद्भाव में प्रमाण जानना चाहिए |

परमत के निराकरण के लिए दो पक्ष उपस्थित करके, उसमें दोष दिखा करके स्वपक्ष के साधन रूप न्याय पद्धति भी उन्होंने अंगीकृत की है। ज्ञान और ज्ञानी के समवाय सम्बन्ध का निराकरण करने में यह पद्धति प्रयुक्त है, वह इस प्रकार है :-

"ज्ञानसमवायात्पूर्वं जीवो ज्ञानी किं वाऽज्ञानीति विकल्पद्वयमवतरति। तत्र यदि ज्ञानी तदा ज्ञानसमवायो व्यर्थो यतो ज्ञानित्वं पूर्वमेव तिष्ठति अथवाऽज्ञानी तत्रापि विकल्पद्वयं किमज्ञानगुणसमवायादज्ञानी किं स्वभावेन वा न तावदज्ञानगुणसमवायादज्ञानिनो जीवस्या-ज्ञानगुणसमवायो वृथा येन कारणेनाज्ञानित्वं पूर्वमेव तिष्ठति अथवा स्वभावेनाज्ञानित्वं तथैव ज्ञानित्वमपि स्वभावेनैव गुणत्वादिति।"[३]

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ४९

२. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.२९

३.वहीं पर, गा. ४९

ज्ञान समवाय से पूर्व जो ज्ञानी है कि अज्ञानी है, ऐसे दो विकल्प अवतरित होते हैं। उसमें यदि ज्ञानी है, तब ज्ञान का समवाय व्यर्थ है क्योंकि ज्ञानीपना पहले से है। अथवा अज्ञानी है, तब भी दो विकल्प होते हैं। क्या अज्ञान गुण के समवाय से अज्ञानी है, कि स्वभाव से है। प्रथम अज्ञान गुण के समवाय से तो अज्ञानी नहीं है। जीव के अज्ञान गुण का समवाय व्यर्थ है। जिस कारण अज्ञानीपना पहले ही है। अथवा स्वभाव से अज्ञानीपना है, तो ज्ञानीपना भी स्वभाव से ही है, क्योंकि उसमें गुणपना है।

विपरीत पक्ष में दोष परम्परा दिखाने रूप न्याय शैली उन्होंने आत्मसात की है। वह इस प्रकार है :-

"यथा शुद्धनिश्चयेन रागाद्यकर्तृत्वमात्मनः तथा यद्यशुद्धनिश्चयेनाप्यकर्तृत्वं भवति तदा द्रव्यकर्मबन्धाभावस्तदभावे संसाराभाव: संसाराभावे सर्वदैव मुक्तप्रसङ्गः स च प्रत्यक्षविरोध इत्यभिप्रायः।"[1]

जिस प्रकार शुद्ध निश्चय से आत्मा का रागादि अकर्तृत्व है, उसी प्रकार यदि अशुद्ध निश्चय से भी अकर्तृत्व है, तब द्रव्य कर्मबन्ध का अभाव होगा | उसके अभाव में संसार का अभाव, संसार के अभाव में सर्वदा ही मुक्त प्रसंग आयेगा और वह विरोध है, ऐसा अभिप्राय है।

जयसेन आचार्य की वर्णन शैली विशेष साधन और फल के आश्रित न्यायात्मिका है। उन्होंने अपनी वृत्तियों में सर्वत्र विषय, साधन, फलों की चर्चा की है। विषय निजध्रुव शुद्ध आत्मा कहा है। प्रत्येक गाथा के भावार्थ में शुद्धात्मा ही उपादेय है, श्रद्धान करने योग्य, जानने योग्य और ध्यान करने योग्य कहा है। वह इस प्रकार है :-

"शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनाविनश्वरमनन्तज्ञानादिरूपं शुद्धजीवास्तिकायाभिधानं शुद्धात्म-द्रव्यं रागादिपरिहारेणापादेयरूपेण भावनीयमिति।"[2]

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अविनश्वर अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध जीवास्तिकाय नामक शुद्धात्म द्रव्य रागादि परिहार से उपादेय रूप से भावना करने योग्य है।

साधन भावश्रुतज्ञान रूप प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय कहा है। वह इस प्रकार है :-

" तच्च श्रुतज्ञानस्वसंवेदनज्ञानरूपेण यदात्मग्राहकं भाव श्रुतं तत् प्रत्यक्षम् |" [3]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा. ५९

२. वहीं पर गा. १९

३. वहीं पर गा. १०६

वह श्रुतज्ञान स्वसंवेदनज्ञान रूप से जो आत्मग्राहक भावश्रुतज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है। जब श्रुतज्ञान रूप प्रत्यक्ष स्वसंवेदन ज्ञान साधन से निजध्रुव शुद्धात्मा विषय किया जाता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द रूप फल प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन वीतराग चारित्र अथवा मोक्ष फल कहा जाता है।

उन्होंने स्वेच्छाचार का निषेध करने के लिए व्यवहार और निश्चय में सुमेल दिखाकर अपूर्वन्याय युक्ति प्रयुक्त की है। निश्चय नय से, जीव से प्राण भिन्न हैं, ऐसा सुनकर कोई प्रमाद युक्त लोग स्वच्छंद हिंसा का आचरण करेंगे, अत: उसका निषेध करने के लिए युक्तियों से, नय विभाग से सामञ्जस्य स्थापित किया है, वह इस प्रकार है :-

"कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथं हिंसा अथ भिन्नास्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायातम् ? तत्रापि हिंसा नास्तीति । तन्न कायादिप्राणैः सह कथञ्चिद् भेदाभेदः। तप्तायःपिण्डवद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेदः । निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेदः । यद्येकान्तेन भेदो भवति तर्हि यथा परकीये काये छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दु:खं न भवति तथा स्वकीये कायेऽपि दु:खं न प्राप्नोति। न च तथा प्रत्यक्षविरोधात्।"[१]

कोई कहता है कि जीव से प्राण भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं। यदि अभिन्न हैं तब जिस प्रकार जीव का विनाश नहीं होता, उसी प्रकार प्राणों का भी विनाश नहीं होता, हिंसा कैसे होगी ? अब भिन्न हैं, ऐसा कहेंगें तो जीव का प्राणघात होने पर भी क्या हुआ, वहाँ भी हिंसा नहीं हुई तो कायादि प्राणों के साथ कथञ्चित् भेदाभेद नहीं है। तपे हुए लोहे के गोले के समान वर्तमान काल में भिन्न नहीं कर सकते, उस कारण से व्यवहार से अभेद है। निश्चय से पुन: मरण काल में कायादि प्राण जीव के साथ ही नहीं जाते, उस कारण से भेद है। यदि एकान्त से भेद है, तब जिस प्रकार दूसरे के शरीर का छेद करने पर भेद करने पर भी, दु:ख नहीं होता, उसी प्रकार अपने शरीर के छेदे भेदे जाने पर दु:ख नहीं होगा । वैसा तो नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष विरोध है।

इस प्रकार अन्यत्र भी स्वेच्छाचार का निषेध किया है। संक्षेप से इस प्रकार कह सकते हैं कि तीनों ग्रन्थों के ऊपर लिखी हुई तात्पर्यवृत्ति तर्क युक्तियों से परिपूर्ण हैं। सर्वत्र तर्क, हेतु,

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति गा. ३५८

युक्तियों से सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस प्रकार तर्क युक्तियों से परिपूर्ण होने पर भी कहीं पर भी क्लिष्टत्व अथवा कठिनता दिखाई नहीं देती, प्रत्युत सर्वत्र सरलत्व माधुर्य का साम्राज्य दिखाई देता है। तर्क से परिपूर्ण होने पर भी तात्पर्यवृत्ति सामान्यजनों के लिए सहज बोधगम्य और सुलभ है।

निष्कर्ष :-

१) जयसेन आचार्य की व्याख्यान पद्धति अतीव सरल हृदयग्राही, सहज बोधगम्य अर्थ को प्रकट करने वाली है। उससे उनका सरल व्यक्तित्त्व प्रकाशित होता है। शब्द, नय, मत, आगम और भावार्थ रूप पंचार्थ प्रतिपादन शैली उनकी सृजनशीलता को प्रकाशित करती है।

२) प्रश्नोत्तर के माध्यम से पाठकों का अन्त:करण निःशल्य करके उन्होंने अपने वक्तृत्व की कुशलता दिखाई है।

३) लोक जीवन में प्रयुक्त दृष्टान्तों के प्रयोग से दुग्ध शर्करा योग के समान वृत्तियों का माधुर्य संवर्द्धित हुआ है। उससे अध्येताओं के मन में गूढार्थ भी सहज ग्राह्य होता है।

४) आध्यात्मिक विषयों का विवेचन आगम के आलोक से स्पष्ट करके अपनी आगमज्ञता, सिद्धान्त शास्त्र विषयक कुशलता और आस्था उन्होंने प्रदर्शित की है। आगम और अध्यात्म में सुन्दर समन्वय सम्पादित करके उन्होंने अध्यात्म वेत्ताओं के ऊपर महान उपकार किया है।

****

छठा अध्याय

जयसेन आचार्य विरचित वृत्ति ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन

अमृतचन्द्र आचार्य विरचित टीकाओं के साथ तौलनिक विवेचन :-

आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा विरचित समयसार, पञ्चास्तिकायसंग्रह, प्रवचनसार नामक तीन ग्रन्थों के ऊपर अनेक आचार्यों के द्वारा टीकाऐं लिखी गई हैं। अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा विरचित टीकाएं उपलब्ध टीकाओं में प्राचीन हैं। पञ्चास्तिकायसंग्रह के ऊपर समय व्याख्या, प्रवचनसार के ऊपर तत्त्व दीपिका, समयसार के ऊपर आत्मख्याति नामक टीकाऐं विरचित हैं। अमृतचन्द्र आचार्य प्रतिभाशाली, तार्किक, आत्मरस में निमग्न, परम अध्यात्मिक संत थे। ये केवल सफल टीकाकार ही नहीं, अपितु रससिद्ध कवि और मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता हैं। संस्कृत भाषा में इनका असाधारण प्रभुत्व था। अध्यात्म रस पूरित इनकी रचनाएँ संस्कृत भाषा की अपूर्व अनुपम निधि ही हैं। गद्य और पद्य रचना में इनका समान अधिकार था। उनके द्वारा स्वरचित टीकायें पद्य मिश्रित गद्य में और मौलिक ग्रन्थ पद्य में निबद्ध है।

अमृतचन्द्र आचार्य के दो सौ वर्ष बाद जयसेन आचार्य हुए। उन्होंने उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के ऊपर ही वृत्तियाँ रची हैं, यह पहले विदित है। अमृतचन्द आचार्य सदृश समर्थ आचार्य के द्वारा विरचित अद्वितीय, अनुपम, अध्यात्म रस गर्भित टीकायें विराजित होते हुए भी जयसेन आचार्य ने वृत्ति रचना का प्रयास किया। वहाँ यही कारण प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्र आचार्य की न्याय शास्त्र से समर्पित विषय निरूपण की भाषा शैली प्रौढ, गम्भीर, गूढार्थ परिपूर्ण, विद्वतजन वेद्य है। वह अल्प बुद्धि सामान्य जनों को जानने के लिए दुरूह और दुर्बोध है। इसलिए मन्द बुद्धि जनों के उपकारार्थ जयसेन आचार्य ने सरल, सुबोध, सर्वजन वेद्य वृत्तियां रची हैं। जिनको भाषा प्रौढत्व के कारण वहाँ तत्त्व जानना अशक्य है, उनके लिए इनकी वृत्तियाँ सहज, सुख साधन हस्तावलंबन रूप हैं। यहाँ सन्धि और समासों का बन्धन नहीं है, इसलिए सरल सुबोध होने से तत्त्व हृदय में अवतरित होता है।

दो आचार्यों की टीकाओं में सादृश्य :-

प्राय: अमृतचन्द आचार्य के द्वारा कहे हुए अर्थ और अभिप्राय को विशद करके उन्होंने ही प्रयुक्त दृष्टान्त का आश्रय करके सुगम भाषा में जयसेन आचार्य ने प्रमेय कहा है। कितने ही स्थानों में जयसेन आचार्य, अमृतचन्द्र आचार्य का छाया के समान अनुसरण करते हैं। कहीं

कहीं पर जयसेन आचार्य ने अमृतचन्द्र आचार्य का सम्पूर्ण भाव और भाषा भी आत्मसात् की है, वह इस प्रकार है :-

"यो हि नियतस्वलक्षणावलम्बिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता, सोऽयमहं ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायान्तोऽत्यन्तं मत्तो भिन्नाः । ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि।" [१]

जो नियत स्वलक्षण अवलम्बनी प्रज्ञा से प्रविभक्त चेतयिता है वह यह मैं हूँ जो ये अवशिष्ट अन्यत्व लक्षण से लक्षित होने योग्य व्यवह्रयमान भाव हैं वे सभी चेतयिता व्यापक के व्याप्यपने को प्राप्त न होते हुए अत्यन्त मुझसे भिन्न हैं, इसलिए मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिए ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता है।

"यो हि निश्चयतः स्वलक्षणावलम्बिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं ये त्वमी अवशिष्टा अन्ये स्वलक्षणलक्ष्या व्यवहियमाणा भावास्ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायान्तोऽत्यन्तं मत्तो भिन्नास्ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि, यत्किल..... / जयसेनाचार्यः"[२]

इस प्रकार कतिपय स्थानों में अमृतचन्द्र आचार्य का ही टीकांश अथवा कलश जयसेन आचार्य ने यथावत उद्धृत किया है। दोनों आचार्यों की टीकाओं में कहीं पर भी परस्पर विरोध दिखाई नहीं देता। सर्वत्र समानता का ही साम्राज्य दिखाई देता है। सर्वत्र आचार्य जयसेन, अमृतचन्द्र आचार्य का ही अनुसरण करते हुए चलते हैं। कदाचित क्वचित वे स्पष्टीकरण रूप से विशेष विवरण करते हुए अन्य अनुयोग के ग्रन्थों का संदर्भ में प्रश्न उत्पन्न करके उसका उत्तर रूप से सुसंवाद साधते हुए प्रतिभाषित होते हैं।

जिस प्रकार अमृतचन्द्र आचार्य की अध्यात्म रुचि थी, उसी प्रकार जयसेन आचार्य की भी अध्यात्म में अतीव रुचि थी । दोनों भी आध्यात्मिक रहस्य को जानने वाले शुद्धात्मानुभवी थे। यह दोनों की टीका और वृत्तियों के देखने से सम्यक् जाना जाता है।

दोनों आचार्यों ने भी मुमुक्षु भव्य जीवों को आत्मानुभव साधने के लिए प्रेरणा की है। अमृतचन्द आचार्य कलश काव्य रूप से प्रेरित करते हैं और जयसेन आचार्य गाथा के

---

१. अमृतचन्द आचार्यकृत आत्म ख्याति गा.सं. २९७

२. समयसारतात्पर्यवृत्तिः, गा. ३१८

भावार्थरूप से प्रेरणा करते हैं। समयसार की पच्चीसवी गाथा की टीका के अनन्तर कलश काव्य में आत्मानुभव के लिए अमृतचन्द्र आचार्य ने प्रेरणा दी है , वह इस प्रकार है :-

"अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक् य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥"[१]

उपर्युक्त गाथा की वृत्ति में भावार्थ रूप से गद्य में जयसेन आचार्य प्रेरित करते हैं, वह इस प्रकार है :-

"एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकार-चैतन्यचमत्कारमात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ।"[२]

इस प्रकार शरीर और आत्मा में भेद जानकर मोह के उदय से उत्पन्न समस्त निकल्प जाल को छोड़कर निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र निज परमात्म तत्त्व में भावना करनी चाहिए। ऐसा तात्पर्य है। दोनों आचार्यों ने विषय का हार्द सरलता से जानने के लिए दृष्टांत शैली को स्वीकार किया है। उसी प्रकार दोनों ने तर्क शैली भी आत्मसात की है। इस प्रकार जयसेन आचार्य की वृत्तियाँ अमृतचन्द्र आचार्य की पूरक हैं।

दो आचार्यों की टीकाओं में वैसादृश्य : -

१) जो विषय अमृतचन्द्र आचार्य ने विस्तार से कहा है, उसी विषय को जयसेन आचार्य विस्तार न करके संक्षेप से लिखकर आगे जाते हैं। जिस प्रकार समयसार की दूसरी गाथा की टीका में अमृतचन्द्र आचार्य ने जीव शब्द का सात विशेषणों से हृदयग्राही वर्णन किया है, परन्तु जयसेन आचार्य ने केवल जीव शब्द का व्युत्पत्ति पूर्वक अर्थ कहा है। उसी प्रकार आत्मख्याति में बारहवी गाथा की टीका विस्तार से करके कलश काव्यों की भी रचना की है। परन्तु इसी गाथा की तात्पर्यवृत्ति में केवल शब्दार्थ मात्र लिखा है, भावार्थ भी नहीं कहा। उसी प्रकार तेरहवी गाथा की टीका में अमृतचन्द्र आचार्य ने नौ तत्त्वों में जीव अजीव रूप से विभाग करके उनमें भूतार्थपना और अभूतार्थपना प्रगट किया है। उसी प्रकार आत्मानुभूति की कला प्रसिद्ध की है। प्रमाण, नय, निक्षेपों के भी परिभाषा भेद प्रभेदों का वर्णन करके उनमें भूतार्थपना और

---

१. समयसार- आत्मख्यातिः, कलश २३

२. समयसारतात्पर्यवृत्तिः, गा. २८-३०

अभूतार्थपना प्रतिपादन किया है। परन्तु जयसेन आचार्य ने इस गाथा की वृत्ति अति संक्षेप से लिखी है।

आत्म ख्याति में उनचासवीं गाथा की टीका में अरस, अरूप, अस्पर्श अगन्ध आदिकों की छह छह प्रकार से की है इसलिए वह सैंतीस पंक्तियों में विस्तृत है। जयसेन आचार्य के द्वारा इस गाथा के ऊपर लिखित वृत्ति केवल शब्दार्थ के प्रतिपादन और आठ पंक्ति मात्र में संक्षिप्त की गई है। इस प्रकार उदाहरण रूप से बहुत स्थानों में कह सकते हैं। [1]

२) जहाँ अमृतचन्द्र आचार्य वर्णीय विषय को संक्षेप से कहकर आगे जाते हैं, वहाँ जयसेन आचार्य विस्तार से उसका विवेचन करते हैं। जिस प्रकार पञ्चास्तिकायसंग्रह की प्रथम गाथा की वृत्ति में जयसेन आचार्य ने मंगल आदि छहों की विस्तार से चर्चा की है, अमृतचन्द्र आचार्य ने उस विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। उसी प्रकार, इसी ग्रन्थ में तेईसवीं, चौबीसवीं आदि गाथाओं में कालद्रव्य की सिद्धि जयसेन आचार्य ने प्रश्नोत्तर के माध्यम से विस्तार से की है। परन्तु अमृतचन्द्र आचार्य ने संक्षेप से विषय वस्तु निरूपित की है। इस प्रकार अन्यत्र भी बहुत स्थानों में दिखाई देता है।[2]

समयसार की तीन सौ इक्तालीसवीं गाथा की वृत्ति के पश्चात् जयसेन आचार्य ने विस्तार से किस भाव से मोक्ष होता है, ऐसा उसका विचार किया है। अमृतचन्द आचार्य उस विषय में मौन हैं। पञ्चास्तिकायसंग्रह की जयसेन आचार्य की वृत्ति अमृतचन्द्र आचार्य कृत समय व्याख्या से अधिक विस्तृत और प्रमेय बहुलत्व दिखाई देती है। प्रवचनसार की जयसेन आचार्य की वृत्ति अमृतचन्द आचार्य की तत्त्वदीपिका से अति संक्षिप्त भाषित होती है।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जो प्रमेय अमृतचन्द्र आचार्य की लेखनी से अस्पृष्ट है, उस के ऊपर ही जयसेन आचार्य ने प्रकाश डाला है। जहाँ विषय विवेचन की आवश्यकता प्रतीत होती है, वहीं पर जयसेन आचार्य ने अपनी लेखनी चलाई है। कुछ भी अनावश्यक और पुनरुक्त नहीं लिखा। समयसार की पन्द्रहवीं गाथा में (जयसेन आचार्य के अनुसार - सत्रहवीं)

---

१. द्रष्टव्यम्-समयसारः गा. २,५,६,१२,१३,१५, पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहः, गा. ८ प्रवचनसारः, गा, ४७, ५९, ६४,८०, ९०, ९३, ९४, ९५, ९६,९७, ९८,९९, १००,१०२, १०६, १११, ११४, ११९, १२६, १६०, १७२, २०२, २२९, २३२, २३३

२. द्रष्टव्यम्- पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहः, गा. १, २, ५, १४, १६, २३, २४, २५, २६,२७,२९,४५, ४६,१५८,१५९,१६१, १७८, १८०, प्रवचनसारः, गा २०, ४०, १५८, १८१, १९६

आये हुए "अपदेससुत्तमज्झं" इस पद का अमृतचन्द्र आचार्य ने कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं किया। सामान्य शब्दार्थ भी नहीं किया। परन्तु जयसेन आचार्य ने अपनी बुद्धि से अच्छा अर्थ बताया है। वह इस प्रकार है :-

"अपदेशसूत्रमध्यम् अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत्। सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति यावत् तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति।"

जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाता है वह उपदेश, शब्द, द्रव्यश्रुत है । वह "अपदेससुत्तमज्झं" का अर्थ है। सूत्र अर्थात् जानने रूप भावश्रुतज्ञान समय। उस शब्द समय के द्वारा वाच्य और ज्ञान समय के द्वारा जानने योग्य अपदेश सूत्र मध्य कहा जाता है।

समयसार आत्मख्याति में बीसवीं गाथा से बाईसवीं गाथा पर्यन्त की टीका में भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल विषयक एकत्व और ममत्व को विस्तार से उदाहरण पूर्वक कहा है, इसलिए तात्पर्यवृत्ति में तद्विषयक विवेचन का संक्षेप करके जिसका विश्लेषण नहीं किया है, ऐसे सचित्त, अचित्त, मिश्र परिग्रहों का विश्लेषण गृहस्थ की अपेक्षा से, तपोधन की अपेक्षा और निर्विकल्प समाधिस्थ पुरूष की अपेक्षा से अच्छी तरह कहा है।

सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार में जयसेन आचार्य ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आत्मा के ही पर्याय विशेष रूप से घटित किये हैं। परन्तु अमृतचन्द्र आचार्य ने उसके विषय में कुछ भी चर्चा नहीं की है।

इस प्रकार जयसेन आचार्य ने केवली कवलाहार का निषेध, सर्वज्ञ सिद्धि, स्त्री मुक्ति का निराकरण इत्यादि अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा चर्चित विषयों की ही विशेष चर्चा की गई है।

जयसेन आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाओं से पूर्णतः उपकृत प्रतीत होते हैं। जिस कारण से वे सर्वत्र उनका प्रतिपादन ससम्मान स्वीकार करते हैं। परन्तु जहां नवीन प्रमेय कहना चाहते हैं, वहाँ विनय से सादर प्रस्तुत करते हैं।

३) अमृतचन्द्र आचार्य ने द्रव्यानुयोग शैली का अनुसरण करके शुद्ध अध्यात्म की प्रधानता से विषय वस्तु का विवेचन किया है । उन्होंने आगम के साथ अध्यात्म की संधि स्थापित करने के लिए विशेष प्रयास नहीं किया है। यद्यपि उनके द्वारा प्रणीत टीका में आगम के साथ विरोध नहीं है तथापि स्पष्ट रूप से उसका उल्लेख नहीं किया है। जयसेन आचार्य ने तो आगम और अध्यात्म का विरोध दूर करके उन दोनों में संगति साधने के लिए सफल प्रयास

किया है। उन्होंने आगम की अपेक्षा ऐसा है, अध्यात्म की अपेक्षा से ऐसा है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख जहाँ तहाँ किया है। जब द्रव्यानुयोग वर्णन का आगम के साथ विरोध प्रतिभासित होता है तब करणानुयोग शैली और चरणानुयोग शैली का आश्रय करके नय विवक्षा से विरोध दूर किया है।

पाठक शुद्ध अध्यात्म को पढकर के एकान्तिक न हों, यह विचार करके गुणस्थानों का आश्रय करके विवेचन कर सर्वत्र स्वच्छन्दता का निषेध किया है। समयसार की एक सौ इकसठवीं गाथा में व्रत नियमों को धारण करते हुए, शील और तप का आचरण करते हुए भी जो परमार्थ बाह्य हैं वे निर्वाण को प्राप्त नहीं होते। जो पुनः व्रत नियमों को न धारण करते हुए भी शील, तपश्चरण बाह्य द्रव्य रूप से न करते हुए भी परमार्थ से अबाह्य, मोक्ष को प्राप्त करते हैं ऐसा कहा है। वहाँ कोई मंदबुद्धि एकान्ती उसे सुनकर व्रत नियमों को निरर्थक मानकर उनसे विमुख होकर स्वच्छन्दी न हो, इसलिए जयसेन आचार्य ने प्रश्नोत्तर रूप से स्वेच्छाचार वृत्ति का निरास किया है। जहाँ अंन्तरंग शुद्धि होती हैं, वहां बहिरंग शुद्धि नियम से होती है। उन्हीं के शब्दों में :-

"न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरङ्गविषयव्यापारो दृश्यते। तन्दुलस्याभ्यन्तरे तुषे गते सति बहिरङ्गतुष इव। निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानविषयकषायव्यापारयोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धत्वात् शीतोष्णवदिति।"[१]

चित्त में स्थित रागभाव के विनष्ट होने पर बहिरंग विषय व्यापार दिखाई नहीं देता। तन्दुल के अन्तरंग तुष जाने पर, बाहर का तुष नहीं रहता। निर्विकल्प समाधिलक्षण भेद विज्ञान और विषय कषाय व्यापार इन दोनों में शीतलता और उष्णता के समान विरूद्धपना है।

आस्रव अधिकार में सम्यग्दृष्टि निरास्रव और अबंधक कहा है। वहाँ कोई हम सम्यग्दृष्टि हैं, हमें सर्वथा बन्ध नहीं है, ऐसे मिथ्याभिमान से दग्ध होकर स्वच्छंदी न हो, इसलिए कर्मकाण्ड ग्रन्थ गत गाथा को आधार करके गुणस्थान परिपाटी से बंधकपना और अबंधकपने को सिद्ध किया है।[२]

इस प्रकार जयसेन आचार्य ने अनेक स्थलों में आगम और अध्यात्म में संधि दिखाई है। अमृतचन्द्र आचार्य ने भी स्वच्छन्दता का निषेध किया है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १६१

२. वहीं पर, गा. १७४, १८१-१८६

४) अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा विरचित टीकाओं में निश्चय नय और व्यवहार नय इन दोनों मूल नयों का उल्लेख दिखाई देता है। उन दोनों में भेद प्रभेदों की विवक्षा नहीं की है। निश्चय नय की ही शुद्ध नय, भूतार्थ नय इत्यादि पर्यायवाची संज्ञाऐं प्रयुक्त की हैं। परन्तु जयसेन आचार्य की वृत्ति में व्यवहार नय का सद्भूतव्यवहार, असद्भूत व्यवहार, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार, इस प्रकार और निश्चय नय का शुद्ध निश्चय नय, अशुद्ध निश्चय नय इस प्रकार भेद प्रभेदों का उल्लेख पाया जाता है। कहीं पर एकदेश शुद्ध नय, कहीं पर सूक्ष्मनिश्चयनय, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय इत्यादि निश्चय नय के ही इतर नामों का भी नाम निर्देश दृष्टिगोचर होता है।[१] नयों के अवान्तर भेदों का नाम निर्देश करने से अल्प बुद्धि शिष्य, कहाँ पर किस नय की विवक्षा है, वह स्पष्ट रूप से जानने में समर्थ होता है। वह इस प्रकार है :-

"किञ्च रागादीनेवात्मा करोति तानेव भुङ्क्ते चेति निश्चयनयलक्षणमिदम् अयं तु निश्चयनयो द्रव्यकर्मबन्धप्रतिपादकासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको विवक्षित-निश्चयनयस्तथैवाशुद्धनिश्चयश्च भण्यते । द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्यशुद्धद्रव्य-निरूपणात्मकासद्भूतव्यवहारनयो भण्यते।"[२]

आत्मा रागादिकों का ही कर्ता है, उन्हीं को भोगता है, ऐसा निश्चय नय का लक्षण है। यह निश्चय नय द्रव्य कर्मबन्ध का प्रतिपादक असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से शुद्ध द्रव्य निरूपणात्मक विवक्षित निश्चय नय है, उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनय कहा जाता है। आत्मा द्रव्य कर्मों को करता है और भोगता है, ऐसा अशुद्ध द्रव्य निरूपणात्मक असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है।

पञ्चास्तिकायसंग्रह की सत्ताईसवी गाथा की टीका में अमृतचन्द्र आचार्य ने निश्चयनय व्यवहार नय की विवक्षा से ही जीव द्रव्य के नौ विशेषणों का विश्लेषण किया है, परन्तु जयसेन आचार्य ने शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चय नय, अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयों के नामों का उल्लेख पूर्वक विवरण किया है।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ३४१, ११६-११९

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २०२

५) कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा मूल गाथाओं में सभी जीवों की अज्ञानी और ज्ञानी, ऐसी दो ही श्रेणी की हैं। उसी प्रकार अमृतचन्द्र आचार्य ने भी सभी जीव दो श्रेणी में समाविष्ट किये हैं। उनमें मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा अज्ञानी कहा जाता है। अविरत सम्यग्दृष्टि आदि सभी ज्ञानी श्रेणी में अन्तर्गर्भित हैं। गुणस्थान परिपाटी से उनका विभाग नहीं किया है। परन्तु जयसेन आचार्य ने ज्ञानियों में गुणस्थान भूमिका के अनुसार विभाग करके जहाँ, जैसे, जितने रागादिकों का अभाव अथवा सद्भाव है, वहाँ, वैसे, उतने स्पष्ट रूप से निरूपण किया है। जिस प्रकार समयसार की बारहवी (जयसेन आचार्य की अपेक्षा-चौदहवी) गाथा में अपरम भाव में स्थित जीवों को व्यवहार नय प्रयोजनवान कहा है। वहाँ अपरमभाव की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है। वह इस प्रकार है :-

"अपरमे अशुद्धेऽसयंतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा स्थिताः..."

अपरम अर्थात् अशुद्ध असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा श्रावक की अपेक्षा से सराग सम्यग्दृष्टिलक्षण शुभोपयोग है और प्रमत्त अप्रमत्त संयत की अपेक्षा से भेद रत्नत्रय लक्षण में स्थित.....।

आगे आस्रव संवर अधिकार में भी चतुर्थादि गुणस्थानवर्तियों के नामोल्लेख पूर्वक यथायोग्य कहाँ, कैसे, किस प्रमाण से आस्रव बंध और संवर निर्जरा होते हैं उनका सम्यक् दिग्दर्शन किया है।[१]

इस प्रकार के स्पष्टीकरण से मंदबुद्धि जीवों के मन में कुछ शंका नहीं रहती है। वे स्पष्ट रूप से विवक्षा को जानने में समर्थ होते हैं।

६) आचार्य जयसेन प्रत्येक गाथा के पूर्व उत्थानिका नियम से देते हैं। परन्तु अमृतचन्द्र आचार्य इस नियम के प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे विषयवस्तु के आवश्यकतानुसार कदाचित कलश काव्य में ही उत्तर गाथा की भूमिका बनाते हैं, कदाचित गद्य में ही उत्थानिका कहते हैं, कहीं पर बिना कहे ही जाते हैं। अमृतचन्द्र आचार्य ने कहीं पर भी समुदाय पातनिका नहीं लिखी हैं। गाथा संख्या का भी उल्लेख नहीं किया है। परन्तु जयसेन आचार्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में, प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ में समुदाय पातनिका अवश्य लिखी हैं।

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति गा. १७४, १८१-१८६, २१२,२१३

भावी काल में कोई भी नूतन वृत्तिकार उक्त ग्रन्थों की गाथा संख्या का परिवर्तन करके न्यून अधिक संख्या न करे, ऐसा विचार करके ही उन्होंने पातनिका शैली को आत्मसात करके अधिकार के प्रारम्भ में प्रत्येक अधिकार के अन्तराधिकार, स्थल, गाथा संख्या, गाथागत विषय वस्तु सूचित की है। उसी प्रकार अधिकार की समाप्ति में और ग्रन्थ समाप्ति में इनका पुनः उल्लेख किया है। इसलिए वहाँ कोई भी परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है।

७) अमृतचन्द्र आचार्य और जयसेन आचार्य के द्वारा विरचित तीनों वृत्तियों की गाथा संख्याओं में अन्तर दिखाई देता है। पञ्चास्तिकायसंग्रह की अमृतचन्द्र आचार्य प्रणीत समय व्याख्या में एक सौ तिहत्तर गाथाऐं हैं, उस स्थान पर तात्पर्यवृत्ति में एक सौ इक्यासी गाथाऐं प्राप्त होती हैं। परन्तु जयसेन आचार्य समय व्याख्या में एक सौ इकहत्तर गाथा ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि चौबीसवी और एक सौ ग्यारहवीं गाथा के ऊपर अमृतचन्द्र आचार्य ने टीका नहीं लिखी है। जयसेन आचार्य ने यह स्वयं स्पष्ट किया है, वह इस प्रकार है :-

"प्रथमतस्तावत् इंदसदवंदियाणम् इत्यादिपाठक्रमेणैकादशोत्तरशतगाथाभिः पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यप्रतिपादनरूपेण प्रथमो महाधिकारोऽथवा स एवामृतचन्द्रटीकाभिप्रायेण त्र्यधिकशतपर्यन्तश्च। तदनन्तरं 'अभिवंदिऊण सिरसा' इत्यादि पञ्चाशद्गाथाभिः सप्ततत्त्वनव-पदार्थव्याख्यानरूपेण द्वितीयो महाधिकारः। अथ स एवामृतचन्द्रटीकाभिप्रायेणाष्टचत्वारिं-शद्गाथापर्यन्तश्च। अथानन्तरं 'जीवस्वभावो' इत्यादि विंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गमोक्षस्वरूप-कथनमुख्यत्वेन तृतीयो महाधिकार इति समुदायेनैकाशीत्युत्तरशतगाथा-भिर्महाधिकारत्रयं ज्ञातव्यम्।" [१]

प्रथमत: "इंदसदवंदियाणम्" इत्यादि पाठक्रम से एक सौ ग्यारह गाथाओं के द्वारा पाँच अस्तिकाय, छहद्रव्यों के प्रतिपादन रूप से पहला महाधिकार है, वही अमृतचन्द्र आचार्य टीका के अभिप्राय से एक सौ तीन गाथा पर्यन्त है। उसके पश्चात् "अभिवंदिऊण सिरसा" इत्यादि पचास गाथाओं के द्वारा सात तत्त्व, नौ पदार्थ के व्याख्यान रूप से दूसरा महाधिकार है, वही अमृतचन्द्र टीका के अभिप्राय से अड़तालीस गाथा पर्यन्त है। इसके पश्चात् "जीवस्वभावो" इत्यादि बीस गाथाओं के द्वारा मोक्षमार्ग, मोक्ष स्वरूप के कथन की मुख्यता से तीसरा महाधिकार है। इस प्रकार समुदाय रूप से एक सौ इक्यासी गाथाओं के द्वारा तीन महाधिकार जानने चाहिए।

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.२

प्रवचनसार के अमृतचन्द्र आचार्य विरचित तत्त्वदीपिका में दो सौ पचहत्तर गाथाऐं हैं। तात्पर्यवृत्ति में तीन सौ ग्यारह गाथाऐं प्राप्त होती हैं। समयसार के ऊपर अमृतचन्द्र प्रणीत आत्मख्याति में चार सौ पन्द्रह गाथाऐं हैं, उस स्थान पर तात्पर्यवृत्ति में चार सौ उनतालिस गाथाऐं प्राप्त होती हैं। दोनों की टीका और वृत्तियों में अधिकार संख्या और अधिकारगत गाथा संख्याओं में भी भिन्नत्व लक्षित होता है। अधिकारों के नामों में भी पृथक्त्व है।

पञ्चास्तिकायसंग्रह अमृतचन्द्र आचार्य की अपेक्षा से दो श्रुत स्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में एक सौ चार (अथवा १०३ गाथा) गाथा, दूसरे श्रुतस्कंध में उनहत्तर (अथवा ६८) गाथाऐं समाविष्ट हैं। जयसेन आचार्य की अपेक्षा से इसमें तीन महाधिकार हैं। पहले महाधिकार में एक सौ ग्यारह (१११) गाथाऐं, दूसरे में पचास (५०) और तीसरे में बीस (२०) गाथाऐं हैं। प्रवचनसार दोनों आचार्यों की अपेक्षा से तीन अधिकारों में विभक्त है। उनके नाम भिन्न भिन्न हैं। अमृतचन्द्र आचार्य की अपेक्षा से पहला ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन नामक महाधिकार है, उसमें बानवे (९२) गाथाऐं हैं। दूसरा ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन नामक महाधिकार है।

वहाँ एक सौ आठ (१०८) गाथाऐं हैं। तीसरा चरणानुयोग सूचक चूलिका नामक महाधिकार है, उसमें पचहत्तर (७५) गाथाऐं हैं। जयसेन आचार्य की अपेक्षा से पहले सम्यग्ज्ञान नामक महाधिकार में एक सौ एक गाथाऐं हैं, दूसरे सम्यग्दर्शन नामक महाधिकार में एक सौ तेरह गाथाऐं है, तीसरे सम्यक् चारित्र नामक महाधिकार में सत्तानवे (९७) गाथाऐं हैं।

समयसार के ऊपर अमृतचन्द्र विरचित आत्मख्याति पूर्वरंग को छोड़कर नौ अंकों में विभक्त है। पूर्वरंग में अडतीस (३८), जीवाजीव अधिकार नामक दूसरे प्रथम अंक में तीस (३०), कर्तृकर्म प्ररूपक दूसरे अंक में छिहत्तर (७६), पुण्य पाप अधिकार तीसरे अंक में उन्नीस (१९), आस्रव नामक चौथे अंक में सतरह (१७), संवर नामक पाँचवें अंक में बारह (१२), निर्जरा नामक छठे अंक में चवालीस (४४), बंध प्ररूपक सातवें अंक में इक्यावन, मोक्ष नामक आठवें अंक में बीस (२0), सर्व विशुद्ध ज्ञान नामक नौवें अंक में एक सौ आठ गाथा (१०८) संख्या हैं।

जयसेन आचार्य के द्वारा स्वरचित तात्पर्यवृत्ति दस (१०) अधिकारों में विभाजित है। उसमें सर्वप्रथम चौदह (१४) गाथाओं से पीठिका और एक अधिकार सूचिका गाथा है। उसके पश्चात् पहले जीव अधिकार में अट्ठाईस (२८), दूसरे अजीव अधिकार में तीस (३०), तीसरे कर्तृकर्म अधिकार में उन्यासी (७९) अथवा अठहत्तर (७८), चौथे पुण्य पाप अधिकार में उन्नीस (१९), पाँचवे आस्रव अधिकार में सत्रह (१७), छठे संवर अधिकार में चौदह (१४),

सातवें निर्जरा अधिकार में पचास (५०), आठवे बन्ध अधिकार में छप्पन (५६), नौवें मोक्ष अधिकार में बाईस (२२), दसवें सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में एक सौ दस (११०) गाथाऐं हैं। सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार भी दो भागों में विभाजित है।

मोक्ष पदार्थ चूलिका नामक प्रथम भाग में चौदह (१४) गाथा, समयसार चूलिका नामक दूसरे भाग में छियानवें (९६) गाथा हैं।

८) जयसेन आचार्य ने खण्डान्वय शैली का अनुसरण करके प्रत्येक पद की व्याख्या की है। कहीं कहीं शब्दों का व्युत्पत्ति अर्थ भी बताया है। अमृतचन्द्र आचार्य ने खण्डान्वय शैली का अनुसरण नहीं किया है। गाथा का समुच्चयरूप से अर्थ प्रतिपादन करने से अमृतचन्द्र कृत टीका में एक प्रवाहपना दिखाई देता है। धारा प्रवाह रूप से पाठक उनकी टीका पढकर भाव ग्रहण करता है। एक एक पद को ग्रहण करके प्ररूपणा करने से जयसेनकृत वृत्ति में एक प्रवाहता दृष्टिगोचर नहीं होती है। वहाँ पाठकों को भाव ग्रहण करने में अवरोध होता है। इस दोष को दूर करने के लिए शब्दार्थ प्रतिपादन के अनन्तर तथाहि, किञ्च इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके भाव ग्रहण करने के लिए गाथा का सारांश व्यक्त किया है। खण्डान्वय शैली से सामान्य पाठक गाथागत प्रत्येक शब्द के अर्थ को जानने में समर्थ होता है।

मूल ग्रन्थ कर्ता का विषय अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा क्रमबद्ध और प्रवाहशील किया गया है। जयसेन आचार्य ने प्रत्येक पद का व्याख्यान करके सुपाठ्य और सुग्राह्य किया है। अमृतचन्द्र आचार्य की टीका स्वतन्त्र ग्रन्थ के समान प्रतीत होती हैं। अमृतचन्द्र आचार्य टीकाकार होकर स्वयं ग्रन्थ प्रणेता भी हैं, परन्तु जयसेन आचार्य विशुद्ध टीकाकार ही हैं।

९) अमृतचन्द्र कृत टीकाओं में प्रयुक्त भाषा में प्रौढता, विद्वत्ता, माधुर्यता और अलंकारिक सुन्दरता द्योतित होती है। वह विद्वतजन प्रिय और आत्मरस में निमग्न जीवोंको मनोहारिणी है। वह भाव गांभीर्य के साथ भावों की अभिव्यक्ति में सशक्त है। इस प्रकार की भाषा प्रौढ़ता जयसेन आचार्य की वृत्तियों में नहीं देखी जाती है। जयसेन आचार्य की भाषा सरल सुबोध प्रसाद गुण से युक्त अनुप्रास सहित सामान्यजन प्रिय है। अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा प्रौढ भाषा में प्ररूपित तथ्य ही जयसेन आचार्य सहज बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत करते हैं, वह इस प्रकार है:-

"यथोत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थयोः समीरसञ्चरणासञ्चरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वादिमध्यान्तेषूत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थे व्याप्योत्तरङ्गंनिस्तरङ्गंत्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव

कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्, यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरङ्गंनिस्तरङ्गं त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्; तथा ससंसारनि:संसारावस्थयो: पुद्गलकर्मविपाक सम्भवासम्भवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वादिमध्यान्तेषु ससंसारनि:संसारावस्थे व्याप्य ससंसारनि:संसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्, तथायमेव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्यपरेणानुभवितुमशक्यत्वात्ससंसारंनि:संसारं वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् ।" [१]

जिस प्रकार वायु का संचारण और असंचारण जिसमें निमित्त है ऐसे उत्तरंग और निस्तरंग अवस्था में वायु और समुद्र में व्याप्य व्यापक भाव का अभाव होने से कर्तृकर्मत्व की असिद्धि है, इसलिए समुद्र ही स्वयं अन्तःव्यापक होकर आदि मध्य अंत में उत्तरंग और निस्तरंग अवस्था में व्याप्त होकर अपने को उत्तरंग और निस्तरंग करता हुआ एक अपने को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, दूसरे को नहीं। जिस प्रकार वही भाव्य भावक भाव का अभाव होने से परभाव का पर के द्वारा अनुभव होना अशक्य होने से अपने को उत्तरंग और निस्तरंग रूप से अनुभव करता हुआ एक अपने को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है, दूसरा नहीं। उसी प्रकार पुद्गल कर्म के उदय का सद्भाव और असद्भाव जिसमें निमित्त है, ऐसे संसारसहित और संसाररहित अपने को करता हुआ, एक आत्मा को ही करता हुआ प्रतिभासित होवे, दूसरा नहीं।

उपर्युक्त गद्यांश में अमृतचन्द्र आचार्य का भाषा सौन्दर्य, प्रौढत्व और माधुर्य विलसित होता है। उपर्युक्त तथ्य को ही जयसेन आचार्य ने अत्यन्त सरल भाषा में कहा है। वह इस प्रकार है :-

"यथा यद्यपि समीरो निमित्तं भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार एव कल्लोलान् करोति परिणमति च। एवं यद्यपि द्रव्यकर्मोदयासद्भावसद्भावात् शुद्धाशुद्धभावयोर्निमित्तं भवति तथापि निश्चयेन निर्विकारपरमस्वसंवेदनज्ञानपरिणत: केवलज्ञानादिशुद्धभावान् तथैवाशुद्धपरिणतस्तु सांसारिकसुखदु:खाद्यशुद्धभावांश्चोपादानरूपेणात्मैव करोति। अत्र परिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यमिति। न केवलं करोति वेदयत्यनुभवति भुङ्क्ते परिणमति पुनश्च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखरूपेण शुद्धोपादानेन तदेव शुद्धात्मानमशुद्धोपादानेनाशुद्धात्मानं च आत्मेति जानीहि।" [२]

---

१. समयसार आत्मख्याति, गा.८३;

२. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. ८९

उसी प्रकार जानिये प्रवचनसार गा. १६, २९, ३१; समयसार गा. ८३, ८४, १२७

जिस प्रकार यद्यपि वायु निमित्त है तथापि निश्चय नय से समुद्र ही कल्लोलों को करता है और परिणमित होता है। इस प्रकार यद्यपि द्रव्यकर्म के उदय का असद्भाव और सद्भाव होने से शुद्ध अशुद्ध भावों में निमित्त हैं, तथापि निश्चय से निर्विकार परम स्वसंवेदन ज्ञान से परिणत केवल ज्ञानादि शुद्ध भावों को, उसी प्रकार अशुद्धरूप से परिणत सांसारिक सुख दुःख आदि अशुद्ध भावों को उपादान रूप से आत्मा ही करता है। यहाँ परिणामों का परिणमन ही कर्तृत्व जानना चाहिए | केवल कर्ता ही नहीं है, अनुभवता भी है। पुनः स्वशुद्धात्म भावना परिणत सुखरूप शुद्ध उपादान से उसी शुद्धात्मा रूप से आत्मा परिणमता है, अशुद्ध उपादान से अशुद्ध आत्मारूप परिणमता है। ऐसा तुम जानो।

प्रवचनसार की सोलहवी गाथा की टीका में अभिन्न षट्कारकों का वर्णन अति प्रौढ भाषा में अमृतचन्द्र आचार्य ने किया है। जयसेन आचार्य ने वही वर्णन सुगम भाषा में किया है इसलिए अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीका जानने के लिए अन्य अनुवादित टीका भाषाओं की अपेक्षा रहती है, इसलिए राजमल्लजी, जयचन्दजी छावडा इत्यादि विद्वानों ने अमृतचन्द्र कृत टीका का देशभाषा में अनुवाद किया है। जयसेन आचार्यकृत वृत्तियाँ अल्प संस्कृत जानने वालों के द्वारा भी सरलता से जानना शक्य है। इसलिए अद्यावधि उसके अनुवाद की आवश्यकता विद्वानों के द्वारा प्रतीत नहीं हुई। वर्तमान में थोडा भी संस्कृत न जानने वाले बहुत लोग हैं। इसलिए आज तीनों वृत्तियों का अनुवाद सम्पादित हुआ। समयसार तात्पर्यवृत्ति का हिन्दी भाषा में अनुवाद आचार्य ज्ञानसागर जी और मुनिश्री वीरसागरजी ने किया है। प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति का हिन्दी अनुवाद ब्र.कल्पना जैन ने किया है। पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति का अनुवाद मन्नूलाल जैन ने किया है। पहले ब्र. शीतल प्रसाद पंडितजी ने तीनों वृत्तियों का हिन्दी में भावानुवाद लिखा है।

१०) जयसेन आचार्य ने प्राय: प्रश्नोत्तर पद्धति को अंगीकार करके विशेष वर्णीय विषय स्पष्ट किये हैं। ग्रन्थ के अध्ययन काल में पाठकों के मन में जितने प्रश्न उठते हैं, उन्हें वहाँ जयसेन आचार्य पहले उपस्थित करके उत्तर देते हैं, इसलिए पाठकों के बिना प्रयास ही समाधान हो जाता है। समयसार के निर्जरा अधिकार में रागी सम्यग्दृष्टि नहीं है, ऐसा कहा है। तब पाठकों के हृदय में सहज शंका होती है, वह शंका जयसेन आचार्य ने स्वयं उठाकर समाधान किया है, वह इस प्रकार है:-

"किञ्च रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिस्तर्हि चतुर्थपञ्चमगुणस्थान-वर्तिनस्तीर्थंकरकुमारभरतसगररामपाण्डवादयः सम्यग्दृष्टयो न भवन्ति इति। तन्न

मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बन्धाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति । कथमिति चेत् चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानामनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात् । पञ्चमगुणस्थानवर्तिनां पुनर्जीवानां अप्रत्याख्यान-क्रोधमानमायालोभोदयजनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादीनामभावात् इति पूर्वमेव भणितमास्ते । अत्र तु ग्रन्थे "पञ्चमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यम् ।"[1]

शंका:- रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता, ऐसा आपने कहा है, तो चौथे, पाँचवें गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर, कुमार, भरत, सगर, राम, पाण्डव आदिक सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।

समाधान: वैसा नहीं है। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से तैंतालीस प्रकृतियों के बंध का अभाव होने से सराग सम्यग्दृष्टि है। कैसे ? चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व के उदयसे उत्पन्न हुए पाषाण रेखा के समान रागादिकों का अभाव है। पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों को अप्रत्याख्यानावरण के उदय से उत्पन्न भूमि रेखादि समान रागादिकों का अभाव है, यह पहले ही कहा है।

इस ग्रन्थ में मुख्यवृत्ति से पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानवर्तियों का ग्रहण है। सराग सम्यग्दृष्टियों का गौणरूप से ग्रहण है। ऐसा व्याख्यान सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान काल में सर्वत्र तात्पर्यरूप से जानना चाहिए।

अमृतचन्द्र आचार्य कहीं कहीं पर ही प्रश्नोत्तर शैली का अनुसरण करते हैं।

११) अमृतचन्द्र आचार्य की तर्क शैली क्लिष्ट और अर्थ गांभीर्य से युक्त है। वह मूर्धन्य दार्शनिकों के गर्व का मर्दन करके तात्त्विक मर्म को प्रकाशित करती है। इस प्रकार की तर्क शैली विद्वानों के चित्त को हरण करती है। परन्तु सामान्यजनों के लिए क्लेश उत्पन्न करती है। इसलिए अमृतचन्द्र आचार्य कृत टीका का महल सामान्य जनों को प्रवेश करने के लिए शक्य नहीं है।

वहाँ विद्वानों का ही अधिकार है। जिस प्रकार प्रवचनसार में, काल द्रव्य की सिद्धि के लिए कैसी प्रौढ तर्क शैली अमृतचन्द्र आचार्य ने प्रयुक्त की है देखने योग्य है। वह इस प्रकार है:-

---

१. समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा. २१२, २१३

"समगो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंशः । तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसौ सम्भवतः परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात् । तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव, किं यौगपद्येन किं क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः वृत्त्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात्। ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः । स च समय पदार्थ एव..... ।" [१]

समय पदार्थ का वृत्यंश | उसमें किसी का भी अवश्य उत्पाद और प्रध्वंस संभव है, क्योंकि परमाणु के व्यतिपात और उत्पद्यमान रूप से कारण पूर्वक है। वे यदि वृत्यंश के ही हैं तो क्या एक साथ हैं या क्रम से हैं ? क्रम नहीं हैं क्योंकि वृत्यंश सूक्ष्म होने से विभाग का अभाव है। इसलिए कोई वृत्तिमान अवश्य अनुसरण करना चाहिए। वह समय पदार्थ ही है।

प्रवचनसार की तत्त्व प्रदीपिका में अमृतचन्द्र आचार्य की प्रौढ तर्क शैली का चरम उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। इसी गाथा की वृत्ति में यही काल द्रव्य की सिद्धि दृष्टान्तपूर्वक जयसेन आचार्य ने सुबोध भाषा में की है, वह इस प्रकार है :-

"यथाऽङ्गुलिद्रव्ये यस्मिन्नेव वर्तमानक्षणे वक्रपर्यायस्योत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवाङ्गुलिद्रव्यस्य पूर्वर्जुपर्यायेण प्रध्वंसस्तदाधारभूताङ्गुलिद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः ।....तथा वर्तमानसमयरूपपर्यायेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैव कालाणुद्रव्यस्य पूर्वसमयरूपपर्यायेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारभूताङ्गुलिद्रव्यस्थानीयेन कालाणुद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमिति कालद्रव्यसिद्धिरित्यर्थः ।"[२]

जिस प्रकार अंगुली द्रव्य में जिस वर्तमान क्षण में वक्र पर्याय का उत्पाद उसी क्षण में उसी अंगुली द्रव्य की सरल पर्याय से नाश, उसके आधारभूत अंगुली द्रव्यत्व रूप से ध्रौव्य, इस प्रकार द्रव्य की सिद्धि होती है।...। उसी प्रकार वर्तमान समय रूप पर्याय से उत्पाद, उसी क्षण में उसी कालान्तर द्रव्य का पूर्व समय पर्याय से प्रध्वंस उन दोनों के आधारभूत अंगुलि द्रव्य के स्थानीय कालाणु द्रव्य रूप से ध्रौव्य | इस प्रकार काल द्रव्य की सिद्धि होती है।

पञ्चास्तिकायसंग्रह में भी सुगम भाषा में सरल तर्कों के द्वारा जयसेन आचार्य ने काल द्रव्य की सिद्धि की है। [३]

---

१. प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, गा. १४२

२. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा. १५३

३. पञ्चास्तिकायसंग्रह, गा. २४, २५, २६

१२) जयसेन आचार्य परमतों का नामोल्लेख पूर्वक निराकरण करते हैं। अमृतचन्द्र आचार्य परमतों का कहीं पर भी नाम निर्देश न करते हुए ही उनकी मान्यता का निराकरण करते हैं। जयसेन आचार्य गाथा की उत्थानिका में अथवा उपसंहार में अन्य मतों का नाम निर्देश से उल्लेख करते हैं। जैसे पञ्चास्तिकायसंग्रह की पन्द्रहवीं गाथा की उत्थानिका में बौद्ध मत का उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है :-

"अथ सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते द्रव्यं नास्ति सप्तभङ्गाः कस्य भविष्यन्तीति बौद्धमतानुसारिशिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति परिहाररूपेण गाथापातनिकां करोति। द्रव्यार्थिकनयेन सतः पदार्थस्य विनाशो नास्त्यसत उत्पादो नास्तीति वचनेन क्षणिकैकान्तबौद्धमतं निषेधयति।"

धर्मी होनेपर धर्म का विचार किया जाता है। द्रव्य नहीं है तो सप्तभंग किसके होंगे | इस प्रकार बौद्ध मतानुयायी शिष्य के द्वारा पूर्वपक्ष करने पर परिहार रूप से गाथा की उत्थानिका कहते हैं। द्रव्यार्थिक नय से सत्पदार्थ का विनाश नहीं असत् का उत्पाद नहीं है। इस प्रकार के वचन से क्षणिक एकान्त बौद्धमत का निषेध करते हैं।

वहीं पर दसवीं गाथा की वृत्ति में परमतों के नाम निर्देश पूर्वक उनकी मान्यता निरूपित की है, वह इस प्रकार है:-

"क्षणिकैकान्तरूपं बौद्धमतं नित्यैकान्तरूपं साङ्ख्यमतं उभयैकान्तरूपं नैयायिकमतं मीमांसकमतं च सर्वत्र मतान्तरव्याख्यानकाले ज्ञातव्यम्।"

क्षणिक एकान्त रूप बौद्धमत, नित्य एकान्त रूप से सांख्यमत, उभय एकान्तरूप नैयायिक मत और मीमांसक मत का सर्वत्र मतान्तर व्याख्यान के कालों में जानना चाहिए।

इस प्रकार जयसेन आचार्य ने बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, वेदान्त, सदाशिव, ब्रह्माद्वैतवादी, भट्टचार्वाक, श्वेताम्बर इत्यादि परमतों का नामोल्लेख किया है।[१] अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा विवेचित तत्त्व प्ररूपणा से परमतों का निराकरण स्वयं ही होता है। परन्तु उन्होंने किसी का नामोल्लेख नहीं किया।

---

१. द्रष्टव्यं प्रवचनसारतात्पर्यवृत्तिः, गा. ४१,४७,११२,११५,१४२.....
पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः, गा. १०, ११, १४, १५, १७, १८, १९,२७, २९, ३३,३४, ३५, ३७, ५९, ७१, ७२,१३३.....

१३) अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा प्रतिपादित गाथार्थ को अंगीकार करके भी कहीं कहीं पर जयसेन आचार्य ने "अथवा द्वितीय व्याख्यानं" ऐसे उल्लेख पूर्वक दूसरा अर्थ भी प्रतिपादित किया है। जिस प्रकार समयसार की ग्यारहवीं गाथा का (जयसेन आचार्य की अपेक्षा तेरहवीं) प्रथम अर्थ अमृतचन्द्र आचार्य के अनुसार करके भी द्वितीय व्याख्यान द्वारा भिन्न अर्थ भी कहा है। इस प्रकार जयसेन आचार्य, अमृतचन्द्र आचार्य के वक्तव्य को सम्मान सहित स्वीकार करते हैं तथापि अपना मत भी स्वतन्त्ररूप से स्थापित करने के लिए डरते नहीं।

प्रवचनसार की तैंतालिसवीं गाथा की वृत्ति में तीन प्रकार से व्याख्यान किया है, वह इस प्रकार है:

"अथवा द्वितीयव्याख्यानम्-यदि ज्ञाता प्रत्यर्थं परिणम्य पश्चादर्थं जानाति तदा अर्थानामानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञानं नास्ति।

अथवा तृतीयव्याख्यानम्-बहिरङ्गज्ञेयपदार्थान् यदा छद्मस्थावस्थायां चिन्तयति तदा रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति, तदभावे क्षायिकज्ञानमेव नोत्पद्यते इत्यभिप्रायः।"

अथवा द्वितीय व्याख्यान:- यदि ज्ञाता प्रत्येक अर्थ के प्रति परिणमित होकर पश्चात् अर्थ को जानता है, तब अर्थों की अनन्तता होने से सब पदार्थों का परिज्ञान नहीं होता।

अथवा तृतीय व्याख्यान:- बहिरंग ज्ञेय पदार्थों को जब छद्मस्थ अवस्था में चिंतन करता है, तब रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है।

उसके अभाव में क्षायिक ज्ञान ही उत्पन्न नहीं होता, ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार अन्यत्र भी उन्होंने दूसरा व्याख्यान किया है।[1]

१४) अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा प्रदत्त दृष्टान्तों का ही जयसेन आचार्य ने बहुलता से प्रयोग किया है। यद्यपि जयसेन आचार्य विषय को हृदयंगम करने के लिए आचार्य अमृतचन्द्र की टीका में समागत उदाहरणों का निःसंकोच प्रयोग करते हैं, तथापि उसके द्वारा प्रतिबद्ध नहीं है। विषय को सरल करने के लिए अनेकानेक उदाहरणों को भी उन्होंने प्रयुक्त किया है। प्रवचनसार की चौंतिसवीं गाथा की टीका में अमृतचन्द्र आचार्य ने कोई भी दृष्टान्त प्रयुक्त नहीं किया, परन्तु जयसेन आचार्य ने विषय के अनुसार सार्थक दृष्टान्त कहा है, वह इस प्रकार है:-

---

१. द्रष्टव्यं समयसारतात्पर्यवृत्तिः, गा. १३, ११४, २४०-२४३
प्रवचनसारतात्पर्यवृत्तिः, गा. ३३,४३,१५०.

"किं च यथा कोऽपि देवदत्त: आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति। तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये भगवानात्मानं पश्यति, संसारी विवेकिजनः पुनर्निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्प-रहितपरमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति।'तेनान्यत्राप्यावश्यकतानुसारं भिन्नदृष्टान्तानां प्रयोगः कृतः।"[1]

जैसे कोई देवदत्त आदित्य के उदय से दिन में देखता है, रात्रि में प्रदीप के उदय से वह थोडा देखता है । उसी प्रकार सूर्य के उदय के स्थानीय केवलज्ञान से, दिवस स्थानीय मोक्षपर्याय में, भगवान आत्मा को देखता है। संसारी विवेकीजन पुनः रात्रि स्थानीय संसार पर्याय में प्रदीप स्थानीय रागादि विकल्प रहित परम समाधि से निज आत्मा को देखता है। उन्होंने अन्यत्र भी आवश्यकतानुसार भिन्न दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।

१५) जयसेन आचार्य की वृत्तियों में कहीं कहीं पर पाठ भेद भी प्राप्त होते हैं।[२] कुछ स्थानों में अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा स्वीकृत पाठ को स्वीकार करके पाठान्तरों को कहा है, वह इस प्रकार है :-

"अमलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेन शुद्धस्वभावरहितत्वेन च निर्मलाम् अथवा अचलं इति पाठान्तरे द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारसंसारभ्रमणरहितत्वेन स्वस्वरूपनिश्चलत्वेन च चलनरहितामचलम्।"[3]

भावकर्म, द्रव्यकर्म नोकर्म मल रहित होने से और अशुद्ध स्वभाव रहित होने से निर्मल अथवा अचल इस पाठान्तर में द्रव्य क्षेत्र आदि पाँच प्रकार के संसार भ्रमण से रहित होने से और स्वस्वरूप में निश्चल होने से चलन रहित अचल है।

---

१. प्रवचनसारतात्पर्यवृत्तिः, गा. ४९,७५,१०७.

२. क) 'भणिदो' (आत्मख्याति गा. १७६) इत्यस्य स्थाने 'होदि' (तात्पर्यवृत्ति गा.१८४),
ख) मलमेलणासत्तो (आत्मख्यातिः गा. १५७-१५९) इत्यस्य स्थाने 'मलविमेलनाच्छण्णो' (तात्पर्यवृत्ति गा. १६५-१६७)
ग) दव्वविजुत्ता(समयव्याख्या गा.१२) इत्यस्य स्थाने 'दव्वविमुत्ता' (ता.वृ.गा.१२) इति पाठभेदः

३. समयसारतात्पर्यवृत्तिः, गा. १.

इस प्रकार अमृतचन्द्र आचार्य द्वारा गृहीत 'अचल' यह पाठ, उसी प्रकार अमल यह पाठान्तर भी जयसेन आचार्य ने अंगीकार किया है। इस प्रकार अन्यत्र भी पाठान्तर कहे हैं।[1]

१६) जयसेन आचार्य ने सर्वत्र वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान शब्द का प्रयोग किया है, वहीं पर अमृतचन्द्र आचार्य ने केवलज्ञान शब्द से अथवा भेदज्ञान शब्द से उल्लेख किया है।

१७) जयसेन आचार्य ने अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए बहुत उद्धरण उद्धृत किये हैं। अमृतचन्द्र आचार्य ने भी उद्धरण उद्धृत किये हैं, किन्तु वे अति अल्पमात्रा में प्राप्त होते हैं। ये जयसेन आचार्य की वृत्तिग्रन्थों के निज वैशिष्ट्य विलसित होते हैं। परन्तु उससे अमृतचन्द्र आचार्य की टीका की न्यूनता नहीं होती, प्रत्युत आचार्य कुन्दकुन्द कृत गाथाओं के साथ अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीकाओं के द्वारा वह आधार भूमि प्रदत्त की है जिसके ऊपर जयसेन आचार्य ने अपनी वृत्ति के प्रासाद का निर्माण किया है।

इस प्रकार अमृतचन्द्र आचार्य मौलिक विचारक, अध्यात्म रसिक, स्वतन्त्र चिंतक सृजनशील थे। उसी प्रकार जयसेन आचार्य भी प्रतिभाशाली, आत्मानुभवी, साहित्यिक, मौलिक विचारक थे। उन्होंने वे समस्त तथ्य यथास्थान व्यक्त किये हैं जो अमृतचन्द्र आचार्य की लेखनी से छूट गये हैं। इस प्रकार जयसेन आचार्य की वृत्तियाँ अमृतचन्द्र कृत टीकाओं का अनुसरण करती हुई भी मौलिक और पठनीय हैं।

जो विषय मूल ग्रन्थ में अस्पष्ट हैं, वे अमृतचन्द्र आचार्य की टीकाओं में स्पष्ट हुए हैं। जो अमृतचन्द्र आचार्य की टीकाओं में अस्पष्ट हैं, वे जयसेन आचार्य की वृत्तियों में स्पष्ट हुए हैं।

प्रभाचन्द्र आचार्य विरचित वृत्तियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन :-

प्रभाचन्द्र आचार्य ने भी कुन्दकुन्द आचार्य कृत पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार नामक तीन ग्रन्थों के ऊपर टीकायें रची हैं। वे टीकाऐं हस्तलिखित रूप से उपलब्ध हैं परन्तु आज भी प्रकाशित नहीं है। प्रवचनसार की टीका का नाम "प्रवचनसारं सरोजभास्कर" इस प्रकार ग्रन्थ की अवान्तर संधियों में और ग्रन्थ के अन्त में प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है :-

---

१. द्रष्टव्यं, 'मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो' इत्येकः पाठः
'मुंचदि सव्वे जदि स बंधे' इति द्वितीयः पाठान्तरः। समयसारतात्पर्यवृत्तिः, गा.३०९-३११,
'अमिओ' अमितोऽप्रमाण अथवा 'अमओ' अकृत्रिमो इति पाठान्तरः।
पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहः तात्पर्यवृत्तिः, गा.३

"इति श्री प्रभाचन्द्रविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकारः समाप्तः।"[1]

इसी प्रकार पञ्चास्तिकायसंग्रह की टीका का नाम "पञ्चास्तिकाय प्रदीप " प्राप्त होता है वह इस प्रकार है:-

"इति श्री प्रभाचन्द्रविरचिते पञ्चास्तिकायप्रदीपे मोक्षमार्गनवपदार्थचूलिकाधिकारः समाप्तः"[2]

इन तीनों भी टीकाओं में केवल गाथाओं का शब्दार्थरूप व्याख्यान ही दिखाई देता है। यही तथ्य समयसार की टीका के अन्तिम पद्य में भी उन्होंने कहा है, वह इस प्रकार है:-

"व्याख्यातः स परिस्फुटामलदया शब्दार्थतो निर्मलः" इति । [3]

इस प्रकार के स्पष्ट अर्थ व्याख्यान से प्रत्येक पद का अर्थ स्पष्ट रूप से जान सकते हैं । अमृतचन्द्र आचार्य कृत टीकाओं में शब्दार्थ रूप व्याख्यान नहीं हैं । उनके अध्ययन से यद्यपि कुन्दकुन्द आचार्य का हार्द जाना जाता है, परन्तु गाथागत प्रत्येक शब्द का अर्थ नहीं जाना जाता है । प्राय: इसी न्यूनता की परिपूर्ति के लिए प्रभाचन्द्र आचार्य ने तीन टीकायें रची हैं । ऐसा अनुमान होता है । [4]

प्रभाचन्द्र विरचित टीकाओं में दीर्घ विस्तृत वर्णनात्मक वाक्य नहीं हैं । केवल खण्डान्वय रूप से गाथा का व्याख्यान मात्र है । जयसेन आचार्य की यह खण्डान्वय शैली का इन्होंने अनुसरण किया है । यद्यपि इनकी टीकाओं में जयसेन आचार्य के समान पृथक् भावार्थ नहीं लिखा है, परन्तु प्रत्येक शब्द का भाव सम्यक् प्रकार से व्यक्त किया है । जिस प्रकार मोह और क्षोभ का मूल अभिप्राय कहते हुए कहा है, मोह अर्थात् मूर्खता, क्षोभ अर्थात् आकुलता ।[5] उसी प्रकार *"जीवो ववगदमोहो उवलद्धो ....."*. गाथागत प्रत्येक शब्द का तात्पर्य अर्थ कहा है। वह इस प्रकार है:-

---

१. प्रभाचन्द्र कृत प्रवचनसार सरोजभास्कर, अन्त्यप्रशस्ति

२. प्रभाचन्द्रकृत पञ्चास्तिकाय प्रदीप समाप्ति

३. प्रभाचन्द्रकृत समयसार टीका अन्त्य वर्णन

४. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास, भा.२, वी. नि. सं. २५०२, पृ. ३४७

५. प्रवचनसार सरोजभास्कर, गा.७

"व्यपगतमोह इत्यनेन हि सम्यग्दर्शनमुक्तं, उपलब्धवांस्तत्त्वमित्यनेन सम्यग्ज्ञानं, जहाति रागद्वेषावित्यनेन च सम्यक्चारित्रमिति"।[1]

"व्यपगत मोह" मोह से रहित इससे सम्यग्दर्शन कहा है, "उपलब्धवांस्तत्त्वं" तत्त्व को प्राप्त हुआ, इससे सम्यग्ज्ञान; "जहाति रागद्वेषौ" राग द्वेष को छोड़ता है, इससे सम्यक्चारित्र कहा है।

"परिणमदो खलु णाणं" इस गाथा में आगत "परिणमदो" इस शब्द का जैसा स्पष्टीकरण उन्होंने किया है, वैसा जयसेन आचार्य ने भी नहीं किया है। वह इस प्रकार है:- "परिणमदो" :- शुद्धोपयोग के प्रसाद से सम्पूर्ण कर्म से भिन्न सिद्ध रूप से परिणमन करने वाले के.....।[2] "न चाप्रविष्टः" इस पद का कितना सुन्दर विश्लेषण किया है वह देखिए :-

"अचिन्त्यशक्तिमाहात्म्यात्त्रिकालगोचराशेषार्थाकाराणां चेतसि परिस्फुरणात् तदाकारानुप्रवेशद्वारेण तत्रास्यानुप्रवेशाऽप्रसिद्धेः।"[3]

अचिन्त्य शक्ति के माहात्म्य से त्रिकाल गोचर अशेष अर्थाकारों का मन में स्फुरायमान होने से तदाकार अनुप्रवेश के द्वारा वहाँ पर इसका अनुप्रवेश अप्रविष्ट है।

कुछ स्थानों में एक शब्द के स्पष्टीकरण के लिए अनेक प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया है, वह इस प्रकार है :-

१) शुद्ध शुभाशुभ आस्रव रहित समीचीन, कर्म निर्जरा के कारणभूत प्रयोग, शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव का व्यापार, परम उदासीनता इस प्रकार अर्थ है।[4]

२) प्रभाचन्द्र आचार्य के द्वारा प्रत्येक शब्द के अर्थ स्पष्टीकरण के लिए हेतुओं का प्रयोग किया गया है। घाति कर्म की किस प्रकार मल संज्ञा कही है, यह व्यक्त करते हुए कहते हैं कि :-

"घातीनि च तानि कर्म्माणि च ज्ञानदर्शनावरणांतरायमोहनीयानि तान्येव मलाः अनन्तज्ञानद्यात्मस्वरूपप्रच्छादनात्।"[5]

---

१. प्रवचनसार सरोजभास्कर , गा८७
२. वहीं पर, गा. २२
३. वहीं पर, गा. ३०
४. वहीं पर, गा. ११
५. वहीं पर, गा. १

घातिकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय – वे ही मल हैं, क्योंकि अनन्त ज्ञानादि आत्म स्वरूप का प्रच्छादन करते हैं।

अरहन्त सिद्ध विशुद्ध सद्भाव वाले कहें हैं, वहाँ उनका विशुद्ध स्वभावपना हेतुपूर्वक कहा है, वह इस प्रकार है :-

"विशुद्धसद्भावान् घातिकर्मक्षयोद्भूतकेवलज्ञानादिगुणत्वादर्हन्तो विशुद्धसद्भावाः प्रक्षीणाशेषकर्मत्वेनावाप्तसम्यक्त्वाद्यष्टगुणत्वात् सिद्धा विशुद्धसद्भावाः ..... ।"[१]

घाति कर्म के क्षय से उत्पन्न केवल ज्ञानादि गुणपना होने से अर्हन्त विशुद्ध सद्भाव वाले हैं। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने से सम्यक्त्वादि अष्टगुणपना प्राप्त होने से सिद्ध विशुद्ध सद्भाववाले हैं।

उन्होंने जयसेन आचार्य के समान कहीं पर अनुमान के तीन अंग प्रयुक्त किये हैं, वे इस प्रकार हैं :-

"य कश्चिच्चेतनोऽचेतनो वार्थः वस्तु स परिणामं विना नास्ति, तथाविधस्यानुपलम्भात् खरविषाणवत् ।।"[२]

जो कोई चेतन अथवा अचेतन पदार्थ वस्तु है, वह परिणाम के बिना नहीं है, क्योंकि उस प्रकार की प्राप्ति नहीं होती। गधे के सींग के समान।

कहीं पर न्याय शैली का अनुसरण करके विपरीत कथन में दूषण भी दिखाया है।

"यथा भिन्नेन ज्ञानेनात्मनो ज्ञातृत्वे गगनादेरपि ज्ञातृत्वप्रसंगः ।"[३]

जिस प्रकार भिन्न ज्ञान से आत्मा के ज्ञातृत्व होने पर आकाश आदि के भी ज्ञातृपने का प्रसंग आयेगा।

३) प्रभाचन्द्र आचार्य के द्वारा जयसेन आचार्य के समान समुदाय पातनिका नहीं लिखी है, परन्तु प्रत्येक गाथा के पूर्व सामान्य पातनिका लिखी है। वह भी प्रायः संक्षिप्त ही कही है :- *"अतीन्द्रियं ज्ञानं तु सर्वं ज्ञातुं समर्थमित्याह ।"*[४]

---

१. प्रवचनसार सरोजभास्कर, गा. २
२. वहींपर, गा. १०
३. वहींपर, गा. ३६
४. वहींपर, गा. ४२

अतीन्द्रिय ज्ञान सबके जानने के लिए समर्थ है, ऐसा कहते हैं।

"तत्र केवलाख्यं क्षायिकं भावमभिन्नं दर्शयन्नाह" इति। [१]

वहां केवल नामक क्षायिक भाव अभिन्न दिखाते हुए कहते हैं।

कहीं पर प्रश्न रूप से भी पातनिका का प्रयोग किया है, वह इस प्रकार है:

"नन्वतीतानागतवर्तमानपर्यायाणामसत्त्वात्कथं ज्ञाने स्थितत्वं यतस्तदाकारेणास्य परिणतिः स्यादित्याशंक्याह।"[२]

अतीत अनागत वर्तमान पर्यायों का असत् पना होने से ज्ञान में कैसे स्थित है, जिससे उस आकार रूप से उनकी परिणति होती है, ऐसी आशंका करके कहते हैं।

कहीं पर उत्थानिका में परमतों के नामोल्लेख पूर्वक उनका मत पूर्वपक्षरूप प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है :-

"ननु चात्मा परिणाम्येवातः किं तत्र परिणामप्रसाधनप्रयासेनेति साङ्ख्याः परिणाम एव वा न ततोऽर्थान्तरमात्मेति बौद्धस्तान् प्राह।"[३]

शंका:- आत्मा परिणामी ही है, इसलिए परिणाम के प्रसाधन के प्रयास से क्या प्रयोजन ? ऐसा सांख्य कहते हैं। परिणाम ही है, उससे भिन्न अर्थ आत्मा नहीं है ऐसा बौद्ध कहते हैं। उन बौद्ध और सांख्य को आचार्य कहते हैं।

४) प्रभाचन्द्र आचार्य ने जयसेन आचार्य के समान कहीं कहीं पर प्राकृत संस्कृत व्याकरण की अपेक्षा से स्पष्टीकरण किया है, परन्तु उन दोनों की टीकाओं के सदृश स्पष्टीकरण अथवा सदृश सूत्र दिखाई नहीं देते। जैसे प्रवचनसार के "किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं..। इस गाथागत अर्हन्तों का इत्यादि शब्दों की जयसेन आचार्य ने चतुर्थ विभक्ति मानी है। जैसे :- 'अर्हत्सिद्धगणधरोपाध्यायसाधुभ्यश्चैव " इति। [४]

परन्तु प्रभाचन्द्र आचार्य ने अरिहन्त इत्यादि पदों की षष्ठी विभक्ति मानी है तथा प्राकृत व्याकरण के अनुसार स्पष्टीकरण किया है। वह इस प्रकार है :-

---

१. प्रवचनसार सरोजभास्करः, गा. ४८

२. वहींपर, गा.३८

३. वहीं पर, गा. १० उत्थानिका

४. प्रवचनसार तात्पर्यवृतिः, गा.४

"अर्हतां सिद्धानां 'तहा' तथा गणधराणामध्यापकवर्गाणामुपाध्यायसंघातानां साधूनां चैव सर्वेषां, ननु नमः शब्दप्रयोगे चतुर्थी प्राप्नोतीति चेत् न प्राकृते चतुर्थीविधानासम्भवादतः षष्ठ्या निर्देशवदर्थप्रदर्शनमपि कृतम् ।"[१]

अरिहन्तों को, सिद्धों को तथा गणधर, अध्यापक वर्ग उपाध्यायों का समूह, साधु सब को |

शंका:- 'नम:' शब्द के प्रयोग में चतुर्थी प्राप्त होती है ।

समाधान:- ऐसा नहीं है। प्राकृत में चतुर्थी विधान का अभाव होने से षष्ठी के द्वारा निर्देश के समान भी अर्थ प्रदर्शन किया है ।

उसी प्रकार अन्यत्र भी व्याकरण का स्पष्टीकरण दिखाई देता है । [२] इससे इनका व्याकरण कौशल्य प्रतीत होता है ।

५) प्रभाचन्द्र आचार्य ने जयसेन आचार्य के समान कहीं पर दृष्टान्तों का भी प्रयोग किया है, वह इस प्रकार है:-

यस्मिन्नेव समये मृत्पिण्डस्य विनाशस्तस्मिन्नेव क्षणे घटस्योत्पतिरुद्भवो द्रव्यान्वितस्य मृत्पिण्डद्रव्यस्य च स्थितिः' नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलांतयोरित्यभिधानात्" [३]

जिस समय में मिट्टी के पिंड का नाश होता है, घट की उत्पत्ति होती है, द्रव्य से अन्वित मृतपिंड द्रव्य की स्थिति है । जिस प्रकार तराजू में नाम और उन्नाम एक साथ होता है, इसी प्रकार नाश और उत्पाद एक साथ होते हैं । इत्यादि दृष्टान्त देखे जाते हैं, परन्तु वे अल्प प्रमाण में ही हैं ।

---

१. प्रवचनसार सरोजभास्करः, गा.४

२. ''रूपमिति सप्तम्यर्थे प्रथमा" "अन्यार्थेन्यदित्यभिधानात्" - प्रवचनसार सरोजभास्कर,गा.३०
''यदि पच्चक्खंण भवदि प्राकृते लिंगव्यत्यय: यदि प्रत्यक्षो न भवतीति" वहीं पर गा.४०,
'तारकादिभ्य' इतः 'इति इतःप्रत्यय: वहीं पर गा.११२,
´श्रवणैःश्रवणानां प्राकृते विभक्तिव्यत्ययः 'वहीं पर गा.२१५.

३. वहीं पर, गा. ११२

६) प्रवचनसार की प्रभाचन्द्र और जयसेन आचार्य विरचित वृत्ति में गाथा संख्या (३११) समान ही दिखाई देती हैं। जयसेन आचार्य की वृत्ति में उपलब्ध अधिक गाथाऐं प्रभाचन्द्र आचार्य की वृत्ति में भी पाई जाती हैं, परन्तु "सुहपयडीणं विसोही तिव्वो" इति । प्रवचनसार की जयसेन कृत वृत्ति में दो सौ नम्बर की पाई जाती है। वह गाथा प्रभाचन्द्र आचार्य ने मूल ग्रन्थ में स्वीकृत नहीं की है। प्रक्षिप्त ऐसा कहकर छोड़ दी है।[1]

७) जयसेन आचार्य ने जहाँ शब्दार्थ मात्र निरूपण किया है, प्रभाचन्द आचार्य ने उस शब्द का विशद स्पष्टीकरण किया है, वह इस प्रकार है :-

"तं सव्वट्ठवरिट्ठं तं सर्वार्थवरिष्ठं, इट्ठं इष्टमभिमतं । कैः । अमरासुरप्पहाणेंहि अमरासुरप्रधानैः। ये संदहति ये श्रद्दधति रोचन्ते जीवा भव्यजीवा..."[2] "तं सव्वट्ठवरिट्ठं सर्वार्थेषु धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु मध्ये वरिष्टमुपरिस्थितं मोक्षरूपमित्यर्थ: जीवाद्यर्थेषु वा वरिष्टमुत्तमं, इट्ठं आराध्यत्वेनाभिमतं...."[3]

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष लक्षण सर्व पुरुषार्थों में वरिष्ठ उपस्थित मोक्ष रूप है अथवा जीवादि अर्थों में वरिष्ठ अर्थात् उत्तम है। इष्ट-आराध्य रूप से अभिमत है।

बालचन्द्र विरचित वृत्तियों के साथ तुलना:

जयसेन आचार्य के समान बालचन्द्र ने भी कुन्दकुन्द आचार्य विरचित पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार ग्रन्थों के ऊपर ही वृत्तियां रची हैं। प्रत्येक ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में 'अध्यात्मी बालचन्द्र' इस उल्लेख से अपना परिचय दिया है। उससे बहुत बालचन्द्र नामक व्यक्तियों से यह भिन्न लक्षित होता है। नयकीर्ति इनके गुरु थे। स्व विरचित वृत्तियों में इन्होंने जयसेन आचार्य का ही बहुलता से अनुकरण किया है। इनके द्वारा विरचित वृत्तियों का नाम भी जयसेन आचार्य द्वारा विरचित वृत्ति के समान "तात्पर्यवृत्ति" ऐसा रखा है। बालचन्द्र का समय भी प्रायः जयसेन आचार्य के समान ही है।

---

१. 'सुहपयडीणेत्यादिगाथाद्वयमाचार्य्यीयं न भवति प्रक्षेपकत्वादिति प्रत्यपेक्षते' प्रवचनसारसरोजभास्करः, १९९ गाथाया अनन्तरम्

२. प्रवचनसारतात्पर्यवृत्तिः, गा. १९

३. प्रवचनसारसरोजभास्करः, गा. १९

कर्णाटक भाषा में इन्होंने वृत्तियां लिखी हैं। इनकी कर्णाटक भाषा भी पूर्णतः शुद्ध कर्णाटिका नहीं है, किन्तु संस्कृत मिश्रित कर्णाटक भाषा दृष्टिगोचर होती है। स्थूल दृष्टि से देखने पर इनकी वृत्तियाँ जयसेन आचार्य की संस्कृत वृत्तियों का कन्नड भाषा में अनुवाद मात्र प्रतिभासित होता है। परन्तु उन दोनों में कुछ अन्तर भी दिखाई देता है। इसलिए वे केवल अनुवाद मात्र नहीं हैं, अपितु स्वतन्त्र रचना हैं।

पञ्चास्तिकायसंग्रह की तात्पर्यवृत्ति में जयसेन आचार्य ने मंगलाचरण गाथा का विवरण विस्तार से किया है। उसी प्रकार बालचन्द्र विरचित वृत्ति में भी विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ केवल

"भवणालयचालीसा विंतरदेवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामर चउवीसा चन्दो सूरो णरो तिरियो ॥'

यह अतिरिक्त गाथा उद्धृत दिखाई देती है। इसी प्रकार' यत्सर्वात्महितं न वर्ण सहितं...' इस पद के स्थान पर 'गम्भीरं मधुरं मनोहरतरं' यह पद उद्धृत है।

पञ्चास्तिकायसंग्रह के अन्त में जयसेन आचार्य ने जिस प्रकार परिशिष्ट में मुनि के छह कालों का वर्णन किया है, उसी प्रकार बालचन्द्र ने भी संक्षेप से लिखा है।

जयसेन आचार्य ने ग्रंथ के प्रारंभ में प्रत्येक अधिकार के आरंभ में समुदाय पातनिका कही है। प्रत्येक गाथा के शुभारंभ में भी पातनिका कहीं है। उससे गाथा संख्या और विषय वस्तु पाठकों के सामने सहजता से दृष्टिपथ में आती है। परन्तु बालचन्द्र ने ग्रन्थ के प्रारंभ में समुदाय पातनिका नहीं लिखी है। उसी प्रकार गाथा के प्रारंभ में भी उत्थानिका नहीं कही है। उससे गाथा में क्या कहा है, यह जानना शक्य नहीं है।

जयसेन आचार्य ने विशेष स्पष्टीकरण के लिए जहाँ जितने प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये है, वहाँ बालचन्द्र वृत्ति में उनका अभाव दिखाई देता है। प्रश्नोत्तरों के अभाव से उनकी वृत्ति में मौलिकता दिखाई नहीं देती। जहाँ जयसेन आचार्य की वृत्ति में जो विशेष व्याख्यान प्राप्त होता है, वहाँ बालचन्द्र ने उसे प्रायः छोडा ही है। कहीं कहीं पर विशेष व्याख्यान प्राप्त होता है।

जयसेन आचार्य ने सरलता से विषय वस्तु हृदयंगम करने के लिए प्रसिद्ध दृष्टान्त कहे हैं। बालचन्द्र की वृत्ति में दृष्टान्तों का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है।

बालचन्द्र ने तीनों भी वृत्तियों के अन्त में प्रशस्ति लिखी है। उसमें अपने गुरू नयकीर्ति का विशेषण सहित उल्लेख किया है। अपने नाम का भी उल्लेख किया है। गाथा संख्या के प्रमाण का भी उल्लेख किया है।[१]

जयसेन की वृत्ति के समान उनके द्वारा विरचित वृत्तियों में पञ्चास्तिकाय संग्रह में एक सौ इक्यासी गाथाऐं, प्रवचनसार में तीन सौ ग्यारह गाथाऐं हैं। परन्तु समयसार वृत्ति में चार सौ तैंतालिस गाथाऐं हैं। परन्तु जयसेन आचार्य की वृत्ति में चार सौ उनतालिस गाथाऐं उपलब्ध होती हैं।

ब्रह्मदेव और जयसेन विरचित वृत्तियों का तौलनिक आख्यान :-

ब्रह्मदेव ने अपनी रचित वृत्तियों में अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। परम्परा अनुसार ब्रह्मदेव की आठ रचनाऐं स्वीकार की जाती हैं।१) परमात्म प्रकाश वृत्ति, २) बृहद् द्रव्य संग्रहवृत्ति, ३) तत्त्वदीपिका, ४) ज्ञान दीपक,५) त्रैवर्णाचार दीपक, ६) प्रतिष्ठातिलक, ७) विवाहपटल और ८) कथाकोष | इनमें उनकी प्रथम दो रचना ही प्रामाणिक रूप से अंगीकृत हैं। द्रव्यसंग्रह की वृत्ति में उन्होंने अपने नाम का उल्लेख किया है। परमात्म प्रकाश वृत्ति में उन्होंने अपना नाम नहीं लिखा है। परन्तु बालचन्द्र ने ब्रह्मदेव की संस्कृत वृत्ति का उल्लेख किया है। हिन्दी भाषा के अनुवादक दौलतरामजी ने परमात्मप्रकाश की संस्कृत वृत्ति ब्रह्मदेव रचित कही है। परमात्म प्रकाश वृत्ति, ब्रह्मदेव कृत द्रव्यसंग्रहवृत्ति के समान है, इसलिए द्रव्यसंग्रह और परमात्म प्रकाश की वृत्ति ब्रह्मदेव की ही रचना नि:संदेह सिद्ध होती हैं।[२]

ब्रह्मदेव की व्याख्या शुद्ध साहित्यिक व्याख्या प्रतीत होती है। ये भावार्थ के ऊपर अधिक बल देते हैं। ब्रह्मदेव और जयसेन कृत वृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट कह सकते हैं कि ब्रह्मदेवने जयसेन आचार्य का बहुलता से अनुकरण किया है।

---

१. मानापमानसमतादिनमनोरत्नमुकुरदीधितिशुक्लध्यानविषयनचलं नित्यानन्दं सकलबोध-लतिकाकन्दं परमागमवारिधिहिमकिरणराद्धान्तचक्री नयकीर्तियमिश्वरशिष्य-नमलनिज-चित्परिणत अध्यात्मी बालचन्द्रमुनीन्द्रं धृतरत्नत्रितयं प्राभृतसूत्रानुगतवृत्तियं फल्लर्घं प्राकृतकर्णाटक-वाक्यार्थतत्त्वनिश्चित्तियागे निर्वर्णिसिदं । इन्तेकाशीत्युत्तरशतगाथाजातमहाधिकारत्रय-समुदायादिसमस्त-सैद्धान्तिकचक्रवर्ति श्रीनयकीर्तिदेवनन्दनविनयजनानन्दननिजरुचिसागरनन्दिपरमात्म-स्वभावनित्या-नन्दबालचन्द्रदेव विरचित पञ्चास्तिकाय सूत्रानुगत तात्पर्यवृत्तिं समाप्तम्।

बालचन्द्रकृतहस्तलिखितपञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः, अन्तिमप्रशस्तिः

२. आ. ने. उपाध्ये : परमात्मप्रकाशस्य आंग्लभाषायां प्रस्तावना पृ. सं. ८१

ब्रह्मदेव कृत दो वृत्तियों का जयसेन आचार्यकृत वृत्तियों के साथ सादृश्य :-

१) ब्रह्मदेव ने जयसेन के समान समुदाय पातनिका प्रत्येक गाथा के पूर्व सामान्य पातनिका और प्रश्नोत्तर पातनिका प्रयुक्त की हैं। समुदायपातनिका में अन्तराधिकार, गाथा संख्या और विषयवस्तु कही है।

'तत्राप्यादौ प्रथमाधिकारे चतुर्दशगाथापर्यन्तं जीवद्रव्यव्याख्यानम् । ततः परं "एवं छब्भेयमिदं " एवं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पञ्चास्तिकायविवरणम्। इति प्रथमाधिकारमध्येऽन्तराधिकारत्रयमवबोद्धव्यम् ।'[१]

उसमें भी प्रारम्भ में, प्रथम अधिकार में चौदह गाथा पर्यन्त जीव द्रव्य का व्याख्यान है। उसके पश्चात् "एवं छब्भेयमिदं" इस प्रकार पाँच सूत्र पर्यन्त पञ्चास्तिकाय का विवरण है । इस प्रकार प्रथम अधिकार में तीन अन्तराधिकार जानना चाहिए ।

सामान्य पातनिका की कथन शैली भी जयसेन आचार्य का ही अनुसरण करती है ।[२] प्रश्नोत्तर पातनिका का भी कहीं कहीं प्रयोग दिखाई देता है ।[३]

२) जयसेन आचार्य के समान प्रत्येक गाथा का खण्डान्वय पद्धति से अर्थ कहा है । उसी प्रकार प्रतिपादन की बृहद्द्रव्यसंग्रह के प्रारम्भ में सूचना भी की है । वह इस प्रकार है:-

"वंदे इत्यादि क्रिया कारक सम्बन्धेन पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । "[४]

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृ.सं. २

२. सत्तामूलानि द्रव्याणीति कृत्वा पूर्वं सत्तास्वरूपं भणित्वा पश्चात् द्रव्यव्याख्यानं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति भगवान् "पञ्चास्तिकायतात्पर्यवृत्तिः गा. ८ उत्थानिका "अथेदानीं गाथापूर्वार्धेन सम्बन्धाऽभिधेयप्रयोजनानि कथयाम्युत्तरार्धेन च मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति ।" बृहदद्व्यसङ्ग्रहः, गा. १ उत्थानिका

३. यद्युद्भवादिनि स्वरूपाणि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य न सन्ति तर्हि कस्य सन्तीति प्रश्ने देहस्य भवन्तीति प्रतिपादयति /परमात्मप्रकाशः, अ- १ दोहा ७० उत्थानिका

४. बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. १

३) जिस प्रकार जयसेन आचार्य ने शब्द, मत, नय, आगम और भावार्थ रूप पाँच प्रकार से अर्थ प्रतिपादन की पद्धति प्रयुक्त की है, उसी प्रकार बह्मदेवने भी पंचार्थ कथन पद्धति को अंगीकार किया है। सर्वत्र उस प्रकार के प्रयोग की सूचना भी की है।[१]

४) जिस प्रकार जयसेन आचार्य ने प्रत्येक गाथा की वृत्ति में पंचार्थ कहा है अथवा नहीं, परन्तु प्रत्येक गाथा का भावार्थ रूप से तात्पर्य अर्थ कहा है, उसी प्रकार बह्मदेव ने भी प्रत्येक गाथा का तात्पर्य अर्थ रूप से मार्मिक भावार्थ कहा है। भावार्थ प्रतिपादन शैली जयसेन आचार्य का ही अनुसरण करती है।[२]

५) जिस प्रकार जयसेन आचार्य ने पञ्चास्तिकायसंग्रह के मंगलाचरण में धवला टीका से "मंगलणिमित्तहेउ" इस गाथा को उद्धृत करके मंगल आदि छह अधिकारों का विस्तार से व्याख्यान किया है, उसी प्रकार बृहद्द्रव्यसंग्रह के मंगलाचरण में ब्रह्मदेव ने भी उसी गाथा को आधार करके संक्षेप से वर्णन किया है। जयसेन आचार्य ने इष्ट, अधिकृत, अभिमत के भेद से तीन प्रकार के देवता कहे हैं। उनका लक्षण नहीं बताया है। ब्रह्मदेव ने तो उनका अर्थ स्पष्ट किया है, वह इस प्रकार है।

"इष्ट: स्वकीयपूज्य: ; अधिकृतः ग्रन्थस्यादौ प्रकरणस्य वा नमस्करणीयत्वेन विवक्षितः; अभिमतः सर्वेषां लोकानां विवादं विना सम्मतः।"[३]

इष्ट- स्वकीयपूज्य; अधिकृत अर्थात् ग्रन्थ के अथवा प्रकरण के आदि में नमस्करणीय रूप से विवक्षित; अभिमत अर्थात् सभी लोगों को बिना विवाद के सम्मत।

---

१. पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः, गा.१,२७, एवं शब्दनयमतागमभावार्थो यथासम्भवव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः / बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. २,
परमात्मप्रकाशवृत्तिः, अ.१, दोहा.१

२. अ) अत्र य एव देहाद्भिन्नोऽनन्तज्ञानादिगुणः शुद्धात्मा भणितः स एव सर्वप्रकारेणोपादेयो भवतीत्यभिप्रायः अत्रेदं तात्पर्यं योऽसावनन्तज्ञानादिगुणः शुद्धात्मा ध्येयो भणितः स एव निश्चयेनोपादेयः इति। परमात्मप्रकाशवृति : अध्याय २, गा. ३१,
ब) जीवद्रव्यमेवोपादेयं तत्रापि यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शक्त्यपेक्षया सर्वे जीवा उपादेयास्तथापि व्यक्त्यपेक्षया पञ्च परमेष्ठिन एव तेष्वपि मध्ये विशेषेणार्हत्सिद्धा एव तयोरपि मध्ये सिद्धा एव परमार्थेन तु मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इत्युपादेयपरम्परा ज्ञातव्येति भावार्थः। परमात्मप्रकाशवृत्तिः, अध्याय २, दोहा २३

३. बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृतिः, गा. १, पृ. सं. ६

६) ब्रह्मदेव की, जयसेन आचार्य के समान, उद्धरण बहुल शैली दिखाई देती है। जयसेन आचार्य के द्वारा उद्धृत बहुत पद्य ब्रह्मदेव ने भी संग्रह किये है। [१]

उसी प्रकार जयसेन आचार्य ने जिन ग्रन्थों से पद्य अवतरित किये हैं, ब्रह्मदेव ने भी प्रायः उन्हीं ग्रन्थों से पद्य अवतरित किये हैं। उदाहरणार्थ : मोक्षपाहुड- भावपाहुड- नियमसार- षट्खण्डागम धवलाटीका- मूलाचार-रत्नकरण्ड श्रावकाचार-योगसार-गोम्मटसार -सिद्ध भक्ति- यशस्तिलकचम्पू-वसुनन्दी श्रावकाचार-आत्मस्वरूप आराधना समुच्चय आदि।

७) पञ्चास्तिकायसंग्रह की छब्बीसवी गाथा के अनन्तर जयसेन आचार्य ने मूलाचार से "परिणामजीवमुत्तं" इस प्रकार एक षट्द्रव्य के वर्णनात्मक गाथा उद्धृत की है। उस गाथा का विस्तृत विवेचन भी किया है। वही गाथा ब्रह्मदेव सूरि ने बृहद् द्रव्य संग्रह के प्रथम अधिकार की चूलिका रूप से ग्रहण की है। पुन: एक अधिक गाथा भी संग्रहित है। उसी प्रकार परमात्म प्रकाश की वृत्ति में भी द्वितीय अधिकार की अट्ठाईसवी गाथा की वृत्ति में प्रथम एक गाथा उद्धृत है। इस गाथा का विवेचन शब्दश: जयसेन आचार्य के समान ही किया है। कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता।

८) जयसेन आचार्य के सदृश दृष्टान्त बहुल शैली, ब्रह्मदेव की वृत्ति में भी देखी जाती है। दोनों में कुछ दृष्टान्त भी समान ही हैं। जिस प्रकार जयसेन आचार्य ने पुद्गल द्रव्य के वर्णन में जीव का उदाहरण दिया है, उसी प्रकार ब्रह्मदेव ने भी पुद्गल के निरूपण में जीव को दृष्टान्त रूप से प्रयुक्त किया है। [२] धर्मद्रव्य के उदासीन हेतुत्व रूप साध्य में जयसेन आचार्य ने सिद्ध जीवों का दृष्टान्त कहा है। उसी प्रकार ब्रह्मदेव ने भी सिद्ध जीव को उदाहरण रूप से कहा है।[३]

---

१. द्रष्टव्यम् - १) श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः २) नास्तिकत्वपरिहारः पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः, गा.१, बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा.१. ३) इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा .... समयसारतात्पर्यवृत्तिः, १२५ बृहदद्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा.३५ परमात्मप्रकाशवृत्तिः अ-१ दोहा-९ ४) चरितारो न सन्त्यद्य पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः १५४, परमात्मप्रकाशवृत्तिः-३६.

२. द्रष्टव्यम् पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः, गा. ८४ (७७) बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्तिः, गा. १५

३. पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः, गा. ९१ बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. १७

लोकाकाश की अवगाहन शक्ति की सिद्धि के लिए दोनों ने भी समान दृष्टान्त प्रयोग किये हैं। [१]

९) जयसेन आचार्य की प्रश्नोत्तर शैली का भी ब्रह्मदेव ने अनुसरण किया है। काल द्रव्य की सिद्धि के लिए जो प्रश्नोत्तर जयसेन आचार्य ने उत्थापित किये हैं, ब्रह्मदेव के द्वारा भी काल द्रव्य की सिद्धि के लिए, वे ही प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गये हैं। [२]

१०) कितने ही विषयों के सम्बन्ध में जयसेन आचार्य और ब्रह्मदेव दोनों की वृत्तियों में परस्पर समान विवेचन दिखाई देता है। जिस प्रकार आस्रव,बंध, पाप, पुण्य, संवर, निर्जरा, मोक्ष पदार्थों के कर्तृत्व विषयक अज्ञानी संसारी जीवों का विभाग। [३]

सविकल्प निर्विकल्प का स्पष्टीकरण। [४] राग द्वेष मोह क्या जीव जनित हैं या कर्म जनित हैं, इस विषय में नय विवक्षा पूर्वक ऊहापोह। [५] संकल्प विकल्प का लक्षण। [६] स्वसंवेदन का वीतराग विशेषण किसलिए जोड़ा जाता है, क्या स्वसंवेदन सराग भी होता है ? इस विषय में स्पष्टीकरण। [७] अतीन्द्रिय सुख की सिद्धि दृष्टान्त अनुमान पूर्वक। [८] ध्यान का स्वरूप और

---

१. एकापवरके अनेकप्रदीपप्रकाशवदेकगूढनागरसगद्यानके बहुसुवर्णवदेकस्मिन्नुष्ट्रीक्षीरघटे मधुघटवदेकस्मिन् भूमिगृहे जयघण्टादिशब्दवद्विशिष्टावगाह पञ्चास्तिकाय-सङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः गा. ९७ "यथैकस्मिन् गूढनागरसगद्याणके शतसहस्त्रलक्षसुवर्णसङ्ख्याप्रमितान्यवकाशं लभन्ते अथवा यथैकस्मिन् प्रदीपप्रकाशे बहवोऽपि प्रदीपप्रकाशा अवकाशं लभन्ते अथवा यथैकस्मिन् भस्मघटे जलघट: सम्यगवकाशं लभते अथवा यथैकस्मिन् उष्ट्रीक्षीरघटे मृदुघट: यथैकस्मिन् भूमिगृहे बहवोऽपि पटहजयघण्टादिशब्दा: सम्यवकाशं लभन्ते" परमात्मप्रकाशवृत्तिः, अ. २, दोहा - २५ "एकप्रदीपप्रकाशे नानाप्रदीपप्रकाशवदेकगूढरसनागगद्याणके बहुसुवर्णवद्वस्मघटमध्ये सूचिकोष्ट्र-दुग्धवदित्यादिदृष्टान्तेन"बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. २०

२. पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहवृत्तिः २३,२४,२५, बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः २१,२२, परमात्मप्रकाशवृत्तिः अध्याय २, दोहा - २१,२३.

३. पञ्चास्तिकायतात्पर्यवृत्तिः, गा. १२८ - १३०, समयसारतात्पर्यवृत्तिः, गा. ७९,१३०, बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा.२८ पूर्वसमुदायपातनिका.

४. समयसार ता.वृ., गा.३१३, बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः गा.४२, परमात्मप्रकाशवृत्तिः, अ. २. दोहा - २९

५. समयसार ता. वृ., गा. ११६ - ११९, बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. ४८

६. पञ्चास्तिकाय ता.वृ.,गा.७, समयसार ता.वृ.,गा.२८९, परमात्मप्रकाशवृत्तिः दोहा १६.

७. समयसार ता.वृ.,गा.१०३, परमात्मप्रकाशवृत्तिः, अ- १ दोहा - १२.

८. समयसार ता.वृ.,गा.४३९, परमात्मप्रकाशवृत्तिः, अ-१ दोहा-९

पंचम काल में धर्म ध्यान है अथवा नहीं, इस विषय में विवेचन। [१] ध्येय विषय में द्रव्य परमाणु और भाव परमाणु शब्द का स्पष्टीकरण। [२] सम्यग्दृष्टि पुण्य किस लिए करता है, इस विषय में दृष्टान्त पूर्वक विवरण। [३] सचित्त अचित्त मिश्र परिग्रहों का गृहस्थ तपोधन वीतराग समाधिस्थ पुरुष की अपेक्षा से विवेचन। [४] अद्वैतवादियों के एक ब्रह्ममत का दृष्टान्त पूर्वक निराकरण। [५] जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न हैं, इस विषय में तर्क युक्तिपूर्वक ऊहापोह। [६]

टीकाकार का अन्तिम क्षमितव्य कथन : [७]

---

१. पञ्चास्तिकाय ता.वृ.,गा.१५४, परमात्मप्रकाशवृत्तिः, अ१ दोहा ३६, बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः गा.५७

२. पञ्चास्तिकाय ता.वृ..गा. १६०, परमात्मप्रकाशवृत्तिः, अ२ दोहा-३३.

३. पञ्चास्तिकाय ता.वृ.,गा. १७८, समयसार ता.वृ., गा.१३८-१३९, बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा.३८ परमात्मप्रकाशवृत्तिः, अ-२ दोहा-६१.

४. समयसार ता.वृ.,गा. २५-२७, परमात्मप्रकाशवृत्तिः, अ२, गा.९१

५. पञ्चास्तिकाय ता.वृ.,गा.७७-७८, परमात्मप्रकाशवृत्तिः, गा.९९, बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा.५७.

६. समयसार ता.वृ.,गा. १२७, परमात्मप्रकाशवृत्तिः, गा. १३०

७. "अत्र ग्रन्थे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृता। वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थम् तेन कारणेन लिंग वचन-क्रिया-कारक-सन्धि-समास-विशेष्यविशेषण वाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणं न ग्राह्यं विवेकिभिः शुद्धात्मादितत्त्वप्रतिपादनविषये यदज्ञानात् किञ्चिद्विस्मृतं तदपि क्षमितव्यमिति / समयसारतात्पर्यवृत्तिः, अन्तिमकथनम्

'अत्र ग्रन्थे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृतः, वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थम्। किं च परिभाषासूत्रं पदयोः संधिर्विवक्षितो न समासान्तरं तयोः तेन कारणेन लिङ्गवचनक्रियाकारक-सन्धिसमासविशेष्यविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणमत्र न ग्राह्यं विद्वद्भि-रिति।"

परमात्मप्रकाशवृत्तिटीकाकारस्यान्तिमकथनम्,

"अत्र ग्रन्थे " विवक्षितस्य सन्धिर्भवति" इति वचनात्पदानां सन्धिनियमो नास्ति। वाक्यानि च स्तोकस्तोकानि कृतानि सुखबोधनार्थम्। तथैव लिङ्गवचनक्रियाकारकसम्बन्धसमासविशेषणवाक्य-समाप्त्यादिदूषणं तथा च शुद्धात्मादिप्रतिपादनविषये विस्मृतिदूषणं च विद्वद्भिर्न ग्राह्यमिति"। बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तेः, अन्तिमकथनम्।

प्राभृत शास्त्र का व्याख्यान जानकर क्या करना चाहिए, इस विषय में तात्पर्य, अर्थ कथन इत्यादि विषयों का प्रायः समान विवेचन प्राप्त होता है।[1]

जयसेन आचार्य और ब्रह्मदेव कृत वृत्तियों में वैसादृश्य :-

१. कुछ स्थानों में जयसेन आचार्य के समान ब्रह्मदेव के प्रतिपादन में विशेषता दिखायी देती है। जिस प्रकार ग्रन्थ का प्रयोजन कहने के अवसर में जयसेन आचार्य ने अज्ञान विच्छित्ति आदि निर्वाण सुख पर्यन्त ऐसा कहा है। बह्मदेव ने नय विभाग से प्रयोजन का व्याख्यान किया है। वह इस प्रकार है :-

परमात्मप्रकाशवृत्तेरन्तिमकथनम्।

"प्रयोजनं तु व्यवहारेण षड्द्रव्यादिपरिज्ञानम्, निश्चयेन निजनिरञ्जनशुद्धात्मसंवित्ति समुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरूपं स्वसंवेदनज्ञानम् । परमनिश्चयेन पुनस्तत्फलरूपा केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाविनाभूता निजात्मोपादानसिद्धानन्तसुखावाप्तिरिति"।[1]

प्रयोजन तो व्यवहार से छह द्रव्यादि इत्यादि का परिज्ञान है, निश्चय से निज निरंजन शुद्धात्म संवित्ति से उत्पन्न निर्विकार परमानन्दैक लक्षण सुखरूपी अमृत के रसास्वाद रूप स्वसंवेदन ज्ञान है। परम निश्चयनय से पुनः उसके फलस्वरूप केवलज्ञान आदि अनन्त गुण से अविनाभूत निज आत्मा के उपादान से सिद्ध अनन्त सुख की प्राप्ति है।

इस प्रकार बहुत स्थानों में विशेष व्याख्यान दिखाई देता है।

---

१. इदं प्राभृतशास्त्रं ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् ? सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं निजनिरञ्जनशुद्धात्म... जगत्त्रयेऽपि कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन तथा सर्वजीवा: इति निरन्तरं भावना कर्तव्या।"

समयसारतात्पर्यवृत्तेरन्ते।

इदं परमात्मप्रकाशवृत्तेर्व्याख्यानं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं भव्यजनैः? सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं, निजनिरञ्जनशुद्धात्मा... जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन तथा सर्वेऽपि जीवा इति निरन्तरं भावना कर्तव्येति।

२. बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. १

२. जयसेन आचार्य ने दीर्घसमास युक्त पदों का प्रयोग किया है, परन्तु ब्रह्मदेव ने उनसे भी दीर्घ समास युक्त वाक्यों का प्रयोग किया है, उसी प्रकार ब्रह्मदेव ने शब्द से पूर्व अनेक प्रकार के विशेषण संयोजित किये हैं, उससे वह बड़ा सामासिक पद हो गया है। वह इस प्रकार है:-

"आत्मा हि शुद्धनिश्चयेन सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणैर्जीवति।"[१]

"जीवो शुद्धनिश्चयेनानादिमध्यान्तवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरूपाधिशुद्धचैतन्य-लक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवित:"। [२]

३. जयसेन आचार्य ने "जीवो त्ति हवदि चेदा" इस प्रकार जीव स्वरूप के वर्णन में तत्पर गाथा के अर्थ का प्रतिपादन करने में शुद्धनिश्चय, अशुद्ध निश्चय, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय, इन तीनों नयों का प्रयोग किया है, परन्तु ब्रह्मदेव ने "जीवा उवओगमओ" इति। द्रव्य संग्रह के जीव स्वरूप के निरूपणात्मक गाथा के प्ररूपण में शुद्ध अशुद्ध दो नयों की ही विवक्षा बतायी है।[३]

ब्रह्मदेव ने अशुद्ध निश्चयनय का, व्यवहार नय के अशुद्धनय में अन्तर्भाव किया है। उन्होंने शुद्धनय के लिए भूतार्थ, शुद्ध द्रव्यार्थिक इत्यादि नामान्तरों का उल्लेख किया है। उसी प्रकार अशुद्धनय के लिए अभूतार्थ, व्यवहार, इस प्रकार पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त किये हैं।

४. ब्रह्मदेव की प्रतिपादन शैली जयसेन आचार्य से अधिक विस्तृत है। उन्होंने बृहद्द्रव्यसंग्रह की वृत्ति में प्रत्येक गाथागत विषयों का आगम के आलोक से विस्तार से व्याख्यान किया है। इसीलिए बृहद्द्रव्य संग्रह की अट्ठावन गाथा प्रमित वृत्ति का प्रमाण पञ्चास्तिकायसंग्रह की एक सौ अस्सी गाथा प्रमित वृत्ति के प्रमाण से अधिकतर है।

कुछ गाथाओं की वृत्ति अति विस्तृत दिखायी देती है।[४] परन्तु परमात्म प्रकाश की वृत्ति जयसेन आचार्य की वृत्ति के समान अधिक विस्तृत नही और न ही अधिक संक्षिप्त हैं। जयसेन

---

१. पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः, गा.२७

२. बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. २

"विवरणरूपमाचार्यवचनं व्याख्यानं गाथासूत्रं व्याख्येयमिति व्याख्यानव्याख्येयसम्बन्धः।'
पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः, गा. २.

विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मस्वरूपादिविवरणरूपो वृत्तिग्रन्थो व्याख्यानम्। व्याख्येयं तु तत्प्रतिपादकसूत्रम् / बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. १

३. पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः, गा. २७, बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. २

४. देखिये - बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहः गा.- २, ३, १०, १३, १४, २१, २२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ४१, ४२,४४,५०,५७.

आचार्य जिस विषय में संक्षेप से कहकर जाते हैं, ब्रह्मदेव उस विषय में अधिक स्पष्टीकरण करते हैं। जिस प्रकार काल द्रव्य की सिद्धि के लिए जयसेन आचार्य ने कहा कि "उपादान कारण सदृशत्वात्कार्यस्य मृत्पिण्डोपादानकारणसमुत्पन्नघटकार्यवदिति | [१]

उपादान कारण के सदृशपना के कारण कार्य, उपादान कारण के सदृश होता है। जैसे मिट्टी के पिंड रूप उपादान कारण से उत्पन्न घट कार्य के समान। परन्तु ब्रह्मदेव उसी काल द्रव्य की सिद्धि के लिए प्रदत्त हेतु का विस्तृत विश्लेषण करते हैं, वह इस प्रकार है।

"यथा तन्दुलोपादानकारणोत्पन्नस्य सदोदनपर्यायस्य शुक्लकृष्णादिवर्णा सुरभ्य-सुरभिगन्धस्निग्धरुक्षादिस्पर्श-मधुरादिरसविशेषरूपा गुणा दृश्यन्ते । तथा पुद्गलपरमाणु-नयनपुटविघटनजलभाजनपुरुषव्यापारादिदिनकरबिम्बरूपैः पुद्गलपर्यायैरुपादानभूतैः समुत्प-न्नानां समयनिमिषघटिकादिकालपर्यायाणामपि शुक्लकृष्णादि गुणाः प्राप्नुवन्ति न च तथा। उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात्।"[२]

जिस प्रकार तन्दुल उपादान कारण से उत्पन्न ओदन पर्याय के शुक्ल कृष्ण आदि वर्ण, सुगन्ध, दुर्गन्ध, स्निग्ध, रूक्ष आदि स्पर्श, मधुर आदि रस, विशेष गुण दिखाई देते हैं, उसी प्रकार पुद्गल परमाणु, पलक उघडना, जलपात्र, पुरुष व्यापार आदि सूर्य बिम्ब रूप उपादान भूत पुद्गल पर्यायों से उत्पन्न समय, निमिष, घटिका आदि काल पर्यायों के भी शुक्ल कृष्ण आदि गुण प्राप्त होते हैं, परन्तु वैसा नहीं है, क्योंकि उपादान कारण सदृश कार्य होता है, ऐसा कथन है।

इससे ब्रह्मदेव की विस्तृत व्याख्यान शैली जानी जाती है। जो विषय जयसेन आचार्य के द्वारा अस्पर्शित है, वे विषय ब्रह्मदेव के द्वारा स्पर्शित हैं। जिन विषयों का विवेचन जयसेन आचार्य की वृत्ति में अनुपलब्ध है, उन विषयों का विवेचन भी ब्रह्मदेव की वृत्तियों में पाया जाता है।

जिस प्रकार :- सात समुद्घातों का विवेचन; [३] चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणा स्थानों का प्रतिपादन। [४] दस धर्मों का व्याख्यान, बारह अनुप्रेक्षाओं का विवरण, वहाँ पर भी

---

१. पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहतात्पर्यवृत्तिः, गा. २६

२. बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. २१

३. वहीं पर, गा.१०

४. वहीं पर, गा. १३

लोक अनुप्रेक्षा का विस्तार से कथन। [१] सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि आठ अंगों का विस्तृत वर्णन और उनके उदाहरण रूप कथन। [२] निर्विकल्प दर्शनोपयोग का धवला आदि ग्रन्थों के आधार से युक्ति पूर्वक तुलनात्मक विवेचन। [३] क्षयोपशमलक्षण इत्यादि विषय ब्रह्मदेव ने विशेष रूप से स्पष्ट किये हैं। इस प्रकार ब्रह्मदेव और जयसेन आचार्य की कथनशैली में बहुलता से सादृश्यत्व दिखायी देता है और विसदृशत्व अल्प प्रमाण में है।

निष्कर्ष :-

१) जयसेन आचार्य ने अमृतचन्द्र आचार्य के वक्तव्य का अनुसरण करके भी अपने मौलिक विचार निर्भयता से व्यक्त किये हैं। अमृतचन्द्र आचार्य ने अध्यात्म का विशुद्ध अध्यात्म रूप से निरूपण किया है। परन्तु जयसेन आचार्य ने आगम के आलोक में अध्यात्म का स्पष्टीकरण किया है।

२) जयसेन आचार्य की वृत्तियां आदर्श रूप हैं। उनका भावपक्ष के साथ कलापक्ष का भी प्रभाव परवर्ति वृत्तिकारों के ऊपर हुआ है। ब्रह्मदेव, बालचन्द्र इत्यादि वृत्तिकारों ने उनका बहुलता से अनुकरण किया है।

---

१. बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहवृत्तिः, गा. ३५
२. वहीं पर, गा.४१
३. वहीं पर, गा.४४

****

सातवाँ अध्याय

उपसंहार

भगवान महावीर तीर्थंकर रूपी हिमालय से निकली हुई वाग्गङ्गा गौतम गणधररूपी कुण्ड में गिर गयी। वह दुःख संतापों के ताप को हरण करती हुई, अशान्त जीवों को शान्ति प्रदान करती हुई (वितरण करती हुई), अज्ञानियों के मोहरूपी पर्वत को भेदती हुई, ज्ञान को प्रकाशित करती हुई, भव्य जीवों के हृदयसरोज को विकसित करती हुई, मुमुक्षुओं की रत्नत्रयरूप खेती को सिंचन करती हुई, समृद्ध और फलित करती हुई आगे प्रवाहित हुई है। यह ज्ञानजलधारा आचार्य परम्परा से अविरल रूप से प्रवाहित होती हुई कुन्दकुन्दाचार्य को प्राप्त हुई। भगवान महावीर के पश्चात् पाँच-छह सौ वर्ष ज्ञान का आदान प्रदान मौखिक रूप से चल रहा था। इसवी सन् पूर्व प्रथम शताब्दी में आचार्य परम्परा से समागत आचार विचारों को स्थिर करने के लिए शुद्ध लिपिबद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप प्रथम श्रुतस्कंध और द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति हुई। प्रथम श्रुतस्कंध के अन्तर्गत करणानुयोग का विवेचन है। आचार्य पुष्पंदत स्वामी और भूतबलि स्वामी से प्रथम श्रुतस्कंध प्रारम्भ हुआ।

द्वितीय श्रुतस्कंध के अन्तर्गत द्रव्यानुयोग की धारा प्रचलित हुई। आचार्य गुणधर से समागत द्वितीय श्रुतस्कंधगत विषय कुन्दकुन्द आचार्य ने अपनी समर्थ लेखनी से लिपिबद्ध किया। इसलिए द्रव्यानुयोग सम्बन्धित लिखित श्रुत परम्परा के आद्य प्रर्वतक के रूप से आचार्य कुन्दकुन्द प्रख्यात हुए । उसके पश्चात् उमास्वामी, समन्तभद्र-पूज्यपादगुणभद्राचार्य-योगीन्दुदेव-देवसेन- अमृतचन्द्र इत्यादि आचार्यों ने उपर्युक्त परम्परा का पोषण किया। उसी आचार्य परम्परा में जयसेन आचार्य हुए। जिन्होंने कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा उद्घाटित अध्यात्म का विशदीकरण और विस्तृत विवेचन सरल संस्कृत भाषा में किया। उनके द्वारा रचित वृत्ति में प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की संधि दिखायी देती है। उन्होंने कुन्दकुन्द आचार्य के प्रदेय को जन सामान्य में प्रसारण का महान कार्य किया है।

जयसेन आचार्य ने प्राय: पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों की कृतियों का सम्यक् रीति से मन्थन किया था | कुन्दकुन्द आचार्य रचित ग्रन्थों के ऊपर उन्होंने वृत्तियां रची हैं। उसको छोड़कर अन्य आचार्यों की कृतियों के ऊपर उन्होंने अपनी लेखनी नही चलाई है। आचार्य

कुन्दकुन्द देव के द्वारा प्रदत्त अध्यात्म अमृत ही सम्यक् अतीन्द्रिय आनन्द देने के लिए और अज्ञानियों के अज्ञानरोग को दूर करने के लिए समर्थ है, ऐसा उनका दृढ विश्वास था।

वृत्ति रचना के कारण :-

अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा विरचित अद्वितीय, अनुपम, अध्यात्मरस से आपूरित सिद्धान्त बहुल टीकायें विद्यमान थीं तथापि जयसेन आचार्य ने उन्हीं ग्रन्थों के ऊपर वृत्तियाँ रचीं। वहाँ कुछ कारण दृष्टिगोचर होते हैं, वे इस प्रकार हैं:-

१) आचार्य अमृतचन्द्र के द्वारा विरचित टीकाओं की भाषाशैली प्रौढ, क्लिष्ट, साहित्यिक, गम्भीर और अलंकृत है। इसलिए सामान्य पाठकों के लिए दुरूह और दुर्बोध है। इसलिए जयसेन आचार्य द्वारा सामान्य पाठकों के सुखबोध के लिए सुबोध भाषा में वृत्तियां रची।

२) प्रत्येक ग्रन्थ में अमृतचन्द्र आचार्य विरचित टीकाओं में उपलब्ध गाथाओं से अतिरिक्त गाथाऐं जयसेन आचार्य को प्राप्त हुई। अत: उन गाथाओं के विश्लेषण के लिए स्वतन्त्र वृत्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई।

३) भावी काल में कोई नवीन वृत्तिकार उक्त ग्रन्थों की गाथा संख्या में परिवर्तन करके न्यूनाधिक न करे, यह अभिप्राय मन में धारण करके जयसेन आचार्य ने पातनिका शैली को अंगीकार करके अधिकार के प्रारम्भ में और अन्त में अन्तराधिकार, स्थल, गाथा संख्या और गाथागत विषय को सूचित किया है।

४) अमृतचन्द्र आचार्य कृत टीका से प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र अर्थ नहीं जाना जाता है। इसलिए खण्डान्वय पद्धति से प्रत्येक शब्द का यथायोग्य प्रकरण के अनुसार अर्थ करके व्युत्पत्ति पूर्वक विषय की अभिव्यक्ति के लिए जयसेन आचार्य ने यह प्रयास किया है।

५) आगम और अध्यात्म में प्रतिभासित होनेवाले विरोध को दूर करके उन दोनों में सामञ्जस्य व्यवस्थापित करने के लिए वृत्ति रचना की आवश्यकता हुई।

६) शास्त्र स्वाध्याय का प्रयोजन केवल लौकिक पाण्डित्य न हो इसके लिए जयसेन आचार्य प्रत्येक गाथा की वृत्ति के अन्त में भावार्थ लिखकर पाठकों को गाथा के मूल प्रयोजन तक ले जाते हैं। उसके लिए उन्होंने निम्नलिखित अभिप्रायगर्भित भावार्थ वाक्य लिखे हैं।

अ) मिथ्यात्व और अज्ञान उन्मूलन करने योग्य है। ब) स्वसंवेदन ज्ञान से प्राप्य भरितावस्थ, रागादि विकल्प से रहित शुद्धजीवद्रव्य उपादेय है। वही ध्यान करने योग्य है।

क) इन्द्रिय सुख हेय है। अतीन्द्रिय सुख उपादेय है। अत: उसकी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए।

७) प्रत्येक गाथा का शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ रूप से विश्लेषण करने के लिए स्वतन्त्र वृत्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिए जयसेन आचार्य ने स्वतन्त्र वृत्तियाँ रची हैं।

८) नयों के भेद प्रभेद रूप से उल्लेख बिना अल्पबुद्धिजन यथार्थ विवक्षा को जानने के लिए समर्थ नहीं हैं, इसलिए उन्होंने नयों के भेद प्रभेदों को प्रतिपादन करने के लिए स्वतन्त्र वृत्तियां रची हैं।

९) संस्कृत प्राकृत के ऊपर भी इनका अधिकार था, इसलिए उन्होंने यथासंभव संस्कृत प्राकृत शब्दों के व्युत्पत्ति, संधि, समास, अपवाद नियमों का उल्लेख सूत्र सहित अपनी वृत्ति में किया है।

मौलिक उद्भावना :-

जयसेन आचार्य ने कतिपय मौलिक उद्भावनाएँ भी उद्भावित की हैं। उन्होंने मिथ्यात्व रूप दर्शनमोह की रंजना शक्ति का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। जिस प्रकार रागादिभावों में कर्मधूलि से रंजित करने के लिए स्निग्धत्व शक्ति है, उसी प्रकार मिथ्यात्व भाव में भी बंध करने के लिए स्निग्धत्व शक्ति है। इस तथ्य को उन्होंने उद्घाटित किया है। एक प्रदेशी परमाणु के बंध का कारण स्निग्धत्व शक्ति को दिखाने के लिए मिथ्यात्व भाव की स्निग्धत्व शक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार जीव स्नेह रहित परमात्मतत्त्व से विपरीत स्वप्रदेशगत मिथ्यात्व रागादि स्निग्ध भाव से परिणत होता हुआ, नवीन ज्ञानावरणादि कर्मस्कंधों का कर्ता है, उसी प्रकार वही परमाणु एकप्रदेशगत स्निग्ध भाव से परिणत होता हुआ द्व्यणुक आदि स्कन्धों का कर्ता है। [१]

पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति की एकसौ छप्पनवीं गाथा में भाव निमित्तक बंध कहा है। वहाँ परभाव रति, राग, द्वेष, मोहयुक्त कहा है। उनमें मोह शब्द से मिथ्यात्व रूप दर्शनमोह ग्रहण किया जाता है, ऐसा कहा है। जिस शास्त्र में कषाय बन्ध का कारण कहा है, वहाँ पर कषाय में मिथ्यात्व का अन्तर्भाव किया है। मिथ्यात्व भाव का स्निग्धत्व और बन्ध कारणत्व का जयसेन आचार्य ने पुनः पुनः व्याख्यान किया है। [२]

---

१. पञ्चास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति, गा.८७

२. वहीं पर, , गा. ३९, ११६, १३६,१३८, १३९, १५६, १७२

२) उन्होंने शुद्धात्मानुभूति का साधन कहकर दुःख संतप्त मिथ्यादृष्टियों को आत्मानुभूति की अपूर्व संधि प्राप्त करायी है। आत्मानुभूति का साधन स्वसंवेदनरूप भाव श्रुतज्ञान है। स्वसंवेदन ज्ञान रूप मात्र ग्राहक भावश्रुत ज्ञान प्रत्यक्ष कहा है। जहाँ पर गाथा में "आत्मा को जानता है" ऐसा कहा है, वहाँ उसका अर्थ वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव करता है, ऐसा स्पष्ट किया है।

उन्होंने निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान की प्राप्ति के उपाय का भी क्रमशः चिन्तन किया है। प्रथमतः परमागम के अभ्यास से सम्यक्परिज्ञान, श्रद्धान, व्रतादि अनुष्ठान रूप ये तीनों उत्पन्न होते हैं। उन तीनों के आधार से, सिद्धजीव के विषय में सम्यक् ज्ञान श्रद्धान, उसके गुणों का स्मरण रूप अनुष्ठान- ये तीनों उत्पन्न होते हैं। उन तीन के आधार से स्वशुद्धात्मा के विषय में सविकल्प ज्ञान, स्वशुद्धात्मा का उपादेयभूत रूचि विकल्प रूप सम्यग्दर्शन, रागादि विकल्पों की निवृत्तिरूप सविकल्पचारित्र-ये तीन उत्पन्न होते हैं। उन तीनों के प्रसाद से निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप विशिष्ट स्वसंवेदन ज्ञान उत्पन्न होता है। अर्थात् परमागम ज्ञान, सिद्ध ज्ञान, सविकल्प शुद्धात्मज्ञान, निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान, इस क्रम से आत्मानुभूति होती है। आत्मानुभव के इच्छुक पुरुषों के द्वारा यह उपाय क्रम अनुसरण करने योग्य है। इस मार्ग से जाने वाले को अपने इच्छित की प्राप्ति अवश्य होती है। इसलिए जयसेन आचार्य जहां तहां शुद्धात्म भावना को भाने के लिए प्रेरणा देते हैं।

३) ज्ञान का स्वरूप स्वपर प्रकाशकत्व और सविकल्पत्व है। इसलिए ज्ञान का निर्विकल्पत्व कैसे घटित होता है ? इस विषय में उन्होंने सामञ्जस्य स्थापित किया है। अपनी शुद्धात्मा की संवित्तिरूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान स्वसंवित्ति आकार रूप एक विकल्प से सविकल्प होते हुए भी बाह्य विषय सम्बन्धी अनिच्छापूर्वक सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव होने पर भी उनकी मुख्यता नहीं है। उस कारण से स्थूल रागादि विकल्पों का अभाव होने से निर्विकल्प कहा जाता है। सर्वथा ज्ञान निर्विकल्प नहीं है। ये ही ज्ञान बहिर्विषयक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान नामक विकल्प रहित होने से निर्विकल्प है। पाँच इन्द्रियों का विषय नहीं होने से अतीन्द्रिय कहा हैं। इस प्रकार उन्होंने निर्विकल्प ज्ञान की उद्भावना सम्यक् रीति से प्रकट की है। इस प्रकार की उद्भावना अन्यत्र दुर्लभ है।

४) उसी प्रकार इन्द्रियजनित सुखानुभवी जीवों को अतीन्द्रिय सुख की संभावना भी सम्यक् दिखायी है। ऐन्द्रियक सुखशालियों को सुख इन्द्रियों के बिना होता है, यह अबुद्धिगोचर है। इसलिए उनके लिए अतीन्द्रिय सुख की दृष्टान्त पूर्वक सिद्धि की है। जैसे कोई निर्व्याकुल

चित्त पंचेन्द्रिय विषय व्यापार से रहित होकर बैठा हुआ सुख का अनुभव करता है, सामान्य रूप से वह अतीन्द्रिय सुख है। परन्तु समाधिस्थ योगियों को पंचेन्द्रिय और मन से उत्पन्न समस्त विकल्पों से रहित होने पर स्वसंवेदन गम्य विशेष रूप से अतीन्द्रिय सुख है। इस प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान की भी उद्भावना की है।

५) उन्होंने कारण समयसार और कार्य समयसार की भी विलक्षण भावना की है। केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय की व्यक्ति रूप कार्य समयसार है, उसका साधक निश्चय रत्नत्रय परिणत आत्मा कारण समयसार है। कारण समयसार का व्यय ही कार्य समयसार का उत्पाद है। केवलज्ञान की उत्पत्ति के अवसर में शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप कार्य समयसार का उत्पाद होता है। शुद्धात्मा की रुचि, परिच्छित्ति और निश्चल अनुभूति रूप कारण समयसार का व्यय होता है और उन दोनों के आधारभूत परमात्म द्रव्यत्वरूप से ध्रौव्य होता है। निश्चय व्यवहार के भेद से कारण समयसार भी दो प्रकार का कहा है। व्यवहार रत्नत्रय रूप व्यवहार मोक्षमार्ग से परिणत व्यवहार कारण समयसार है। निश्चय रत्नत्रय रूप निश्चय मोक्षमार्ग से परिणत निश्चय कारण समयसार है। जब आत्मा रत्नत्रय रूप से परिणमता है, तभी वह कारण समयसार कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार जयसेन आचार्य ने प्रगट किया है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में जयसेन आचार्य का महत्त्वपूर्ण योगदान :-

आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा ग्रन्थ रचना के अनन्तर आचार्य परम्परा में आध्यात्मिक विषयों का पर्याप्त रसास्वादन हुआ | उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्दी, गुणभद्र आदि आचार्यों ने अध्यात्म के रहस्य का उद्घाटन किया। परन्तु उनकी रचनाओं में न्याय विषयों का विवेचन बहुलता से है। प्रथम सहस्राब्धि के मध्यकाल में बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक आदि परमतों का उनकी साहित्य रचना से प्रचार हुआ। अतः उनका निराकरण करने के लिए उस समय के आचार्यों ने प्रमाण मीमांसा, सर्वज्ञ सिद्धि, अनेकान्त स्याद्वाद सिद्धि इत्यादि गहन विषयों का विवरण अपने ग्रन्थों में प्रमुखता से किया है। अत: वे ग्रन्थ साधारण मुमुक्षु लोगों के लिए जानना दुर्गम हुए। इसलिए वे अध्यात्म रसास्वादन से वंचित आत्महित के साधने के लिए असमर्थ हुए। साहित्यिक क्षेत्र में यह त्रुटि अमृतचन्द्र आचार्य ने अनुभव की। प्रत्येक भव्य जीव अध्यात्मरस का आस्वाद लेकर मोक्षमार्ग का अनुसरण करने के लिए समर्थ हो, इस परम उदात्त भावना से उन्होंने कुन्दकुन्द प्राभृतत्रयी के ऊपर सारगर्भित अध्यात्मरस से रसित मार्मिक टीकाएं रचीं। परन्तु वे प्रौढ अध्यात्म गहन शैली में रचित होने से गूढ रहस्यमय सर्वजन ग्राह्य नहीं हुई। वहाँ विद्वानों का ही अधिकार हुआ। अलंकार शैली से अनभिज्ञ अल्पबुद्धिजन

वहाँ प्रवेश करने के लिए असमर्थ रहे। इसलिए उनको लक्ष्य करके कुन्दकुन्द आचार्य प्रदत्त अध्यात्म विद्या का सरलता से प्रतिबोध करने के लिए जयसेन आचार्य ने कुन्दकुन्द प्राभृतत्रय के ऊपर सरल, सुबोध शैली में वृत्तियां रची।

कुन्दकुन्द आचार्य से हजार वर्षों के अनन्तर अमृतचन्द्र हुए। उनके अनन्तर दो सौ वर्ष पश्चात् जयसेन आचार्य हुए। आचार्य जयसेन टीकाकार नहीं हैं, अपितु वृत्तिकार हैं। उन्होंने केवल कुन्दकुन्द आचार्य साहित्य के ऊपर ही वृत्ति नहीं रची अपितु टीकाकार अमृतचन्द्रकृत टीकाओं की भी टीका की।

उन्होंने अमृतचन्द्र आचार्य की टीका के अस्पष्ट विषयों को अपनी वृत्ति में स्पष्ट करके मौलिकता सम्पादित की है। यद्यपि ये अमृतचन्द्र आचार्य के वक्तव्य को सविनय स्वीकार करते हैं, तथापि अपने मन्तव्य को भी निर्भीकता से व्यक्त करते हैं। जयसेन आचार्य उस काल में हुए, जिस काल में मिथ्या रूढिवादियों का आविर्भाव हुआ। नवनवीन मिथ्या मान्यताओं का आविष्कार हुआ था | सर्वत्र अज्ञानवाद का साम्राज्य फैला हुआ था। जिनानुयायियों के ऊपर परमत में प्रचलित क्रियाकाण्डों का प्रभाव बढ गया था। तब उन पथ भ्रष्टों को पथ दिखाने के लिए जयसेन आचार्य रूपी सूर्य का उदय हुआ। कुछ जैन मुनि भी ज्योतिष, मन्त्र, यन्त्र, वैद्यकीय चमत्कारों से लोगों को आकर्षित करते थे। उनकी क्रियाओं का नामोल्लेख पूर्वक निषेध करके सम्यक् मार्ग प्रकाशित किया। [१]

वे इस प्रकार के अध्यात्म सरोवर थे, जहाँ से वृत्तिरूपी अध्यात्म गंगा प्रकट हुई। जिसमें अवगाहन करके अध्यात्म पिपासु अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करके संतृप्त हुए। आज भी अध्यात्म रसिकजन वहाँ रमते हैं। उन्होंने प्रत्येक गाथा की वृत्ति में अध्येताओं को आत्मानन्द रूपी रसायन पिलाया है। गाथा वृत्ति के अन्त में अध्येताओं के हाथ में मानो अध्यात्म नवनीत ही दिया है। उनकी वृत्तियों के अध्ययन से पाठक स्वशुद्धात्मा को एक क्षण भी विस्मृत करने के लिए समर्थ नहीं है। प्रत्येक गाथा की वृत्ति की प्रत्येक पंक्ति में प्रायः शुद्धात्मा का उल्लेख किया है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल रूप अजीव द्रव्यों के वर्णन में भी वे शुद्धात्मा को नहीं भूलते। अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों के स्थिति हेतुत्व में किस प्रकार उदासीन कारण है, इसको दिखाते हुए उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार शुद्धात्मस्वरूप में जो स्थिति उसका निश्चय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन कारण है। व्यवहार से पुन: अरिहन्त सिद्ध आदि परमेष्ठी के गुणों का स्मरण कारण है। इसी प्रकार जीव पुद्गलों के निश्चय से

---

१. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा.५२

अपना स्वरूप ही स्थिति का उपादान कारण हैं। व्यवहार से पुनः अधर्म द्रव्य कारण है। इस प्रकार उनकी वृत्तियाँ आध्यात्मिक रस से भरी हुई शुद्धात्मा के चारों ओर ही परिक्रमा लगाती हैं।

अध्यात्मवाद इस प्रकार का रसायन है, जिसके सेवन से आत्मा स्वानुभव रूप आत्मतेज से प्रकाशित होता है। उसी प्रकार अपनी आत्मा में सुधारसधारा प्रवाहित होती है। आत्मा परमानन्दसागर में निमग्न होकर परम तृप्ति का अनुभव करता है। कुन्दकुन्द आचार्य देव के द्वारा इस प्रयोजन को उद्देश्य करके ही निजात्म वैभव के द्वारा अध्यात्म ग्रन्थों का प्रणयन किया है। जयसेन आचार्य ने भी वह उद्देश्य सफल किया है। उन्होंने कुन्दकुन्द प्रणीत अध्यात्म रहस्यों का उद्घाटन करके सर्वसाधारणजनों के लिए सुलभ किया है। यह आचार्य जयसेन का आध्यात्मिक क्षेत्र में महत् योगदान है।

जयसेन आचार्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य प्रकाशित होता है कि उन्होंने आगम और अध्यात्म के विरोध को दूर करके सुमेल स्थापित किया है। कुछ लोगों ने कुन्दकुन्द आचार्य और अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा प्रदत्त विशुद्ध अध्यात्म को पढकर के आगम का अपलाप किया है। कुन्दकुन्द आचार्य प्रणीत समयसार ग्रन्थाधिराज शुद्धात्मा के शिखर रूप है। और उसके ऊपर अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा विरचित "आत्मख्याति" अध्यात्म का भांडागार है। अमृतचन्द्र आचार्य की टीका रचना के पश्चात् आध्यात्मिक क्रान्ति हुई और आध्यात्मिक विकास पराकोटि को प्राप्त हुआ। उन्होंने अध्यात्म का विशुद्ध अध्यात्म रूप से आविष्कार किया है। वहाँ आगम की अपेक्षा उन्होंने आत्मसात् नहीं की। किसी आध्यात्मिक लेखक का यह गुण ही है, परन्तु इस प्रकार के अध्यात्म प्रचार से आगम की प्राचीन सुदीर्घ परम्परा के लोप का प्रसंग हुआ। तब आगम की सुरक्षा का प्रश्न उपस्थित हुआ। उसका समाधान जयसेन आचार्य ने किया। उन्होंने अध्यात्म का आगम के साथ सम्बन्ध साधा। सर्वत्र नयों की विवक्षा, भेद प्रभेद सहित स्पष्ट की। आध्यात्मिक लेखक की दृष्टि से यह दोष कहा जा सकता है, परन्तु केवल आगम का संरक्षण ही उनका लक्ष्य था। किसी भी संस्कृति का संरक्षण आगम को छोड़कर नहीं हो सकता है। इसलिए जयसेन आचार्य ने आध्यात्मिक ग्रन्थों में भी आगम की विवक्षा प्रतिपादन करके आगम की सुरक्षा की है। इसलिए जयसेन आचार्य का व्यक्तित्व आगम विचारधारा के परिरक्षक रूप से दृष्टिपथ में आता है।

इतना ही नहीं, उन्होंने चारों अनुयोगों में समन्वय स्थापित किया है। आध्यात्मिक प्रभाव की अधिकता से कोई आध्यात्मिक प्रवाह बाह्य क्रिया को छोडकर शिथिलाचारी होता

हुआ अपनी सीमा को लाँघ चुका था। इस प्रवाह को रोकने के लिए जयसेन आचार्य ने चरणानुयोग शैली का अनुसरण करके शिथिलाचार का उन्मूलन किया। उसी प्रकार करणानुयोग में प्रतिपादित गुणस्थान परिपाटी से यथायोग्य भूमिका का दिग्दर्शन किया। उसकी पुष्टि के लिए प्रथमानुयोग वर्णित राम पाण्डवादि पुराण पुरुषों का दृष्टान्त भी प्रयुक्त किया। इस प्रकार उन्होंने चारों अनुयोगों के आश्रय से शिथिलाचारका निराकरण करके अध्यात्म के लिए यथार्थ रूप से जीवन दान ही दिया।

****

परिशिष्ट :

मूलग्रन्थसूची –

१) **पञ्चास्तिकायसङ्ग्रह :-** आचार्यकुन्दकुन्दः, (मराठी अनुवादसहिते) अनु. पं. धन्यकुमार गंगासा भोरे, प्रकाशक – श्री महावीर ज्ञानोपासना समिति, कारंजा, प्रथमसंस्करणं, सन् – १९८२

२) **पञ्चास्तिकायसङ्ग्रह :-** आचार्यकुन्दकुन्दः, सं.अनु.पं.मन्नूलाल जैन, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथमसंस्करणं, सन् २०००

३) **प्रवचनसार –** आचार्यकुन्दकुन्द, हिन्दी अनु. परमेष्ठीदास, प्रकाशक – श्री वीतराग सत्साहित्यप्रकाशक ट्रस्ट, भावनगर, चतुर्थसंस्करणं, वि.सं. २०३५

४) **प्रवचनसार –** आचार्यकुन्दकुन्दः, हिन्दी अनु. ब्र. कल्पना जैन शास्त्री, प्रकाशक – श्री. दि. जैन धर्मशिक्षण संयोजन समिति, इन्दौर, प्रथम संस्करणं, सन् १९९४

५) **समयसार :-** आचार्यकुन्दकुन्दः, सं. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य प्रकाशक – श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, आगास, तृतीयसंस्करणं, सन् १९८३

६) **समयसार :-** आचार्यकुन्दकुन्दः, हिन्दी अनु.- मुनिवरवीरसागरः, सं.मन्नूलाल जैन, प्रकाशक – चंकेश्वरा परिवार, सोलापुर, तृतीयसंस्करणं, सन् – २०००

पाण्डुलिपिग्रन्थसूची –

१) **पञ्चास्तिकायतात्पर्यवृत्ति :-** जयसेनाचार्यः, देवनागरीलिपिः, लिपिकालः १३६९, आकार : १० x ६, अनुक्रमाङ्क – प. ७, श्री १००८ पार्श्वनाथ स्वामी दिगंबर जैन सेनगण मंदिर, कारंजा

२) **पञ्चास्तिकायतात्पर्यवृत्ति :-** (प्राभृतसारः) – अध्यात्मीबालचन्द्रः कन्नडलिपिः, आकार ८१/२ x ७ १/२, अनुक्रमाङ्क १३, श्री सरस्वती मन्दिर ग्रन्थालयं, बाहुबली, (कोल्हापूर)

३) **पञ्चास्तिकायप्रदीप :-** प्रभाचन्द्राचार्यः, कन्नडलिपि, श्री लक्ष्मीसेन जैनमठ, कोल्हापूर

४) **प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति :-** जयसेनाचार्यः, देवनागरीलिपिः, आकार : १० x ५ १/२, अनुक्रमाङ्क प्र. ९, श्री १००८ पार्श्वनाथ स्वामी दिगंबर जैन सेनगण मंदिर, कारंजा

५) **प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति :-** अध्यात्मीबालचन्द्रः, कन्नडलिपिः, आकार : ११ x ६, अनुक्रमाङ्क १०, श्री सरस्वती मन्दिर ग्रन्थालयं, बाहुबली

६) **प्रवचनसरोजभास्कर :-** प्रभाचन्द्राचार्यः, कन्नडलिपिः, श्री लक्ष्मीसेन जैन मठ, कोल्हापूर

७) **प्रवचनसरोजभास्कर :-** प्रभाचन्द्राचार्यः, देवनागरीलिपिः, लिपिकालः सं. १५७७, आकार : ९x४ १/२, अनुक्रमाङ्क – वेष्टन सं. – ६४५, जैन विद्या संस्थान, जयपुर (श्री दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र, महावीरजीस्थित)

८) **प्रवचनसरोजभास्कर :-** प्रभाचन्द्राचार्यः, देवनागरीलिपिः, लिपिकालः- सं. १५५५ प्रतितः प्रतिलिपिः- वि.सं. १९८१, आकार :- १० x ६, श्री ऐलक पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन फ्रीगंज, उज्जैन.

९) **समयसारतात्पर्यवृत्ति :-** जयसेनाचार्यः, देवनागरीलिपिः, लिपिकालः १७५०, आकार :- १० x ४ १/२, अनुक्रमाङ्क – स. ४, श्री १००८ पार्श्वनाथ स्वामी दिगंबर जैन सेनगण मंदिर, कारंजा

१०) **समयसारतात्पर्यवृत्ति :-** अध्यात्मीबालचन्द्रः, कन्नडलिपिः, आकार : ८ १/२ x ७ १/२, अनुक्रमाङ्क : १५, श्री सरस्वती मन्दिर ग्रन्थालयं, बाहुबली

११) **समयसारटीका :-** प्रभाचन्द्राचार्यः, कन्नडलिपिः, श्री लक्ष्मीसेन जैन मठ, कोल्हापुर

१२) **बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहः :-** ब्रह्मदेवसूरिः, देवनागरीलिपिः, आकार : ११ x ७, अनुक्रमाङ्क : ४५, श्री सरस्वती मन्दिर ग्रन्थालय, बाहुबली

सहायकग्रन्थसूची –

१) **अध्यात्मामृतकलशम्** :- आचार्यामृतचन्द्र, टीकाकार – पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री, प्रकाशक – श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मंदिरं, कटनी, (म.प्र.), तृतीयसंस्करण, सन् १९९१

२) **अध्यात्मसार** :- उपाध्याययशोविजयः, प्रकाशक – जैनधर्मप्रसारकसभा, भावनगर, वि.सं. १९६५

३) **अनुयोगद्वारसूत्रम्** :- आर्यरक्षितस्थविरः, प्रकाशक – आगमोदयसमिति, मुंबई, सन् १९२४

४) **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** :- महाकविकालिदासः, व्याख्याकार – डॉ. प्रभाकर शास्त्री, प्रकाशक – अजमेरा बुक कम्पनी, जयपुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९९१

५) **अमितगतिश्रावकाचारः** :- अमितगत्याचार्यः, वचनिकाकार – पं. भागचन्द, प्रकाशक – मूलचन्द किसनदास कापडिया, सूरत, द्वितीयसंस्करणं, वी.सं. २४८४ (सन् १९५८)

६) **अष्टसहस्री** :- आचार्यविद्यानन्दिः, सं. – पं. वंशीधर शास्त्री, प्रकाशक – रामचन्द्र नाथारंगजी गांधी, अकलूज (सोलापुर), प्रथमसंस्करणं, सन् १९१५

७) **आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व एवं कर्तृत्वम्** :- डॉ. उत्तमचन्द जैन, प्रकाशक – पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९८८

८) **आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार** :- लेखिका – डॉ. शुद्धात्मप्रभा, प्रकाशक – पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९८७

९) **आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम** :- डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक – पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९८८

१०) **आचार्य कुन्दकुन्द व्यक्तित्व एवं कर्तृत्वम्** :- डॉ. कस्तुरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक – श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९९०

११) **आदिपुराणं** :- भा.२ – आचार्यजिनसेनः, सं. – डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीयसंस्करणं, सन् १९८८

१२) **आप्तपरीक्षा** :- आचार्यविद्यानन्दिः, अनु – पं. दरबारीलाल कोठिया, प्रकाशक – वीर सेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर), प्रथमसंस्करणं, सन् १९४९

१३) **आप्तमीमांसा की तत्त्वदीपिका** :- प्रो. उदयचन्द्र जैन, प्रकाशक – गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७५

१४) **आप्तस्वरूपम्** :- सिद्धान्तसारादिसंग्रहान्तर्गत, सं. – पन्नालाल सोनी, प्रकाशक – मा.दि.जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई, सन् १९७९

१५) **आलापपद्धति** :- आचार्य देवसेन, सं. नरेन्द्रकुमार भिसीकर, शास्त्री, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७९

१६) **आवश्यकनिर्युक्ति** :- आचार्यभद्रबाहु, प्रकाशक – आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१७
१७) **इष्टोपदेशः** :- आचार्यपूज्यपाद, अनु – नरेन्द्रकुमार भिसीकर, शास्त्री,
प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, फलटण गल्ली, सोलापुर, द्वितीयसंस्करणं, सन् १९८३
१८) **ईषाद्युपनिषत्सु बृहदारण्यकोपनिषद्** :- सं. वासुदेव शर्मा पाण्डुरङ्ग जावजी, मुंबई, चतुर्थसंस्करणं, सन् १९३२
१९) **उत्तरपुराणं** :- आचार्यगुणभद्रः, सं – डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य,
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीयसंस्करणं, सन् १९८९
२०) **ऋग्वेदसंहिता** :- प्रकाशक – श्रीपाद दामोदर सातवेळकर, औन्धनगरम्, मुंबई,
विक्रम संवत् १९९४
२१) **कर्णाटक कविचरिते, जिल्द १** :- ले.आर.नरसिंहाचार्य,
प्रकाशक – कन्नड साहित्य परिषद, बेंगलोर, द्वितीयसंस्करणं, सन् १९७२
२२) **कल्पभाष्यम्** :- भद्रबाहु, सं. – चतुर्विजय, पुण्यविजय,
प्रकाशक – आत्मानंद जैनसभा, भावनगर, सन् १९३३-१९३८
२३) **कसायपाहुडं, पु.-१, प्रस्तावना** :- पं. फूलचन्द्र शास्त्री,
प्रकाशक – भा.दि.जैन संघ, चौरासी मथुरा, द्वितीयसंस्करणं, सन् १९७४
२४) **कसायपाहुडसुत्तं** :- गुणधराचार्य, सं – पं हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री,
प्रकाशक – वीरशासनसंघ, कलकत्ता, सन् १९५५
२५) **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** :- स्वामिकुमारकार्तिकेयः,
प्रकाशक – परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, आगास, तृतीयसंस्करणं,
वि.सं. २०४६
२६) **काशिकावृत्तिः (पाणिनीयाष्टाध्यायी व्याख्या)** :- श्रीमद्वामनजयादित्य,
प्रकाशक – प्राच्य भारती प्रकाशनम्, वाराणसी, सन् १९६५
२७) **कुछ अभ्यास की पंक्तियाँ** :- एस.एस. कासलीवाल,
प्रकाशक – एस. के. फाऊन्डेशन ट्रस्ट ९९, मरीन ड्राइव, मुंबई, सन् १९७४
२८) **कुवलयमाला** :- उद्योतनसूरिः, प्रकाशक – सिंधी जैन ग्रन्थमाला, मुंबई, सन् १९५९
२९) **कूर्मपुराणम्** :-सं.पं. शिवराम शर्मा आचार्य,
प्रकाशक – संस्कृतिसंस्थान, वेदनगर, बरेली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७०
३०) **क्षत्रचूडामणिः** :- वादीभसिंहसूरि, भाषाकार – मोहनलाल जैन, काव्यतीर्थ,
प्रकाशक – हरप्रसाद जैन वैद्यभूषण, लुहर्स, मडावरा (झाँसी), प्रथमसंस्करणं, सन् १९४०
(वी.सं. २४६६)

३१) **क्षपणसारः** :- नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, स – ब्र.पं. रतनचन्द जैन मुख्तार,
प्रस्तुत संस्करण – संपादिका – आर्यिका विशुद्धमति माताजी,
प्रकाशक – आचार्य शिवसागर दि. जैन ग्रन्थमाला शान्तिवीर नगर महावीरजी (राजस्थान),
द्वितीयसंस्करणं, सन् १९९१

३२) **गणेशप्रसादवर्णी स्मृतिग्रन्थ** :- डॉ. पन्नालाल – साहित्याचार्य, नीरज जैन,
प्रकाशक – श्री भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् कार्यालय, सागर, सन् १९७४

३३) **गोम्मटसारकर्मकाण्ड** :- नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती,
प्रकाशक – ब्र. लाडमल जैन, आचार्य शिवसागर दि. जैन ग्रन्थमाला, प्रथमसंस्करणं,
सन् नवम्बर १९८०

३४) **गोम्मटसारजीवकाण्ड** :- नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सं. – डॉ. आ.ने.उपाध्ये,
पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथमसंस्करणं,
सन् १९७८

३५) **जयधवला भाग – १, २** :- वीरसेनाचार्य, सं. – पं. फूलचन्द्र, पं. कैलाशचन्द्र,
प्रकाशक – भा.दि.जैन संघ, चौरासी, मथुरा, द्वितीयसंस्करणं, सन् १९७४

३६) **जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार** :- सं. फतेहचंद बेलानी,
प्रकाशक – जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, प्रथमसंस्करणं, सन् १९५०

३७) **जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह** :- सं – पं. जुगलकिशोर मुख्तार,
प्रकाशक – वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज दिल्ली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९५४

३८) **जैन जागरण के अग्रदूत** :- अयोध्याप्राद गोयलीय,
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्रथमसंस्करणं, सन् १९५२

३९) **जैनदर्शनसार** :- पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ,
प्रकाशक – पं. नाथूलाल बज ट्रस्ट, जयपुर, तृतीयसंस्करणं, सन् १९७४

४०) **जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भा. २** :- पं. परमानन्द शास्त्री,
प्रकाशक – रमेशचन्द्र जैन, दिल्ली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७४

४१) **जैनधर्म में अहिंसा** :- श्री ब्र. सीतलप्रसादजी,
प्रकाशक – मूलचन्द किसनदास कापडिया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, प्रथमसंस्करणं,
सन् १९३९

४२) **जैनेन्द्रमहावृत्ति** :- अभयनन्दि मुनिः, प्रस्तावना – श्री युधिष्ठिर मीमांसक,
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमसंस्करणं, सन् १९५६

४३) **जैनेन्द्रव्याकरणम्** :- आचार्यपूज्यपादः, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमसंस्करणं,
सन् १९५६

४४) **जैनशिलालेखसंग्रह** :- भा. १, सं – डॉ. हीरालाल जैन,
प्रकाशक – श्री माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, मुंबई

४५) **जैनशिलालेखसंग्रह** :- भा. २, सं. – पं. विजयमूर्ति,
प्रकाशक – माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला हीराबाग, मुंबई – ४, प्रथमसंस्करणं, सन् १९५२

४६) **जैन साहित्य और इतिहास** :- नाथूराम प्रेमी,
प्रकाशक – हेमचन्द्र मोदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय हीराबाग, गिरगाँव, मुंबई, प्रथमसंस्करणं, सन् १९४२

४७) **जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश** :- प्रथम खण्ड – श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', प्रकाशक – श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता, प्रथमसंस्करणं, सन् १९५६

४८) **जैनसाहित्य का इतिहास** :- भाग १, २, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री,
प्रकाशक – गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी – ५, प्रथमसंस्करणं,
वी.सं. २५०२ (सन् १९७६)

४९) **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** :- भाग २, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, डॉ. मोहनलाल मेहता,
प्रकाशक – पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी – ५,
सन् १९६७

५०) **ज्ञानार्णव** :- आचार्य शुभचन्द्र, अनु. – पं. बालचन्द्रजी शास्त्री,
प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७७

५१) **ज्ञानसार** :- श्री पद्मसिंह मुनि सं. – पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री,
प्रकाशक – वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथमसंस्करणं, सन् १९८४

५२) **तत्त्वानुशासनम्** :- आचार्यरामसेनः, सं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक – वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, २१, दरियागंज, दिल्ली ६, प्रथमसंस्करणं, सन् १९६३

५३) **तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति** :- सिद्धसेनगणीकृताः, प्रकाशक – दे.ला.जैन पुस्तकोद्धार फंड, मुंबई,
वि.सं. १९८२ (सन् १९२५)

५४) **तत्त्वार्थराजवार्तिकम् – भा. १, २** :- आचार्य अकलङ्कः, सं. अनु. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वितीयसंस्करणं, सन् १९९०

५५) **तत्त्वार्थवृत्ति** :- श्रुतसागरसूरिः, सं. – प्रो. महेन्द्रकुमार जैन न्यायतीर्थ,
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमसंस्करणं, सन् १९४९

५६) **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्** :- आचार्यविद्यानन्दिः, सं. पं. मनोहरलाल शास्त्री, प्रकाशक – गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, मुंबई, प्रथमसंस्करणं, सन् १९१८

५७) **तत्त्वार्थसार** :- अमृतचन्द्राचार्य, सं. – पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक – श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, डुमरावबाग, अस्सी, वाराणसी – ५, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७०

५८) **तत्त्वार्थसूत्रम्** :- आचार्यगृद्धपिच्छः, सं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक – श्री गणेशवर्णी दि. जैन शोध संस्थान, नरिया, वाराणसी, द्वितीयसंस्करणं, सन् १९९१

५९) **तर्कसंग्रह** :- (पदकृत्यटीकासहित), अन्नपट्ट प्रकाशक – चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, नवमसंस्करणं, सन् १९९०

६०) **तिलोयपण्णतिः** :- यतिवृषभाचार्य हिन्दी अनु. – आर्यिका विशुद्धमति माताजी, प्रकाशक – श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, प्रथमसंस्करणं, सन् १९८६

६१) **तीर्थंकर महावीर** :- डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, प्रकाशक – श्री वीरनिर्वाण महोत्सव समिति, नीमच, मध्यप्रदेश, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७५

६२) **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा – भाग १, २, ३, ४** :- डॉ. नेमचन्द्र जैन, प्रकाशक – श्री. भा.दि.जैन विद्वत्परिषद्, सागर, मध्यप्रदेश, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७४

६३) **तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ** :- डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक – पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, अष्टमसंस्करणं, सन् १९९९

६४) **त्रिलोकसार** :- नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, हिन्दी टीकाकार – पं. टोडरमलजी, सं. – पं. मनोहरलालजी शास्त्री, प्रकाशक – हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, मुंबई, प्रथमसंस्करणं, सन् १९१८

६५) **दक्षिण भारतमें जैन धर्म** :- पं. कैलाशचन्द्र, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथमसंस्करणं, सन् १९६७

६६) **दक्षिण भारत जैन व जैन धर्म यांचा संक्षिप्त इतिहास** :- बा.भु. पाटील, प्रकाशक – श्री. बाबगोंडा भुजगोंडा पाटील, सांगली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९३८

६७) **दर्शनपाहुडं** :- आचार्य कुन्दकुन्दः, (अष्टपाहुडान्तर्गत) सं. – हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक – श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, षष्ठसंस्करणं

६८) **दर्शनसार** :- देवसेनाचार्यः, सं – पं. नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक – जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, मुंबई, प्रथमसंस्करणं, वि.सं. १९७४, सन् १९१७

६९) **दशभक्ति** :- आचार्यकुन्दकुन्दः, संस्कृत टीकाकार :- प्रभाचन्द्राचार्यः, मराठी अनु. – पं. जिनदास पार्श्वनाथ, प्रकाशक – तात्या गोपाळ शेटे, सोलापुर, सन् १९२१

७०) **दशवैकालिकवृत्ति** :- हरिभद्रसूरि, प्रकाशक – जैन पुस्तकोद्धार फंड, मुंबई, सन् १९१८

७१) **देवागमस्तोत्रम् (आप्तमीमांसा) समन्तभद्राचार्य** :- अनु. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक – भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद, सन् १९८९-९०

७२) **द्रव्यसङ्ग्रह** :- नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, सं. – दरबारीलाल कोठिया,
प्रकाशक – श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९६६
७३) **द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्रं** :- माइल्लधवलः, सं – सिद्धान्ताचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री,
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७१
७४) **धर्मरत्नाकर :-** आचार्यजयसेनः सं.- डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये,
प्रकाशक- जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १९७४
७५) **धवला पु. १-** आचार्यवीरसेनः सं.- फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री,
प्रकाशक- जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, संशोधितसंस्करणं, सन् १९८५
७६) **धवला पु. २-** आचार्यवीरसेनः
प्रकाशक - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, संशोधितसंस्करणं, सन् १९७६
७७) **धवला पु. ३-** आचार्यवीरसेन,
प्रकाशक- जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, संशोधितसंस्करणं, सन् १९८०
७८) **धवला पु. ४-** आचार्यवीरसेन,
प्रकाशक - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, संशोधितसंस्करणं, सन् १९८४
७९) **धवला पु. ६-** आचार्यवीरसेन,
प्रकाशक - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, संशोधितसंस्करणं, सन् १९८५
८०) **धवला पु. ९-** आचार्यवीरसेन:
प्रकाशक- जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, संशोधितसंस्करणं, सन् १९९०
८१) **धवला पु. १३-** आचार्यवीरसेन,
प्रकाशक - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, संशोधितसंस्करणं, सन् १९९३
८२) **ध्यानशतकम्-** बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री,
प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली, प्रथमसंस्करणं सन् १९७६
८३) नयप्रदीपः- उपाध्याययशोविजयः,
प्रकाशक - जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर, सन् १९०८
८४) **नियमसारः-** आचार्यकुन्दकुन्दः, हिन्दी अनु. - पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ,
प्रकाशक - श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, पंचमसंस्करणं,
सन् १९८४
८५) **निमित्तोपादान एक अनुशीलन -** डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल,
प्रकाशक- पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९९१
८६) **न्यायकुमुदचन्द्रः-** आचार्यप्रभाचन्द्रः, सं. प्र. महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री,
प्रकाशक- मा. दि. जैन ग्रंथमाला समिति, मुंबई, प्रथम संस्करणं, सन् १९३८

८७) **न्यायदर्शनभाष्यम् -** प्रकाशक- मुजफ्फरनगर द्वितीयसंस्करणं, सन् १९३४
८८) **न्यायदर्शनसूत्रं -** सं.- उदयवीर शास्त्री,
प्रकाशक- विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, सन् १९९१
८९) **न्यायदीपिका-** अभिनवधर्मभूषणयतिः स दरबारीलाल जैन 'कोठिया',
प्रकाशक- वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जि. सहारनपुर, प्रथमसंस्करण, सन् १९४५
९०) **न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका-** सं. वाचस्पति मित्र, पं. राजेश्वर शास्त्री,
प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृतसीरीज, वाराणसी, प्रथमसंस्करण, सन् १९२५
९१) **न्यायविनिश्चयः-** भट्टाकलङ्कदेवः टीकाकार - वादिराजसूरिः,
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९४९
९२) **पञ्चाध्यायी-** पं. राजमल, सं.- पं. फूलचन्द्र शास्त्री,
प्रकाशक- श्री गणेशवर्णी दि. जैन संस्थान नरिया, वाराणसी, द्वितीयसंस्करणं, सन् १९८६
९३) **पञ्चास्तिकायसङ्ग्रहः-** समयव्याख्या, आचार्यामृतचन्द्रः,
प्रकाशक- वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर, तृतीयसंस्करणं, सन् १९७५
९४) **पञ्चास्तिकायटीका- द्वितीय खण्डः,** (नवपदार्थदर्पणम्),
टीकाकार- ब्र. शीतलप्रसादजी, प्रकाशक - मूलचन्द किसनदास कापडिया, चंदावाडी सूरत, प्रथमसंस्करणं, वी. सं. २४५४
९५) **पञ्चास्तिकायसमयसार : -** पं. हीरानन्दजी, सं- उदयलाल कासलीवाल,
प्रकाशक- हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, चंदावाडी गिरगाव, मुम्बई, प्रथमसंस्करणं, वी. सं. २४४२
९६) **पञ्चास्तिकायसारः-** अंग्रेजी लेखक- ए. चक्रवर्ति,
प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, द्वितीयसंस्करणं, सन्-१९७५
९७) **पतञ्जलिमहाभाष्यं -** प्रथमखण्डः,
प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास, १९६७ (रिप्रिन्ट)
९८) **पदमञ्जरी (काशिकाव्याख्या) -** हरिदत्तः, सं. डॉ. पुल्लेड, श्री. रामचंद्रूडू विट्ठलदेवोनी सुन्दर शर्मा, प्रकाशक- संस्कृतपरिषद् उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैद्राबाद, प्रथमसंस्करणं, सन् १९८१
९९) **पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका -** आचार्यपद्मनन्दिः,
प्रकाशक- जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९६२
१००) **परमागमसारः-** श्रुतमुनिः, सं. डॉ. जी. सी. जैन, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय,
प्रकाशक -प्राकृत जैन विद्या ग्रन्थमाला, वाराणसी, प्रथमसंस्करण, सन् १९८१
१०१) **परमात्मप्रकाशः-** योगीन्दुदेवः, वृत्तिकारः- ब्रह्मदेवसूरिः, अनु - पं. दौलतराम,
प्रकाशक - श्री परमश्रुतप्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, पंचमसंस्करणं, सन् १९८८

१०२) परमभावप्रकाशकनयचक्रम्- डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल,
प्रकाशक - पं. टोडरमलजी स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, तृतीयसंस्करणं, सन् १९९४
१०३) परमार्थवचनिका- पं. बदारसीदास (मोक्षमार्गप्रकाशान्तर्गता)
प्रकाशक- पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
१०४) परीक्षामुखम्- आचार्यमाणिक्यनन्दिः, सं.- डॉ. योगेशचन्द्र जैन,
प्रकाशक - कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, प्रथमसंस्करण, सन् १९९१
१०५) पाणिनीयशिक्षा- पिङ्गलाचार्यः, (लघुसिद्धान्तकौमुद्यन्तर्गता) सं - मनमोहनघोष यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, सन् १९३८
१०६) पाराशरोपपुराणम् - सं. डॉ. कपिलदेव त्रिपाठी, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय,
प्रकाशक -प्राकृत जैन विद्या ग्रंथमाला, वाराणसी, प्रथमसंस्कारणं, सन् १९९०.
१०७) पार्श्वाभ्युदयम्- आचार्य जिनसेनः सं.- मो. गौ. कोठारी,
प्रकाशक- श्री गुलाबचंद हिराचंद, कंस्ट्रक्शन हाऊस, मुंबई, प्रथमसंस्करणं, सन् १९६५
१०८) पाहुडदोहा- मुनिरामसिंहः, सं.- हीरालाल जैन,
प्रकाशक- गोपाल अम्बादास चवरे, कारंजा, प्रथमसंस्करणं, सन् १९३३
१०९) पुरुषार्थसिद्धयुपाय :- श्री अमृतचन्द्राचार्यः, व्याख्याकार, क्षु धर्मानन्द,
प्रकाशक- सुरेश सी. जैन, नई दिल्ली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९८९
११०) प्रद्युम्नचरित्रम्- महासेनाचार्यः, सं.- मनोहरलालशास्त्री, पं. रामप्रसादशास्त्री
प्रकाशक- माणिकचंद, दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, वी. सं. २४४३ सन् १८१६
१११) प्रमाणपरीक्षा- आचार्यविद्यानन्दिः, प्रकाशक- जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, काशी, सन् १९१४
११२) प्रमाणमीमांसा- हेमचन्द्राचार्यः, पण्डित सुखलालजी संघवी,
प्रकाशक- सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, प्रथमसंस्करणं, सन् १९३९
११३) प्रमेयकमलमार्तण्डः- आचार्यप्रभाचन्द्रः, हिन्दी अनु. - आर्यिका जिनमतीजी,
प्रकाशक - श्री लाल मुसद्दीलाल जैन चॅरिटेबल ट्रस्ट, देहली, प्रथमसंस्करणं, वी. सं. २५०४, (सन् १९७८)
११४) प्रवचनरत्नाकरः (गुजराती) - भा. ९, प्रवचनसार- कानजी स्वामी,
प्रकाशक- श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट, मुंबादेवी रोड, मुंबई, प्रथमसंस्करणं, सन् १९८५
११५) प्रवचनसार- तत्त्वप्रदीपिकाटीका आचार्यअमृतचन्द्रः,
प्रकाशक- श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात) चतुर्थसंस्करणं, सन् १९७८
११६) प्रवचनसार टीका प्रथमखण्ड (ज्ञानतत्त्वदीपिका) - टीकाकार- ब्र शीतलप्रसादजी,
प्रकाशक- मूलचन्द किसनदास कापडिया, सूरत, प्रथमसंस्करणं, वी. सं २४५०, सन् १९२४

११७) **प्रवचनसार टीका द्वितीयखण्ड- (ज्ञेयतत्त्वदीपिका)** टीकाकार- ब्र. शीतलप्रसादजी,
प्रकाशक- मूलचन्द किसनदास कापडिया, सूरत, प्रथमसंस्करण, वी. सं. २४५२, सन् १९२६
११८) **प्राकृतशब्दानुशासनम्:-** त्रिविक्रमः,
प्रकाशक - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १९५४
११९) **प्राकृतव्याकरणम् -** श्री हेमचन्द्राचार्यः, सं. - परशुराम शर्मा वैद्य,
प्रकाशक- मोतीलाल श्रेष्ठि, पुणे, सन् १९२८
१२०) **प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार-** डॉ. राधाकृष्णन्, दिल्ली, सन् १९३७
१२१) **बृहकल्पसूत्रं (भाष्यसहितं) -** आचार्यभद्रबाहुः,
प्रकाशक- जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि. सं. १९७२ सन् १९१५
१२२) **बृहद्रव्यसङ्ग्रहः -** नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवः, वृत्तिकारः- ब्रह्मदेवसूरिः, हिन्दी अनु. - पं. राजकिशोरजी जैन,
प्रकाशक- पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, द्वितीयसंस्करणं, सन् १९९५
१२३) **बोधपाहुडम्-** आचार्यकुन्दकुन्दः, (अष्टपाहुडान्तर्गत),
प्रकाशक- कुन्दकुन्दकहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, , जयपुर, षष्ठसंस्करणं
१२४) **भगवती आराधना -** आचार्यशिवार्यः, सं.- एवं अनु.- पं.कैलाशचन्द्र शास्त्री,
प्रकाशक- हीरालाल खुशालचंद दोशी, फलटण, सन् १९९०
१२५) **भगवान महावीर उपदेश व परम्परा-** डॉ. विद्याधर जोहरापूरकर,
प्रकाशक- जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७५
१२६) **भारतमें संस्कृति एवं धर्म-** डॉ. एम. एल. शर्मा,
प्रकाशक- रामा पब्लिशिंग हाऊस बडौत मेरठ, प्रथमसंस्करणं, सन् १९६९
१२७) **भारतस्य सांस्कृतिकनिधिः-** डॉ. रामजी उपाध्याय,
प्रकाशक- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीयसंस्करणं, सन् १९९०
१२८) **भारतीय इतिहास एक दृष्टि-** डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन,
प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीयसंस्करण, सन् १९९९
१२९) **भारतीय इतिहास और संस्कृति -** डॉ. विशुद्धानन्द पाठक, डॉ. जयशंकर मिश्रा,
१३०) **भारतीयदर्शनम्-** सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय, हिन्दी अनु. - हरिमोहन झा,
प्रकाशक- पुस्तकभंडार, पटना, प्रथमसंस्करणं
१३१) **भारतीयदर्शनम्-** आचार्य बलदेव उपाध्याय,
प्रकाशक- चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी, तृतीयसंस्करणं, सन् १९८४
१३२) **भारतीय दर्शनकी रूपरेखा-** हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा,
प्रकाशक - मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, चतुर्थसंस्करणं, सन् १९८३

१३३) **भारतीय धर्म एवं अहिंसा-** पं. कैलाशचन्द्र जैन,
प्रकाशक- श्री राजकृष्ण जैन चॅरिटेबल ट्रस्ट, अहिंसा मन्दिर, नई दिल्ली, सन् १९८३
१३४) **भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान -** डॉ. हीरालाल जैन,
प्रकाशक- म. प्र. शासन साहित्य परिषद, भोपाल, प्रथमसंस्करणं, सन् १९६२
१३५) **भारतीय सृष्टिविद्या -** डॉ. प्रकाश,
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७४
१३६) **भावत्रिभंगी-** आचार्यश्रुतमुनि, प्रकाशक - मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, वि. सं. १९७८
१३७) **भावनाद्वात्रिंशतिका-** अमितगत्याचार्य: (ज्ञानपीठ पूजाञ्जल्यन्तर्गत),
सं - पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री,
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी प्रथमसंस्करणं, सन् १९५७
१३८) **भावपाहुडम्-** आचार्यकुन्दकुन्दः, (अष्टपाहुडान्तर्गत)
प्रकाशक - श्री कुन्दकुन्द कहान, दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, षष्ठसंस्करणं
१३९) **मनुस्मृतिः-** प्रकाशक- मणिलाल इच्छाराम देसाई, मुंबई, सन् १९१३
१४०) **महापुराणं-** जिनसेनाचार्य, सं.- पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य,
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथमसंस्करणं, सन् १९५१
१४१) **महाभारतः -** सं. व्ही. एस्. सुकठंकर,
प्रकाशक- भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पुणे, सन् १९४८-१९६५
१४२) **मानवजीवनमें अहिंसा का महत्त्व -** कामताप्रसाद जैन,
प्रकाशक - श्री दुल्लोबाई स्मारक ग्रन्थमाला, सासनी, अलीगढ (उ. प्र.), प्रथमसंस्करणं, सन् १९५४
१४३) **मान्यखेट महान् -** संस्करण सेठी, व्यवस्थापक मलखेड संस्थान,
प्रकाशक- नवजीवन प्रेस, हैदराबाद
१४४) **मूलाचारः-** आचार्यवट्टकेरः, सं.- कैलाशचन्द्र शास्त्री, हिन्दी अनु- आर्यिका ज्ञानमती,
प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीयसंस्करणं, सन् १९९९
१४५) **मोक्षमार्गप्रकाशकः-** आचार्यकल्प पं. टोडरमल,
प्रकाशक – पं. टोडरमल स्मारक, जयपुर, चतुर्थसंस्करण, सन् १९७८
१४६) **यशस्तिलकचम्पू-** सोमदेवसूरि प्रकाशक- निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, सन् १९०१
१४७) **युक्त्यनुशासनालङ्कार-** आचार्यविद्यानन्दिः, सं.- पं. इन्द्रलाल,
प्रकाशक- माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, मुंबई, प्रथमसंस्करण, सन् १९२०
१४८) **रघुवंशः-** (संजीवनी टीका) - मल्लिनाथः, सं.- काशीनाथ पांडुरंग परव,
प्रकाशक- निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, सप्तमसंस्करणं सन् १९१६

१४९) **रत्नकरण्डश्रावकाचार:-** आचार्यसमन्तभद्रः,
प्रकाशक- जैनेन्द्र साहित्यसदन, ललितपुर (उ. प्र.) द्वितीयसंस्करणं, सन् १९७३
१५०) **रयणसार:-** आचार्यकुन्दकुन्दः, सं. - अनु. क्षु. ज्ञानसागरजी,
प्रकाशक- श्री शांतिसागर जैन सिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, आचार्य श्री शांतिवीर नगरम्, महावीरजी, सन् १९६२
१५१) **लघुसिद्धान्तकौमुदी -** वरदराजः, विवृत्तिकारः - पं. श्री. विश्वनाथशास्त्री प्रभाकर,
परिशिष्टकारः- कविकान्त श्री निगमानन्दशास्त्री,
प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, चतुर्दशसंस्करणं, सन् १९८३
१५२) **लोकतत्त्वनिर्णय-** सं. पं. चंदुलाल नानचन्द,
प्रकाशक- प्रो. नगीनभाई घेला जबेरी, मुंबई, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७३
१५३) **वर्णीवाणी भा.४ -** सं. - विद्यार्थी नरेन्द्र,
प्रकाशक- गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला काशी, प्रथमसंस्करणं, वी. सं. २४८४ (सन् १९५८)
१५४) **वारसाणुवेक्खा -** आचार्यकुन्दकुन्दः, सं.- डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री,
प्रकाशक- पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, प्रथमसंस्करण, सन् १९९१
१५५) **विक्रमादित्य -** डॉ. राजबली पाण्डेय,
प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृतसीरीज, वाराणसी, विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रंथमाला, क्रमाङ्क २५, प्रथमसंस्करणं सन् १९६०
१५६) **वीरशासन के प्रभावक आचार्य -** डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल,
प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७५
१५७) **व्यवहारभाष्यम्-** मुनिमाणेक,
प्रकाशक - श्री जैन छेदसूत्र आगमोद्धारक सोसायटी, अहमदाबाद, प्रथमसंस्करणं,
वि.सं. १९९४
१५८) **शाकटायनव्याकरण परिचय:-** प्रो. डॉ. आर. बिखे, जर्मनी, सं.- पं. शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सन् १९७१
१५९) **शीलपाहुडम्-** आचार्यकुन्दकुन्दः,
प्रकाशक- कुन्दकुन्द कहान, दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, षष्ठसंस्करणं
१६०) **श्रीमद्भागवतः-** प्रकाशक - दामोदर सावळाराम आणि मंडळी, ठाकुरद्वार, मुंबई, सन् १९२६
१६१) **श्रुतभवनदीपकनयचक्रं-** भट्टारक देवसेनाचार्यः, सं.
प्रकाशकः राकेश जैन शास्त्री, इतवारी नागपुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९८६
१६२) **श्रुतावतार:-** इन्द्रनन्द्याचार्य,
प्रकाशक - भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, सोनागिर (म.प्र.), प्रथमसंस्करणं
सन् १९८९-९०

१६३) **षट्खण्डागमः- भाग - १ पु-१,** आचार्यपुष्पदन्तः, सं.- फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, कैलाशचन्द शास्त्री, प्रकाशक- जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, द्वितीयसंस्करणं, सन् १९८५

१६४) **सद्वृत्तालंकारः-** डॉ. हिन्दकेसरी, प्रकाशक - पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९९२

१६५) **समयसार- आत्मख्यातिः-** आचार्यकुन्दकुन्दः, टीकाकार:- अमृतचन्द्राचार्यः, प्रकाशक- पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, सप्तमसंस्करणं, सन् १९८३

१६६) **समयसारः-** आचार्यकुन्दकुन्दः, सं.- पं. बलभद्र जैन, प्रकाशक- श्रीकुन्दकुन्दभारती दिल्ली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७८

१६७) **समयसारकलशः-** अमृतचन्द्राचार्यः, अनु.- पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक- श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ, द्वितीयसंस्करण, सन् १९६६

१६८) **समयसार: (प्रवचनसहित) -** प्रवचनकारः- गणेशप्रसादवर्णी, प्रकाशक- श्री गणेश प्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, ५, प्रथमसंस्करणं, सन् १९६९

१६९) **सप्तभङ्गीतरङ्गिणी -** श्री विमलदास, हिन्दी अनु. - पं. ठाकुरप्रसाद शर्मा, प्रकाशक- परमश्रुत प्रभावक मण्डल, मुंबई, प्रथमसंस्करणं, वी. नि. सं. २४३१ (सन १९०५)

१७०) **समाजोन्नायक क्रान्तिकारी युगपुरुष ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद -** डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, प्रथमसंस्करणं, सन् १९८५

१७१) **समाधिशतकं-** पूज्यपादाचार्यः, सं- जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', प्रकाशक- वीर सेवा मंदिर दरियागंज, दिल्ली, नूतनसंस्करणं, सन् १९५४

१७२) **सर्वार्थसिद्धिः-** पूज्यपादाचार्यः- सं.- पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक - भारतीयज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पंचमसंस्करणं, सन् १९९१

१७३) **संस्कृतनिबन्धनवनीतम्-** डॉ. पारसनाथ द्विवेदी, प्रकाशक - श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा ३, षष्ठसंस्करणम्

१७४) **संस्कृति के चार अध्याय -** रामधारीसिंह दिनकर, प्रकाशक- उदयाचल आर्यकुमार रोड, पटना, तृतीय संस्करण, सन् १९६२

१७५) **सागारधर्मामृतः-** पण्डित आशाधर, सं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथमसंस्करण, सन् १९७८

१७६) **सिद्धान्तसारः-** आचार्यनरेन्द्रसेनः, (सिद्धान्तसारादिसंग्रहान्तर्गत) सं. पन्नालाल सोनी प्रकाशक- मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, प्रथमसंस्करण, वी सं २४४९

१७७) **सुदंसणचरिउ -** आचार्यनयनन्दिः, सं.- डॉ हीरालाल जैन, प्रकाशक - प्राकृत जैनविद्या और अहिंसा शोधसंस्थानं, वैशाली, सन् १९७०

१७८) **सुभाषितरत्नसन्दोहः-** आचार्यअमितगतिः, प्रकाशक- जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७७

१७९) **सूत्रपाहुडम्-** आचार्यकुन्दकुन्दः (अष्टपाहुडअन्तर्गत),
प्रकाशक- कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, षष्ठसंस्करणं
१८०) **सूक्ष्मपरसमय: (निबन्ध) -** मुनिवीरसागरजी, सोलापुर
१८१) **स्कंदपुराणम्-** सं. पं. शिवरामशर्मा आचार्य,
प्रकाशक- संस्कृतिसंस्थान, वेदनगर, बरेली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७०.
१८२) **स्याद्वादमञ्जरी-** श्री मल्लिषेणसूरिः, हिन्दी अनु. - डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, -
प्रकाशक - श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, आगास, तृतीयसंस्करणं, सन् १९७०
१८३) **स्वयम्भूस्तोत्रम्-** आचार्यसमन्तभद्रः सं.- पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य,
प्रकाशक- श्री शांतिवीर दि. जैन संस्थान, शांतिवीर नगर महावीरजी, प्रथमसंस्करणं,
वी. सं. २४९५ सन् १९६९
१८४) **हमारी संस्कृति-** डॉ. राधाकृष्णन्, प्रथमसंस्करणं, १९७२
१८५) **हरिवंशपुराणं-** आचार्यजिनसेनः, सं.- दरबारीलाल न्यायाचार्य,
प्रकाशक- माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, मुंबई- ४, सन् १९३०
१८६) **हिन्दी साहित्यकी भूमिका -** आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी,
प्रकाशक- राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीयसंस्करणं सन् १९९८.
१८७) **हिन्दू सभ्यता-** डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी (हिन्दी रूपान्तर),
प्रकाशक- राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीयसंस्करणं, सन् १९५८
१८८) **ह्यून्सांग का भारत भ्रमण**

पत्रिकासूची -

१) **अनेकान्त (मासिक) -** सं.- आ. ने. उपाध्ये, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, वर्ष १८, किरण ४, अक्टूबर सन् १९६५

२) **आगमपथ:-** (पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी विशेषांक) सं.- विनोद कुमार जैन, प्रकाशक- शकुन प्रकाशन, दिल्ली, मई सन् १९७६

३) **आगमपथ:-** (शीतलजन्मशताब्दी विशेषांक) सं.- विनोदकुमार जैन, प्रकाशक- शकुन प्रकाशन, दिल्ली, नवम्बर सन् १९७८

४) **जैन सन्देश:-** (शोधांक साप्ताहिक) सं.- पं. जगन्मोहनलाल, पं. कैलाशचन्द शास्त्री, प्रकाशक- भा. दि. जैन संघ मथुरा, अक्टूम्बर सन् १९५९

५) **जैनसिद्धान्तभास्करः -** भा. १ किरण ४ सं- प्रो. हीरालाल, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, जैन सिद्धान्त भवनम्, आरा, सन् १९३७

६) **जैन हितेषी-** भा. १०, सं.- पं. नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक - जै. ग्र. २ कार्यालय मुम्बई, दिसम्बर सन् १९१६

सन्दर्भग्रन्थसूची -

१) **अभिधानराजेन्द्रकोश:-** (चतुर्थ भाग) विजयराजेन्द्रसूरीश्वर, रतलाम, प्रथमसंस्करण, सन् १९१३

२) **जैनलक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोश:) -** भाग - १, २, ३, बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक- वीरसेवा मंदिर, दिल्ली ६, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७२

३) **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशः - भाग १, २, ३, ४,** सं.- जिनेंद्र वर्णी, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथमसंस्करणं, सन् १९७०

४) **पण्डित फूलचन्द्रशास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ:-** प्रकाशक- सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री, अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, वाराणसी, प्रथमसंस्करण, सन् १९८५

५) **संस्कृत-आंग्लशब्दकोश:-** बी. एस. आप्टे, परिवर्द्धित संस्करणं, पुनर्मुद्रित पूना १९७९

६) **हिन्दी विश्वकोष:-** जिल्द १

सन्दर्भग्रन्थसूची (आंग्लभाषायाम्)

1) **A HISTORY OF INDIAN LITERATURE:** Maurice winternitz vol. 2, Calcutta, 1933

2) **JAINISM IN SOUTH INDIA AND SOME JAINA EIPIGRAPHS.** P. B. Desai, Pub. Jaina Sansrkriti Sanrakshaka Sangha, First edition, Solapur. 1957

3) **JAINISM IN SOUTH INDIA:** M. K. Ramchandra Rao. First edition, 1970

4) **THE PRACTICAL SANSKRIT ENGLISH DICTIONARY :** V. S. Apte Gode, Karne etc. Vol. 2. Pub. Prasad Prakashan. Poona, 1957

5) **THE WONDER THAT WAS INDIA :** A.L. Basham, trans. in Hindi, Adbhuta Bharat. Delhi, 1967

6) **PARAMATMAPRAKASA & YOGASARA :** Edt. by Dr. A. N. Upadhye (Introduction) Pub. Shrimad Rajchandra Ashram. Agas. fourth edition. 1978

7) **PRAVACANASARA-KUNDAKUNDACARYA :** Edt. by Dr. A. N. Upadhye. (Introduction) Pub. Sheth Manilal Ravashankar Jhaveri. Bombay. Second edition. 1935

श्री दिगम्बरजैनसंघीमंदिरजयपुरस्थितग्रन्थालयस्थपञ्चास्तिकायतात्पर्यवृत्तेः पाण्डुलिपेः प्रथमपत्रम्। लिपिकालो वि. स. १४६९

१३४

कारञ्जाग्रामे श्री १००८ पार्श्वनाथस्वामिदिगम्बरजैनसेनगणमन्दिरस्थितपञ्चास्तिकायतात्पर्यवृत्तेः पाण्डुलिपेरन्तिमपत्रम्

लिपिकालः १३६९

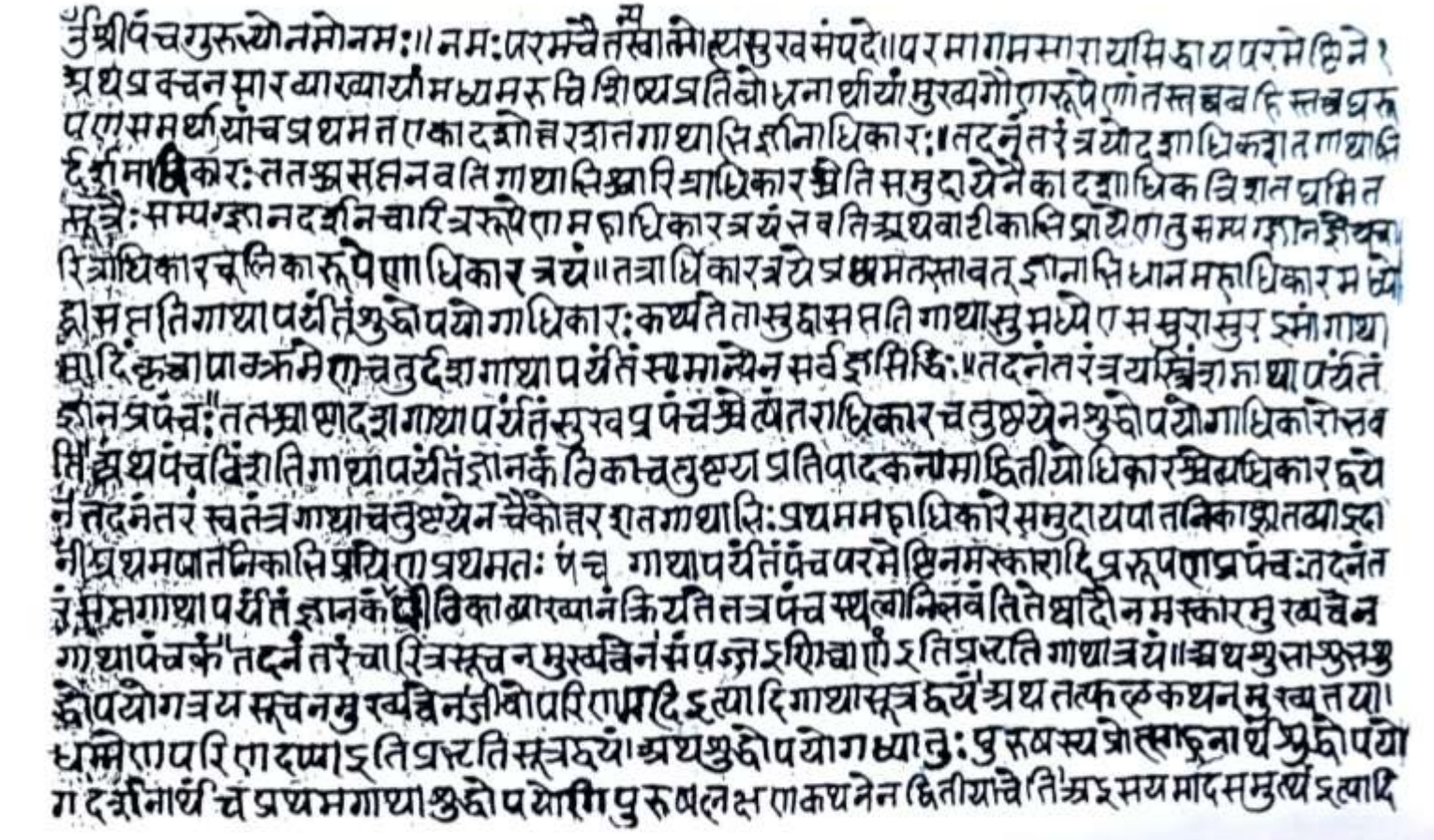

ॐ श्रीपंचगुरुभ्यो नमो नमः॥ नमः परमचैतन्यात्मने ज्योतिरूपाय सुखसंपदे॥ परमागमसारायमिदं शास्त्रं परमेष्ठिने।
अथ प्रवचनसारव्याख्यायां मध्यमरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं मुख्यगौणरूपेणोत्तरत्र ज्ञानं ज्ञेयं चेति द्विधा
पीठिकायां समर्थ्यानन्तरं च प्रथमतः एकादशोत्तरशतगाथासिद्धीनामधिकारः॥ तदनन्तरं त्रयोदशाधिकशतगाथाभि
र्द्रव्याधिकारः ततश्च सप्तनवतिगाथाभिश्चारित्राधिकार इति समुदायेनैकादशाधिकत्रिशतगाथाभि
सूत्रैः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपेण महाधिकारत्रयं सप्तनवतिश्चथवा टीकायां प्रायेण तु सम्यग्ज्ञानदर्शन
रित्राधिकारचूलिकारूपेणाधिकारत्रयं॥ तत्राधिकारत्रये प्रथमतस्तावत् ज्ञानाभिधानमहाधिकारमध्ये
द्वासप्ततिगाथापर्यंतं शुद्धोपयोगाधिकारः कथ्यते तासु द्वासप्ततिगाथासु मध्ये एव सुरासुरेन्द्रमेलापादिकृत्वा प्रारब्धमेणाचतुर्दशगाथापर्यंतं सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिः॥ ततदनंतरं त्रयस्त्रिंशद्गाथापर्यंतं
ज्ञानप्रपंचः॥ ततश्च षोडशगाथापर्यंतं सुखप्रपंचश्चेत्यंतराधिकारचतुष्टयेन शुद्धोपयोगाधिकारोऽत्र
गतः॥ अथ पंचविंशतिगाथापर्यंतं ज्ञानकंठिकाचतुष्टयेन प्रतिपादकनामा द्वितीयोधिकारश्चथाधिकारद्वये
नैव तदनंतरं स्वतंत्रगाथाचतुष्टयेन चैकोत्तरशतगाथासिः प्रथममहाधिकारे समुदायपातनिकाख्यातव्याख्या
नं प्रथमपातनिकासिद्ध्यर्थं प्रथमतः पंच गाथापर्यंतं पंचपरमेष्ठिनमस्कारादिप्ररूपणाप्रपंचः तदनंत
रं सप्तगाथापर्यंतं ज्ञानकंठिकाव्याख्यानं क्रियते तत्र पंचस्थलानि सर्वतीर्थादिनमस्कारमुख्यत्वेन
गाथापंचकं तदनंतरं चारित्रसूचनमुख्यत्वेन संपज्जइणिच्चाणं इति प्रभृति गाथात्रयं॥ अथ शुभाशुभ
शुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन जीवो परिणमदि इत्यादिगाथासूत्रद्वयं अथ तत्फलकथनमुख्यतया
धम्मेण परिणदप्पा इति प्रभृति सूत्रद्वयं॥ अथ शुद्धोपयोगध्यातुः पुरुषस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयो
गदर्शनार्थं च प्रथमगाथा शुद्धोपयोगिपुरुषलक्षणकथनेन द्वितीया चेति॥ अइसय मादसमुत्थं इत्यादि

कारंजाग्रामे श्री १००८ पार्श्वनाथस्वामिदिगम्बरजैनसेनगणचैत्यालये उपलब्धप्रवचनसारतात्पर्यवृत्तेः पाण्डुलिपेः प्रथमपत्रम्।

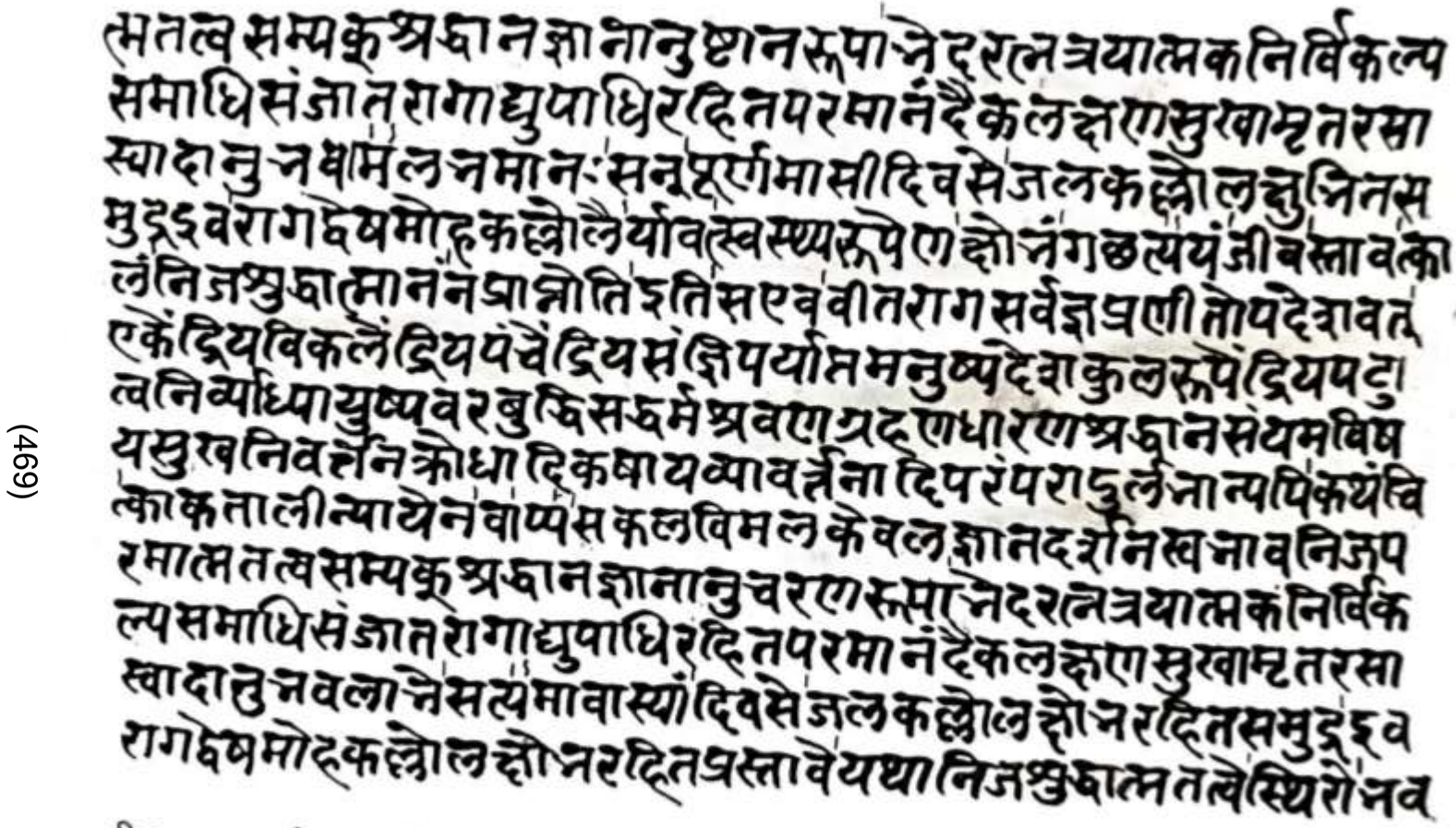

श्री १००८ पार्श्वनाथस्वामिदिगम्बरजैनसेनगणमन्दिरे विद्यमानप्रवचनसारतात्पर्यवृत्तेः पाण्डुलिपेर्द्विचरमपत्रम्।